परमात्मप्राप्ति के सोपान

श्री दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाश

वाराणसी

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला-८६



परमात्मप्राप्ति के सोपान

प्रवक्ता
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
आचार्य महामण्डलेश्वर
श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज

श्री दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन
वाराणसी

— प्रकाशक :-

श्री दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन
डी-४९/९, मिश्रपोखरा
वाराणसी-२२१०१०

Web.wwwdakshinamurtimathaprakashan.org
www.dakshinamurtimath.com

प्रथम संस्करण

संवत् : २०७६
ईस्वी : २०१६

महाराजश्री जी की ग्यारहवीं पुण्यतिथि पर
मेहता परिवार द्वारा धर्मार्थ वितरित

अक्षर संयोजन : अभिषेक ओझा
उत्थान रोड झलवा, इलाहाबाद

मुद्रक
सौरभ प्रिंटर्स प्रा. लि.

ॐ

विषय-सूची

प्रकाशकीय

आचार्य महामण्डलेश्वर **श्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज** शास्त्ररहस्य को जीवन में घटाने योग्य रूप में व्यक्त करते रहे यह उनके प्रवचनों एवं साहित्य से परिचित सभी को विज्ञात है। शास्त्र जड ग्रंथ न होकर अनुयायी में जीवन्त रहता है यह ग्रंथान्तरों से वेद में वैशिष्ट्य अनादिकाल से जब तक अनवरत रहा तब तक भारत विश्व में बाह्य-आध्यात्मिक क्षेत्रों में सिरमौर बना रहा यह ऐतिहासिक तथ्य है। शास्त्र-जीवन में दूरी आना मानव के लिये सब प्रकार से घातक सिद्ध होता जा रहा है। वैदिक यह रहस्य समझकर सुविधा की चकाचौंध से प्रलुब्ध न हो तथा धर्मानुसार सात्त्विक तप से अनुस्यूत दृष्टि अपनाये यह व्यक्ति एवं समाज के श्रेय के लिये आवश्यक है। वर्त्तमान युवा सक्षम हैं ऐसे साहसी परिवर्तन को सम्पन्न करने में, उन्हें इसमें प्रेरणा व मार्गदर्शन मिले यह श्री महाराज जी का निरन्तर प्रयास रहा। **ताण्ड्य महाब्राह्मण** के प्रथम खण्ड के वचनों के आधार पर ईस्वी सन् १९६८ में **श्री विश्वनाथ संन्यास आश्रम,** दिल्ली में चातुर्मास्य-भर महाराजश्री जी के प्रवचन सम्पन्न हुए। वे श्री स्वामी महानन्दगिरिजी द्वारा तत्काल आशुलिपिबन्धनपूर्वक टंकित एवं पण्डित श्री भगीरथ पाण्डेय जी द्वारा संशोधित होकर मुद्रणयोग्यावस्था में सुरक्षित बने रहे। संवत् २०२७ में महाराज जी ने इसकी प्रस्तावना भी लिख दी। अज्ञात कारणों से प्रकाशन हुआ नहीं। ये प्रवचन यद्यपि सुरक्षित उपलब्ध हुए तथापि न जाने क्यों दिनांक १६.८.६८ से ३१.८.६८ तक के प्रवचनों की मातृका अनुपलब्ध है। यथोपलब्ध का लाभ सब श्रद्धालु उठा सकें इस उद्देश्य से इन्हें अब प्रकाशित किया जा रहा है। वेदान्त-अनुसन्धान पारिभाषिक शब्दों पर निर्भर नहीं वरन् विचार पर निर्भर है यह स्मर्त्तव्य है। वेदादि सच्छास्त्र सर्वशः अद्वैत उपस्थापन या उसके अधिगम के उपाय का प्रतिपादन

करते हैं इस निश्चय से उनका अनुशीलन अतीव उपयोगी है। कर्म–विनियुक्त भाग भी ध्वनि से अध्यात्म साधना में ही प्रेरक है अतः इस प्रकाश में यदि उस भाग का उपयोग हो तभी स्थायी लाभ है अन्यथा श्रेष्ठ उपाय से निकृष्ट विषय–प्राप्ति को 'लाभ' समझना भ्रममात्र है। आशा है आचार्यचरण के वचनों का 'श्रवण' इस दृष्टि में निमित्त बनेगा।

प्रस्तावना

भारतीय धर्म निगमागम–प्रवाह में विस्तृत होता रहा है। पूर्वकाल समन्वयात्मक एवं परवर्त्ती काल विरोधात्मक बनने से प्रत्येक मतों के आदिकाल में एकरूपता और अन्तकाल में अनेकरूपता सर्वत्र दृश्यमान है। मूल शैव धर्म ही दर्शन में अद्वैत पर जोर देने से इस अनेकता में नहीं बहा। उत्तर में मध्यकाल यवनाक्रान्ततासे अनेकता–प्रधान बन गया। अतः वर्त्तमान काल में उत्तर भारत प्रायः शैव धर्म का त्याग कर चुका है, वैष्णव धारा ही सगुनिया और निरगुनिया प्रकारों में विद्यमान है। अत एव वर्णाश्रम–व्यवस्था सर्वत्र भ्रष्ट होकर धर्म को छोड़, केवल सामाजिक विवाह व भोजन में रूढ होकर अभिशाप बन गयी है। दक्षिण में अभी भी ब्राह्मणों के अवान्तर सामाजिक भेदों का आधार धर्म है। अय्यर शंकर के तो अय्यंगर रामानुज के अनुयायी हैं। इस प्रकार का विभाजन कान्यकुब्ज व सनाढ्यों में असम्भव है अतः धर्म के आधार पर जब तक समाज का पुनर्ग्रथन न होगा तब तक न तो मुसल्मान, ईसाइयों की तरह वैदिक सनातन धर्म संघटित ही हो पायेगा और न अनुयायियों में धर्म–केन्द्रितता ही आ पायेगी। वल्लभकुल आदि में जहाँ यह शेष है वहीं धर्मप्रधानता भी पाई जाती है। निगमागमका मूल रूप से समन्वय कर पाने पर ही किसी धारा को सत्य सनातम धर्म माना जा सकता है। इस समन्वय को पूर्ण रूप से वेदव्यास के बाद शंकर भगवत्पाद ने ही किया, यह किसी भी निष्पक्ष पुरुष को स्वीकार करना ही पड़ेगा। परवर्ती काल में अध्ययनकी कमी से आचार्य के अनुयायियों में ही मतद्वैध होकर सम्प्रदायभेद आ गया, यह बात दूसरी है। परमहंसों ने ही शांकर धारा को अक्षुण्णरूपसे·स्वीकारा।

भगवत्पाद अवतारों के भी अवतार थे। उन्होंने केवल तत्कालीन राक्षसों को समाप्त नहीं किया वरन् सर्वदेश व सर्वकाल में विद्यमान मूल राक्षस अज्ञान को ही मारा। अन्य अवतारों में तो हमें रूपकों से यह बताना पड़ता है, पर शंकर ने किसी रूपक के आश्रय के बिना ही सर्व विश्व के लिये एक वैदिक धर्म के शुद्ध

रूप को सामने रखा। यह पुस्तक उनके ही वचनों के आधारपर निर्मित है एवं शैवों के निगमागम समन्वय को हिन्दी भाषा में उपस्थित करना ही इसका प्रयोजन है। शैव धर्म ही भारत के अनेक विरोधों में मूलरूप से अद्वैतस्थापन करने में समर्थ है एवं सर्वकल्याण की भावना से ओत-प्रोत होने से साम्यवाद, प्रजातन्त्रवाद आदि वादोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ कुटुम्बवादी समाज की स्थापना में समर्थ है। आशा है यह ग्रन्थ इसमें सहायक रहेगा।

शंकरपादानुरागी
महेशानन्दगिरि
कार्त्तिक कृष्णा चतुर्थी २०२७ वि.

ॐ

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

परमात्मप्राप्ति के सोपान

प्रवचन-१

महान्

८-७-६८

इस व्याख्यानमाला में सामवेद की कौथुमी शाखा में आये ताण्ड्य महाब्राह्मण के प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड का विचार करेंगे। पहले, थोड़ा विचार करें कि इसे ताण्ड्य महाब्राह्मण क्यों कहा गया है। इस ब्राह्मण के ऋषि ताण्ड्य हैं। इस अध्याय में बताया है कि सारे साधनादि के द्वारा किन-किन विषयों की प्राप्ति करनी चाहिये। प्राप्तव्य को पहले ही कह देने से उसमें रुचि स्वाभाविक हो जाती है। व्यक्ति की प्रवृत्ति दुकान में काम करने की नहीं होती, किन्तु लाभ की आशा से उसमें प्रवृत्ति बनती है। यदि कोई पूछे कि अमुक व्यक्ति-व्यापारिक संस्था (कम्पनी) बहुत अच्छी है, क्या उसमें पैसा लगा देवें, तो उसका भाव होता है कि उसमें लाभ अवश्य होगा या नहीं? लाभ की आशा से ही निवेश में प्रवृत्ति होती है। बाद में चाहे लाभ ज्यादा हो या कम, या घाटा भी हो सकता है, किन्तु प्रवृत्ति तो लाभ की आशा से ही हुई। इसी प्रकार सामवेद के इस ब्राह्मण में भी यह बताया गया है कि किस उद्देश्य को लेकर औपनिषद ज्ञान में प्रवृत्ति करें।

ॐ महन्मे वोचो भर्गो मे वोचो यशो मे वोचः स्तोमं
मे वोचो भुक्तिं मे वोचः सर्वं मे वोचस्तन्मावतु तन्मा विशतु तेन भुक्षिषीय॥१॥

मैं महान् बनूँ। अल्पता को वेद निकृष्ट मानता है। यद्यपि उस सर्वव्यापक परब्रह्म परमात्मतत्त्व से रहित कुछ भी नहीं है, प्रत्येक कण व क्षण में वही तत्त्व व्याप्त है, किन्तु साधारण व्यक्ति अपने आपको साढ़े तीन हाथ का या ज़्यादा से ज़्यादा पत्नी और पुत्र तक ही सीमित मानता है। इस प्रकार सर्वव्यापक अपने को

साढ़े तीन हाथ का पुतला मान बैठा है। होना तो यह चाहिये था कि उस अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता की प्रत्येक क्रिया स्वाभाविक हो पर हो रहा है सर्वथा विपरीत।

एक बार स्वामी रामकृष्ण परमहंस ब्राह्म समाज की प्रार्थनासभा में गये। उस समय ब्राह्म समाज ईसाइयों से प्रभावित था अतः प्रार्थना में कहा गया 'भगवन्! आपने हमें भोजन दिया, धन्यवाद'। प्रार्थना खत्म होने पर परमहंस ने केशवचन्द्र सेन से पूछा कि भगवान् ने हमें उत्पन्न किया है तो वही हमें खिलाये, यह उसका कर्त्तव्य ही है, फिर इसके लिये धन्यवाद से क्या लाभ? उसी ने हमें बड़ा किया है, खिलाना आदि सब कार्य कोई बाहर के लोग तो करेंगे नहीं!

पुत्र का कार्य है पिता की आज्ञा का पालन करना, केवल धन्यवाद करने से काम नहीं चलेगा। हम परमात्मा के पुत्र हैं। उसकी सृष्टि के कार्य को आगे बढ़ायें, नियमपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करें, यही धन्यवाद का रूप है। कोई यदि इससे भी आगे चले तो घर का, गाँव का और देश का ही कल्याण करते हैं। इससे भी आगे आजकल एक पन्थ चला है, मानवता का कल्याण करने का। प्रश्न उठता है कि मानवता तक ही सीमित क्यों होते हो? मानवता तो उस परमात्मतत्त्व का एक छोटा-सा टुकड़ा है। सृष्टि-कार्य के प्रवर्तन को सम्यक् रूप से करना, उसके नियमों का पालन करना कर्त्तव्य है। अनन्तकोटि जीव, अनंतकोटि ब्रह्माण्ड सब उसी परब्रह्म परमात्मा के भाग हैं। सब के लिये निरंतर प्रवृत्ति करे तो ठीक है।

इसलिये श्रुति ने यहाँ पर 'महन्मे वोचः' से परमात्मतत्त्व में प्रतिष्ठित होना कहा। यही बात ज्ञान के क्षेत्र में भी है। जब कभी ज्ञान प्राप्त करो तो सोचो कि पहले की अपेक्षा वह विस्तृत है या संकुचित। जो संकुचित करता है, वह पाप है और जो विशालता की तरफ ले जाता है वह पुण्य है। जो एक के लिये पुण्य है वह दूसरे के लिये पाप भी हो सकता है। यह कैसे?

यदि अब तक केवल अपने ही भरण पोषण की चिन्ता थी, तो जब पत्नी और पुत्र की भी चिन्ता प्रारम्भ हुई, तब आगे बढ़े यह पुण्य हुआ। एक व्यक्ति ऐसा है जो चार भाइयों का पोषण करता है, उसने यदि एक भाई को अलग कर दिया तो वह पाप हो गया। प्रश्न होता है कि वह अब भी तो तीन भाइयों का पोषण कर रहा है, तो यह पाप कैसे हुआ? चूंकि यहाँ चार से तीन की तरफ प्रवृत्ति हुई इसलिये यह संकीर्णता है। दूसरे दृष्टान्त में वह पहले अपने तक ही

संकुचित था और अब अपने अलावा पत्नी और पुत्र का भी पोषण करने लगा। अतः विशालता की तरफ प्रवृत्ति हुई। इसी प्रकार श्रुति हमारी समग्र क्रियाओं को विशालता की ओर ले जाने का संकेत कर रही है। ज्ञान का संकोच भी पाप है। यदि पहले एक हजार मंत्र याद थे और अब एक हजार एक मंत्र याद हो गये हैं तो विस्तीर्णता की ओर प्रवृत्ति है। आज यदि केवल ९९९ ही याद रह गये तो पाप है। अतः श्रुति ने आगे कहा 'भर्गो मे वोचः' 'भर्जयति इति भर्गः'। भर्ज का अर्थ होता है, भूंज देना। सब के पापों को, दोषों को, भूंजने वाले होने से भगवान् शंकर ही भर्ग कहे गये हैं। गायत्री मंत्र में भी आता है 'तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि'। उस जगदुत्पादक देव के वरणीय पापनाशक रूप का हम ध्यान करते हैं। चूंकि शिव पापों को भूंजते हैं अतः हम भी अपने जीवन में दूसरे के दोषों को भूंजना सीखें। यदि दूसरे ने हमारा कुछ अहित किया, तो हम उसे भूंज देवें, तब वह हमारे चित्त में द्वेषरूपी फल उत्पन्न नहीं करेगा। द्वेष होगा नहीं तो बढ़ नहीं सकता। अतः 'यशो मे वोचः' दूसरे के दोष भूंजे जा रहे हैं अथवा नहीं इसके प्रति सजग रहना चाहिये। कार्य जितना भी हमारा हो वह यशस्वी हो। आजकल लोग यश का अर्थ धनादि से लेते हैं। किन्तु ऐसा करना उचित नहीं है। जब दूसरे को देखकर यह इच्छा हो कि 'मैं भी ऐसा ही बनूँ' तब समझ आता है कि वह यशस्वी है।

श्रुति ने 'यशो मे वोचः' के बाद कहा 'स्तोमं मे वोचः' मैं परमेश्वर की स्तुति में ही हमेशा लगा रहूँ। आजकल तो लोग आत्म-स्तुति ही करते हैं कि 'मैंने मकान बनवाया, मेरे पिता जी एक ही कमरे में रहे थे' आदि पूर्वजों की अपेक्षा अपना गौरव प्रदर्शित करना भी अपनी स्तुति का रूप है। यहाँ तक स्थिति बिगड़ गई है कि अपनी बीमारी की भी स्तुति करते हैं, 'मैं इतना बीमार था, मेरी बीमारी इतनी बड़ी थी' आदि। यह भी एक प्रकार की आत्म-स्तुति ही है। नेता भी आत्म-स्तुति में ही लगे हैं कि हमने लोगों का जीवन-स्तर बढ़ाया। सभी क्षेत्रों में आत्म-स्तुति ही व्याप्त है। वे यह नहीं सोचते कि जब तक हमें परमात्मा शक्ति दे रहा है, तभी तक हम कार्य कर रहे हैं। वास्तव में हमें उसकी ही स्तुति में हमेशा लगे रहना चाहिये। पर वास्तव में जिसकी शक्ति से नाच रहे हैं, उसकी तो स्तुति, तारीफ ही नहीं होती। यदि मेरी आँख देखती है तो किसी की ताकत से देखती है। आँख को शक्ति देने वाले परमात्मा की तारीफ करो, अपनी आँख की क्या

तारीफ करना! श्रुति ने इसके आगे कहा 'भुक्तिं मे वोचः'। जो भी भोग-पदार्थ हैं निरन्तर उन्हें प्राप्त करता रहूँ। भगवान् वेद-व्यास लिखते हैं: 'उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः।' यदि मनोरथ उत्पन्न होकर पूर्ण नहीं होते तो स्पष्ट है कि तुम पुण्य नहीं करते। अतः यहाँ 'भुक्तिम् मे वोचः' से कह रहे हैं कि मेरी सारी कामनायें पूर्ण हों।

आगे श्रुति कहती है 'सर्वम् मे वोचः'। अर्थात् संसार में जो कुछ प्राप्तव्य है वह सब मुझे प्राप्त हो जाये। भगवान् कृष्ण भी गीता में कहते हैं –'नानवाप्तमवाप्तव्यम्'। कोई भी चीज ऐसी नहीं जो मुझे प्राप्त न हो। इससे आगे कुछ भी प्राप्त करने की जरूरत नहीं। इसी अनुभव को श्रुति 'सर्वम् मे वोचः' से कह रही है। फिर कहा 'तन्मा अवतु' वह हमेशा मेरा पोषण करता रहे। 'तन्मा विशतु'- वह कभी निकले नहीं। एक बार प्राप्त होने के बाद हमेशा बना रहे। 'तेन भुक्षिषीय' उसी से हम भोग करते रहें।

इस प्रकार पहले ये छह बातें बतायीं: १. महन्मे वोचः, २. भर्गोमे वोचः, ३. यशो मे वोचः, ४. स्तोमं मे वोचः, ५. भुक्तिम् मे वोचः, ६. सर्वम् मे वोचः।

फिर अन्त में उन पदार्थों की पूर्ति करते रहने के तीन प्रकारों को बताया: १. तन्मा अवतु, २. तन्मा विशतु, ३. तेन भुक्षिषीय। इसी क्रम से इस व्याख्यान-माला में इस मंत्र पर विचार करेंगे।

यह सामवेद का ब्राह्मण है- सामवेद की एक विशेषता है कि सामगान भगवान् शंकर को अत्यंत प्रिय है। अतः चातुर्मास्य में इस व्याख्यानमाला के लिए इस वेद का महत्त्व है। भगवान् कृष्ण और भगवान् व्यास सामवेदी थे। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा 'वेदानां सामवेदोऽस्मि'। सामवेद की दूसरी विशेषता यह है कि वह गेय है। इस दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व है। गद्य केवल मस्तिष्क को ही स्पर्श करता है। यद्यपि विचार उत्पन्न करने की शक्ति गद्य में है किन्तु हृदय को स्पर्श करने की शक्ति उसमें नहीं। पद्य में मस्तिष्क और हृदय दोनों को स्पर्श करने की शक्ति है। जो हृदय को स्पर्श करे वही पद्य है। आजकल की तुकबन्दी पद्य नहीं है। पद्य में ध्वनि केवल हृदय की अनुभूति से समझी जाती है। अतः कहा गया कि कविता का अधिकार सहृदय को ही है। वेद कविता है। ऋग्वेद में एक प्रार्थना आती है- 'समाना हृदयानि वः'। वेदों का प्राकट्य हृदय में होता है। सहृदय कवि ही उस का भाव जान पाता है। हृदय से हृदय मिले बिना काव्य समझ में

नहीं आ सकता। इसके बिना तो कविता केवल अक्षर-समूह ही है। पर पद्य में भी एक कमी है कि शब्दजाल होने के कारण वहाँ हृदय उछलता नहीं, वह केवल हृदय को स्पर्श करता है। गेय में मनुष्य आगे बढ़ता है। वह हृदय को तो स्पर्श करता ही है, साथ ही उच्छलित भी करता है। जो बात शब्द-ध्वनि से नहीं कही जा सकती, उसे गान से समझ सकते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्मवेत्ता जब अपना अनुभव बताते हैं तो श्रुति कहती है 'तदेतत् साम गायन्नास्ते' कि वह उसे गाने लगा! यही सामवेद की विशेषता है। वेदान्त का तत्त्वमसि महावाक्य भी इसी सामवेद का ही है।

प्रस्तुत मंत्र में सोमयाग का प्रकरण है। यागों में सोमयाग श्रेष्ठ बताया गया है। जो सोमयाग कर लेता है वह अमृतत्व प्राप्त कर लेता है। 'उमया सह सोमः' ब्रह्मविद्या ही उमा है। परब्रह्म का ब्रह्माकार वृत्ति से पान करना सोमयाग है। सोमपान करने पर सोमयाग सम्पन्न हो जाता है। इस मंत्र का प्रकरण है कि सोमयाग में ऋत्विक् (पुरोहित) को यजमान वरण करने के लिए कहता है 'मैं आपका सोमयाग के लिये वरण करता हूँ।' तब ऋत्विक् यह मंत्र बोलता है कि तुमने सोमयाग करने का निश्चय किया है जिसलिये मुझे चुनते हो, इतना कहने-मात्र से ही 'महन्मे वोचः' ऐसी बात कह दी जिसका भाव है 'तुम महान् हो, यशस्वी हो, सब कुछ हो'। जब शिष्य गुरु के पास जाकर कहता है कि मैं सोमयागी बनना चाहता हूँ तब गुरु उसकी प्रशंसा करते हैं कि आज तुम केवल ब्रह्मज्ञान की इच्छा से मेरे पास आये हो अतः महान् बन गये। 'मुझे सोमपान करा दीजिये' कहना ही महान् बनना है। साक्षात् परब्रह्म परमात्मा की विद्याकारा वृत्ति बनाने वाला सोमयाग महान् यज्ञ है। अतः उद्गाता (ऋत्विक्) सारी बातें समझा देता है। अधिकारी जानकर शिष्य को गुरु ब्रह्माकारा वृत्ति बनाने वाले साधन बता देता है।

यजुर्वेद का सबसे बड़ा याग अश्वमेध है। 'अश्व' का अर्थ है इन्द्रियाँ, 'इन्द्रियाणि हयानाहुः' अश्वमेध द्वारा इन्द्रियों को वश में करके साधक परमात्मतत्त्व की प्राप्ति में लगा तब वह सोमयाग का अधिकारी बनता है। श्रावण की इस व्याख्यान-माला में सोमयाग का ही विस्तार करेंगे क्योंकि उमारमण भगवान् शंकर को सामवेद अतिप्रिय है।

सामवेद के इस महाब्राह्मण के द्रष्टा महर्षि तण्डी हैं; तण्डिना प्रोक्तम् ताण्ड्यम्। इसका विशेष महत्त्व यह है कि महर्षि उपमन्यु ने भगवान् कृष्ण को पञ्चाक्षरी मंत्र की दीक्षा दी। केदारनाथ में उपमन्यु आश्रम अब भी है जहाँ उन्होंने दीक्षा दी थी। उपमन्यु के गुरु तण्डी महर्षि हैं। इस दृष्टि से ताण्ड्य महाब्राह्मण की विशेषता है। गीता में विस्तार भी सामवेद का ही हुआ। छांदोग्य में स्पष्ट ही कृष्ण देवकीपुत्र को जिस विद्या की प्राप्ति हुई थी उसका वर्णन है। क्रम की दृष्टि से महर्षि तण्डी सत्ययुग (कृतयुग) में हुए, महर्षि उपमन्यु त्रेता में और कृष्ण द्वापर में हुए हैं। इस प्रकार क्रम से भी ये गुरुपरम्परा में आ गये और तत्तद् युगों के आचार्यों में भी हैं।

तण्डी महर्षि ने यह तत्त्व कैसे प्राप्त किया? महाभारत में उपमन्यु अपना पूर्व जीवन सुनाते हैं : तण्डी महर्षि ने सत्ययुग के आदि में १० हजार वर्षों तक तपस्या की और समाधि में लीन रहे तब उनको भगवान् शंकर का दर्शन प्राप्त हुआ। तण्डी महर्षि ज़्यादा पढ़े-लिखे नहीं थे। वेदाध्ययन के बाद जब पिता से पूछा 'अब क्या करूँ?' तो पिता ने कहा 'अब कर्म कर'। वे कहने लगे 'वेद में तो आपने सिखाया है कि कर्म बन्धन का हेतु है'। किस बन्धन में बाँधता है, यह दूसरी बात है। कोई सोने के बन्धन में, कोई चाँदी के और कोई लोहे के बंधन में बाँधता है। श्रुति कहती है कि बंधन जैसा भी हो, केवल बाहर से देखने में ही फर्क है। कुत्ते के गले में भी चाँदी, लोहे आदि की जंजीर देखी जाती है। बहुत अमीर तो सोने की जंजीर भी डाल देते हैं। अमीर लोग अपने बच्चे को सोने की जंजीर पहना देते हैं, बाद में जब लड़का कहना नहीं मानता तो कहते हैं कि 'मैंने तेरे लिये क्या नहीं किया'। कभी-कभी कुत्तों के गले में इस प्रकार की कीमती जंजीर देखकर लोग कहने लगते हैं कि "हम भी कुत्ते बन जाते तो अच्छा था!" विचारशील कहेगा कि मैं तो स्वतंत्र हूँ, मुझे बंधन में कौन डाल सकता है? तमोगुण लोहे की जंजीर है, रजोगुण चाँदी की और सत्त्वगुण से होने वाले कार्य सोने की जंजीर है। जो स्वतंत्र है, विचारशील है, वह कहेगा कि ये तीनों ही मेरे काम के नहीं। तण्डी कहने लगे 'वेद में सिखाया तो आपने यही है कि कर्म से बंधन होगा'। पिता कहने लगे 'कर्म से बंधन तो होगा ही किन्तु जब कर्म बाँधने लगे तब छोड़ देना, अभी कर्म छोड़ कर क्या करना है!' तण्डी महर्षि ने कहा इसका भी जवाब आपने सिखाया है:

वेदों में आता है 'संसारमेव निस्सारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः।।' अर्थात् संसार को ही निःसार जानकर सारवस्तु का दर्शन पाने के लिये परमवैराग्य से प्रेरित हो विवाह से पूर्व संन्यास लेते हैं। लोक में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं: एक तो भोजन की थाली सामने आते ही उसपर टूट पड़ते हैं। कौर तोड़ा और मुँह में डाला, गर्म और मिर्च-मसाले आदि का विचार ही नहीं किया। कौर बहुत गरम लगा, उसमें खूब मिर्च-मसाला भी पड़ा हुआ था अतः तड़पने लगे। अब अन्य लोगों के सामने मुँह से कौर को फैंक भी नहीं सकता! बुद्धिमान् दूसरे के चेहरे को देखकर एक आलू निकालता है, अंगुली से धीरे से छूता है। आलू बहुत गर्म है, दूसरों के चेहरों को देखकर मिर्च-मसाले आदि का अनुमान लगा लेता है और एक छोटा आलू का टुकड़ा फुलके में मिलाकर एकाध-कौर खा कर रह जाता है। भूख तो उसे भी लगी है, पर जल्दी नहीं करता। ठीक इसी प्रकार कुछ लोग होते हैं कि अध्ययन समाप्त होते ही बिना विचार किये कर्म में घुस पड़े। दूसरे वे लोग हैं जो संसार को सारहीन जान कर उधर प्रवृत्ति नहीं करते। संसार में कोई तो पैसे के बिना तड़प रहा है और दूसरा पैसा होते हुए भी बिना नींद के तड़प रहा है। पुत्र आज्ञाकारी है किन्तु अस्वस्थ रहता है तो डर लगा रहता है कि कहीं मर न जाये। पुत्र हृष्ट-पुष्ट है किन्तु आज्ञाकारी नहीं तो भी चिन्ता लगी रहती है। अतः तण्डी महर्षि के पिता ने भी कहा 'तण्डी, तू धन्य है। अब तो तुम्हें परमात्मा में ही लगना चाहिये।' इस प्रकार वे सीधे ब्रह्ममार्ग में ही लग गये। उन्होंने समाधि का अभ्यास किया और १० हज़ार वर्षों तक समाधि में लीन रहे। तब भगवान् शंकर का साक्षात्कार हुआ। उनकी स्तुति की और कहा 'मुझे उस तत्त्व का उपदेश कीजिये जिसमें बंधन बिलकुल न हो।'

बंधन-मोक्ष की दृष्टि से 'उपनिषद्' के तीन अर्थ हैं : गति, विशरण और अवसादन। ब्रह्मलोक में गति, आसक्ति-शैथिल्य तथा बन्धनाश ही उपनिषद् का कार्य है। यदि बंधन ढीला हो तो ब्रह्मलोक की प्राप्ति होने पर बंधन कट जायेगा। कुछ लोग बंधन में शिथिलता चाहते हैं, कि इस जीवन में तो बंधन रहे किन्तु बाद में मुक्त हो जायें। किन्तु तण्डी की इच्छा थी ' मैं तो इसी क्षण बंधन से मुक्त होना चाहता हूँ।' तण्डी महर्षि ने भगवान् शंकर से यही माँगा कि बंधन की बात ही न हो, तत्क्षण परम निष्ठा वाले मुक्ति-तत्त्व का उपदेश माँगा। भगवान् शंकर ने वरदान दिया कि तुम इस विद्या में सफल होगे और इसका जो भी अध्ययन

करेगा, उसकी भी बंधनों की निवृत्ति यहीं होगी। संसार में अधिकतर लोग तो बंधन में ही रहना चाहते हैं। वे 'सारा' ही छोड़ना नहीं चाहते। चाहते हैं कि दफ्तर, दुकान, रुपया तो बना रहे। किन्तु उपनिषद् में शुद्ध आत्म-ज्ञान का ही उपदेश है जिसकी सफलता आसक्ति रहते संभव नहीं। आत्मवस्तु संसार के सुख-दुःख से परे है, ब्रह्मस्वरूप जानने पर सुख-दुःख तो भोगेंगे नहीं। उससे अलग जब कुछ है ही नहीं, वही कण-कण में व्याप्त है तो दुःख कौन भोगेगा? कोई और बैठा है क्या? शुद्ध तत्त्व का विशेष वर्णन उपनिषदों में प्रकट है।

यदि अनन्त कोटि ब्रह्मांडों के त्रैकालिक सुख-दुःख को अलग-अलग कर दो, ढेरी बना लो, फिर उन दोनों कोटियों को मिलाकर तराजू के एक पलड़े में रखो तो भी वे दूसरे पलड़े में रखी हुई शिव के साथ एकता की अनुभूति के बराबर नहीं बनते। वे उस तराजू के पलड़ों को एक-जैसा करने में समर्थ नहीं। प्रेम से उस तत्त्व के साथ एकता की अनुभूति से उच्छलित होने वाली अनुभूति के सामने संसार-समुद्र का सुख-दुःख तो तिनके के बराबर भी नहीं है।

ठंडक का आनन्द तभी आता है जब गर्मी होवे। केवल ठंड ही ठंड हो तो आनंद नहीं, केवल गर्मी ही गर्मी होवे तो भी आनन्द नहीं। चारों तरफ गर्मी हो और बीच में ठंड हो तो आनंद आता है। इसी प्रकार चारों तरफ ठंड हो और बीच में गर्मी हो तो आनंद आता है। गर्मी के आनंद को निकालने के लिये सर्दी की जरूरत है। कितनी गर्मी ओर कितनी ठंडक की अपेक्षा है, यह चारों तरफ की गर्मी और सर्दी पर निर्भर है। जितनी ज्यादा ठंडक होगी, उतनी ही अधिक गर्मी की जरूरत होगी। अतः ठंडक में भी सुख है और गर्मी में भी सुख है किंतु तभी तक जब तक विरोधी मौजूद है। ठीक ऐसे ही भूख और भोजन के बारे में भी है। विरोधी प्रत्यय एक-दूसरे का उद्बोधन करते हैं। कुछ लोग मानते हैं कि प्रिय हमेशा पास रहे तो सुख नित्य है। वस्तुतस्तु अभिलाषा और उत्कंठा दोनों के कारण सुख का प्रादुर्भाव है। श्रीमद्भागवत में गोपिकायें पलक गिरने के समय मात्र का विरह काफी मानती थीं। वे कहती हैं कि पलक गिरने से उत्कंठा बढ़ती है। पलक उठनेमात्र से ही सारा दुःख समाप्त हो जाता है।

ठीक इसी प्रकार, जिसे तुम अनादिकाल की सृष्टि मानते हो वह तो निमेषमात्र है। उस तत्त्व ने अपने अन्दर अभाव की अनुभूति की तो अपने को बाहर फैंका और साधना से अपने को फिर अन्दर कर लिया। जिसे हम करोड़ों

साल समझते हैं उसकी वह अनुभूति केवल एक क्षण की है। बाहर के समय का यहाँ हिसाब नहीं। वह शिव तत्त्व कभी दो-चार दिन तक अपने स्वरूप से अलग हो यह कभी सम्भव नहीं। वह जो निमेषमात्र को अलग-सा होता है वही करोड़ों वर्ष प्रतीत होते हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों का सुख-दुःख अन्य कुछ नहीं, अपितु सृष्टि का प्रवाह शिव का बाहर निक्षेप ही है। निक्षेपकर पुनः वह अपने को लीन कर लेता है। शक्ति तत्त्व शिव तत्त्व का आविर्भाव करता है। समाधि में जिस भाव की प्रतीति होती है वह शिव-शक्ति की सामरस्यावस्था है।

भगवान् गौडपाद ने भी दो ही अवस्थायें बतायी हैं : एक सोने की और दूसरी जागने की। अभी तक तो आँखें बंद की हुई हैं। ताण्ड्यमहाब्राह्मण में आँखें खोलने की ही बात है। आँखें कैसे खुलें, इसपर फिर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन-२

जीवन का आदर्श

९-७-६८

श्रुति जीवन का आदर्श बताती है। समग्र साधना के द्वारा जिस स्थिति में पहुँचना है, उसका ऐसा ढंग भी बताती है जिसके द्वारा उन्नति को नापा जा सकता है। वैज्ञानिक नियमों का यही सिद्धांत है कि पहले एक मापदण्ड निश्चित कर लिया जाता है। जैसे समय का माप निश्चित किया घण्टा। सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय तक का एक दिन, यह एक माप है। अंग्रेजों के आने के पहले ६० घड़ी का दिन होता था। उस समय दिन का मान ६० घड़ी माना गया। २४ घण्टे या ६० घड़ी आदि माप में विशेषता नहीं। इसी प्रकार गज और मीटर भी समझ लेना। गज और मीटर दोनों की पारमार्थिक सत्ता नहीं है। वस्तुतः व्यवहार के लिये माप आवश्यक है। बिना माप के व्यवहार बनता नहीं। रुपये में ६४ पैसे, यह एक माप है; रुपये में १०० पैसे यह दूसरा माप है; रुपये में १९२ पाई भी एक माप है। बिना माप के व्यवहार सम्भव नहीं, इसलिये पहले माप निश्चित किया जाता है। चीजें यों ही मापी नहीं जा सकतीं, पर व्यवहार में लाने के लिये जो कल्पित उपाधि स्वीकारी जावे वह माप है। उपाधिविशेष द्वारा असीमित को सीमित करने वाली चीज़ का नाम ही माप है। वास्तव में जो असीम है उसके व्यवहार के लिये उपाधि को लिया जाता है। पृथ्वी का कोई एक भाग नहीं हो सकता, पृथ्वी का टुकड़ा नहीं कर सकते। किन्तु व्यवहार के लिये उपाधि को लेकर कहते हैं कि इतनी ज़मीन एक एकड़ है और इस एक एकड़ को हम अपनी मानेंगे। ऐसे ही सर्वत्र समझते जाना चाहिये। आकाश की भी कल्पित उपाधि है। आकाश मायने खाली जगह। आकाश तो असीम है लेकिन अपने व्यवहार के लिये खाली जगह को सीमित कर लिया और उसे अपना मान लिया, इसीलिये (air violation)

आकाश में हवाई हस्तक्षेप का विचार होता है। उतनी ऊँचाई पर दूसरे देश का हवाई जहाज़ आया तो गोली मार देते हैं, कहते हैं 'हवाई हस्तक्षेप हो गया। हमारे आकाश में तुम्हारा हवाई जहाज आ गया।' अनंत आकाश में उपाधि (५० या १०० मील) को मान लिया फिर उसे अपना भी मान लिया। व्यवहार के लिये एक, असीम और अनन्त को ससीम बनाया जाता है। कपड़े का एक थान है। एक उसमें १०० गज की कल्पना कर रहा है, दूसरा ९१.४४ मीटर की कल्पना कर रहा है।

उस ब्रह्म का अनुभव कैसा है? परमानन्द तो असीम है, अनन्त है। उस अनन्त आनंद की सीमा संभव नहीं। तुम्हारी बड़ी से बड़ी कल्पना से भी वह आनन्द अत्यधिक है। उस असीम आनन्द को व्यवहार के लिये (माप के द्वारा) कह देते हैं कि वह आनंद या अनन्तता इतनी है। आकाश में जितना भी ऊँचा उड़ते चले जाओ, कोई सीमा नहीं, आकाश कहीं खत्म नहीं होता। इसी प्रकार आनंद में भी प्रवेश करते चले जाओ, वह आनन्द खत्म होने वाला नहीं, आनन्द बढ़ता ही चला जायेगा, घटेगा नहीं। श्रुति ने जो छह उपाधियाँ यहाँ बताई उनसे आनन्द की तरफ बढ़ने का माप बताया। विचार से मनुष्य पता लगा लेता है कि आगे कैसे बढ़ सकते हैं। इस प्रकार तण्डी महर्षि आनन्द का स्वरूप बता रहे हैं। इसी के लिये ताण्ड्य शाखा का उपदेश दिया। उसका एक बाह्य रूप भी प्रकट किया कि वह हृदय और मस्तिष्क दोनों को उछाल देता है। जब मनुष्य संगीत-लहरी में उछल पड़ता है तब वह अनजाने ही नाच पड़ता है। अतः नृत्य के द्वारा भी महर्षि तण्डी ब्रह्म-विद्या का उपदेश कर रहे हैं कि इसके द्वारा मनुष्य उस असीम अनंत आनंद को प्राप्त कर लेता है। 'तण्डिना प्रोक्तम् ताण्ड्यम्' जैसे तण्डि से ताण्ड्य बनता है उसी प्रकार दूसरे प्रत्यय से ताण्डव शब्द भी बनता है। महर्षि तण्डि ताण्डव के उपदेष्टा भी हैं। नृत्य-शास्त्रकारों ने सभी नृत्यों के दो भेद किये हैं। 'पुन्नृत्यं ताण्डवम् प्रोक्तम् स्त्रीनृत्यं लास्यमुच्यते'। एक, पुरुष का नृत्य और दूसरा, स्त्री का नृत्य। पुरुष-नृत्य को ताण्डव कह दिया और स्त्री-नृत्य को लास्य कह दिया। आजकल एक तीसरे प्रकार का नृत्य भी है जिसका शास्त्रकारों को पता नहीं था। हमें उसका अब पता लगा है। वह है पुरुष-स्त्री दोनों का संयुक्त नृत्य; ऐसा ही होता है हीजड़ों का नृत्य।

ताण्डव और लास्य नृत्य का अर्थ यह नहीं लेना चाहिये कि पुरुष के द्वारा किया गया नृत्य ताण्डव नृत्य है और स्त्री के द्वारा किया गया नृत्य लास्य है, बल्कि पुरुष भी लास्य नृत्य कर सकता और स्त्री भी ताण्डव नृत्य कर सकती है।

ताण्डव, लास्य विशेषण तो केवल नृत्य के हैं। जो नृत्य स्वयं पुरुष हो, वह ताण्डव और जो नृत्य स्वयं स्त्री हो, वह लास्य है। ताण्डव नृत्य के आद्याचार्य भगवान् शंकर और लास्य नृत्य की आद्याचार्य शक्तिस्वरूपिणी स्वयं भगवती पार्वती हैं। द्रष्टा को पुरुष और दृश्य को स्त्री कहा गया है। द्रष्टा का दूसरा नाम है पुरुष और स्त्री मायने दृश्य। अतः द्रष्टा का विश्व जगत् में नृत्य ताण्डव और दृश्य का नृत्य लास्य है। सभी जगह ऐसा समझ लेना। जब मन वृत्ति बनाने में लगा है तो लास्य कर रहा है और मन की उस वृत्ति को देखते हुए तुम ताण्डव कर रहे हो। तुम द्रष्टा हो। जब वृत्तियों को कुछ देर तक देखते रहोगे तो वृत्तियाँ खतम हो जायेंगी। ताण्डव हुआ तो उपसंहार हो जाता है, फिर कुछ शेष रहता नहीं। सृष्टि में सर्वत्र, अणु परमाणु तक में यही स्थिति है। धनाणु अपने चारों तरफ ऋणाणुओं को नचा रहा है, घुमा रहा है तो ताण्डव हो रहा है; और ऋणाणु जो घूम रहे हैं वह लास्य कर रहे हैं। जहाँ ऋणाणु कमजोर पड़े, धनाणु प्रधान हो गये वहाँ विस्फोट हो जाता है। इसे आणविक विस्फोट Atomic explosion कहते हैं। ताण्डव नृत्य होगा तो उसका फल उपसंहार ही होगा। इस सम्पूर्ण विश्व सृष्टि में यही स्थिति है। सूर्य अपनी शक्ति से ग्रहों को घुमा रहा है, ताण्डव हो रहा है। और ग्रह लास्य कर रहे हैं। यह बात दूसरी है कि किसी की अपेक्षा सूर्य भी लास्य करता समझा जावे। यहाँ तो बता रहे हैं कि लास्य-ताण्डव रंगमंच पर ही दीखने वाले नहीं हैं। ये तो तुम्हारे जीवन में प्रतिक्षण दीखने वाली चीजें हैं।

देखना यह चाहिये कि लास्य कैसे ताण्डव बनता है। जब तक मन की वृत्ति को देख रहे हो, तब तक ताण्डव की स्थिति में हो। जब मन की वृत्ति पर चढ़ गये, बजाय देखने के उसके साथ एक बन गये, तादात्म्य अध्यास हुआ तब ताण्डव लास्य बन गया। आगे चलकर इन्द्रियों की वृत्ति को लास्य बनाया तो साक्षी मन है। प्रमाता या साक्षी किसी और चीज को देखता है। मन की दृष्टि से वृत्ति के साथ एक होने पर वृत्ति को ही ताण्डव बनाया। यहाँ इन्द्रियों की वृत्तियों का उपसंहार मन में होगा। जब इन्द्रिय-वृत्ति से भी एक हुए तो घट-पटादि पदार्थ देखने लगे। क्रमशः लास्य को ताण्डव में ले रहे हो, लास्य बढ़ता जा रहा है और इस बढ़ने की कोई सीमा नहीं। जब शरीर से भी एक हो गये तो घर वालों को, पत्नी-पुत्र आदि को लास्य बना लिया। फिर उनको जब अपना समुदाय, अपना

अंग मान लिया तो उनसे तादात्म्य स्थापित करने के बाद, बाहर दूसरों को ही लास्य मान लिया। इस प्रकार मन से एक हुए, इन्द्रियों से एक हुए, शरीर और शरीर-सम्बन्धी अन्य पदार्थों से एक हुए। यह लास्य है।

लास्य और ताण्डव का फर्क कैसे पता लगे? अपने ही जीवन में घटाकर देख लो। पड़ोसी का लड़का अनुत्तीर्ण हो गया तो लास्य बन गया। पड़ौसी कहते हैं 'हमें पहले ही पता था, अच्छा हुआ, सारा दिन खेलता रहता था।' अपना लड़का अनुत्तीर्ण हो जाये तो कहते हैं, 'हाँ खेलता तो था किन्तु आजकल परीक्षक भी बड़ी कड़ाई से अंक देते हैं।' अर्थात् मैं से जुड़ने पर दुःखानुभूति होने लगी, यह ताण्डव है। अपना सम्बन्धी अनुत्तीर्ण हुआ तो ताण्डव और दूसरे के साथ वही हो गया तो लास्य। कोई व्यक्ति केले के छिलके से फिसल कर गिर पड़ा तो हँसी आ जाती है पर अपना कोई गिर जाये तो हँसी नहीं आती। अपना लड़का गिरे तो ताण्डव और दूसरा कोई गिरे तो लास्य बन गया। यह परम्परा असीम है। अतः जैसे-जैसे तादात्म्य बढ़ता है, ताण्डव-लास्य भी बढ़ता जाता है।

एक सज्जन सुना रहे थे कि 'अमरीका में राबर्ट कैनेडी को गोली मार दी गई और वे दो दिन बाद मरे। इन दो दिनों में मेरी लड़की ने मृत्युंजय मंत्र का जप किया कि वह बच जाये!' जिसे कभी देखा नहीं, जिससे कोई सम्बन्ध नहीं, उसके लिये मृत्युंजय का जप हो रहा है। यह तादात्म्य अध्यास कहाँ तक पहुँचेगा, कहाँ तक कौन अपना लास्य बढ़ा ले, इसका कोई ठिकाना नहीं। वियतनाम के युद्ध से भारत में बाप-बेटे में द्वन्द्व हो रहा है। बाप कहता है अमरीका यदि दक्षिण वियतनाम को हथियार नहीं देगा तो चीन से भारत की आजादी को भी खतरा है। बेटा कहता है कि इसमें अमरीका का साम्राज्यवाद झलकता है। यद्यपि वियतनाम के युद्ध से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। जैसे-जैसे यह अध्यास बढ़ेगा, ताण्डव और लास्य का क्षेत्र भी बढ़ता चला जायेगा।

इस प्रकार नृत्य-शास्त्र के ताण्डव और लास्य का दार्शनिक आधार है। शिव का नृत्य ताण्डव है। शिव अर्थात् द्रष्टा का अपने को देखना ही ताण्डव नृत्य अथवा उपसंहार है। जीव अपने से भिन्न को ही दृश्य समझता है। अन्तिम दृष्टि से तो एकमात्र परम शिव, शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप ही ताण्डव करने वाले हैं; सब चीजों का अत्यन्त नाश ही उद्देश्य है। जहाँ अविद्या का लेश भी नहीं रहे वहीं परम

शिव का ताण्डव है। वहाँ पहुँचकर मोक्ष है। 'अविद्यास्तमयो मोक्षः'। अविद्या का अस्त हो जाना ही मोक्ष है। उस प्रपञ्चोपशम शान्त अद्वैत तत्त्व को न जानना ही बन्धन है और उस 'न जानने' का (अज्ञान का) समाप्त होना ही मोक्ष है। केवल दृष्टि-भेद से ही बंधन-मोक्ष हैं। तत्त्व का निश्चय होने पर ही ऐसा सम्भव होता है और निश्चय न होने तक उसमें स्थिति सम्भव नहीं।

दक्षिण भारत में सुब्रह्मण्यम् नाम का एक बालक था। बचपन से ही उसे संगीत का बड़ा शौक था। इसका कोई ठिकाना नहीं कि किसको किस चीज का शौक हो। एक यान्त्रिक को डाक टिकट इकट्ठी करने का और एक कपड़ा बेचने वाले को वेदान्त-विचार का शौक हो सकता है। दूसरे लोग इसका निर्णय नहीं कर सकते कि किस को किस चीज का शौक होगा, यह तो केवल व्यक्ति स्वयं ही जान सकता है। लोग कहते हैं 'मुझे अनेक शौक हैं' पर इसका अर्थ है कि उन्हें शौक है ही नहीं! शौक तो वही है जिसके लिये चित्त तड़पे। उस बालक को संगीत का बड़ा शौक था। आरम्भ में वह चिड़ियों की चहचहाट सुनने में ही समय काफी लगाता था, वह उसे बहुत प्रिय लगता था। कभी-कभी झरनों और नदी के कल्लोल में ही उसका मन लगता था। उसे इतना शौक था कि भूख से रो भी रहा हो और यदि संगीत सुनने को मिल जाये तो भूखा होते हुए भी चुप हो जाता था। कुछ बड़ा हुआ तो संगीत सुनने जाता था और सीखने की भी चेष्टा करने लगा। उसके पिता ब्राह्मण ज्योतिषी थे। वे कहते थे 'ज्योतिष शास्त्र पढ़ो, अपने कई यजमान हैं, लगे रहेंगे, काफी पैसा मिल जायेगा।' वह बहुत कहते किन्तु बालक का मन नहीं लगता था। बीच-बीच में उसके मामा अवश्य उत्साह देते 'तुम्हें संगीत का ही शौक है तो वही पूरा करो।' वे बहनोई से भी कहते पर वे नाराज होते थे कि तुम हमारा घर बिगाड़ रहे हो। आजकल भी बाप समझते हैं कि रोटी कमाना ही जीवन का उद्देश्य है। सुब्रह्मण्यम् कहता 'हमें बिना रोटी कमाये ही सुख मिल रहा है, तो इसमें तुम्हें क्या दुःख है।' फिर भी लड़के ने पिता की आज्ञा मानकर थोड़ी-बहुत ज्योतिष पढ़ी। धीरे-धीरे वह एक बहुत बड़े संगीतज्ञ के पास जाने लगा। उसका शौक देखकर वे उसे सिखाने भी लगे। एक बार संगीत सुनकर वह ठीक वैसा ही गा लेता था। धीरे-धीरे उसने घर जाना भी छोड़ दिया। साथ ही वह लड़का बड़ा न्याय-प्रिय भी था। एक बार कोई प्रसिद्ध संगीतज्ञ आये हुए

थे। वह भी अपने गुरु के साथ उस सभा में गया जहाँ उनका संगीत-कार्यक्रम था। उन्होंने बड़ा ही सुन्दर संगीत सुनाया।

विद्वानों में एक दोष होता है कि वे किसी अन्य बड़े विद्वान् को देखकर, उनकी प्रशंसा सुनकर उसमें छिद्रान्वेषण करने लगते हैं, मानों गुण देखकर उन्हें दुःख होता है! एक धनी भी अपने से अधिक धनवान् को देखकर दुखी होता है। अपना नुकसान करके भी वह उसे किसी प्रकार नुकसान पहुँचाने का प्रयत्न करता है, सोचता है कि कैसे उसकी दुकान खतम की जाये। ऐसे ही दूसरे दिन सुब्रह्मण्यम् के गुरु भी उस संगीतज्ञ में दोष दिखाने लगे। कहने लगे कि 'राजाओं के यहाँ रहने से ही उसका बड़ा मान होता है। वास्तव में वह कोई विशेष अच्छा थोड़े ही गा लेता है।' सुब्रह्मण्यम् से न रहा गया। उसने झट कहा 'संगीतज्ञ तो आप भी बड़े हैं किन्तु उनकी कोटि के फिर भी नहीं। वहाँ बैठे-बैठे उनका संगीत सुनकर झूम तो आप भी रहे थे।' इससे गुरु के 'अहं' को धक्का लगा। कहने लगे 'तू कुछ नहीं जानता।' बात बढ़ी और सत्यता का अन्वेषण होने लगा। गुरु ने कहा 'तू अपने को इतना योग्य समझता है तो तू ही हमारे साथ गाकर देख ले।' बात गुरु-शिष्य में स्पर्द्धा तक पहुँच गई। सुब्रह्मण्यम् ने कहा, 'मैं तो क्या गा सकता हूँ, आपका शिष्य हूँ। आप कहते हैं तो भगवती की कृपा से मैं भी गा लूँगा।' स्पर्द्धा के लिये दिन और मध्यस्थ निश्चित हुआ। तीन दिन का समय रह गया तो सुब्रह्मण्यम् का पता ही नहीं था कि कहाँ है। अन्तिम दिन आया और निश्चित समय तक सब लोग इकट्ठे हुए, मध्यस्थ भी अपने स्थान पर बैठ गये, किन्तु सुब्रह्मण्यम् का कहीं पता नहीं था। सब कहने लगे कि वह छोटा-सा लड़का क्या मुकाबला करेगा, डर के मारे भाग गया है, घबरा गया है। अकस्मात् सबने देखा कि सुब्रह्मण्यम् आ रहा है; ढंग के कपड़े नहीं, बाल भी बिखरे हुए हैं, चेहरा तमतमा रहा है, आँखें लाल हैं। आकर बैठ गया। बात चली कि पहले कौन गाये। यद्यपि स्पर्द्धा थी किन्तु फिर भी परम्परा के अनुसार जो बड़ा हो, पहले वही गाता है। गुरु उससे पद में बड़े थे और उमर में भी, तो यह निश्चय हुआ कि पहले गुरु ही अपना करतब दिखायें। यमन कल्याण राग वे विशेष गा लेते थे। उन्होंने बड़ा अच्छा गाया। लोग कहने लगे कि 'यह लड़का क्या गायेगा। चलो, इसी बहाने हमें एक अच्छा राग सुनने को मिल गया।' अब सुब्रह्मण्यम् की बारी आई। उसने भी

वही राग गाया। उसका संगीत सुनकर सब के सब स्तब्ध हुए, कोई भी अपने स्थान से हिला तक नहीं। संगीत बंद हुआ किन्तु लोगों के ऊपर नशा छाया रहा। जब वह नशा कुछ उतरा तो सबने देखा कि गुरु सुब्रह्मण्यम् के पैरों पर पड़े हैं। विद्वान् की यह विशेषता भी होती है कि वह दूसरे की विद्वत्ता को देखकर मान भी जाता है। गुरु कुछ कहने से पहले ही चले गये। उन्होंने सोचा कि 'अब जीने से क्या लाभ! अपने शिष्य से ही हमारी पराजय हो गई।' दूसरे दिन उन्होंने जाकर एक कुएँ में आत्महत्या कर ली।

सुब्रह्मण्यम् की बहुत ख्याति हो गई। यहाँ तक कि वह राज-दरबार में भी जाने लगा। खूब धन-ऐश्वर्य उसके पास आने लगा। यह एक स्वभाव है कि सफलता मिलने से ऐश्वर्य बढ़ने पर मनुष्य उसके मूल स्रोत, उत्स को भूल जाता है। जिससे अनंत आनन्द की प्राप्ति होती है, मनुष्य उसी स्रोत को भूल जाता है। सुब्रह्मण्यम् भी भूल गया।

एक बार एक महात्मा उधर से घूमते हुए निकले। उनके साथ भगवान् शंकर की एक छोटी-सी मूर्ति थी और अठारह साल का एक ब्रह्मचारी सेवक था। वे महात्मा भी बड़े संगीतप्रेमी थे। लोगों ने उनसे कहा कि 'यहाँ एक बहुत प्रसिद्ध संगीतज्ञ हैं, आप उनका संगीत सुनिये।' लोगों ने सुब्रह्मण्यम् की बहुत तारीफ की किन्तु साथ ही कहा कि उनकी बड़ी फीस है। महात्मा ने कहा 'उससे जा कर कह दो कि हमारे साथ भगवान् शंकर हैं, उन्हें संगीत का बड़ा शौक है, सुनाना हो तो आ जाना।' लोगों ने वैसा ही जा कर कहा तो सुब्रह्मण्यम् बोला 'उनके शंकर को अगर सुनने का शौक है तो सौ गिन्नियाँ भेज दें। वरना जहाँ हमारा गायन हो, वहाँ आकर सुन लें।' लोगों ने महात्मा से जाकर यही बात कह दी तो महात्मा कहने लगे 'जैसा मैं संन्यासी, वैसे ही मेरे इष्ट। मैं तो फिर भी कपड़ा पहन लेता हूँ, वे तो नंगे ही रहते है! सौ गिन्नियाँ कहाँ से लायेंगे!' एक बार सभा हुई तो लोगों ने आग्रह किया। महात्मा ने कहा 'भगवान् शंकर को छोड़कर मैं जा नहीं सकता और इनको साथ ले जाऊँगा तो लोग क्या कहेंगे! तुम लोग ब्रह्मचारी को ले जाओ, उसे ही सुना देना।' महात्मा ने ब्रह्मचारी से कहा कि तुम जब वहाँ जाना तो कहना 'मृदंग मैं बजाऊँगा।' ब्रह्मचारी ने कहा 'मुझे तो मृदंग बजाना आता ही नहीं।' गुरु ने कहा 'तुम घबराना नहीं, सब ठीक हो जायेगा।' वह ब्रह्मचारी चला

गया। महफिल जमी, सुब्रह्मण्यम् ने तानपूरा उठाया। उसी समय १८ साल का वह ब्रह्मचारी उठा और मृदंग बजाने की आज्ञा माँगी। संगीतज्ञों ने कहा 'तू छोटा-सा लड़का क्या मृदंग बजायेगा!' ब्रह्मचारी ने कहा 'आप मुझे बजाने की आज्ञा दीजिये, यदि मैं नहीं बजा सका तो आप विशेषज्ञ हैं, मुझे क्षमा कर देना, मैं चुप हो जाऊँगा।' सुब्रह्मण्यम् ने भी सोचा कि यदि इसकी प्रार्थना नहीं मानी तो अन्य लोग कहेंगे कि डर गये। चलो, इसे बजाने दो, दो एक ताल के बाद ही स्वयं बैठ जायेगा। अतः ताल आदि का निर्देश देकर बजाना आरंभ किया। उसने मृदंग बिलकुल ठीक बजाया, कहीं भी उसकी भूल नहीं हुई, किन्तु सुब्रह्मण्यम् को लगा कि वे सम पर आने पर दो-चार मात्रा आगे-पीछे हो जाते हैं। विद्वान् तो थे ही। अपनी भूल समझने लगे और यह भी उन्हें स्पष्ट हो रहा था कि यह बालक मृदंग तो बिलकुल ठीक बजा रहा है, भूल कहीं हमारी ही हो रही है। अब उन्होंने अपना ताल सम्हालने का प्रयास किया। जहाँ वे ताल सम्हालने लगे कि स्वर बिगड़ने लगे! अन्त में १८ साल के लड़के से पराजय हुई। जनता हँसने लगी। यह तो जनता है; वह एक मिनट में एक ही व्यक्ति को देवता और दूसरे ही मिनट में उसी को राक्षस कह दे।

सुब्रह्मण्यम् घर पहुँचे। गुरु का वह दृश्य याद आया। उन्होंने निर्णय किया कि 'अब शरीर रखने से कोई लाभ नहीं। मैं एक साधारण बालक से ताल नहीं मिला सका।' रात्रि में १२ बजे उठे और आत्महत्या करने के लिये उसी कुएँ पर पहुँचे। जैसे ही कुएँ में कूदने लगे कि पीछे से एक व्यक्ति ने आकर उनकी गर्दन खींची। पकड़ने वाले ने कहा- 'मैं जानता था कि तुम यही करोगे। प्रत्येक डरपोक व्यक्ति यही करता है। यह तो पलायनवाद है। बुद्धिमान् परिस्थिति से भागता नहीं, वह तो परिस्थिति को अपने अनुकूल बनाने का प्रयास करता है, उससे लाभ उठाता है, परिस्थिति से घबराने से तो होने वाला काम भी ढीला पड़ जाता है।' वहाँ अंधेरा था। सुब्रह्मण्यम् को कुछ दिखाई तो दे नहीं रहा था। पूछा 'कौन है?' तो महात्मा कहने लगे 'मैं उसी का सेवक हूँ जो भगवान् शंकर तुम्हारा गायन सुनना चाहते थे किन्तु जिनके पास १०० अशर्फी नहीं थीं।' सुब्रह्मण्यम् समझ गये। कहा 'आपका शिष्य मृदंग तो अच्छा बजा लेता है। लेकिन मुझे अब जाने दो।' महात्मा ने कहा- 'उसने तो मृदंग कभी छुई भी नहीं। तुम याद करो कि तुममें आज से २४ साल पहले गीत गाने वाला कौन था, उस समय संगीत किसने तुम्हें बताया, किस

की शक्ति से तुम्हें सफलता प्राप्त हुई? आज उसी ने मृदंग बजाया है जिसने २४ साल पहले गाया था; जिस भगवती शक्ति की कृपा से तुमने यह विद्या और सफलता प्राप्त की, उसी के पति को सुनाने के लिये तुम्हारे पास समय नहीं है! यही तुम्हारे अपमान का कारण है। विद्या प्राप्त कर तूने विद्या को वेश्या बना डाला। वेश्या की क्या परिभाषा है; जो अपने को बेचकर सोने-चाँदी के ठीकरे इकट्ठे करे, वही वेश्या है। इसी प्रकार अपनी कला को सोने-चाँदी के ठीकरों पर बेचने वाले को भी वेश्या ही कहेंगे। अपनी कला का तूने नाश कर दिया। किन्तु फिर भी वह तुझे भूला नहीं। परमेश्वर की यही विशेषता है कि जिसे एक बार देख लिया, जिसे एक बार पकड़ लिया, फिर उसे कभी छोड़ता नहीं। वह लाख भी कोशिश करे तो छुड़ा नहीं सकता। तुझे तो जिस नाद ब्रह्म की उपासना करनी थी, तू उसे ही भूल गया। तू आत्महत्या तो कर चुका! अच्छा है कि आगे किसी को अपना काला मुँह न दिखा। तेरी सच्ची आत्महत्या यही है कि तू मेरे साथ चल और उसी नाद-ब्रह्म की उपासना कर।' उस दिन के बाद फिर किसी ने सुब्रह्मण्यम् के बारे में कुछ सुना नहीं।

सुब्रह्मण्यम् का जीवन ही प्रत्येक प्राणी का जीवन है। लास्य को हमने ताण्डव बनाया है। सृष्टि का नृत्य लास्य है। द्रष्टा में स्थित न रहने के कारण यह लास्य ही ताण्डव हो रहा है। जीव अपने उस अनुभव को भूल गया कि मेरा शरीर कुछ कर ही नहीं सकता। जैसे ही उसमें अहम् आया कि वह नाश को प्राप्त होता है। यदि गुरु ने समझा दिया तो बच जाता है। हम शरीर, मन और इन्द्रियों को ही अपना मानते हैं, इससे आगे चले तो घरवालों को ही अपना मान बैठे। लेकिन असली तत्त्व जो इन सबको बनाने वाला और चलाने वाला है, उसे भूल जाते हैं। उसे पकड़ने पर ही जीव बन्धन से छूट पायेगा, तभी वह स्वतंत्र हो पायेगा। यही बात यहाँ श्रुति कह रही है कि मैं महद् बनूँ। जब पुनः नाद ब्रह्म में स्थित होंगे तभी सोने-चाँदी की श्रृंखला से छूटेंगे। इसका उपाय दो प्रकार के नृत्य में बताया, शिवभाव में स्थित होकर ताण्डवभाव में रहो, जगत् को लास्य करने दो। तभी कल्याण है।

प्रवचन-३
गुरुमण्डल
१०-७-६८

श्रुति भगवती छह मापदण्ड परब्रह्म परमात्म तत्त्व की प्राप्ति की तरफ जाने के बता रही है। इनका विस्तार इस चातुर्मास्य की कथामाला में करेंगे। चातुर्मास्य कर्म भी एक मापदण्ड है। शास्त्र में भगवती ललिता का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह 'गुरुमण्डलरूपिणी' है, अर्थात् ब्रह्मविद्यास्वरूपिणी भगवती शक्ति सारे गुरु-मण्डल का एक रूप है। शास्त्रों में छह प्रकार के गुरु-मण्डल बताये गये हैं: देवौघ, ऋषि-औघ, मुनि-औघ, सिद्धौघ, मानवौघ और परमेष्ठि गुरु तक प्रत्यक्ष गुरुजन। इन सबको मिलाकर गुरु-मण्डल कहा गया है। यह परब्रह्मपरमात्म तत्त्व का अपने स्वरूप को प्रकट करने का एक क्रम भी है। इन-इन रूपों में परमेश्वर अपने रूप को प्रकट करते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में परब्रह्म परमात्मतत्त्व देव-स्वरूप से अपने को प्रकट करता है। वह देवौघ है। सर्व-प्रथम परब्रह्म परमात्म तत्त्व ने अपने आपको थोड़ा-थोड़ा ज्ञानों में बाँटा तो देवौघ बना। देवता ज्ञान-स्वरूप हैं। अतः यह परमात्मा का ज्ञान-स्वरूप, सर्वज्ञ स्वरूप है। इसमें ज्ञान की प्रधानता है। परमेश्वर ने मानो देवरूप में अपने को विभक्त किया। प्रत्येक देवता किसी विशिष्ट कर्म को करते हैं, जैसे इंद्र बल देने वाले, वरुण पाप नष्ट करने वाले, ब्रह्मा उत्पत्ति करने वाले, विष्णु पालन करने वाले और रुद्र संहारकर्ता हैं। सारे देवता अपने तत्तद् कार्यों को करते हैं और ये सब कार्य परमात्मा के ही हैं। परमेश्वर इन सब रूपों में अपने को विभक्त करते हैं। मानव को अपने कल्याण के लिये जितने ज्ञान की आवश्यकता है उन्हें अभिव्यक्त करने के लिए शिव ही देवरूप से ऋषियों को प्रकट करते हैं। अर्थ और काम की अप्रतिबद्ध पूर्णता के लिये स्वर्गादि लोक बना कर अंत में परमात्मस्वरूप से मिलकर मोक्ष-प्राप्ति पर्यन्त जो धर्म एवं ब्रह्म समझना जरूरी है

उसका सारा ज्ञान देवता ऋषियों को देते हैं। इसी ज्ञानराशि को वेद कहते हैं। वेद का परिमाण 'अनन्ता वै वेदाः' से स्वयं श्रुति ने असीम कहा है।

ऋषि औघ – ऋषियों ने देवताओं से चारों पुरुषार्थों के समग्र साधनों के ज्ञानों को प्राप्त कर मनुष्यों को दिया। ऋषि तो सीधी-सीधी बात कहते हैं। वेदों में भी सीधी आज्ञा-स्वरूप बातें कहीं, जैसे 'सत्यं वद'। कैसे सच बोलो, उसके क्या-क्या रूप हैं, आदि का निर्णय स्मृतियों में करेंगे। ऋषि द्वारा प्रदत्त वेद तो केवल आज्ञास्वरूप है जिसमें विधि और निषेध दोनों आ जाते हैं। जैसे मालिक आज्ञा देता है कि अमुक कार्य करना है। यदि कोई पूछे कि क्यों करना है तो वह कहेगा 'मैं मालिक हूँ, मैंने कह दिया, इसलिये करना है।' वहाँ विस्तार की आवश्यकता नहीं। ऋषियों से उस तत्त्व की प्राप्ति मुनियों को हुई। मुनि का अर्थ है मननशील। जब मुनियों ने उसपर मनन किया तब वे वेदवचनों के अनुरूप युक्ति भी बता देते हैं, तब मनुष्य उसे अधिक समझ पाता है और तदनुकूल अपनी दार्शनिक प्रणाली बनाता है। श्रुति ने तो कह दिया-'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'तत्त्वमसि'। मुनियों ने इन महावाक्यों के लक्ष्यार्थ, भाग-त्याग लक्षणा आदि की प्रक्रिया मनन करके बता दी। उन्होंने युक्ति द्वारा सिद्ध कर दिया किस प्रकार जीव ब्रह्म है। चौथा है सिद्धौघ। मुनियों द्वारा तत्त्व की सिद्धि होने पर उस तत्त्व को स्पन्दित कैसे किया जाये, यह सिद्धों ने बताया। साधक प्रयत्न करने पर भी यदि फिसल जाता है तो उसकी निवृत्ति का उपाय सिद्धों ने बता दिया। मनन के द्वारा फिर ताकत आई, युक्ति भी मालूम हुई जिससे धीरे-धीरे उस अवस्था में पहुँच सकें, नित्य-निरंतर उसमें स्थित हो जायें और फिर वहाँ से पतित न होने पावें। सिद्धौध ने यह सब बता दिया किन्तु फिर भी मनुष्य के लिये संभव नहीं हुआ कि उस तत्त्व को प्राप्त कर सके। कारण यह है कि मनुष्य के अंतःकरण में अनेक दोष छिपे हैं। सारे वेदांत का श्रवण करने पर भी उसने शास्त्रीय कर्म को व्यर्थ मान लिया है। यदि कहो कि मन्दिर में शिव-पूजा करो तो कहते हैं, 'स्वामी जी, मन्दिर में शिव-पूजन की क्या आवश्यकता है? वेदान्त श्रवण कर लिया, मैं ब्रह्म हूँ, यह शरीर क्षण-भंगुर है।' किन्तु जैसे ही चाँदनी चौक की तरफ जाता है तो सब भूल जाता है। एक सज्जन कहते थे कि संसार मिथ्या है यह सब ठीक है, किन्तु बुखार में

तो दवाई बिलकुल सच्ची ही लगती है। अतः मानवौघ में पहुँचे। किस धर्म का पालन करने से कौन-सी शक्ति आयेगी, यह मानवौघ ने बताया। मनु महाराज से आरंभ होकर मानवौघ ने विस्तृत धर्म का उपदेश किया और वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था की। इसके बाद भी हमें क्या अपेक्षित है? प्रत्यक्ष गुरु, जो इस मार्ग में लगा देते हैं।

इस प्रकार भगवती ललिता के गुरु-मण्डल स्वरूप का दर्शन हो तब एकता में स्थिति हो जाती है। अद्वैत आत्म-बोध ही ललिता का स्वरूप है, वहाँ कुछ भी अलग नहीं रह जाता, शुद्ध चिन्मात्र की प्रतीतिमात्र ही रह जाती है। वहाँ शब्द की पहुँच नहीं। केवल प्रतीतिमात्र है। इस प्रकार ब्रह्मविद्या के बाह्य रूपों को प्रकट किया जिनका पूजन गुरुपूर्णिमा के दिन किया जाता है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हम सब वैदिक हैं और वेद को प्रमाण मानते हैं। वेद में शक्ति की पूजा है, व्यक्ति की पूजा नहीं, यह सिद्धांत है। यथा राष्ट्रपति को सम्मान मिलता है, किसी व्यक्ति को नहीं। डा० राधाकृष्णन् को जो सम्मान राष्ट्रपति पद पर मिलता था आज वही सम्मान डा० जाकिर हुसैन को मिलता है। राष्ट्रपति शक्ति के कारण ही पूज्य बने। आद्यंत सब सृष्टि शिव-शक्ति का ही स्वरूप है। अतः वेद ने कह दिया 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव' माता के शरीर की पूजा नहीं बल्कि मातृशक्ति की पूजा होती है। हो सकता है कि माँ अनपढ़ है, माँ में बहुत सी त्रुटियाँ हैं, माँ का रूप भी सुंदर नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि सबकी माँ सुन्दर ही होवे, माँ की शक्ल भद्दी भी हो सकती है। लोग कहते हैं, 'जी, हमारी माँ में कौन-सी ऐसी विशेषता है जो उसकी पूजा करें? हम तो पढ़े-लिखे हैं, विद्वान् हैं।' वेद कह रहा है कि माँ की पूजा करो। उसी ने तो हमारे शरीर का पोषण किया है। उसमें हम मातृ-शक्ति का पूजन करते हैं। इसी प्रकार वेद ने पिता का पूजन करने को कह दिया। पुत्र के लिये उसमें पितृशक्ति उत्पन्न हुई है। हमारे यहाँ शक्ति का ही पूजन होता है, व्यक्ति का नहीं। वही शक्ति मातृ-पितृरूप में प्रकट हुई। गुरु यह न समझे कि अपनी शक्ति से उपदेश करता हूँ। उसको परमेश्वर की शक्ति मिल रही है, तभी वह उपदेश कर रहा है। पारमेश्वरी शक्ति ही सर्वत्र कार्य कर रही है। जब तक बोलने की शक्ति है, तभी तक बोल रहे हैं।

जीभ को लकवा मार जाये तो बोल नहीं सकते। अतः जबान भी उसी की शक्ति से हिल रही है। शिष्य भी यही समझे। इसलिये भगवती ललिता को गुरु-मण्डलरूपिणी कहा है।

जहाँ ब्रह्म-विद्या प्रकट हो, वहीं गुरु-पूजा है। पूर्णिमा के दिन यह पूजा होती है। पूर्णिमा का अर्थ है मन की पूर्णिमा अर्थात् मन पूर्ण हो जाये। मन का अधिपति चन्द्रमा है। पूर्णिमा का चन्द्र मन की पूर्णता का प्रतीक है। मन से ही उस तत्त्व का ज्ञान हो सकता है। 'मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन'। जब मन पूर्ण हो जाये अर्थात् पूर्ण परमात्मा का ही ध्यान करे तभी मन की पूर्णिमा है। यही पूर्णिमा का स्वरूप है। मन पूर्ण कब होवेगा? जब वह यह समझने लगेगा कि अनंत कोटि ब्रह्माण्ड मुझ में ही धारण हो रहे हैं और मुझ में ही लीन हो रहे हैं। शास्त्रकारों ने भी बताया कि मेरे अन्दर ही ये सारे ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो रहे हैं। 'मयि मायाविजृम्भितः'। इस पूर्णिमा (पूर्णता) को प्राप्त कर हम श्रावण में प्रवेश करते हैं। पहले आषाढ की पूर्णिमा प्राप्त करो तब श्रावण में प्रवेश होता है। गुरु-पूर्णिमा के बाद ही श्रावण में प्रवेश होता है। गुरु भी इसी पूर्णता का उपदेश करते हैं। (गुरुपूर्णिमा-पूजा का अवसर होने से इतना ही प्रवचन हुआ।)

प्रवचन-४

क्रतु

११-७-६८

भगवती श्रुति छह सोपानों द्वारा परमात्मा तत्त्व की प्राप्ति के स्वरूप का वर्णन कर रही है- १. महद् , २. भर्ग, ३. यश, ४. स्तोम ५. भुक्ति और ६. सर्व। इस मंत्र में उसके द्वारा रक्षण, अपने अदंर प्रवेश और उसी के द्वारा पालन, ये उसकी प्राप्ति के तीन साधन भी बता दिये हैं। इनमें पहले सोपान पर विचार कर रहे थे कि किस प्रकार हम महत् को प्राप्त करें, कैसे उस महत् में स्थित होवें। इस पर संक्षेप में विचार किया कि महत् में स्थिति का साधन क्या है। वही एक तत्त्व सर्वत्र विद्यमान है। अत: जो चीज विशालता की तरफ ले जाती है, स्वार्थ से रोक कर सबके कल्याण की तरफ ले जाती है, वही हमको महत् बनायेगी। प्रत्येक व्यक्ति सामान्यरूप से यह चाहता है कि मैं उदार बनूँ और मेरे विचार विस्तीर्ण हों। ऐसे व्यक्ति की लोग प्रशंसा भी करते हैं। किन्तु स्वार्थ पर आपत्ति आने पर सब भूल जाते हैं! प्रत्येक मनुष्य के जीवन में यह घटता है। प्रत्येक व्यक्ति आदर्श को तो जानता है, महान् बनना चाहता है और प्रयत्न भी करता है, किन्तु स्वार्थ को नहीं जीत पाता। इसी के फलस्वरूप शुभ कार्य तो हम दूसरे से करवाना चाहते हैं और अशुभ कार्य स्वयं करते हैं। चोर-बाजारी खुद करते हैं और कहते हैं कि सरकार चोर-बाजारी बंद करे। घूस खुद लेते हैं किन्तु कहते हैं कि मंत्री घूस लेना बंद क्यों नहीं करते? अशुभ कार्य में तो हमारी प्रवृत्ति हो रही है और चाहते हैं कि शुभ कार्य कोई और करे। यदि और कोई न करे तो परमेश्वर ही करे। साधक कहता है 'हे परमेश्वर! आप हमारे मन के विकारों को दूर करो!' इसका तात्पर्य क्या है? मन को विकृत हम करेंगे अत: हमारा काम तो हुआ बुरे विचार सोचना और परमात्मा का काम है उन्हें दूर करना। सरकार, राजपुरुष, परमेश्वर का नाम लेकर हम अपनी

जिम्मेदारी से बचना चाहते हैं। सर्वत्र यही सामान्य नियम देखने में आता है कि शुभ कार्य हमारे अतिरिक्त कोई दूसरा ही करे, हमारे अशुभ कार्यों को भी कोई और दूर करे। यहाँ तक कि मन-मर्जी से खाकर बीमार तो पड़ें हम और चिकित्सक का काम है हमें ठीक करना। यदि ठीक नहीं हुए तो कहते हैं 'अमुक चिकित्सक की दवाई खाते कई दिन हो गये किन्तु हम अभी तक ठीक नहीं हुए।' स्वयं तो हम एक दिन का पथ्य भी नहीं रख सकते किन्तु चिकित्सक पर दोष देते संकोच नहीं होता। यह महान् बनने का तरीका नहीं है। महत् तो खुद बना जाता है, बनाया नहीं जाता। यह नियम है कि जो दूसरे से बनाया जाता है, वह स्थिर नहीं रहता। जैसे जल स्वरूप से ठंडा है, अग्नि से गर्म बनाया जाता है, अग्नि दूर होते ही वह फिर से ठंडा हो जाता है। तुम आरक्षी के द्वारा ईमानदार बनाये नहीं जा सकते हो क्योंकि जैसे ही नज़र दूर हुई कि बेईमानी कर बैठते हो। हम एक जगह मोटर में जा रहे थे, रात्रि का समय था। कई जगह एक गोल चक्कर से घूम कर जाना होता है किन्तु सारथी ने उधर से न मोड़कर सीधे ही रास्ता काट दिया। हमने पूछा 'ऐसा क्यों किया?' तो कहने लगा 'अब कौन आरक्षक खड़ा है!' इसी प्रकार जीवन में भी यदि परमात्मा द्वारा शुद्ध किये जायेंगे तो फिर अशुद्ध हो जायेंगे। हम मन्दिर में जाते हैं; सद्ग्रंथों को बाँचते हैं; विचार भी करते हैं कि जगत् के ही लिये परमात्म-तत्त्व का त्याग न करें; छहों सोपानों को जीवन में लाना चाहते भी हैं; किन्तु यह सब चिंतन मन्दिर में जाने और सत्संग-श्रवण के आधार पर है। इसीलिये होता यह है कि जहाँ मन्दिर से बाहर गये कि स्वभाव प्रकट हो जाता है। जो अपना रूप है वह बनाया नहीं जाता, ठोक-पीट से काम नहीं चलता। हमें कौन-सी चीज अच्छा बनाती है और कौन-सी चीज बुरा, इसे यदि समझ जायें तो निर्णय करें कि हम बुरे नहीं बनेंगे। इस समग्र ब्रह्माण्ड का मूल बीज क्या है इसे विचार-पूर्वक समझने पर प्रकृति-विकृति का कारण पता लगता है।

ऋग्वेद में कहा है 'कामस्तदग्रे समवर्तत' इस सारी सृष्टि का बीज संकल्प है, काम है। यजुर्वेद में भी इसी प्रकार कहा है- 'सोऽकामयत एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय' उसने संकल्प किया मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ। सर्वत्र सृष्टि का मूल संकल्प-मात्र ही बताया है। अतः हमारे अच्छे-बुरे बनने का बीज भी संकल्प ही है। यही बात सामवेद के छान्दोग्य ब्राह्मण के २८वें अध्याय में आयेगी 'स यथाक्रतुर्भवति

तत्कर्म कुरुते'। जैसा संकल्प होता है, वैसा ही आगे कर्म करता है। 'क्रतुमयोऽयं पुरुषः' संकल्पमय ही यह पुरुष है। उसी संकल्प की पूर्ति के लिये ही पूरी तरह लगा हुआ है। मन के अन्दर भरे हुए संकल्प ही पुरुष का रूप हैं। वेद के इस वाक्य पर गम्भीरता से विचार करो 'क्रतुमयोऽयं पुरुषः'। धर्म वह नहीं है जो तुम बाहर से करते हो; वह सामाजिक व्यवहार हो सकता है पर वह आत्मिक कल्याण का आधार नहीं है। पुरुषत्व की परीक्षा इससे नहीं होती। यह बात श्रुति बता रही है। किन ग्रंथों को पढ़ते हो, किन विचारों को करते हो, कैसे लोगों के साथ संग करते हो, इनसे भी तुम्हारी वास्तविकता का पता नहीं लगता। हमेशा ऐसा नियम नहीं है, किन्तु सामान्य रूप से यही देखा जाता है कि जैसा मनुष्य होता है, वैसा ही संग ढूंढता है। पर कभी इसका उल्टा भी देखने में आता है। पंचदशी का पाठ करते हो, उसमें[१] आता है कृष्ण यद्यपि भोगी थे क्योंकि १६,१०८ विवाह किये थे पर उनमें ज्ञान-वैराग्य की फिर भी पूर्णता थी। इस हिसाब में गोपिकाओं को हमने छोड़ दिया है, यह तो द्वारिका वालों की गिनती है। जब हमसे लोग पूछते हैं कि हम क्यों न करें तो हम कहते हैं कि तुम भी अवश्य इतने ही विवाह करो, इतने नहीं तो १६ ही करो। पैगम्बर मुहम्मद ने इतने ही किये थे। लेकिन यदि तीन-चार भी विवाह करोगे तो धोखा खाओगे! दूसरी तरफ शुकदेव जी योगी हैं जिन्होंने एक भी विवाह नहीं किया, किन्तु फिर भी व्यास जी ने कृष्ण को महाभारत में योगेश्वर कहा है। 'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिः'। परन्तु कृष्ण और शुकदेव समान कोटि के ज्ञानी थे। अतः बाह्याचरण से स्थिति का पता नहीं चल सकता। प्रायः पता लग भी जावे किन्तु संगमात्र के ज्ञान से ही इसका निर्णय संभव नहीं। इसी प्रकार किन ग्रंथों को बाँचते हैं, किन बातों का विचार करते हैं, इससे भी मनुष्य का पता नहीं लगता। काशी में एक विद्वान् पंडित थे जो वेदान्त पढ़ाते थे। अनेक वर्षों तक उन्होंने पढ़ाया। अपनी वृद्धावस्था में वे हमसे पूछने लगे, 'स्वामी जी, सच-सच बताइये कि क्या जगत् सचमुच झूठा है?' हमने कहा 'आप तो वेदान्ती हैं, द्वैतमिथ्यात्व तो अद्वैतसिद्धि नामक ग्रन्थ के आरंभ में ही बता दिया गया है।' वे कहने लगे, 'वह सब जाने दीजिये, युक्ति से तो हम भी सब सिद्ध कर सकते हैं पर सच्ची बात क्या है?' हम एक बार दक्षिण देश में थे। वहाँ एक विद्वान्

१. पंचदशी में यह श्लोक मिलता नहीं। प्रकरण ६. श्लो. २८७ का सन्दर्भ तुलनीय है।

जो हमारे साथ बैठे हुए वेदान्त विचार कर रहे थे, कहने लगे 'अमुक आदमी आपके पास आते हैं, जरा उनसे मेरे लड़के की नौकरी के बारे में तो कह दीजिये।' हमने कहा 'आप अभी तो वेदान्त की चर्चा कर रहे थे, यह लड़के वाला मामला बीच में कैसे आ गया?' कहने लगे वह सब वेदान्त-चर्चा तो ठीक है किन्तु लगता तो वही सब सच्चा है। अतः कोई क्या विचार करता है इससे भी वास्तविकता का पता नहीं लग सकता।

इसलिये अथर्ववेद का उद्घोष है- 'क्रतुमयोऽयम् पुरुषः'। मन में जो संकल्प निरन्तर उद्बुद्ध रहता है, वही पुरुष का सच्चा रूप है, बाकी सब तो आच्छादन या आवरण हैं। जिस में खराबी होवे, उसे ऊपर से ढाँक देते हैं। एक जगह हम भोजन करने गये हुए थे। उन सज्जन ने हमारे सामने जो चौकी रखी थी, उसपर बढ़िया कपड़ा डाल दिया था। स्मृति में नियम है कि कपड़े पर रखकर भोजन करना नहीं चाहिये। हमने जैसे ही वस्त्र हटाने के लिये हाथ बढ़ाया तो वे कहने लगे, 'नहीं-नहीं स्वामी जी, इसे ऐसे ही रहने दीजिये।' हमने कहा 'हम तो लकड़ी की चौकी पर ही भोजन करते हैं।' बात यह थी कि चौकी जरा गन्दी थी! हमने कहा, 'कोई बात नहीं, यह तो धोकर साफ हो सकती है।' वस्त्र या आच्छादन को खोलकर नहीं देखोगे तो उससे ढकी हुई अत्यंत कीमती या खराब चीज़ का पता ही नहीं लग सकता। ढकी रहते असलियत का पता नहीं लग सकता। अतः बुद्धिमान् चीज़ का स्वरूप ही देखता है। यदि कंठा बढ़िया सुन्दर मंजूषा में बन्द है तो बुद्धिमान् उस से संतुष्ट नहीं होता है, वह उसे खोलकर देखता है। जो बुद्धिमान् नहीं है, वह केवल बढ़िया मंजूषा देख कर ही प्रसन्न हो जाता है और खोटे हीरों को घर में लाता है! यही बात संकल्प के साथ भी है। तुमने अपने असली संकल्पों के ऊपर आवरण दे रखा है। इसीलिये श्रुति कह रही है 'क्रतुमयोऽयं पुरुषः'। जैसा संकल्प होगा, वैसी ही क्रिया होगी। इसके लिये एक प्रयोग बताते हैं, करके देख लो। चित्त शांत हो तो बैठकर मन के भावों को बिना रोके ही लिखते जाओ, बदलने की चेष्टा न करो। बाद में उनको बाँचो तो अपने जीवन का चित्र मिल जायेगा! दक्षिण में एक विद्वान् थे आचार्य अप्पय दीक्षितेन्द्र। एक बार उनके मन में विचार आया 'मन में असल में क्या भरा है देखें, कहीं गड़बड़ तो नहीं है।' अपने शिष्यों से कहने लगे, 'मैं आज भाँग डट कर पियूंगा और उस अवस्था में मैं जो बक-बक करूँ, उसे तुम लिखते जाना।' उनका नशा

उतरा तो उन्होंने देखा कि उनके मुँह से बड़े सुन्दर स्तोत्र निकले थे! तब उन्हें संतोष हुआ कि उनके चित्त में सिवाय परमेश्वर के और कुछ नहीं है।

संकल्परूप ही यह पुरुष है। इसी को बताने के लिये श्रुति ने कहा कि संकल्प ही मन का 'रेतस्' है- 'मनसो रेतो यदाहुः' संकल्प या काम ही मनका रेतस्, वीर्य या शुक्र है। जैसे शरीर को ताकत देने वाला, शरीर का सार, रेतस् या वीर्य है वैसे ही मन को ताकत देने वाला शुक्र, मन का सार, चिन्तन-शक्ति का आधार संकल्प ही है। मन के रूप का परिवर्तन कि केवल सत्संकल्प ही रहे, यही उसकी शुद्धि है। यह ठीक है कि जब तक शरीर का रेतस् ठीक नहीं, मन की भी शुद्धि सम्भव नहीं है किन्तु जब तक मन का स्थिरीकरण नहीं होगा, मन के संकल्प ठीक नहीं होंगे, कार्य सम्पन्न नहीं होगा। अतः मन के संकल्प को ही काम भी कहा गया है। जिस प्रकार काम शरीर को विकृत करने वाला है उसी प्रकार मन के संकल्प ही मन को विकृत करने वाले हैं। पहले तण्डि शब्द का अर्थ बताते हुए ताण्डव और लास्य पर विचार किया गया था। तण्डि शब्द 'तडि आघाते' धातु से बनता है। संकल्प निरंतर मन पर आघात करता है। संकल्पों के आघात से ही क्रिया चलती है। जब संकल्प का आघात नहीं तो आगे फिर कोई विचार, कुछ क्रिया नहीं होती। ताण्डव नृत्य में भी आघात की ही प्रधानता है। लास्य में स्थिरता और कोमल ताल की प्रधानता है। ताण्डव में इसके विपरीत है। आचार्य पुष्पदन्त आघात का वर्णन करते हुए लिखते हैं:

'अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरकृपा'। इस आघात से सारा ब्रह्माण्ड क्षय हो रहा है। 'मुहुर्द्यौर्दौस्थ्यं यात्यनिभृतजटाताडिततटा, जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता' (शि०म०१६) दिक्पाल अपने स्वरूप से गिर जाते हैं, दिशायें भी टूटने लगती हैं। यही ताण्डव नृत्य है जिसमें शिव के हाथ घुमाने से द्युलोक हिल जाता है। यह सृष्टि के उपसंहार का नृत्य है जिसमें पृथ्वी, आकाश, तेज, वायु सब डगमगाने लगते हैं। डमरू के निनाद से लोगों के कान फटने लगते हैं। यहाँ आघात की प्रधानता है। भगवान् शंकर जब ताण्डव करते हैं तो कोई हिसाब नहीं लगाते कि कहीं आवाज ज़्यादा न हो, पृथ्वी के प्राणी मेरे पैरों के हिलोरों से ज्यादा घबरा न जायें। वे तो निश्चिंत होकर ताण्डव करते हैं। ठीक उसके मुकाबले में सृष्टि-नृत्य में भगवती का लास्य हो रहा है जिसमें बड़े कोमल ढंग से काम हो रहा है। वहाँ इतनी कोमलता है कि यदि पास में चींटी भी हो तो उसे भी पता नहीं

लग पाता। यह बड़ा मृदु कार्य है। इसमें शक्ति की प्रधानता है। शक्तिप्रधान नृत्य लास्य है।

संकल्प मन के ऊपर आघात से ताण्डव करते हैं। मन स्वयं तो लास्य करता है। वह वृत्ति को इतनी सरलता से बनाता है कि पता ही नहीं लगता कि कब क्या हो गया। लोग कहते हैं, महाराज, ध्यान लगाने बैठते हैं तो पता ही नहीं लगता कि मन कब कहाँ चला गया। जब तक मन को ध्यान में लगाने का प्रयत्न करते हो, आघात कर रहे हो, तब तक ताण्डव हो रहा है। किन्तु जब मन फिसल कर जाता है तो लास्य होता है जिसका पता नहीं लगता। यही फर्क है ताण्डव और लास्य में। जितना शुभ संकल्पों का आघात बढ़ाते जाओगे, पूर्व के अशुभ आघात नष्ट होते चले जायेंगे, उनमें फिर तेज नहीं रह जायेगा कि वे विघ्न पैदा करें। यही तडि आघाते से ताण्डव नृत्य के उपदेशक महर्षि तण्डि का संकेत है।

अब प्रश्न उठता है कि इन संकल्पों को कैसे बदलें? पहले के संकल्प ही महत् बनने में एकमात्र रुकावट हैं जो वासनारूप में इतने स्वाभाविक हो गये हैं कि लास्य बन गया। कलकत्ते में हम एक बार किन्हीं के घर में ऐसी जगह ठहरे हुए थे जहाँ रात के समय भी मोटर निकलती थीं, खूब हल्ला होता था। जब हमने उनसे कहा तो कहने लगे– 'स्वामी जी, यहाँ तो दो–चार ही मोटरे हैं, क्या हल्ला होना है!' वहाँ दिन के समय मोटर, ट्रक आदि की इतनी भीड़ होती थी कि सड़क पर दो इंच की भी जगह नहीं रहती थी। अतः दिन के समय का तो उन्हें हल्ला पता लगता था पर बाकी समय उनके लिये स्वाभाविक ही था। यदि पिता काम कर रहा हो और बच्चा ज़रा–सा आकर हाथ रख दे तो कहते हैं 'हट, मुझे बहुत काम करना है।' उनसे थोड़ा भी बरदाश्त नहीं होता। माता की तरफ भी देख लो। माँ रोटी बना रही है, साथ में कुछ गीत भी गा रही है और बच्चा भी कभी इधर पकड़ता है, कभी उधर। वह सब कुछ कर रहा है और माँ को फर्क ही नहीं पड़ता, वह काम किये जाती है। पाँच मिनट बाद दिक्कत लगे तो जरा कह देती है 'तू बहुत तंग करता है।' माता को रात–दिन उसके व्यवहार का अभ्यास हो गया है जो यहाँ तक बढ़ जाता है कि कभी बच्चा घर में नहीं होवे, माँ शांति से बैठी हो तो उसका दिल नहीं लगता। कहती है कि बच्चे बाहर चले गये हैं घर सूना लग रहा है। इतना अधिक अभ्यास हो गया है कि शांति से बैठे रहने पर सूना लगता है। इसी प्रकार मन को भी संकल्पों का इतना अभ्यास हो गया है कि वे

उसका स्वभाव ही बन गये हैं। वही उसके लिए सच्ची चीज और उसका मानो स्वरूप हो गये हैं। इस संकल्पों को जीतने का आधार क्या है?

एक कथा है: महर्षि जमदग्नि की पत्नी रेणुका थी। उससे पाँच पुत्र हुए। सबसे छोटे पुत्र बहुत प्रसिद्ध हैं-परशुराम। जंगल में महर्षि निरंतर तपस्या में निरत रहते थे। वह स्थान रुणकता नाम से प्रसिद्ध है। एक दिन रेणुका जल लाने गयी, वहाँ चित्ररथ नामक गन्धर्वराज अपनी रानियों सहित जल-क्रीडा कर रहे थे। उन्हें देख रेणुका के मन में आया कि मैं भी ऐसा ही खेल खेलूँ, खेल अच्छा है। यह भाव आया। उस रेणुका के मन में जो महर्षि जमदग्नि की पत्नी, परशुराम की माता और स्वयं तपस्विनी थी, ऐसी रेणुका के मन में यह संकल्प हुआ!

आजकल लोग रात-दिन सांसारिक व्यवहार करते हुए समझते हैं कि चलचित्र देख लेंगे तो क्या असर पड़ेगा, क्लब में भी घूम आयेंगे, विवाह में नट-नाटिनियों को बुलाकर नचायेंगे तो भी क्या बिगड़ता है! रेणुका के मन में भी वही आ गया। हम रोज प्रार्थना करते हैं 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिः' हम कानों से कल्याण की बात को सुनें, हम आँखों से कल्याणकारी रूप को देखें। हमें केवल कल्याणकारी रूप ही देखने को मिले। आजकल क्या हाल है? हम कहीं पहाड़ पर गये हुए थे। किसी सज्जन के घर में ठहरे। उन्होंने हमारे लिये कमरा, साथ में स्नानागार आदि का प्रबन्ध किया। सर्वत्र बहुत सफाई की थी। हम ने देखा कि खिड़की का एक काँच टूट गया है अतः उन्होंने यह सोचकर कि कहीं महाराज को ठंड न लगे, वहाँ कागज के टुकड़े लगाकर उस जगह को ढाँक दिया था। वह कागज परिवार-नियोजन का विज्ञापन था। हमने बाद में कहा कि यह कैसा कागज लगा रखा है! तुम्हारे घर में बहू-बेटियाँ हैं। उन्होंने कहा कि हमें तो पता ही नहीं कि कागज कैसा है। अभद्र को देखते सुनते, निरंतर व्यवहार से इतना अभ्यास हो गया है कि पता ही नहीं लगता कि यह अभद्र है। हम ऋषियों से भी आगे बढ़ गये हैं। चोर-बाजारी करते हुए, घूस खाते हुए, ठगते हुए भी हम धन्य हैं कि हमारे आत्म-ज्ञान पर कोई आघात नहीं! सब कुछ करते हुए भी आत्म-स्थिति में बने रहते हैं।

चित्ररथ गंधर्वराज की क्रीडा देखकर रेणुका वहाँ ज्यादा देर खड़ी रह गई। घर आने पर महर्षि ने पूछा कि इतनी देर कैसे हो गई तो रेणुका ने कह दिया 'कुछ नहीं, धूप जरा तेज हो गई थी, इसलिये रुक गई थी।' जमदग्नि महर्षि थे, सूर्य देव

पर बड़ा क्रोध आया। कहने लगे 'सूर्य की इतनी हिम्मत कि मेरी पत्नी को कष्ट दे? मैं रोज सूर्य की आराधना करता हूँ, अर्घ्य देता हूँ और वह इतना भी न कर सके कि मेरी पत्नी को धूप के ताप से बचाने के लिये थोड़ी छाया कर दे!' यह होता है पत्नी-प्रेम। आज-कल का प्रेम भी देख लो। महीने भर से घर में कोई नौकर नहीं है और साहब आकर आराम-कुर्सी पर पैर लम्बे करके बैठे हैं। पूछते भी नहीं कि घर में कोई नौकर नहीं है, कुछ कठिनाई तो नहीं हो रही। महर्षि को क्रोध आ गया। क्रोध आते कितनी देर लगती है! सूर्य की तरफ दृष्टि की तो उन्होंने कहा 'महाराज, मेरा अपराध नहीं, ज़रा अपना घर तो पहले देख लो। घर में ही मामला गड़बड़ है।' महर्षि ने विचार कर समझ लिया कि मेरी पत्नी मुझ से झूठ बोली। क्रोध तो उत्पन्न हो ही चुका था। 'मेरे इष्ट के प्रति इसने झूठ बोला जिससे मैंने अपने आराध्य के प्रति क्रोध किया, इससे क्रोध और बढ़ा। झट बड़े पुत्र से कहा 'काट ले माँ का गला।' पुत्र कहने लगा 'पिता जी, बताइये तो, माँ का क्या कसूर है?' सोचने लगे, वह मेरी पत्नी है। पिता अपने बेटे को माता की कमजोरी प्रकट नहीं कर सकता। दूसरे से कहा, तीसरे और चौथे से भी कहा तो उन्होंने भी पूछा कि आखिर माता का क्या अपराध है। अंत में परशुराम से कहा। परशुराम आज्ञाकारी थे, उन्होंने झट उठाया अपना फरसा और काट दिया माता का गला! महर्षि का क्रोध शांत हो गया। कारण निवृत्त होने पर कार्य भी निवृत्त हो गया। परशुराम पर पिता प्रसन्न हुए। कहा, 'तू बड़ा आज्ञाकारी है। वरदान माँग ले।' परशुराम ने कहा 'माँ जीवित हो जाये और उसे इस बात का पता भी न लगे कि मैंने उसका सिर काटा था।' महर्षि ने मृत्युंजय की आराधना की, कमण्डलु का जल छिड़का। रेणुका झट ऐसे उठ खड़ी हुई जैसे स्वप्न से उठी हो।

विचार करो; संस्कृत में रेतस् को रेणु शब्द से भी कहते हैं। रेतस् और रेणु एकार्थक हैं। हिन्दी में रेणुका को बालुका कहते हैं। श्रुति ने भी 'मनसो रेतः' कहा है। मन की संकल्पशक्ति ही रेणुका है। जमत् अग्नि अर्थात् जमदग्नि की पत्नी है। जम् भक्षणे धातु है जिसका अर्थ खाना या जीमना होता है। जो कुछ खाया, उससे अग्नि पैदा होती है- जमदग्नि। भाष्यकार ने तो यहाँ तक कह दिया है कि सारे विषय खाये ही जाते हैं। रूप आँखों से खाया जाता है। जैसे-जैसे पदार्थों या विषयों से व्यवहार करेंगे , वे व्यवहार उसे स्फूर्ति या ऊर्जा देते रहेंगे। मन ने जो कुछ खाया, जो देखा वही बाद में संकल्परूप में प्रकट हुआ। वैसा ही व्यवहार होगा।

जमदग्नि और रेणुका दोनों तपस्वी थे। तप का अर्थ ही किया है 'यस्य ज्ञानमयं तप:'। वेद की बातों को ही नित्य-निरंतर मन में धारण करते रहते थे। वेद की प्रार्थना है 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'। नित्य-निरंतर हमारे मन में शिव-संकल्पता ही बनी रहे। शिव के संकल्प को मन में लाना जमदग्नि-रेणुका का तपस्वी जीवन है। यही पति-पत्नी का प्रेम है। रेणुका ने किसी काल में चित्ररथ को देख लिया। चित्ररथ देखने का अर्थ है अलग-अलग, चित्र-विचित्र चीजों को देखना। यह विश्व विचित्र रथ है, निरंतर चलता रहता है, क्रीडा करता रहता है। इसकी क्रीडा को देखकर मन (रेणुका) कहता है कि मैं भी ऐसी क्रीडा करूँ। वहाँ रुक गया। पानी लाने में देरी हो गई। शुद्ध जल लाना था अर्थात् ध्यान में मन को लगाना था। ध्यान करने के लिये बैठें तो शुद्ध विचारों का ताँता आना चाहिये। ध्यान आरंभ किया। धीरे-धीरे गम्भीरता आई। ध्यान की सच्ची गम्भीरता में होश ही नहीं रहता। वहाँ एक ही तत्त्व में प्रवेश करते हैं।

हमारी स्थिति क्या है? मन क्रीडा देखने में लगा है। कभी विचार दाँये, कभी बाँये भटकते हैं। जमदग्नि की यह स्थिति नहीं। उसमें तत्त्व के सिवाय कोई अन्य वृत्ति क्षण-भर के लिये आ ही नहीं सकती। वह तो तुरंत ही गम्भीरता में जाता है। दीर्घकाल तक तत्त्वानुष्ठान करने से, हृदय में पूर्णता होने से, धीरे-धीरे ध्यान करना संभव नहीं, झट से हो जाता है। किंतु जब हम ध्यान करने बैठते हैं तब शुद्ध जल नहीं पहुँचता, शुद्ध संकल्प उठता ही नहीं । इसका कारण क्या है? गलत संकल्प ही सचाई को छिपाता है। कहता है 'मैं अन्य मंत्र याद कर रहा था, याद नहीं आ रहा था। मैं एक के बाद दूसरे विचार ज़रा तरतीब से सजा रहा हूँ'। जमदग्नि ध्यान करने बैठे और तुरन्त संकल्पशुद्धि नहीं हुई तो जमदग्नि ने सोचा, 'गजब हो गया, मेरे इष्टदेव सदाशिव मेरी रेणुका की तुरंत मदद न करें, यह कैसे संभव हो सकता है! वे तो आत्मस्वरूप हैं। तुरन्त तत्त्व में स्थिति न होना शिथिलता का लक्षण है। जो पूर्णता होनी चाहिये थी वह क्यों नहीं रही? भगवान् सदाशिव का ध्यान करने पर मन तुरन्त शिव-संकल्प वाला क्यों नहीं हुआ?' पता चला कि संकल्पशक्ति ने ही गड़बड़ किया है। विश्व को देख चुकी है, उसके पदार्थों में ज़रा लटपटा गई है इसीलिये कड़ापन कुछ ढीला पड़ गया है। मन दूसरी तरफ जाये तो शिववृत्तिका कार्य पूरा नहीं हो सकता, अब पुनः वृत्ति को बनाने में कुछ समय लगेगा। तुरन्त विचार किया कि यदि संकल्प अनात्मा की तरफ

जाता है तो उसे फौरन काटो, फैंको। ऐसा दृढ निश्चय होता था ऋषियों का। यह नहीं कि लड़का अनुत्तीर्ण हो गया, चोरी करने लगा, कुसंग में पड़ रहा है तब भी हममें इतनी शक्ति नहीं कि उसे भगा देवें कि 'निकल जा घर से'। जब संकल्पशक्ति ही काम न करे तो व्यक्ति क्या कर सकता है!

जमदग्नि के पाँच पुत्र क्या हैं? पंच चक्र ही पाँच पुत्र हैं। उनसे कहा कि अनात्मा की वृत्ति को काटो। प्रथम चार ने जब काम नहीं किया तो पञ्चम विशुद्ध चक्र परशुरामरूपी विवेक-ख्याति ने फरसे से उसे काट डाला। मूलाधारा, स्वाधिष्ठान, मणिपूर और अनाहत, इन चारों में संकल्पशक्ति को क्षय करके अन्त में पञ्चम चक्र विशुद्ध में पहुँच गये। यहाँ संकल्प शक्ति समाप्त हो गई। रेणुका मर गई तब आज्ञा चक्र में उसे पुनः जीवित कर दिया। अब पुरानी स्मृति ही नहीं रही, वह अत्यंत शुद्ध हो गयी। आज्ञा चक्र में जाकर दृष्टि इधर-उधर नहीं जा सकती। संकल्प शक्ति को इस प्रकार ही विजय किया जा सकता है।

प्रवचन-५

निःसंकल्पता

१२-७-६८

भगवती श्रुति परमात्म-तत्त्व के स्वरूप का निरूपण करते हुए एक मापदण्ड बता रही है जिससे हम उस तत्त्व की प्राप्ति करते हुए पता लगा सकें कि हम उसके कितना समीप पहुँच रहे हैं। सबसे पहले बताया कि हम महान् बनें, संकीर्ण और परिच्छिन्न भाव से निकलकर विस्तृत-भाव को प्राप्त करें। हमारी अनन्तता का स्वरूप किससे परिच्छिन्न होता है, व्यापक भाव कैसे संकीर्ण होता है, यह बताया जा चुका है। संकल्प से जीव-भाव की प्राप्ति होती है, और संकल्प-रहित भाव के द्वारा व्यापक-भाव में स्थिति, निःसंकल्पता की स्थिति होती है। यही वस्तुतः मोक्ष का साक्षात् साधन है। संकल्परहित ही ब्रह्म का रूप है और संकल्प-विशिष्ट जीव का रूप है। जैसे-जैसे संकल्प बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे परिच्छिन्नता ज़्यादा होती जाती है; संकल्प कम होने पर परमात्मभाव स्फुट से स्फुटतर होता चला जायेगा। निःसंकल्पता ही मुक्ति का उत्तम साधन है। संकल्प से बंधन, परिच्छिन्नता है। ब्रह्म से जीव-भाव की प्राप्ति का कारण भी संकल्प ही है। संकल्प को छोड़कर निःसंकल्पता को कैसे प्राप्त करें? विचार-दृष्टि से देखने पर पता लगता है कि मनुष्य जिस भाव से नीचे गिरता है, उसी भाव से उसे पुनः ऊपर उठना पड़ता है। जिस जमीन पर पैर फिसला है उसी भूमि का सहारा लेकर फिर खड़े होना पड़ता है। बिना उसका सहारा लिये खड़े नहीं हो सकते। व्यवहार में भी यही करते हो। दुकान किसलिये खोली है? रुपये के लिये। काम नहीं चला, दुकान बंद कर दी। अब भविष्य में रुपये की प्राप्ति के लिये काम न करें, दुकान न खोलें तो पैसा वापिस नहीं आ सकता। जिस दुकान के सहारे गिरे थे, नुकसान हुआ था, उसी दुकान के सहारे फिर आगे बढ़ना पड़ेगा।

दुकान में दूसरों का रुपया लगा है। नासमझ उत्तमर्ण आदमी नुकसान होने पर अधमर्ण से कहता है कि 'हमारे ५००० रुपये वापिस कर दो। पाँच नहीं तो दो या तीन हजार ही वापिस करो।' बुद्धिमान् कहता है 'कोई बात नहीं, तुम्हारे दिन जरा ढीले पड़ गये हैं। तुम मुझ से २५००० रुपये ले लो और दुकान फिर से खोलो। मेरे पिछले ५ हजार, ये २५ हजार, और ब्याज भी आ जायेगा।' जिस धन के सहारे नुकसान हुआ था, उसे पूरा करने के लिये भी उसी धन का सहारा लेना पड़ता है।

इसी प्रकार इस परिच्छिन्नता की प्राप्ति संकल्प से ही हुई, अतः इस चक्र से छूटने का उपाय भी संकल्प ही है। संकल्प से बँधे हो, संकल्प से ही छूटोगे। लेकिन संकल्प का तरीका बदलना पड़ेगा। बंधन में लाने वाला तरीका एक है और उससे छुड़ाने वाला तरीका कुछ और। गिरने और उठने का तरीका अलग-अलग है। सहारा तो एक ही जमीन है। गिरने का तरीका है, अतितेजी से चलना, अपनी इच्छा से नहीं, दूसरे की इच्छा से ही सही। जितनी तेजी से चले उतनी तेजी से गिरे। धीरे-धीरे चलने से गिरने का मौका नहीं रहेगा। यदि शीघ्रता की और तेजी से पैर रगड़ा तो फिसले। उठते समय भी वैसी ही तेजी की चेष्टा करोगे तो फिर गिरोगे। एक तो, उठते समय धीरे-धीरे उठोगे दूसरे, उठने के लिये विपरीत तरफ जाना होगा। गिरने के लिये जमीन की तरफ गये और उठने के लिये ज़मीन से दूसरी तरफ। विपरीत तरफ जाने से ही उठना होगा। जिधर थे उधर से दूर होना ही तो उठना है। अतः गिर करके उठने के लिये दो नियम हैं: १. तेज़ी से गिरे थे, धीरे-धीरे उठना पड़ेगा। २. ज़मीन की तरफ गिरे, उल्टी तरफ उठना पड़ेगा।

ऐसे ही दुकान का मामला है। दुकान बंद क्यों हो गई? क्योंकि तेज़ी से लखपति बनना चाहते थे। कलकत्ते में चाँदी के एक व्यापारी थे। एक दिन उन्होंने कहा कि कल ही २० रुपये की तेज़ी चाँदी में आ गई। हमने पूछा, 'फिर तो आपको बड़ा फायदा हुआ होगा?' वे हँसने लगे, कहा, 'हमें कोई फायदा नहीं, आज तेज़ी है तो कल मंदी होगी। यह तेज़ी तो सटोरियों के लिये नफे नुकसान की होती है। अपना तो वही रुपये-दो रुपये की मजदूरी का ही हिसाब चलता है। मैं कभी इस कार्य में नहीं पड़ता। कभी एक-दो रुपये सस्ती और कभी एक-दो रुपये महँगी, अपने को इतना ही फर्क पड़ता है।' गिरता वही है जो तेजी से लखपति बनना चाहता है। धीरे-धीरे व्यापार करने वाले का दीवाला नहीं होता। घाटा होने पर यदि किसी ने तुम्हे २५ हजार रुपया दिया है तो धीरे-धीरे लगाओ,

झट नहीं। सहारा तो रुपये का ही लेना पड़ेगा किन्तु इस बार धीरे-धीरे, विचार कर कदम रखना होगा। दूसरी बात, विपरीत क्रम करना पड़ेगा। पहले जब रुपया ज़्यादा था तो उधार देकर ज़्यादा फायदा उठाते थे। उधारियों से ही ज़्यादा फायदा होता है। यदि उधार लेने वाले को २५ रुपये दाम कहा तो वह ले लेगा। किन्तु जिसने नकद लेना है, वह तो दो-चार दुकानों से पूछकर उसी चीज को २३ रुपये में लेगा। अतः स्थिति ठीक थी तो उधार देकर व्यापार बढ़ाते थे। कमजोर होने पर नकद में २३ रुपये ही मिलें तो ठीक है। हर काम में यही नियम है कि धीरे से उठे और दूसरी तरफ को उठे।

अब देखें कि जीव कैसे संकल्प से गिरा? वह भी संकल्पों की तेज़ी से ही गिरा है। मन को देखो, उसके मुकाबले में घुड़दौड़ का घोड़ा क्या दौड़ेगा! तेज़ से तेज़ हवाई जहाज भी २५ हजार, ५० हजार मील प्रति घंटा चलेगा, किन्तु मन तो क्षण में ही करोड़ों मील दूर पहुँच जाता है। तुम बैठे कि भगवान् का ध्यान करोगे। आसन बिछाया, पद्मासन में बैठे, आँखें बंद कीं, भगवान् का ध्यान प्रारंभ किया 'कस्तूरीतिलकं ललाटपटले।' जहाँ कस्तूरी के तिलक को याद किया कि मन में आया 'कस्तूरी का भाव ५०० रुपया तोला हो गया है। गई साल तो कस्तूरी खरीदने में ठगा गया था। बेचने वाले कोई बाबा थे। अरे, भगवे कपड़े में भी लोग धोखा देते हैं। अगली बार कस्तूरी खरीदते समय नाभे की परीक्षा करके ही लूँगा। अच्छा हुआ याद आ गया। हरी राम जी अल्मोड़ा जाने वाले हैं, उन्हीं से कहकर मँगा लूँगा। अरे, याद आया, उनसे एक बार कपड़ा लिया था, उसके दाम तो अभी तक नहीं दिये।' क्या करने बैठे थे? भगवान् का ध्यान करने बैठे थे! यह है गिरने का तरीका। मन ऐसी कुलाँचे मारता है कि कोई ठिकाना ही नहीं। अब देखें संकल्प को किस प्रकार जीता जा सकता है: एक संकल्प करो। दूसरा संकल्प उठने से पहले ही विचार करो कि आगे मुझे कौन-सा संकल्प उठाना है। इससे संकल्पों में अवरोध उत्पन्न होगा। रोक लगने पर ही संकल्प का प्रवाह कम होगा। अंत में फिर धीरे-धीरे निःसंकल्पता हो जायेगी। अभी तो यह बता रहे हैं कि नित्य-निरंतर बढ़ते हुए संकल्पों को कैसे वश में किया जाये।

दूसरा काम है उल्टा संकल्प करना। अभी तक विषयों के संकल्पों में ही लगे थे। स्त्री-पुत्र, व्यापार, ब्याह-शादी, ठेकेदारी आदि आत्मा से अतिरिक्त अनात्मसंसार के विषयों के ही संकल्प में लगे थे। अब विषयहीन परमात्मा का, आत्मस्वरूप

का संकल्प करना होगा। सहारा फिर भी संकल्प का ही लेना होगा। गिरने वाला व्यक्ति संकल्पों की तेज़ी में गिरा था और उठने वाला साधक एक-एक संकल्प को रोकता है।

आप लोग पूजा करते हैं। यज्ञ, हवन आदि में नहीं तो घर में ही विवाह शादी आदि में देखा होगा कि प्रत्येक कार्य के आरंभ में संकल्प किया जाता है। हमारी पूजा-पद्धति व्यवस्थित है, पहले महासंकल्प-'मैं शिव की पूजा करूँगा।' इसके बाद फिर छोटे संकल्प कि 'मैं गणेश का, गौरी का पूजन करता हूँ। मैं अभिषेक करूँगा।' लोग पूछते हैं कि यह बार-बार संकल्प क्यों कराया जाता है, एक ही बार संकल्प कर लिया, बहुत है। एक-एक कर्म के पहले संकल्प किया जाता है ताकि शिक्षा मिले कि बिना संकल्प के मैं कुछ नहीं करूँगा। हर संकल्प से पहले विचारो, समझो कि क्या संकल्प करने जा रहे हो। यह हमारी पूजा-पद्धति में भी सिखाया जाता है।

संकल्प में तीन-चार चीजों का स्मरण किया जाता है:

१. देश का स्मरण कि किस देश में कर्म करने जा रहा हूँ। मेरी स्थिति किस देश में है।

२. काल का स्मरण कि किस समय मैं कर्म कर रहा हूँ। मास, पक्ष, तिथि, वार आदि का स्मरण।

३. करने वाले का, खुद का स्मरण कि अमुक गोत्र वाला मैं कर्म करता हूँ।

४. उद्देश्य का स्मरण कि कर्म किस लिये करता हूँ जैसे अभ्युदय - निःश्रेयस-प्राप्ति आदि के लिये।

ये सब संकल्प केवल पूजा में ही करके समाप्त हो गये, ऐसा नहीं समझना। यह तो रात-दिन का अभ्यास करने के लिये कराया जाता है। प्रत्येक काम करने से पहले विचार करो कि किस देश और किस काल में कौन-सा कार्य कर रहा हूँ, वह यहाँ मेरे अभी करने योग्य है या नहीं। कुछ कर्म काशी में करने लायक और कुछ गंगा और कुरुक्षेत्र में करने लायक हैं। ऐसे ही विवाह आदि कार्यों में भी समय का विचार किया जाता है।

इसी प्रकार सारे लौकिक कार्यों में भी इस बात का विचार करो। कार्यालय में हैं किन्तु कुर्सी पर पैर रखकर लेटे हैं अथवा खड़े ही हैं तो अनुचित कर्म है। मान लो फौज में हैं तो वहाँ खड़े ही रहना होगा। किस देश में खड़े होकर और

किस देश में बैठे-बैठे कार्य करना पड़ता है, यह सब समझना पड़ेगा। घर में भी लोग पुत्र से ऐसा व्यवहार करते हैं जैसे किसी लिपिक से कर रहे हों। तात्पर्य यह कि आफिस में बैठना शोभा देता है, खड़े-खड़े ही हस्ताक्षर करना अच्छा नहीं लगता। घर में आसन्दी पर तकिये के सहारे बैठना अच्छा लगता है। अंततोगत्वा रात्रि हुई तो लेटना ही अच्छा है। उस समय सीधे बैठना शोभा नहीं देता। इसी तरह किस देश में क्या करना है, इसका विचार करो। कई कार्य इस देश के लायक नहीं। भारत में तरबतर पसीने में भी लोग सूट पहने देखे जाते हैं तो लगता है कि इन्होंने संकल्प करना सीखा ही नहीं। इसका विचार ही नहीं कि इस देश के लायक यह वस्त्र है या नहीं। गीता में अर्जुन ने कहा 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तो भगवान् ने सीधे ही दर्शन का प्रसंग नहीं छेड़ा। भगवान् कहते हैं 'अनार्यजुष्टम्'। 'इस देश-काल में तू यह अयोग्य संकल्प कर रहा है। आर्यावर्त में ऐसे भगोड़े नहीं होते।'

संकल्प में प्रथम देश का महत्त्व बताया। अब काल पर विचार करो। एक ही देश में भिन्न काल में भिन्न काम होते हैं। कभी जिस कमरे में चौकी पर भोजन करते हैं तो दूसरे समय वहाँ लेटा जाता है। इसी प्रकार प्रातः काल करने योग्य काम, तथा मध्याह्न और सायंकाल करने योग्य कार्य कुछ और हैं। तिथि आदि का स्मरण भी काल के स्मरण के ही अन्तर्गत आता है। चाहे साल भर आयकरपत्र नहीं भेजा, पर ३१ मार्च को भी न भेजे, यह नहीं हो सकता। ३१ मार्च तो याद रहती ही है। किसी समय कोई कार्य बहुत जल्दी भी करना पड़ता है और कभी धीरे-धीरे करना पड़ता है। कमरे में धूल भरी है, तुम साफ कर रहे हो। तार आया अथवा कोई संदेश आया कि अमुक व्यक्ति ८ बजे आ रहे हैं। ७-४० हो गये हैं। अब तुमने तुरन्त धूल-झाड़कर, जल्दी-जल्दी झाड़ू देकर गलीचा बिछा दिया। पाँच मिनट में ही सब काम कर दिया हालाँकि कोने में धूल भरी रह गयी है। जिसने उस समय काल का विचार नहीं किया, उसने सूचना मिलने पर भी धीरे-धीरे कमरे की सफाई की। वे व्यक्ति आ पहुँचे तो कहेगा 'आप बाहर ही खड़े रहिये।' जब सफाई हो चुके तब उन्हें अन्दर बुलायेगा। यदि तीन दिन पहले खबर मिल गई तो बड़े धीरे से, बड़ी सावधानी से कमरे की सफाई कर सकते हो। तब पूर्ण सुख की प्राप्ति भी होती है। यदि समय नहीं है तो पूर्ण सुख न सही, जितना हुआ उतना ही ठीक है। लड़की का विवाह हो रहा है। ८ बजे बारात आनेवाली है। वधू की माता

को तो मंगलाचार करना है। ७-४५ हो गये, वह तो अभी पूजा ही कर रही है! यह शोभा नहीं देता।

देश, काल की तरह ही खुद का भी विचार करना पड़ता है कि मैं कौन हूँ। देश, काल में भी व्यक्ति-भेद से अलग-अलग कार्य हो जाते हैं। एक ही देश-काल में पति-पत्नी के कार्य अलग-अलग और पिता-पुत्र के कार्य अलग-अलग होते हैं। मैं पति हूँ तो उसके योग्य कार्य करूँ। सदैव अपने स्वरूप को याद रखना पड़ता है कि मेरे लायक क्या काम है। आजकल भारत में अधिकतर लोग इसका विचार नहीं करते कि मैं कौन हूँ, बस एक नारा बना दिया है मानो नारे से वास्तविकता दूर हो जाती हो! आजकल उत्तम नारा है 'हम आदमी हैं, मानव हैं।' वह तो आँखों से ही दीखता है कि तुम आदमी हो, कहने की ज़रूरत ही नहीं। मेरा क्या कर्त्तव्य है, मेरा क्या धर्म है, मुझसे किसको क्या-क्या आशायें हैं, यह सब सोचना ही खुद का विचार है। किसी भी देश-काल में संकल्प करने से पहले विचार करो कि मैं कौन हूँ एवं समाज में किन के प्रति मेरे क्या कर्त्तव्य हैं।

फिर उद्देश्य का स्मरण करो कि जो कार्य मैं कर रहा हूँ उसका फल क्या होगा। यह विचार भी आवश्यक है। चोरी का फल तुम जानते हो, चोरी करेंगे तो यम के डंडे खाने ही पडेंगे। हम कहते हैं कि चोरी भी करो तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु उसका फल पहले जान लो। मैं चोरी करता हूँ, मैं जानता हूँ कि उसका फल क्या होगा फिर भी संकल्प कर सकता हूँ। आश्चर्य तो तब होता है जब सोचते हैं कि चोरी भी करूँ किन्तु नरक से बचने की भी व्यवस्था हो जाये! करो न करो, तुम्हारी मर्जी, किन्तु फल को जान लो। इस प्रकार देश, काल, पात्र और उद्देश्य इन चार चीजों को मिलाकर संकल्प बनता है। प्रत्येक कार्य को करने के पहले संकल्प करो। इससे संकल्पों की तीव्र गति अवरुद्ध होगी। एक के बाद एक संकल्प आयेंगे। यह विचित्रता है कि संकल्प करने का प्रसंग याद रहेगा तो संकल्प की निवृत्ति स्वतः होती है। अभी विचार नहीं करते, इसी लिये संकल्प-प्रवाह की निवृत्ति नहीं हो पाती।

एक कथा आती है कि एक व्यक्ति कहीं बाहर धन कमाने गया। वहाँ उसे १५-२० वर्ष लग गये। धन इकट्ठा हो गया तो घर को चला। उस समय सूचना भेजने के लिये डाक-आदि की व्यवस्था नहीं थी। सोचा, अकस्मात् पहुँचेंगे तो पत्नी प्रसन्न होगी। रात्रि के समय वह घर पहुँचा। सब सोये थे। पुराने ज़माने में

लोग अपने घरों में ताले नहीं लगाते थे। दरवाजे के पीछे ही एक अर्गला होती थी और लोहे के डंडे को एक खास जगह पर डालकर थोड़ा इधर या उधर करने से दरवाजा खुल जाता था, बन्द भी हो जाता था। आजकल के ताले की तरह ही समझ लो जो अन्दर और बाहर दोनों तरफ से खुल जाते हैं। उसे तो पता था, उसने लोहे का डंडा उठाया और दरवाजा खोलकर अन्दर चला गया। चन्द्रमा की रोशनी काफी थी। देखा कि उसकी पत्नी एक जवान आदमी के साथ एक ही रजाई में सो रही है। झट गुस्सा आ गया। सोचा, मैं इनके लिये इतना करता रहा, धन कमाने के लिये विदेश में घूमता रहा और यह यहाँ ऐसा व्यवहार कर रही है। मनुष्य के स्वभाव का क्या पता! संदेह होने में कितनी देर लगती है? संकल्पों के प्रवाह में मनुष्य क्या संदेह कर ले, कोई ठिकाना नहीं। पुत्र पिता पर, पति पत्नी पर ही संदेह कर लेता है। ये संकल्प तो बड़ी तेज़ी से चलते हैं और रोकने की आदत डाली नहीं जाती। उसकी भी यही हालत हुई। वह पास के कमरे से ही तलवार उठा लाया। लेकिन उसकी एक आदत थी कि कोई अच्छा श्लोक होवे, तो उसे अपने घर की दीवार पर ही लिख कर टांग देता था। जैसे ही तलवार उठाकर आया, चमक रही चाँदनी में उसकी दृष्टि इस श्लोक पर पड़ी 'सहसा विदधीत न क्रियाम्।' झट कोई काम नहीं करना चाहिये, सोच-समझकर ही काम करना चाहिये। वह गुस्से में तो था ही, सोचा, 'पूछ लेवें कि इसने क्यों ऐसा किया।' तलवार की नोंक से ही उसे उठाया। उसने झट उठते ही कहा, 'आप आ गये!' और पास सोये लड़के से कहा, 'अरे लल्ला उठ, देख तेरे पिता आ गये हैं।' बाप पहचानता कैसे? जब गया था तो पुत्र ४-५ वर्ष का ही था, अब तो २५ वर्ष का हो गया था। लड़के ने पूछा 'यह तलवार कैसी?' कहने लगा, 'अरे जाने दे!', पत्नी को तो सब मनोवृत्त बता दिया। कहा 'यह श्लोक न होता तो आज अनर्थ हो जाता। स्त्री-हत्या, पत्नी-हत्या, पुत्र-हत्या, ये सब भयंकर पाप हैं, आज मैं इन सबसे बच गया।'

प्राणिमात्र के हृदय में यही होता है। मनुष्य सहसा ही संकल्प करता चला जाता है। फल, देश और काल का तो ख्याल ही नहीं करता। जैसे वह व्यापारी दीर्घ काल तक अपनी पत्नी से अलग रहा वैसे ही आत्मा भी अपनी पत्नी, आत्म-विद्या से दूर रहा। अपने ब्रह्मस्वरूप को छोड़कर अनात्म-पदार्थों की ओर ही लगा रहा। धन कमाने जाता है। घट-पट-मठ-कट आदि दुनियाभर के अनात्म-कार्यों

में ही लगा रहता है। पत्नी की तरफ, स्वस्वरूप की तरफ देखने की उसे फुर्सत ही नहीं। पत्नी तो एकाग्रतापूर्वक पति का ही स्मरण करती रही। आत्मविद्या भी सिवाय आत्मा के किसी भी अन्य को विषय नहीं करती। जब यह अनात्म-पदार्थों के संग्रह से ऊब जाता है तब सोचता है कि दुनियाभर के पदार्थों के साथ माथा-पच्ची करने से क्या लाभ हुआ! वापिस आत्म-विद्या की तरफ चलें। आत्मा की गोद में ही मोक्षरूपी फल है। आत्म-विद्या के फलस्वरूप ही तो मोक्ष है। मोक्ष कोई अलग चीज़ नहीं वरन् अपना स्वरूप ही है। 'आत्मा वै पुत्रनामा', उस पुत्ररूप आत्मा को न पहचान कर ही कहता है, 'मैं बद्ध हूँ, परिच्छिन्न हूँ। आत्म-विद्या के साथ तो दूसरा ही कोई है।' लोग हमसे पूछते हैं-महाराज मोक्ष कब होगा? कोई सच्चा साधक हो तो हम कहते हैं कि कभी नहीं होगा! अरे, मोक्ष भी कोई मिलने की चीज़ है! मोक्ष तो तुम्हारा नित्य स्वरूप ही है। संन्यासाश्रम में बैठे हो और पूछो कि संन्यासाश्रम कैसे पहुँचें तो क्या जवाब दें? वस्तुतः मोक्ष सनातन है, इससे अनभिज्ञता ही बंधन है। पिता की जाति का ही पुत्र होता है। जो पिता की जाति वह पुत्र की जाति। हम शिव के पुत्र हैं, शिव नित्यमुक्त हैं, यह बद्धता-जाति हममें कैसे घुस गई? पुत्र तो हम शिव के और जाति दूसरी ही बता रहे हैं! किन्तु अनात्म पदार्थों के संस्कार मन में भरे होने के कारण अपने ही पुत्र को अन्य जाति का समझते हैं, मारने पर भी उतारु हो जाते हैं। भगवान् पद्मपाद लिखते हैं-

'अपि वृन्दावने रम्येश्शृगालत्वं स इच्छति।
न हि निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गोतम।।'

ऐसे-ऐसे रागी देखने में आते हैं जो कहते हैं कि अच्छा हो यदि हम वृन्दावन में सियार ही बन जायें। उन्हें आत्मज्ञान अथवा मोक्ष कभी भी अच्छा नहीं लगता! उससे तो वे घबराते हैं, उसे मारना चाहते हैं। उसके लिये दृष्टांत भी दे देते है, कि हम चीनी खाना चाहते हैं, चीनी बनना नहीं चाहते। वापस आकर पत्नी अर्थात् विद्यास्वरूप को ही मारने को तैयार हो जाते हैं। कुछ लोग सोचते हैं कि मोक्ष तो ठीक है किन्तु इसकी प्राप्ति मरने के बाद ही होगी। यह भी मोक्ष की हत्या है। द्वैत-दृष्टि से आक्रांत लोग अनर्थ करने को तैयार हो जाते हैं। प्रत्येक कार्य में आत्मा का ही प्राकट्य होता है। वे उसे मारते रहते हैं। एक में मोक्ष की हत्या और दूसरे में आत्म-विद्या, ब्रह्मविद्या की हत्या है। हीरा तो दस लाख का है किन्तु यदि उसके पहलू और चमक अच्छे न हों तो अशोभनीय होता है। बढ़िया सुन्दर

विलायती ३०० रुपये गज का कपड़ा लाये। किसी साधारण दर्ज़ी को देने पर उसने उसका झोला-सा बना दिया तो वह कीमती होने पर भी बेढंगा लगेगा, शोभा नहीं देगा। यह कपड़े की हत्या ही है। ठीक इसी प्रकार इतनी सुन्दर आत्मविद्या को प्राप्त कर के भी फिर झूठ बोलता है, क्रोध और द्वेष करता है, यह क्या शोभा देता है? लोग कहते हैं कि आज के नवपठित तो नास्तिक हैं! उन्हें नास्तिक बनाने वाले हम धार्मिक लोग ही हैं। हमारी कमियाँ हम दूर करें तो वे भी आस्तिक बनें। जब तक प्रत्येक कार्य में हमारी आत्म-विद्या का प्रकाश जगमगाहट पैदा नहीं करता, जब तक हमारी वाणी, हमारी आँखें और हमारे चिंतन एवं संकल्प में शक्ति पैदा नहीं होती या उसमें कमी है और चाहे बिना जाने ही हो, आत्म-विद्या पर हमारी निष्ठा कम है, तब तक प्रार्थना करें कि हमारी कमियाँ दूर हों। हम एक नज़र ऐसी न करें, एक भी वचन ऐसा न बोलें जिसमें आत्म-विद्या की शोभा न प्रकट हो। कमज़ोरी रह भी जाये तो घबराना नहीं। आत्म-विद्यास्वरूपिणी महादेवी ने तो हमारी बड़ी से बड़ी गलती को क्षमा कर दिया। हमने दीर्घ काल तक पड़े अनात्म-पदार्थों का त्याग नहीं किया, उसने हमें तब भी क्षमा कर दिया तो छोटी-सी गलती में वह महेश्वरी हमारा हाथ नहीं छोड़ेगी। जब तक हमारा कर्त्तव्य, हमारा प्रेम अपूर्ण है तब तक संकल्पशक्ति से ही हम इन कमियों को दूर करते जायें।

जब आत्म-विद्या स्फुट प्रकट हो तभी उसकी हत्या नहीं होगी। बचाने वाली चीज क्या है? 'सहसा विदधीत न क्रियाम्'। देश, काल, करने वाला और उद्देश्य इन चारों का बिना विचार किये एक भी संकल्प नहीं उठने देना चाहिये। यही उपाय है, तभी गलती होने पर क्षमा माँग सकते हो जब सच्चा प्रायश्चित्त होवे। हमेशा गलती नहीं करते जाना चाहिये। जब तक क्रूर दृष्टि है तब तक ब्रह्म-दृष्टि नहीं बनी। कमज़ोरियों को संकल्प-शक्ति से धीरे-धीरे जय करना है। जीत पूर्ण होने पर ही महान् बन सकोगे। जब प्रतिक्षण सावधानता की स्थिति रहेगी, तभी ब्रह्मस्वरूप में स्थिति होगी और तभी निःसंकल्पता को भी प्राप्त होगे।

प्रवचन-६

इच्छासुख

१३-७-६८

भगवती श्रुति इस मंत्र में परमात्मतत्त्व का स्वरूप तथा उस की प्राप्ति के सोपान बता रही है, आत्मनिष्ठा को परिवृद्ध करते हुए कितना बढ़ रहे हैं यह परखना सिखा रही है। सृष्टि में प्रत्येक मनुष्य का यह अनुभव है कि वह एक महान् प्रवाह में पड़ा है। एकता अनेकता में बढ़ती जाती है और पुनः उस अनेकता का एकता में उपसंहरण होता है। मिट्टी ही घड़ा, सकोरा, कुंडा आदि अनेक मूर्ति धारण करती है, अंत में ये सारे फूटकर पुनः मिट्टी ही रह जाते हैं। गेहूँ-चावल आदि अनेक अनाज एक खाद से ही उत्पन्न होते हैं अंततः मनुष्य-पशु आदि के सम्बन्ध से पुनः खादरूप में परिवर्तित हो जाते हैं। खाद एक परन्तु गेहूँ आदि अनाज अनेक और वे अन्ततः पुनः एक खाद-भाव को ही प्राप्त होते हैं। एक से अनेक और अनेक से एक, निरंतर यह प्रवाह चल रहा है, प्रत्येक को इसका अनुभव हो रहा है। किन्तु जीवात्मा का स्वभाव विलक्षण है। एकता होने पर अनेकता की और अनेकता होने पर एकता की इच्छा करता है! प्रवाह तो स्वाभाविक ही है। जीवात्मा ने ऐसा ढंग बना रखा है कि वह इसी स्थिति में आगे-पीछे चलता रहता है। चलती बस में चढ़ने का यह नियम है कि बस जिधर जा रही है उधर ही मुँह करके धीरे-धीरे दौड़िये, जब बस समीप पहुँचे तो दौड़ते हुए ही तुरन्त उछल जाइये, इस प्रकार आराम से चढ़ जायेंगे। एक ग्रामीण जो कभी बस पर नहीं चढ़ा, खड़ा रहता है, बस आगे निकलने पर डंडा पकड़ने की कोशिश में धड़ाम से गिर पड़ता है। जिधर बस की गति है उधर ही दौड़ते हुए चढ़ोगे तो चढ़ जाओगे। बस से उतरते समय डंडा पकड़कर धीरे से हल्का पैर नीचे रखकर बस की तरफ ही दौड़ोगे तो आराम से उतर भी जाओगे। इसे न जानने

वाला भारी पैर रखता है और गिर पड़ता है, सिर फट जाता है। उतरना है तो बस के साथ दौड़ना, चढ़ना है तो उसी तरफ दौड़ना, यह नियम है। साइकिल का भी यही नियम है। पहले साइकिल को गति देकर उसी तरफ दौड़कर उस पर चढ़ा जाता है। यदि खड़े-खड़े ही चढ़ो तो गिर पड़ोगे। अतः यह नियम है कि जिस परिस्थिति में जाना है, उसी के अनुरूप पहले अपनी स्थिति बनानी पड़ेगी।

इसी प्रकार यदि एकता की गाड़ी में चढ़ना है तो एकता के संकल्पों का प्रवाह करो। तभी वह एकता सुखद होगी। अनेकता में भी उसके अनुरूप संकल्प होने पर वह अनेकता भी सुखद होगी। हर परिस्थिति में मनुष्य की तीन अवस्थायें रहती हैं : कुछ चाहने की, कुछ पाने की और कुछ खोने की। निरंतर ये तीन प्रवाह बह रहे हैं। पहले धन, पुत्र, पत्नी आदि, कुछ पदार्थ चाहते हो। फिर उन्हें पा लेते हो। यह दूसरी अवस्था है। विचार-प्रवाह एक से अनेक और अनेक से एक होने के कारण फिर उसे खो देते हो, यह तीसरी अवस्था है। मनुष्य इन तीनों अवस्थाओं में दुखी रहता है। चाहने की अवस्था तो दुःख की है ही, कहने की जरूरत नहीं, चाहने पर जलन का अनुभव तो सिद्ध ही है। जब चाहने वाले की भोग्य-परिधि में चाहने का पदार्थ आ जाता है तब उसे पाना कह देते हैं। किन्तु जैसे ही पाया, वैसे ही खो जाने की चिन्ता शुरू हो जाती है। आनंद लेने वाला चाहने काल में और पाने के काल में आनंद कैसे लेता है, यह फिर बतायेंगे। अभी क्या हो रहा है? पदार्थ चाहा था तो जलन हुई। फिर चाहे कितना भी विचार करो, वह जलन मिट नहीं सकती। जिसे धन की कामना हो जाये उसे अपनी अतिसुन्दर पत्नी भी जहरवत् लगती है। निरंतर इसी प्रयत्न में लगा है कि धन मिल जाये। यह है तीव्र संकल्प। यह सारा जगत् तीव्र संकल्पमात्र ही है। पहले इच्छा हुई, तो तीव्र से तीव्रतर और तीव्रतम बन गई। पदार्थ तुम्हारी परिधि में आ गया किन्तु साथ ही पता लगा कि एक दिन खतम हो जायेगा। किसी को काया का, किसी को आयकर-विभाग का, किसी को धन की वृद्धि-ह्रास का कोई न कोई डर लगा है। यदि पाने काल में खोने का डर न हो तो बीमा-कम्पनियाँ ही फेल हो जायें। यह प्रमाण है कि मिलने पर खोने का भय सता रहा है।

पदार्थ खो दिया तो ग्लानि होती है कि क्यों खोया? पाया क्यों था? तीव्र इच्छा थी, तभी पाया था। पाने काल में ही खोने का संकल्प हो गया कि कहीं

खो न जाये। यह संकल्प मन में उठा, इच्छा हुई तो खो दिया। संकल्प जिधर ले गये, उधर ही उसने प्रवाह कर लिया। इच्छा के समय पाने वाले को सुखी समझता है। नौकर सेठजी को सुखी समझता है कि इनके पास दस लाख की पूंजी है, मेरे पास भी हो जाये। सेठ खोने वाले को सुखी समझता है। पूछो यह कैसे? एक बार हम कलकत्ते में थे। उन दिनों वहाँ सरकार की ओर से सेठों के घरों में छापे पड़ रहे थे। एक सज्जन हमारे पास आते थे, कहने लगे 'अमुक सेठ के यहाँ तो छापा पड़ चुका है, उसकी झंझट खतम हो गयी।' हमने कहा, उसका तो नुकसान हुआ होगा, कैसे झंझट खतम हुई? कहने लगे 'नुकसान जो हुआ सो हुआ पर वह तो सुखी हो गया। हमें तो दिन-रात बराबर यह डर लगा रहता है कि कहीं आज छापा न पड़ जाये। आज पड़ा, कल पड़ा इसी भय से नींद भी नहीं आती। रात-दिन तड़पते ही रहते हैं। खो देने के बाद थोड़ी देर के लिये शांति तो हुई।' यों व्यक्ति पाने काल में खोने वाले को सुखी समझता है। वृद्ध जवान को सुखी समझता है। कहता है 'हम तो सब खो चुके, किन्तु बच्चों की तो कुछ आशायें हैं, हमारी अब मिट चुकी।' अज्ञानी मनुष्य का अनुभव है कि उसे तीनों कालों में सुख नहीं होता।

अब, करना क्या है? इस पर जरा विचार करें। इच्छा-काल में इच्छा पर ही केन्द्रित रहो, पदार्थ पर दृष्टि न रहे। लोग इच्छा में तड़पते रहते हैं; विचारशील उसमें सुखी होता है। इंग्लैण्ड में एक कवि हुए हैं वर्ड्स्वर्थ। उन्होंने एक कविता लिखी है जिसमें कहते हैं 'एक बार दोस्तों ने मुझसे कहा चलो, येरो नदी घूम आयें। मैंने मना कर दिया। पूछने लगे कि आप तो सुन्दरता के प्रेमी हैं न जाने का क्या कारण है? कहा कि प्राचीन इतिहास के अध्ययन से मैंने उस स्थान का एक मानसिक चित्र बना रखा है, देखने पर वह कुछ और ही निकल आया तो वह मानसिक सुख भी नहीं मिलता रह सकेगा, खतम हो जायेगा।' मन के सपनों में जो भी आनंद है वह व्यावहारिक जगत् में नहीं। कहोगे कि हम तो कवि नहीं हैं, व्यापारी हैं। तुम्हारे पास एक छोटी-सी दुकान थी सौ-दो सौ रुपये की बिक्री थी। कल्पना थी कि 'पाँच सौ की बिक्री हो जाये, दुकान लम्बी चौड़ी हो जाये तो कितना सुखी हो जाऊँ।' संकल्प तीव्र था, दुकान बड़ी हो गई, बिक्री भी हजार की होने लगी। फिर एक नहीं बल्कि छह दुकानें हो गयीं। विचार करो कि सुख कितना मिला। उस समय जितना समझा था, उतना मिला? नहीं मिला। यदि

लिपिक थे तो कल्पना थी कि मुख्य लिपिक बन जाऊँ तो कितना अच्छा हो। कल्पना पूरी हो गई, धीरे-धीरे राजपत्रित अधिकारी बन गये। क्या सुखी ज्यादा हो गये। नहीं, क्योंकि कल्पनायें और आगे बढ़ गयीं!

विचारशील व्यक्ति सोचता है कि इस समय इच्छा के सुख में रहें, मिलने पर वह मौज भी नहीं रहेगी। यह प्रथम अवस्था है कि इच्छाकाल में सुख है। विवाह न होने पर न जाने कितनी कल्पनायें मन में थीं किन्तु विवाह के बाद पति-पत्नी दोनों को ही फुर्सत नहीं होती। पति सुबह उठता है तो पत्नी बच्चों को तैयार करने में लगी है। बच्चों से फुर्सत हुई तो पति के दफ्तर जाने का समय है। दिन में पत्नी के पास समय है तो पति दफ्तर में नत्थिओं (पंजिकाओं) में जुटा है। पति घर आता है तो पत्नी भोजन आदि की व्यवस्था में लगी है। भोजन आदि कर बच्चों को सुलाकर तैयार हुई तो पति तब तक खुर्राटे भर रहे हैं। फुर्सत कहाँ है? कल्पनायें पूरी नहीं होतीं। कल्पनाओं में जितना सुख था वह अब नहीं मिल रहा। विचारशील तो इच्छाकाल में भी सुखी होता है, पदार्थ-प्राप्ति पर भी सुखी रहता है। इस पदार्थ के ग्राहक तो सारे संसार में हैं, मेरी जेब में पाँच रुपये का नोट है, इसकी इच्छा तो सारे संसार वालों को है पर इसने मुझे वरण किया, कितनी बड़ी बात है! पाँच साल में एक बार संसद-सदस्य भी तुम्हारे एक वोट से ही खुश हो जाते हैं। विचारशील सोचता है कि जिस पदार्थ के ग्राहक सारे संसार वाले हैं वह पदार्थ मुझे मिल गया, यह कितने बड़े सुख की बात है। पदार्थों में सुख हो, न हो, मिलने का, वरण करने का सुख है ही। वस्तुतः सुख होता भी वृति 'वरण' में ही है। इसे परमात्मा की कृपा मानो कि मुझे परमात्मा ने यह चीज दे दी। एक सज्जन कहने लगे कि रात को चोर हमारे घर में घुसकर तिजोरी तोड़कर सब कुछ ले गये; उनकी पत्नी रोने लगी कि सारे गहने ले गये। हमने कहा कि तुम धन्य हो कि चोर तुम्हारी चीज ले गये। संसार में परमात्मा ने तुम्हें इस लायक बनाया कि तुम्हारी चोरी हुई। तुम्हें तो खुश होना चाहिये। यह सुख लेने की दृष्टि है कि हमारी चीजों को दूसरा लेवे तो हम धन्य हैं। दूसरे की इच्छा हो रही है, इसी से तो उसकी कीमत है। लोग हीरे के टुकड़े की इच्छा करते हैं। हीरा पत्थर ही तो है। वैज्ञानिक समझता है कि हीरा तो शुद्ध कोयला ही है। शुद्ध कोयले की इच्छा होने पर ही उसकी कीमत है।

सरकार ने निर्णय किया कि सम्पत्ति पर कर लगाने को उसका नाप किया जायेगा। एक सज्जन कहने लगे 'यह कैसे हो सकता है। हमारे पास एक मकान है, उसकी कीमत का निर्णय कैसे होगा?, कीमत का निर्णय तो खरीददार को देखकर होता है। मालिक तो कह सकता है कि मकान की कीमत चार लाख है लेकिन कीमत खरीददार द्वारा ही निर्धारित होती है। बहुत खरीददार हैं तो कीमत ज्यादा होगी, यदि खरीददार है ही नहीं तो कीमत का निर्णय कैसे होगा? ऐसी अनमोल चीज हमें मिली, इसमें कितना सुख है – यह है पाने-काल का सुख। उसके छूटने की अभी से क्यों सोचते हो? जब पदार्थ चला जाता है तब खोने-काल में इस बात का सुख है कि फिर से उसकी इच्छा उत्पन्न हो गयी। पाँच हजार खोने पर ही दूसरा पाँच हजार कमाओगे। यह शरीर खोया तभी दूसरा शरीर पायेंगे। बुड्ढा शरीर है, चला नहीं जाता, दाँत भी नहीं, कुछ खाया भी नहीं जाता इस रद्दी माल को नहीं फैंकोगे तो बढ़िया सुन्दर शरीर कैसे पाओगे? पदार्थ खोने का भी आनन्द है। विवेकी इन तीनों कालों में सुखी रहता है। वह खोता भी है तो खुश होकर क्योंकि जानता है कि फिर पाने की कोशिश करेंगे। किन्तु अविवेकी तीनों कालों में दुखी रहता है।

विवेकी संकल्प की सूक्ष्मता को समझकर क्षुद्र चीजों को छोड़ देता है। जब तक क्षुद्र चीजों की इच्छा करोगे तब तक इच्छा की विशालता और संकल्प की दृढता नहीं बन पायेगी। संकल्प में दो गुण हों तो पूर्ण होता है: प्रथम, इच्छा प्रबल होनी चाहिये और द्वितीय, सफलता के लिये इच्छा उन्नत होनी चाहिये। इच्छा प्रबल हो, एक ही इच्छा हो, अन्य न आयें तो इच्छा की एकाग्रता सफलता देने वाली है। सुई में वही धागा पिरोया जायेगा जो सर्वथा एकाग्र हो गया है। भगवान् भी गीता में कह रहे हैं- 'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' जिनकी इच्छायें, संकल्प अनंत शाखा वाले हैं, वे अव्यवसायी हैं, किसी चीज में लग नहीं पाते। केवल एक ही इच्छा होनी चाहिये। धागे को लपेटकर एकाग्र कर लोगे, बट लोगे तो सुई में प्रवेश करेगा। सारी इच्छाओं को मिलाकर एक प्रबल इच्छा होगी तो वह पूर्ण हो सकती है। दूसरी बात यह है कि इच्छा उन्नत हो। उत् नाम शिव का है 'तस्य उद् इति नाम', नति का अर्थ है सिर झुक जाना। अतः शिव के सामने झुकना ही उन्नति है। लोग समझते हैं, सिर ऊँचा करके चलना उन्नति है। शिव

के सामने उसे झुका देना ही उन्नति है। बाकी सब चीजों में संकल्प को प्रबल बनाओ किन्तु चित्-शक्ति के संमुख तो हमेशा ही झुके रहो। वहाँ विचारधारा को बहाने का व्यर्थ प्रयास न करो। नति करने पर ही उस चित्-शक्ति का प्रवाह हमारे अन्दर बहेगा। यही प्रार्थना करो कि 'हे जगदम्बे शिवे! मेरे हृदय में संकल्प-शक्ति तुम्हारी चित्-शक्ति का ही प्रतिबिम्ब रहे'। बिम्ब प्रतिबिम्बरूप में क्यों बदलता है? काँच में मुँह क्यों देखते हैं? उसे सुन्दर बना कर तबियत प्रसन्न करने के लिये, जानने के लिये कि मैं कितना सुन्दर हूँ। कोई अन्य कारण शीशे में मुख देखने में नहीं है। इसी प्रकार जगदम्बा ने हमारे अन्दर छाया डाली है उसे देखने के लिये। अंतःकरण में पड़ने पर भी वह चित्-शक्ति शुद्ध बनी रहती है। जैसे उससे पूर्व विशुद्धावस्था में थी, वैसी अब भी है। जगत् के हित के लिये ही छाया पड़ी तो बड़ी प्रसन्नता की बात है। बढ़िया प्रतिबिम्ब पड़ा है। उसी चित्-शक्ति से हमारी संकल्प-शक्ति एक हो जाये तभी पूर्ण आनन्द है। जब तक ऐसा नहीं होगा, तब तक दोनों में से किसी को भी पूर्णता का अनुभव नहीं होगा। प्रतिकूल संकल्पशक्ति होने पर काम नहीं चलेगा। हम दायें देखें और जगदम्बा बायें देखें तो हमें असफलता मिल जायेगी। दोनों की इच्छा परस्पर अनुरूप होने पर पूर्णता का अनुभव होगा! यही प्रार्थना हो कि हे माँ! तेरी इच्छा के अनुकूल ही मेरी इच्छा बने, तुम्हारी संकल्प-शक्ति के अनुरूप मेरे संकल्प हों, स्वतंत्र नहीं। शक्ति प्रबल हो और साथ ही उन्नत हो तभी वे आनंदहेतु होंगे। छोटे-छोटे संकल्पों को पूरा करने से क्या लाभ? किसी भाषा के कवि ने भी कहा है

'एकै साधे सब सधैं सब साधे सब जाँय,
काम बिगाड़े आपनो, जग में होत हँसाय।'

परमात्मा के साथ एक होने का नाम ही एकता है। एकता को प्राप्त होते हैं तो सब कुछ सध जाता है। वहाँ इच्छा कोई भी नहीं। मन, बुद्धि, अंतःकरण सब आनंदित हो जाते हैं। अहंता भी परमानन्द में मग्न हो जाती है। किन्तु अलग-अलग साधने पर (घट-पट-मठ आदि में ही पड़े रहें) तो सब कुछ चला जाता है। देखने का आनन्द मिला तो सुनने के आनन्द की कमी खटकती है। अतः जब तक अपनी संकल्पशक्ति को एकाग्र नहीं करोगे, यह कमी खटकती ही रहेगी और तीनों काल में दुःखी बने रहोगे। सब साधने में लगे तो नतीजा है कि अपना काम बिगाड़ लोगे।

एक को साधने के प्रयास में ही उन्नति है। आचार्य शंकर भगवत्पाद मन को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि कैसी चीज में सुख लेना चाहिये, किसका संकल्प करें–

'नित्यानंदरसालयं सुरमुनिस्वान्ताम्बुजाताश्रयं
स्वच्छं सद्द्विजसेवितं कलुषहृत्सद्वासनाविष्कृतम्।
शम्भुध्यानसरोवरं व्रज मनोहंसावतंस स्थिरं,
किं क्षुद्राशयपल्वलभ्रमणसंजातश्रमं प्राप्स्यसि ।।' (शि. ल.४८) ।।

उसका संकल्प करें जो नित्य आनन्दरस का आलय है। परम शिव में आनंद नित्य झलकता है। संसार कैसा आलय है? भगवान् ने गीता में इसका रूप 'दुःखालयमशाश्वतम्' कहा है। संसार को भी आलय कहा, किन्तु कैसा आलय? दुःखालय। शिव कैसा आलय है? नित्यानंदरसालय, वही तो सुख का घर है। उस आलय का ठिकाना कहाँ है? कहाँ पहुँचें? 'स्वान्ताम्बुजात' अपना अन्तःकरण, हृदयकमल ही उसका आश्रय है। सामान्य व्यक्ति को वह अंधकारमय ही दीखता है। उसमें प्रवेश करने पर ही चित्-प्रकाश की प्राप्ति है, आनंद ही आनंद है। लेकिन वह इन नेत्रों से नहीं दीखेगा, इनसे तो अंधेरा ही दीखेगा। ज्ञान-नेत्र से ही वह स्पष्ट दीखेगा। कैसे लोगों के हृत्-कमल में दीखेगा? 'सुर-मुनिस्वांताम्बुजात' निःसंदेह वह सभी में व्यापक है किन्तु प्रकट हृदय-कमल में ही होगा। आसुरी भाव, अशुभ कर्मों का परित्याग करने वाले सुर हैं, और जो श्रवण-मनन कर वेदांत में निष्णात हो गया है, ऐसे मुनि व्यक्ति के हृदय में उसका प्रकाश होगा। जिसका मन और कहीं नहीं जाता, दूसरी बातों की कामना ही नहीं, उसी को उस चित् शक्ति का अनुभव होता है। सामान्य प्राणी को इसका पता नहीं लग सकता, किन्तु सुर-मुनि को वहीं प्रकाश दीखता है। अब आप स्वयं ही देख लें कि अपना मन कैसा बना लिया है, उसमें वह दीखेगा कैसे?

लोग कहते हैं कि जब परमात्मतत्त्व, चित्-शक्ति सर्वत्र व्यापक है तो अमुक जगह ही पूजा क्यों करें? ज्ञानी के लिये स्थलविशेष अनावश्यक है। श्रीमद्भागवतकार भी लिखते है- 'प्रणमेद् दण्डवद् भूमौ अश्वचाण्डालगोखरान्।' विचारशील तो अश्व, चाण्डाल आदि को भी दण्डवत् प्रणाम करता है। इस दृष्टि की प्राप्ति उसी आलय में होगी जो अत्यंत शुद्ध और निर्मल है। वह आलय स्वच्छ है। जो द्विज

हैं अर्थात् जो निरंतर वेदान्तविचार में ही लगे हैं, वही उसकी सेवा भी कर सकते हैं। साधारण व्यक्ति तो दुःख ही पायेगा। आनन्द की प्राप्ति के लिये सद्द्विज बनना पड़ेगा। जिसने वेदों द्वारा उस तीर्थ को जान लिया है जहाँ एक गोता लगाने पर अनंत जन्मों के पाप कट जाते हैं। गंगा तो सात जन्मों के पाप ही काटती है किन्तु यहाँ अनंत कोटि ब्रह्माण्डबन्धनों को क्षय करने की सामर्थ्य है। भगवान् शंकर का ध्यान ही ऐसा तालाब है। अर्थात् शंकर-ध्यान ही वह तालाब है जिसमें स्वयं भगवान् शंकर रहते हैं। अतः आचार्य मन से कहते हैं, 'मन ! तू वहीं चल।' मन कहता है – पास में ही पानी अच्छा मिल रहा है, फिर दूर क्यों जायें? मनको उद्बोधित किया कि ज़रा उसका फल भी सोच। छोटे-छोटे जलाशयों में जाने से क्या लाभ? गाँव की सारी गंदगी उसी तालाब में पड़ती है। यमुना चाहे कितनी पवित्र होवे, दिल्ली के सारे नाले उसी में तो मिलते हैं। इसी प्रकार संसार के क्षुद्र पदार्थों में, घट, पट, मठ आदि में मन को क्यों रमाना, ये तो थोड़ी देर में ही सूख जाने वाले, क्षणभंगुर हैं। केवल उस चित्-शक्ति से ही नित्य सम्बन्ध द्वारा नित्यानंद की प्राप्ति सम्भव है। अन्य छोटे-छोटे सम्बन्धों से कुछ भी लाभ होने वाला नहीं, उसमें तो खाली श्रम ही करना है।

पुराणों में भगवान् शंकर के भिक्षाटन की कथा आती है। एक बार भगवान् शंकर दिगम्बररूप लेकर दारुकावन में गये। अल्मोड़ा के दारुकावन में अब भी वह ज्योतिर्लिंग है। 'नागेशं दारुकावने' बताया गया है। वहाँ ऋषि तपस्या करते थे, उनकी पत्नियाँ भी ध्यान, पति-सेवा और साधना में लगी रहती थीं। एक दिन भगवान् शंकर ने विचार किया कि उनको दर्शन देना चाहिये और अपने दिगम्बररूप में ही, संन्यासी के वेश में भिक्षाटन के लिये गये। संन्यासी के आश्रय परम तपःस्वरूप भगवान् शंकर ही हैं। वहाँ भिक्षा पाकर और ऋषि-पत्नियों के प्रेम को देखकर भगवान् कुछ दिनों के लिये ठहर गये। एक-दो दिन बाद ऋषियों का माथा ठनका। सोचने लगे, 'रोज तो सूखा और कड़ा अन्न ही मिलता था, आजकल क्या बात है, खूब माल मिल रहा है, कारण क्या है! पत्नियों से पूछा तो उन्होंने कहा 'यहाँ एक अत्यंत मनोहर तपस्वी आये हुए है, उन्हें देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है, बड़े कोमल लगते हैं, मानो साक्षात् शंकर हों। हमने सोचा शायद उनसे कड़ी चीज न खाई जाये और कहीं वे बिना भिक्षा के ही अन्यत्र न चले जायें, इसलिए

इस प्रकार का अन्न बना देती हैं।' ऋषियों ने भी दूसरे दिन दर्शन करने का विचार किया। तपस्वी वेषधारी भगवान् शंकर दूसरे दिन भी ॐ का उच्चारण करते हुए पहुँच गये। ऋषियों ने देखा कि एक संन्यासी, दिगम्बर (नंग-धड़ंग) जवान और अतिसुन्दर भी है। ऋषियों ने उनसे कहा 'कल से भिक्षा लेने मत आया करो।' संन्यासी कहने लगे 'मेरा तो और कोई साधन ही नहीं सिवाय भिक्षा के। यहाँ जब नहीं मिलेगी तब कहीं और चले जायेंगे, वेदाज्ञा है 'भिक्षाचर्यं चरन्ति'।

ऋषियों ने कहा 'हम तुम्हें इकट्ठा ही सब सामान दे देते हैं, बनाकर खा लिया करना।' वे बोले 'हम तो यह टंटा नहीं करते।' ऋषियों ने बहुत समझाया किन्तु शिव माने नहीं। कहने लगे 'अपनी पत्नियों को समझा दो कि वे भिक्षा न दिया करें तो हम कहीं और चले जायेंगे।' पत्नियों से जब कहा तो कहने लगीं 'यह कैसे संभव है कि संन्यासी हमारे द्वार पर आये और हम भिक्षा न दें!' वे भी ऋषीकायें थीं, कहने लगीं 'यह कहाँ लिखा है?' एक ऋषि को बड़ा गुस्सा आया, कहने लगा 'इस संन्यासी को खूब पीटो, अपने आप भाग जायेगा?' उन सबने मिलकर भगवान् शंकर को इतना पीटा कि शरीर से खून की धारा निकल आई, किन्तु वे हँसते हुए खड़े ही रहे, कहा 'जाऊँगा माल खाकर ही।' दूसरी तरफ एक ऋषि-पत्नी भिक्षा लेकर जाने लगी तो ऋषि को बड़ा क्रोध आया। वे वृद्ध थे। उन्होंने अपनी पत्नी को खाट से बाँधना शुरू कर दिया। ऋषिपत्नी हँसने लगी, कहा 'बँध तो खुद ही रहे हो। मैं तो तपस्वी को अपनी भिक्षा पहले ही दे आई हूँ।' उसने शंकर की दिव्य मूर्ति का ध्यान किया और उसमें लीन हो गई। उसका शरीर छूट गया और वह कैलास पहुँच गई। इतने में सब आ गये। वृद्ध ऋषि ने उनसे पूछा तो कहा 'आज भगा तो दिया है किन्तु फिर भी भिक्षा करके ही गया है।' वृद्ध ऋषि ने पूछा 'किसने भिक्षा दी?', कहने लगे, 'गुरुजी क्षमा कीजिये, कहना अच्छा तो नहीं लगता किन्तु विवश होकर कहना पड़ रहा है कि आपकी पत्नी ही उन्हें भिक्षा करा गई थी।' ऋषि ने कहा 'यह कैसे हो सकता है! मैंने तो उसे यहाँ बाँध रखा था, वह कैसे जा सकती है? वह वृद्धा कैसे चली गई?' इतने में ही आकाशवाणी हुई 'तुमने तो उसका शरीर ही बाँध रखा है, वे तो आत्मा के भूखे हैं, आत्मा को ही चाहते हैं। उस ऋषि-पत्नी ने दाल-रोटी के रूप में अपने आपको ही चढ़ा दिया।' तब ऋषियों को ध्यान आया कि उन्होंने क्या कर दिया।

दूसरे दिन फिर उस तपस्वी की बाट देखी पर उन्हें कहाँ आना था! असली भिक्षा तो उन्हें मिल चुकी थी। जिसने परमेश्वर के ऊपर अपने मन को एकाग्र कर दिया, सब ओर से अपने संकल्पों को समेट कर उसी में स्थित हो गया है वही इस तत्त्व को जान पाता है। अनेक संकल्पों वाला अव्यवसायी होता है। ऐसी दृढ संकल्पशक्तिवाला सद्यः अनुभवयुक्त हो कर उसमें निष्ठित होता है और देहाध्यास से निवृत्त हो जाता है। यह निवृत्ति कैसे हो, इस पर फिर विचार करेंगे।

प्रवचन-७
आत्मवसना
१४-७-६८

ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार साधना की प्रगति के सोपानों का विचार चल रहा है। महत्त्व की प्राप्ति का प्रसंग प्रारंभ हुआ। शम्भुध्यानरूप मानस में मनोहंस अवगाहन करे तो आनन्दप्रद महत्त्व मिले-यह बताया। किन्तु शिवध्यान सरल नहीं। एक बार कबीर निर्गुण का ध्यान करने बैठे तो मन में कपास ओटने का ध्यान आने लगा! उन्होंने लिखा- 'बैठे थे हरिभजन को ओटन लगे कपास' मन-बुद्धि तो ध्यान करने बैठे थे और वासनाओं से भरा चित्त जुलाहे के काम में जुट गया। पाँच मिनट भी चित्त संसार से नहीं हट सकता। मन वासनाओं के द्वारा अनेक कुलाँचे मारता है किन्तु ध्यान की वासना बनती नहीं। इसीलिये कहा 'चित्तमेव हि संसारः तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।' प्रयत्नपूर्वक चित्त को शुद्ध करना होगा, अपने आप शुद्ध नहीं होगा। औरतें समझती हैं कि पहनी हुई साड़ी समेट कर रखनेमात्र से शुद्ध हो गई! जो साड़ी दिनभर पहन ली, शाम को तह लगाकर समेटकर रख देती है। दस-पंद्रह दिन बाद फिर कभी उस साड़ी की आवश्यकता हुई तो निकाल कर पहन लेती है। समझती है कि स़ाफ ही है। पति कहे कि मैली है तो कहती है 'हमने तो समेट कर रखी थी।' मानों समेटने से ही वह अपने आप साफ, शुद्ध हो गई हो। आदमी भी 'सूट' के सीधेपन को, बिना सलवट पड़े रखने को ही सफाई समझ लेते हैं। इसी प्रकार लोगों से कहें 'वासनाओं को हटाओ' तो कहते हैं, 'वासनाओं की क्या चिंता, आने दो, हमारा क्या बिगाड़ती हैं?' जबकि मैत्रायणी उपनिषद् कह रही है 'तत्प्रयत्नेन शोधयेत्' यत्न ही नहीं कहा, प्रयत्न कह रहे हैं अर्थात् इन वासनाओं का शोधन करने के लिये खूब चेष्टा करनी होगी।

बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। कब किस प्रकार की वासनायें जाल बनाने लगेंगी, कोई ठिकाना नहीं, अतः वासनाओं का शोधन विशेष प्रयत्न से करना होगा।

कैसे करें? जिन से फँसे हो उन्हीं प्रयत्नों से बाहर निकलना पड़ेगा। जितने प्रयत्न से फँसे हो, उतने प्रयत्न से ही निकलना पड़ेगा। अनात्म-वासनाओं से फँसे हो, आत्म-वासना से निकलना होगा। आज तक जीवन में अनात्म-वासनाओं को ही प्रधानता दी है। धन, पुत्र, पत्नी, देह, यश, मान,कीर्ति आदि सबको ही कीमत दे रखी है, इसीलिये वासनायें बनती चली जाती हैं। जितनी ज्यादा कीमत दे रखी है, उतनी ही मज़बूती से शोधन करना होगा, जितनी अधिक अनात्म-वासनायें बना रखी हैं उतनी ही आत्मवासनायें भी बनानी होंगी। घर चले, रास्ते में कई मोटरें आयीं किन्तु कोई ध्यान नहीं गया। जैसे ही कोई बढ़िया शॅवरले कार गुजरी तो झट से ध्यान चला गया कि 'यह बड़ी बढ़िया सुन्दर गाड़ी है।' लोगों को तो उसकी संख्या तक याद हो जाती है। कहते हैं 'गाड़ी तो अपनी भी है लेकिन है एम्बेसेडर ही, क्या अच्छा होता यदि हमारे पास भी वैसी ही बढ़िया गाड़ी होती।' अनात्म पदार्थों को कीमत देते-देते वे ही वासनायें बढ़ती चली गयीं। जब विपरीत प्रवाह होगा, आत्म-वासनायें बढ़ेंगी तो अन्ततोगत्वा चित्त आत्ममय हो जायेगा और काम बन जायेगा।

चित्त में आत्मवासना को भर देना है। यह तभी होगा जब चित्त में कुछ जगह खाली करोगे, अनात्मवासनाओं को हटाकर आत्मवासनाओं के लिये जगह करोगे। यदि वहाँ किंचित् भी जगह नहीं है और चित्त अनात्मवासनाओं से ही भरा है तो कोई भी काम करो, वही वासनायें सामने आयेंगी। लोग मन्दिर में भी अनात्मवासनाओं को ले जाते हैं। कहते हैं 'मेरे लड़का हो जाये'। लड़का है तो 'उसकी तरक्की हो जाये।' धन-सम्पत्ति आदि की सब अनात्म-वासनायें ही हैं जिनकी भगवान् से माँग करते हैं। अभी हमारे लिये परमेश्वर का कोई महत्त्व नहीं, भगवान् 'अन्यथा सिद्ध' ही हैं, वास्तविक साध्य तो है कि लड़का हो जाये! भगवान् को केवल साधन मानते हैं कि भगवान् से कहने पर लड़का होने की सम्भावना है। इसलिए यदि ठाकुर जी की प्रार्थना से लड़के की प्राप्ति कठिन है तो शेख-सैयद की प्रार्थना करने में भी कोई हर्ज नहीं, पीर साहब की कबर पर जाकर नाक रगड़ने में भी कोई हर्ज नहीं, जैसे पीर साहब को साधन माना उसी प्रकार भगवान् को

भी साधन ही माना है, दोनों में कोई फर्क नहीं है। यदि कोई भूत-प्रेत या मुल्ला भी लड़का दे तो वही ठीक है। शेख-सैयद के चक्कर में पड़े और कोई आस्तिक पूछे कि ऐसा क्यों करते हो तो आत्मवाद समझाने लगते हैं कि परमात्मा तो एक है! जो मेरा स्वार्थ सिद्ध करे, वही मेरा भगवान् है, सच्ची बात तो फिलहाल यही है अतः कहा कि परमेश्वर के लिये चित्त में जगह खाली छोड़नी पड़ेगी। जब यह दृष्टि होगी कि कम से कम किसी समय मेरे अन्दर आत्म-दृष्टि बने, तभी आत्मवासना का विकास संभव है। जब तक चित्त की अनात्म-वासनाओं को नहीं छोड़ेंगे तब तक काम बनेगा नहीं। बिना कुछ छोड़े, कुछ ग्रहण करना असम्भव है।

एक कथा है। दो भाई थे, धीरू और भीरू। दोनों एक जंगल में जा फँसे, निकलने का कोई मार्ग जानते नहीं थे, अतः अनेक वर्षों तक वहाँ भटकते रहे। कभी गड्ढे में गिरते, कभी काँटे लगते, कभी साँप और बिच्छू ही काटते, जंगल के शेर-भालू से दुखी होते, कभी जहरीले पत्तों की वायु से दुःखी होते। इस प्रकार अतिदीर्घ काल तक दुःख पाते हुए घूमते रहे, कहीं उन्हें सुख मिला नहीं। एक बार किसी पुण्य प्रारब्ध से वे दोनों एक सुन्दर बगीचे के निकट पहुँचे। वहाँ देखा कि निर्मल जल है, बड़ा सुन्दर बगीचा है। कोमल-किसलय पुष्पों का विकास हो रहा है। देखकर बड़े प्रसन्न हुए। सोचा आनंद से बैठें। लेकिन जैसे ही उस बगीचे के किनारे पहुँचे तो देखा कि एक सूचना-पट्ट लगा है जिस पर लिखा है 'आने वाली जनता सावधान।' उसी के नीचे लिखा था, 'आप यहाँ आ पहुँचे हैं, यह बगीचा जंगल का सुन्दरतम केन्द्र है। यह आपके अतिदीर्घ काल के पुण्यों का फल है जो आप यहाँ पहुँचे। किन्तु सावधान। पास वाले बगीचे में मत जाना। वहाँ के सुन्दर फूलों में से जहरीली हवा निकलती है। जो भी उसे सूंघता है, बेहोश हो जाता है। वहाँ दीखने वाले सुन्दर फलों को जो खाता है वह मर जाता है; और फिर उसे यहाँ से ले जाकर किसी गड्ढे में डाल दिया जाता है। अतः उसमें प्रवेश मत करना। किन्तु पास में ही जो सरोवर है, उसमें बड़ा ही सुखद अतिनिर्मल जल है। उसमें आप बिलकुल नंग-धड़ंग होकर कूद जाना। शरीर पर कोई भी वस्त्र न रहे। इस तालाब का जल अमृत-तुल्य है। वहाँ कोमल-किसलय कमलों की सुगंधि से चित्त अतिप्रसन्न हो उठता है। आप उस तालाब में खूब मल-मलकर स्नान करना और बड़े आनंद से तैरकर उसे पार कर जाना, डूबने से बिलकुल नहीं डरना। इस

तालाब की विशेषता है कि तैरना जानते हों या नहीं, दोनों ही पार हो जाते हैं। इसका जल ही ऐसा है जिसमें कोई डूबता नहीं। किन्तु कपड़े पहनकर जाओगे तो जहाँ गीले हुए कि डूबने की संभावना हो जाती है। अतः नंगे ही उसमें कूद पड़ना। जब आप दूसरे किनारे पर पहुँचेंगे तो वहाँ एक शेर मिलेगा, दीखने में बड़ा भयंकर, किन्तु स्वभाव से क्रूर नहीं, बड़ा सीधा है। आप लोग उस शेर से डरना नहीं। उसपर बैठ जाना। वह शेर बड़ी सावधानी से पहाड़ी पर ले जायेगा और पहाड़ की चोटी पर उस मन्दिर तक पहुँचा देगा जहाँ भगवान् शंकर की दिव्य मूर्ति है। आप भगवान् शंकर का दर्शन कर महादेवरूप ही हो जायेंगे। अनंतकोटि ब्रह्माण्ड तुम्हारे हाथ में आँवले जैसे लगेंगे। तुम्हें सब पदार्थों का यथावत् ज्ञान हो जायेगा, तुम स्वयं को ही विश्वरूप समझोगे।' यह लेख था, और नीचे किसी अधिकारी के दस्तखत थे।

भीरू यह सब बाँचकर कहने लगा 'कैसी-कैसी उलटी बातें लिखी हैं इसमें! हमें फँसाने के लिये अच्छा रास्ता ढूँढा है। हमें इतना बेवकूफ समझ रखा है क्या? इतने बेवकूफ हम नहीं हैं। हमारे सामने इतने सुन्दर सुगन्धित फूल हैं, सुन्दर फल हैं, कहते हैं कि इन्हें छोड़ दो। इतने बढ़िया आम, लीची आदि लटक रहे हैं, कहा कि इन्हें भी छोड़ दें! लिखा है कि गहरे तालाब में कूद पड़ो। कहीं पैर-वैर फँस गया तो गये काम से। 'सारे कपड़े बाहर ही उतार कर तालाब में कूदो।' इतने वर्षों तक जंगल में भटकते-भटकते सब कुछ तो चला गया, अब किसी को हमारे ये कपड़े भी सहन नहीं होते। हमने बड़ी मुश्किल से इन्हें बचाया है, आज इन्हीं को कैसे छोड़ दें? हमने भी बाल धूप में सफेद नहीं किये। मान लो कपड़े छोड़ दिये और उसमें कूदकर किसी प्रकार पार पहुँच भी गये, यद्यपि ऐसी संभावना तो नहीं है, तो लिखा है कि वहाँ एक शेर बैठा है, जो है भयंकर किन्तु है बड़ा सीधा। आज तक शेर ने किसी को छोड़ा है जो हमें छोड़ देगा! हमने तो केवल दुर्गाजी को ही शेर की सवारी करते सुना है। हम तो घोड़े पर जीन रखकर भी बैठते हैं तो पैर टूटते हैं। अगर बैठ भी गये तो पहाड़ी पर ही कहीं रास्ते में गिर जायेंगे। मुझे तो लगता है कि हमारे किसी द्वेषी ने यह सब लिखा है ताकि हमें नुकसान पहुँचे, भीरू जो ठहरा! कहने लगा, 'पहले तो पहाड़ पर मन्दिर का होना जँचता नहीं। यदि हो भी और कहीं वहाँ राक्षस हो तो खा जायेगा। अपने तो इस चक्कर में फँसने वाले नहीं। सुन्दर बगीचा है, वहीं चलें और थकावट मिटायें।'

धीरू कहने लगा- 'भाई भीरू। मुझे तो तुम्हारी बात जँची नहीं। हमें यहाँ आये डेढ़-दो घंटा हो गया और इस बगीचे में कई आदमी हैं जो तब से बिलकुल टस से मस नहीं हुए, कोई उठता नहीं, अतः मामला कुछ गड़बड़ है जरूर। इनकी आँखें देखने से लगता है कि बंद हो गई हैं। वास्तव में जहरीले फल-फूल सुने गये ही हैं; जिन्हें तुम सुन्दर-मधुर आम-लीची समझते हो, हो सकता है वे जहरीले हों। रही बात कपड़ों की तो ये कपड़े पहले ही इतने गंदे और फटकर चीथड़े हो गये हैं, इनमें जुएँ भी पड़ गई हैं जिनसे रात-दिन खुजलाते रहते हैं। इन गंदे कपड़ों को लेकर कोई क्या करेगा! उसे इतना बड़ा पट्ट लगाने का फायदा क्या होगा! अतः अब इन कपड़ों को छोड़ देना ही अच्छा है। सुन्दर तालाब में नहाकर ठंडक लो। देखो, इसके निर्मल जल में मछलियाँ खेल रही हैं, यदि यह जल गंदा होता तो ये मछलियाँ ही क्यों खेलतीं। हम भी इसमें प्रविष्ट हो सकते हैं और मल-मल कर स्नान कर सकते हैं। कमलों की सुगंधि लेंगे। ठीक है कि शेर भयंकर होता है। चिड़ियाघर में भी हमने शेर को देखा है, कभी दायें, कभी बायें घूमता है, कभी अपने केशों को झाड़ता है, किन्तु यहाँ तो डेढ़ घंटे से हम देख रहे हैं कि वह शेर शांत ही बैठा है। वह कोई मामूली शेर नहीं लगता। उसमें कुछ वैशिष्ट्य है अवश्य। अतः उसपर चढ़ना भी संभव है। यदि तुम्हें गिरने का भय है तो हम शेर पर बैठकर सावधानी से रहेंगे। तुम कहते हो कि वहाँ मंदिर में शायद राक्षस होगा। सोचो, राक्षस होता तो इतना ऊँचा ही क्यों बैठता? राक्षस को तो खाना इष्ट है, वह प्रतीक्षा थोड़े ही करता है कि कोई आये और खायें। हम इतनी देर से यहाँ हैं, हमें यहीं आकर खा जाता। राक्षस इस भरोसे बैठा हो कि कोई पहुँचे और वह खाये, यह संभव नहीं लगता। यहाँ हमारा कोई रक्षक तो है नहीं। मान लो तुम्हारी बातें सही हों, वहाँ राक्षस बैठा भी होवे और हमें खा जाये तो भी बताओ कि इतने दीर्घकाल तक जंगल में भटककर गिर-गिर कर फायदा क्या मिला? ऐसे धीरे-धीरे मरने से तो एकबारगी मर जायें वही अच्छा है। हम भटकते-भटकते इतने तंग आ चुके हैं कि तुम्हारी सब बातें सच्ची भी हों तो भी कोई नुकसान नहीं। अतः इसी के अनुसार चलना चाहिये।

किन्तु भीरू माना नहीं। कहा 'हम अपना-अपना रास्ता लेते हैं।' भीरू अपने चुने रास्ते चला। बगीचे में पहुँचकर फूल सूंघकर फल चखकर वहीं हरि:ओम् तत्सत् हो गया। फिर उसे गहरे गड्ढे में डाल दिया गया।

धीरू अपने सारे कपड़े खोल कर तालाब में उतर गया। निर्मल जल में खूब मल-मल कर स्नान किया। जैसे-जैसे मल उतरता गया, शरीर हलका होता गया, बड़ा आनंद आने लगा। केदारनाथ में जाने पर जैसे ही गौरीकुण्ड में मलकर स्नान करो कि सारी थकान दूर और शरीर हल्का हो जाता है। इसी तरह नहाने का आनंद पाकर उसका चित्त प्रसन्न हो गया। आज तक उसे वह आनंद नहीं मिला था। आगे बढ़ा। सुन्दर कोमल-किसलय कमलों की सुगंधि से और अधिक प्रसन्न हुआ। इतने वर्षों तक तो बदबू ही में भटकता रहा था। आज पहली बार ही ऐसी सुगंधि की प्राप्ति हुई। धीरे-धीरे पार पहुँच गया। देखा, शेर बड़ी शांति से बैठा है। उसे प्यार से थपथपाया, शेर कुछ बोला नहीं। वह उसपर बैठा और शेर पहाड़ी की ओर चल दिया। शेर ऐसे जा रहा था मानो अत्यंत स्थिर जल में नाव चल रही हो। चारों तरफ के सुन्दर प्राकृतिक दृश्य देखते हुए और झरनों का मधुर जलपान करते हए धीरू आगे बढ़ता गया। अंत में उस पहाड़ी पर पहुँचा। देखा वहाँ भगवान् शंकर का बड़ा सुन्दर स्फटिक का मन्दिर है। अन्दर प्रवेश किया, देखा साक्षात् भगवान् शंकर हँस रहे थे। उन्होंने उसे अपने में ही लिपटा लिया, वह महादेवरूप हो गया, उन्हीं की दृष्टि से संसार को देखने लगा। अनंत कोटि ब्रह्माण्ड उसी में उत्पन्न, स्थित और लय हो रहे थे। भीरू पीछे हट गया, मारा गया। धीरू आगे बढ़ा तो सफल हो गया।

यह कथा तो दृष्टांत है। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में धीरू और भीरू दो भाई बैठे हैं। भीरू भय खाने वाला है। जो लोग संसार के पदार्थों का संयोग ही चाहते हैं, शुद्ध-अशुद्ध कुछ भी हो इसका विचार ही नहीं करते, वे सारे ही भीरू हैं। उन्हें अभयपद में भी भय ही दीखता है। भीरू की पहिचान बताते हुए भगवान् गौडपाद लिखते हैं 'योगिनो बिभ्यति ह्यस्माद् अभये भयदर्शिनः' धीरू का अर्थ है - धैर्य वाला, विवेकी। धीरू का लक्षण करते हुए कठोपनिषत् का उद्घोष है कि धैर्यवान् विवेकी शरीर से आत्मा को सरकण्डे में से इषीका (तूलिका) की तरह धैर्यपूर्वक निकाल लेंगे। दोनों ही हृदय में बैठे हैं। धीरू आत्म-तत्त्व को ही पाने में लगा है और भीरू उस से भयभीत होता हैं। भीरू समझता है कि सरकण्डे में से कहीं साँप निकल आया तो मारा जाऊँगा! मनुष्य धीरू और भीरू कुछ भी बनने में समर्थ है, स्वतंत्र है। यही तो वेदान्त का सिद्धान्त है कि जीव सब कुछ करने में स्वतंत्र है, वह सुख-दुःख दोनों ही भोग सकता है।

मोक्ष और बंधन दोनों को पाने में समर्थ है। दूसरा कोई शासन करने वाला नहीं है। ये धीरू-भीरूप्रकृति वाले जीव न जाने कब से सृष्टिचक्र में, भवाटवी में भटक रहे हैं। कभी शोकरूपी काँटे गड़ते हैं, कभी मोहरूपी गड्ढों में गिरते हैं, कभी लोभरूपी शेर से भयभीत होते हैं, कभी कालरूप साँप काटता है; इस प्रकार भवारण्य में दुःख ही दुःख पाते रहते हैं, सुख उन्हें कहीं मिलता ही नहीं। कभी प्रबल पुण्य-प्रारब्धफल से मनुष्य योनि में और वह भी भारत में ही जन्म मिला। यहाँ पैदा होना भी पुण्य का फल ही है। किसी भावुक कवि ने कहा भी है 'दुर्लभम् भारते जन्म, दुर्लभा तत्र भारती' प्रथम तो भारत में जन्म दुर्लभ है। चीन में कहीं पैदा होते तो मेंढ़क और मछलियाँ ही खाते, यूरोप में पैदा होते तो शराब ही पीते। सत्संग, परमेश्वर के मन्दिरों का दर्शन, गंगा-यमुना जैसी पवित्र नदियाँ, घूमने को हिमालय जैसे पर्वत, यह सब भारत में जन्म लेकर ही सम्भव है। भारत में जन्म लेकर भी बहुत-से लोग भारतीय संस्कृति से अपरिचित, दूर बने रहते हैं। दिल्ली के कनाट प्लेस में जाकर देखो। केवल चेहरा ही हिन्दुस्तानी का देखने को मिलेगा। कपड़े, चलने और बात करने का ढंग, खाने-पीने का ढंग आदि सब भारतीयता के विरुद्ध ही देखने को मिलेंगे। पहले कभी कोई फिसल कर गिरता था तो चाहे कितना नास्तिक ही क्यों न हो, तो भी झट मुँह से 'हे राम' निकलता था। आज भारतीय चमड़ी में इन विदेशियों को देखोगे, गिरेंगे तो मुँह से आउच शब्द ही निकलेगा। अतः भारत में जन्म मिल भी जाये तो भारतीय दृष्टि आना कठिन।

किसी पुण्य-प्रारब्ध से भारत में जन्म मिला, सरोवर के निकट पहुँच गये। वहाँ वेद-रूपी सूचनापट्ट लगा है। वेद-वाक्य सावधान करते हैं- 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः'(कठ २.२)। यहाँ एक प्रेय है जो देखने में अतिप्रिय है। यह बगीचा वास्तव में देखने में प्रिय है, किन्तु इसमें बढ़िया सुन्दर फूलों की गंध मूर्च्छित कर देने वाली है, इससे सावधान। अच्छे से अच्छे गाँव से आये लोग दिल्ली में आकर रेडियो, दूरदर्शन, चलचित्र आदि के प्रवाह में बह जाते हैं और उनकी रही-सही सद्भावनायें खतम हो जाती हैं। बलिया जिले के एक व्यक्ति हमारे परिचित थे। उधर से जाते हुए एक बार उनके यहाँ ही ठहर गये। सीधे-सादे गरीब लोग थे। उनका एक लड़का था। कहने लगे, 'स्वामी जी! लड़के

को कहीं काम मिल जाये तो अच्छा हो जाये।' हमने भी कहा कि कोई काम देखेंगे। संयोगवश हम कलकते पहुँचे। एक सेठ जी वहाँ आया करते थे। एक दिन हमने उनसे जिकर किया कि एक लड़का परिचित है, विश्वासी आदमी है, उसे काम सिखला दोगे तो अच्छा काम भी करने लगेगा। सेठ जी ने कहा 'आप कहते हैं विश्वासी है तो बुला लीजिये।' उसे वहाँ काम मिल गया। दस-बारह साल बाद फिर वहाँ जाने का मौका मिला, हमने उसे बुलवाया। वह सेठ जी के यहाँ से नौकरी छोड़कर अन्यत्र चला गया था। ढूंढने पर पता लगा लिया। हम तो उसे कुर्ता-धोती में ही छोड़ गये थे। अब की बार जब वह हमारे पास आया तो हमने उसे टेरीलीन के सूट में देखा। वह ब्राह्मण था। हमने पूछा 'गायत्री तो जप लेता है?' कहने लगा, 'स्वामी जी, अपने तो इस चक्कर में पड़ते नहीं।' गजब हो गया! हम उसे गाँव के संस्कारी घर से लाये थे, यहाँ आकर वह मोह में पड़ गया। अब धन कमाने के सिवाय उसका और कोई उद्देश्य ही नहीं रह गया था। जहाँ पदार्थों की खुश्बू आने लगी कि मामला गड़बड़ हुआ, विषय विष-फल सूंघने को मिले तो बेहोशी आई। सोचते रहते हैं, सेठजी के पास तो सब कुछ है, हाय मेरे पास कब होगा? अगर कहीं भगवान् ने क्रोध करके (लोग तो इसे भगवान की कृपा, प्रसन्नता मानते हैं)वे पदार्थ दे भी दिये तो उन विषयरूप विषफलों को खाकर हरिः ओऽम् तत्सत् ही होना है। श्रुति कह रही है कि प्रेय चीजों से बचने में ही श्रेय है। भगवान् का गीता में भी यही उद्घोष है

'त्रिविधं नरकस्येदम् द्वारं नाशनमात्मनः।
काम: क्रोधस्तथा लोभः तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।'

काम, क्रोध और लोभ, ये तीनों ही आत्मनाश करने के, बरबाद करने के तरीके या तीन दरवाजे हैं।

दूसरा पट्ट लगा है कि यहीं से श्रेयः, कल्याण का मार्ग भी है। इस सरोवर में कपड़े उतारकर अर्थात् असद् वासनाओं को उतार कर कूद पड़ो सर में। धन-पुत्र-मान आदि की वासनाओं और संकल्पों को हटाकर इस तालाब में कूद जाओ। तालाब क्या है? कल बता आये हैं 'शम्भुध्यानसरोवरम्' भगवान् शंकर की भक्ति और ध्यानरूपी तालाब में ही उतरकर मल-मल कर स्नान करो और अपने चित्त को हल्का और शुद्ध बना लो। उसमें चित्त निर्मल होगा और शरीर भी हल्का हो जायेगा सारी थकावट, सारे ताप मिट जायेंगे। ऐसा मत समझना कि सारा मल

उतरे तो शरीर और सारे संकल्प हटें तब चित्त हल्का और निर्मल होगा। जितना-जितना परमेश्वर में प्रेम बढ़ेगा उतना ही अधिक आनंद आता जायेगा, चित्त निर्मल होता जायेगा। असद् वासनाओं को छोड़कर योगाभ्यास द्वारा तबियत तृप्त हो जायेगी और अंत में सहस्त्रदल कमल में पहुँचकर परमात्मा के प्रेम की पूर्णता होगी। वहाँ पहुँच कर आनंद ही मिलेगा। यह पूर्णता होने पर एक शेर बैठा मिलेगा। वेदान्त-महावाक्य ही शेर है 'न गर्जति महाशक्तिर्यावद् वेदान्तकेसरी' जो देखने में भयंकर है किन्तु है बड़ा सौम्य। महावाक्यरूप सिंह पर बैठकर चलोगे तो सारा जगत् और सुन्दर लगेगा। अणुस्फोट एक ही शहर का नाश करेगा। महावाक्य में अनंतकोटि ब्रह्मण्ड क्षय करने की शक्ति है। जैसे-जैसे ऊपर चढ़ते जाओगे, दृष्टि उच्चतर होती जायेगी। अंत में साक्षात् स्फटिक के मन्दिर में पहुँचोगे। चित्त स्फटिकवत् पूर्णतः निर्मल हो जायेगा, सारे आवरण नष्ट हो जायेंगे और आरपार दीखने लगेगा। ब्रह्माकार वृत्ति में स्वयं ब्रह्म ही दीखेगा। वृत्ति में प्रतिफलित ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर ब्रह्मरूप ही हो जाओगे क्योंकि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।' धीर पुरुष इसी श्रेय को चुनता है और अन्य सभी पदार्थों को ठुकरा देता है। तब ध्यानानंद में पहुँचकर उसे भी वही दृष्टि मिल जाती है, वह शिवरूप हो जाता है। श्रुति यही बता रही है कि उस महत्त्व को प्राप्त करो। परमेश्वर के ध्यान से असद् वासनायें दूर होती चली जायेंगी किन्तु यह तभी हो सकेगा जब हिम्मत की जायेगी। बड़े साहस की आवश्यकता है। जब समस्त वासनायें छोड़ दीं तो फिर और कपड़े कहाँ से आयेंगे! वासनारहित चित्त में जब परमेश्वर के ध्यान में डूबोगे, योगाभ्यास से उसमें लगे तो पार पहुँच जाओगे, फिर महावाक्यरूप सिंह पर चढ़ कर ब्रह्म ही हो जाओगे। वहाँ शून्यरूप राक्षस नहीं खायेगा। इन सारे भयों से रहित होकर चित्त शुद्ध होने पर उस पुरुषार्थ की प्राप्ति होगी।

प्रवचन-८
भर्ग
१५-७-६८

भगवती श्रुति परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति व प्रकट होने के लक्षणों द्वारा बताती है कि किस प्रकार परमात्म-तत्त्व प्रकट होते हुए स्फुट-स्फुटतर होता जाता है। उसके महत् स्वरूप पर विचार किया, महान् बनने का साधन भी बताया। अब उसके भर्ग स्वरूप पर विचार करेंगे।

'भर्जनात् भर्गः' अर्थात् जो भूंज दे उसे भर्ग कहते हैं। समस्त पापों को भूंज देने की सामर्थ्य के कारण ही परब्रह्म परमात्मा भर्ग नाम से कहे जाते हैं। भगवान् शंकर का विशेष नाम 'भर्ग' इसीलिये है कि वे संसार की सब चीजों को भूंज देते हैं। संसार के समस्त पदार्थों को भूंज डालने को ही लोग 'संहार' समझ लेते हैं, लेकिन विवेकी जानता है कि पदार्थों का संहार ही सच्चा संहार नहीं है। परमात्मा के भर्ग-स्वरूप पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करना आवश्यक हो जाता है। जिसे संसार के लोग सृष्टि मानते हैं वह वास्तव में संहार है और जिसे वे संहार मानते हैं वह वास्तव में सृष्टि है। इसका कारण यह है कि सामान्य लोग तो बाह्य पदार्थों की प्राप्ति को ही प्राप्ति मानते हैं किन्तु विवेकी बाह्य पदार्थों को विनाश का हेतु समझने के कारण उनकी प्राप्ति को विनाश ही मानता है। संसारी लोग पदार्थों के समापन को विनाश मानते हैं, और विवेकी ठीक इसके विपरीत संसार के पदार्थों के दूर होने को परमात्मा में साधक होने के कारण सृष्टि ही मानता है। संसारी जीव पुत्र उत्पन्न होने पर खुश होता है, और विवेकी बंद कमरे में धाड़ मारकर रो देता है। क्यों ऐसा होता है? अविवेकी प्रसन्न होता है लेकिन यह विचार नहीं करता कि अभी तो पुत्र उत्पन्न हुआ है, आगे न जाने

क्या-क्या नजारे दिखायेगा। बीमार पड़ जाये, सम्भवतः मर भी जाये। यदि जी भी गया तो कहीं नालायक ही निकले। यदि पढ़ भी गया तो दस बातें बनाये। काम कर भी लिया और नुकसान ही कर दिया तो दीवालिया बना देगा। काम अच्छी तरह कर भी लिया तो कहीं आयकर की चोरी में पकड़ा जाकर अखबारों में नाम ही निकलवा दे। इस प्रकार न जाने क्या-क्या काण्ड करेगा। इन सबसे बच जाना उतना ही मुश्किल है जितना सुई के छेद से ऊँट का निकलना। पुत्र उत्पन्न हो और दुःख न दे तो समझो कि कुछ असम्भव घटना ही घटी। इसलिये विवेकी तो पुत्र उत्पन्न होने पर बन्द कमरे में एक ही बार खूब रो लेता है ताकि आगे फिर न रोना पड़े। अविवेकी खुश होता है फिर जीवनभर दुःखी रहता है!

इसी प्रकार धन-प्राप्ति में विवेकी रो देता है, यह सोचकर कि न जाने कौन-कौन से अनर्थ इसने करवाने हैं। धन से ही दुष्कर्मों में प्रवृत्ति व कुसंगियों का साथ होता है। कोई कहता है चलचित्र बड़ा सुन्दर लगा है, देखने चलो। कोई होटल, क्लब आदि में ले जाता है। जिसके पास पैसा है उसी को सब इन कामों के लिये कहते हैं। जिसके पास पैसा ही नहीं है उससे कोई क्या कहेगा? यदि कोई बगैर पैसे वाला पहुँच भी गया और कहे 'चलो बाइस्कोप', तो मित्र कह देता है 'आज तो बड़ा काम है' क्योंकि वह सोचता है कि उसको साथ ले जाकर एक टिकट फालतू और लेना पड़ेगा। पैसा पास है तो दस-बीस कुसंगी मिलकर अवश्य चक्कर में ले लेंगे। धनी की आदतें भी बिगड़ेंगी और नरक भी भोगना पड़ेगा। इसलिये विवेकी तो धन होने पर दुःखी होता है और अविवेकी खुश होता है। अगर किसी तरह धन प्राप्त करके सम्हाल कर रख भी लिया, और निश्चय कर लिया कि कुसंगी के चक्कर में नहीं पड़ेगा, तो भी बच्चों को उसने नरक में धकेलने की सामग्री जुटा ही ली। स्वयं विवेकी हो भी लेकिन बच्चों का क्या हाल होगा इसका पता ही नहीं। आजकल लोग पचास रुपये का टिकट लेकर चलचित्र-अभिनेत्री को देखने जाते हैं। कुछ दिन पहले ही कोई सुना रहा था कि किसी आदमी ने समाचारपत्रों में यह प्रचार किया कि अमुक दिन सिनेमा के अभिनेता और अभिनेत्रियाँ इकट्ठे होकर एक सुन्दर कार्यक्रम पेश करेंगे जिसकी टिकट कम से कम पचास रुपये थी। वेश्या को भी देखनेभर के लिये रुपये देने को तैयार हो जाते हैं। जैसे देवता होंगे, वैसे ही पुजारी भी होंगे। लोगों ने टिकट खरीद लिये और निश्चित दिन वहाँ पहुँचे तो वहाँ कुछ भी नहीं था। प्रचारकर्ता

कहने लगे कार्यक्रम में भाग लेने वाले किसी कारणवशात् नहीं आ सके। बाद में पता लगा कि वह तो सब पैसा इकट्ठा करने का धोखा था। हमने सोचा, ऐसे लोगों के लिये यह ठगी ही अच्छी है। अगर तुमने किसी तरह उन्हें बचा भी लिया तो तुम्हारे बेटे अवश्य ही धोखों में फँस जायेंगे। अतः सदैव धन से दुःख़ ही आता है। सर्वत्र ही यह समझना।

बस यही है विवेकी और अविवेकी की दृष्टि का फर्क। इसलिये भगवान् शंकर का आदर्श ही है कि अपने पास कुछ नहीं रखे। कविकुलगुरु कालिदास एक जगह लिखते हैं कि भगवान् शंकर कैसे हैं 'अकिंचनः सन् प्रभवः स सम्पदाम्।' अकिंचन, अपने पास कुछ भी नहीं रखते। उनके घर का जितना भी माल है उस सबकी सूची बनी हुई है, सब लेखा-जोखा लिखा गया है, उसमें कल्पना की जरूरत ही नहीं। पुष्पदन्त कहते हैं 'महोक्षः खट्वांगं परशुरजिनम् भस्म फणिनः कपालं चेतीयत्तव वरद तन्त्रोपकरणम्।' घर के सारे माल की सूची लिख दी कि इतना ही है। 'महोक्षः' एक बुड्ढा बैल रख छोड़ा है। जवान बैल भी नहीं रखा कि कहीं कोई चुरा कर ही न ले जाये। ऐसे बुड्ढे बैल को ले जाकर भूसा भी कौन देगा! चारे में से निकाली हुई बारीक भूसी तो वह किसी तरह निगल भी ले, कहीं कड़ा चारा ही दे दिया तो मामला हरिःओम् तत्सत् है। जैसे घर के बुड्ढे होते हैं, वे पतली दाल में किसी तरह टुकड़ा डालकर निगल भी लें, वरना तो भात खाकर ही गुजारा कर लेते हैं। आखिर गृहस्थी है तो कुछ न कुछ प्रसाधन भी होगा। टूटी हुई खाट का एक पाया, खट्वांग ही प्रसाधन है। परशु, एक टूटा फरसा भी है जो सर्दी के मौसम में कैलास में आग तापने के लिये लकड़ी वगैरह तोड़ने के काम आ सके। 'अजिनः' वस्त्र भी है तो हाथी का चमड़ा। वह सुरक्षित है क्योंकि कोई भी उसकी चोरी करने वाला नहीं है! संसार के अन्य लोग कीमती हीरों की झालर के वस्त्र आदि रखते हैं पर महेश हाथी का चमड़ा रखते हैं। 'फणिनः' गहने भी हैं तो सर्प। अंगराग लगाने के लिये भस्म है। उनके पास बर्तन क्या है? कपाल! एक बार ब्रह्मा को दण्ड देना आवश्यक हो गया तो शंकर ने ब्रह्मा का सिर ही काट लिया था, सोचा, अच्छा हुआ, एक कटोरा ही हाथ आ गया! यही सब चीजें उनके पास हैं। 'इति इयत्' इससे आगे और कोई चीज वहाँ नहीं है। ऐसे होने पर भी माँगने वाले को सब कुछ देते हैं। यही कालिदास 'अकिंचनः' से कह रहे हैं। उपमन्यु ने दूध माँगा तो उसे क्षीरसमुद्र ही दे दिया। यही ईश्वर का आदर्श है कि पास कुछ भी नहीं, फिर भी माँगने वाले को सब कुछ दे देना।

भर्ग से बता रहे हैं कि पदार्थों में न फँसो। पदार्थ दुःख ही देंगे और स्वरूप से भी डिगा देंगे। भर्ग बनने वाला ही पापों को भस्म कर सकेगा। जब तक पदार्थों के गीलेपन को चित्त-रूपी लकड़ी में घुसाकर रखेगा तब तक ज्ञानाग्नि उसमें जलने वाली नहीं है। अतः जो भर्ग बनेगा, वही सब पापों को नष्ट करने में समर्थ होगा और तभी 'ज्ञानाग्निःसर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन'। गीली लकड़ी में जो आग लगायेगा वह जलाने वाला भी और पास-पड़ोसी भी सब रोयेंगे क्योंकि उसमें से तो धुआँ ही उठेगा। इसी प्रकार वैराग्य की पूर्णता प्राप्त न करने वाले शिष्य के अंतःकरण में जब गुरु ज्ञानाग्नि जलाने जाते हैं तो स्वयं उनकी आँखों में पानी आ जाता है। जैसे ही शिष्य को तैयार किया कि वह फिर गिर जाता है। इसलिये गुरु को दुःख होता है कि सारा प्रयत्न व्यर्थ चला गया। फिर तैयार किया तो वही मामला। इसलिये गुरु भी सोचते हैं कि जाने दो। अगर वह पूछे कि क्या मुझे ज्ञान हो गया तो गुरु कहते हैं, 'बस कर, फिर कभी देखा जायेगा।' ऐसे को देखकर घरवालों की आँखों में भी पानी आ जाता है। वे भी कहते हैं कि हमें तो सुनाता है 'सर्वम् ब्रह्ममयं जगत्' यह सारा जगत् ब्रह्म ही है, जीव में शुद्ध चेतन रहता है और थोड़ी ही देर बाद खाना खाते हुए कहता है, 'अरे क्या बेकार साग बनाया है'। वैराग्य की पूर्णता न होने से उपदेष्टा भी दुःखी होते हैं और उपदेश लेने वाले भी दुःखी होकर सोचते हैं कि कहाँ फँस गये।

यह नहीं कहा कि उनके पास सम्पत्ति नहीं होती। सम्पत्ति तो उनके पास खूब होती है लेकिन अपने लिये कुछ नहीं होती है। अपने पास वे कुछ भी नहीं रखते, सबको देते रहते हैं। यह सारी सम्पत्ति आ कहाँ से जाती है? यही तो वेदांत का रहस्य है। इस रहस्य को न समझकर पदार्थों को छोड़ नहीं पाओगे। तुम समझते हो कि पदार्थ कोई ऐसी चीज है जो मिलती है। ऐसा नहीं है। पदार्थ तो मन के संकल्पों का घनीभवन है। इसलिये पदार्थों का मिलना कोई मिलना नहीं है। पदार्थ हैं ही नहीं, होते तो मिलते भी। जो इस वेदांत-रहस्य को जानता है कि बाजार को बनाने वाला कौन है, कपड़ा बनाने वाला कौन है और कपड़ा खरीदने और बेचने वाला कौन है, दूसरा तो कोई है नहीं; वह फिर इन पदार्थों को इकट्ठा नहीं करता।

सूतसंहिता में बताया है 'अद्वितीयो विकारी च निर्मलःस परःशिवः।' अद्वितीय, उसे किसी दूसरी चीज की जरूरत नहीं। वह निरुपादान-संभार, बिना अन्य उपादान के सृष्टि करने वाला है। उससे एक हुए साधक के संकल्प उठते ही नहीं, यह तो

ठीक है। यदि संकल्प उठेगा तो श्रुति का स्पष्ट उद्घोष है कि वहीं सारे पितर, सारे पदार्थ और सारे देवता उपस्थित हो जाते हैं। प्रथम तो मन में संकल्प उठेगा ही नहीं, यही ठीक है किन्तु कारणवशात् यदि संकल्प उठ भी गया तो जिसने संवित् शक्ति से एक बार एकता कर ली उसको रोकने वाला फिर कौन है? तब तो असंभव भी संभव हो जायेगा। इसलिये पदार्थ होते तो संग्रह भी करते। पदार्थ तो केवल चित् का स्पन्दनमात्र है। तुमने उस चित् के स्पन्दन को दबा रखा है और पदार्थों को उत्पन्न करते जाते हो, उन्हीं पदार्थों को इकट्ठा करने में लगे हो। जब कि अद्वितीय हो, दूसरा कोई कारण है ही नहीं। वह अविकारी है, उसमें कोई दोष नहीं है, वह सर्वथा निर्मल है। उसमें मल की संभावना ही नहीं है। 'तथापि सृजति प्राज्ञः सर्वमेतत् चराचरम्' फिर भी वह परम शिव, बिना किसी द्वितीयभाव के सृष्टि कर देता है। जैसे वह चराचर की सृष्टि कर देता है, वैसे ही वही हृदय में भी बैठा है। हृदय में चिंतामणि को लेकर घूमने वाला वही है।

मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ के गुरु थे। दोनों एक बार घूमने गये। एक जगह मत्स्येन्द्रनाथ को किसी ने बहुत सारा सोना दिया और वह सोना उन्होंने अगले गाँव में ही सबको बाँट दिया। गोरखनाथ नये-नये शिष्य बने थे। उन्होंने सोचा, गजब हो गया, इन्होंने तो सारा सोना बाँट दिया। अपने पास सोना रहता तो कभी काम आता। लोगों को सोने से क्यों इतना प्रेम होता है? क्योंकि इसके जैसी हितकारी चीज दूसरी नहीं। सोने से होने वाला आनंद सुषुप्ति में भी नहीं है। इसको छूने में भी सुख, अपने ऊपर सोने का बोझा भी हो तो सुख, उस पर लेटो तो महासुख का अनुभव होता है। देखने में भी सुन्दर और रमणीय है कि देखते ही तबियत प्रसन्न हो जाती है। चित्त खराब हो, महादुःखी हो, संसार से अरुचि हो रही हो, उस समय सोना दिखा दो तो प्रसन्न हो जाता है और यदि कोई कहे कि ले लो तो उसके पाने से ही चित्त प्रसन्न हो जायेगा। चेहरे पर लम्बी-लम्बी रेखायें हों ऐसा चेहरा भी खिल उठता है। इसे देखकर पचास वर्ष का आदमी भी तीस वर्ष वाले की तरह क्रिया करने लगेगा। गोरखनाथ ने उसमें से सोने की एक बड़ी ईंट अपने पास रख ली कि कभी काम आयेगी। 'हितं च रमणीयं हिरण्यम्।' अब वह जहाँ भी जाये, स्नान करने भी जाये, तो गुरुजी से कहकर कि 'यह थैला रखा है।' गुरु जी ने कई बार पूछा भी कि इसमें क्या है, तो उसने कुछ नहीं कहा। एक बार

गोरखनाथ कहीं दूर गये हुए थे, पीछे गुरुजी ने थैला खोल कर देखा तो उसमें एक सोने की ईंट पड़ी मिली। आने पर पूछा तो कहने लगे, 'गुरु जी आपको क्या पता आजकल का जमाना कैसा है, कभी भी जरूरत पड़ सकती है।' गुरु जी को आश्चर्य हुआ। पूछा, 'फिर ज्यादा क्यों नहीं रख लिया?' अगले दिन उन्होंने एक चट्टान पर बैठकर लघुशंका की तो सारी चट्टान ही सोने की हो गई। गोरखनाथ से कहा 'ले जा जितना ले जाना है। तू फिजूल में एक बूँद पेशाब को ही छाती पर ढो रहा है।'

जो व्यक्ति अकिंचन होगा, वही सारी सम्पदाओं के प्रभव का हेतु होगा। पदार्थ संकल्प से भिन्न नहीं, जो यह जानता है वह फिर पदार्थों का संग्रह नहीं करेगा। 'सृजति' सृज धातु का अर्थ विसर्जन भी होता है। आत्मा जहाँ अपने को छोड़े वही अनात्मा है, उसी का नाम सृष्टि है। अनात्म पदार्थ तो आत्म-तत्त्व को अलग करते ही खड़े हो गये। जब जाना कि शिवरूप तो अन्दर ही है, फिर इन पदार्थों के बोझ को ढोने वाला गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ ही बन गया। मत्स्य मछली को कहते हैं। मछली जल के अन्दर आनंद से कल्लोल करती है। वह कोई बाल्टी जल भरकर नहीं रखती। इसी प्रकार ब्रह्मसमुद्र में तैरने वाले व्यक्ति को जब रहना ही ब्रह्मसमुद्र में है तो उसे बाल्टियों को लटकाकर घूमना शोभा नहीं देता। अत: जहाँ संकल्प उठा, वहीं पदार्थ की सृष्टि है। भर्ग बनने से ही कर्मों को जलाने की शक्ति आती है। तभी मनुष्य इस भावना से प्रवृत्ति करेगा कि शंकर का यह प्रभव है। इसी आदर्श को अपने में घटाने के लिये शंकर का पूजन होता है कि वैसी निःस्पृहता हमारे अंदर भी आये। उस शिव के प्रतिदिन प्रातः दर्शनमात्र से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

[श्रावण-सोमवार-प्रयुक्त पूजन के निमित्त प्रवचन छोटा रहा।]

प्रवचन-९
जीव-जगत्-ईश्वर
१६-७-६८

परमात्मतत्त्व स्पष्टतर होता जाता है तो समग्र संकीर्ण परिच्छिन्न भावनाओं को समाप्त करके उदार भावनाओं की तरफ ले जाता है 'महन्मे वोचः' से संकेत किया कि प्रतिक्षण किसी भी परिस्थिति में क्या करें। इसके आगे समग्र पापों को भूंज देने का तरीका बताते हैं कि किस प्रकार हम अपने सारे दोषों को नष्ट कर सकते हैं। यह भर्ग पद से बताया। इससे पूर्व विचार आरंभ किया था कि दोषों की प्राप्ति कैसे होती है। भर्ग भगवान् शंकर का रूप बताते हुए कविकुलगुरु कालिदास के कथन पर संक्षिप्त विचार किया। भगवती पार्वती ने भगवान् शंकर को पाने के लिये कठोर तपस्या की। उनकी तपस्या सफल होने जाती इससे पहले भगवान् शंकर यह जानना चाहते थे कि तपस्या कैसी है और पार्वती मुझे ठीक समझ पा रही है या नहीं। जीव का परमेश्वर का और जगत् का कैसा सम्बन्ध है, यह जाने बिना चाहे जितना तप करें, उससे उद्देश्य-प्राप्ति होने वाली नहीं है। नियम है कि सम्बन्ध-ज्ञान के बिना प्रवृत्ति अपने पूरे फल को पैदा नहीं करती। जब तक यह पता नहीं कि जो व्यक्ति मेरे यहाँ सामान्य नौकरी कर रहा है वह मेरा भतीजा है, तब तक उसे तरक्की भी देते हो, सामान्य प्रेम से रखते भी हो, फिर भी उससे दूसरे नौकरों की तरह सावधान रहते हो। एक दिन अकस्मात् तुम्हारे भाई आ गये और तुम्हें पता चला कि यह तो भाई का ही बेटा है। बचपन से भाई दूर रहते थे, इसलिये बच्चों से मिलने का मौका ही नहीं मिला तो पहचान नहीं पाये। सम्बन्ध का पता लगते ही दृष्टि बदल गई। तुम्हारी ही नहीं, भतीजे की दृष्टि भी बदल जाती है। अब तक तो वह भी अन्य नौकरों के साथ मिलकर माँग करने आता था, अपने आप को नौकर

समझता था। मालिक का प्रेम उस समय भी उसके साथ था किन्तु उससे भी सावधान बना रहता था और कभी भी दो नम्बर की चाबी उसके हाथ में नहीं देता था, वह भी सुविधायें माँगता रहता था। अब अगर अन्य नौकर माँग करने की कहें तो खुद ही कहता है कि मंदी का समय है, अगर वेतन बढ़ाने को कहोगे तो कहीं नौकरी ही खतम न हो जाय! चाचा कहीं जाते हैं तो तिजोरियों की सारी चाबियाँ भतीजे को देकर जाते हैं। अब वह दो नंबर का काम भी देखने लगा।

सम्बन्धज्ञान से अन्तर होता है। जीव और जगत् इकट्ठे हैं। वस्तुतः जीव ही है, जगत् नहीं है। जीव के कार्य करने के साधन का नाम ही जगत् है। अतः जीव में ही जगत् भी समझना चाहिये। जीव अच्छे से अच्छा कर्म कर रहा है, यज्ञ दानादि शुभ कर्मों में लगा हुआ है, परमेश्वर फल भी अच्छा दे रहे हैं। शुभ कर्मानुसार उसकी उन्नति हो रही है। कभी स्वर्ग जाता है तो कभी बड़े घर में जन्म लेकर सुख भोगता है। उसका ईश्वर से सम्बन्ध यहीं तक है कि अच्छे कर्म करके उससे अच्छा फल ले रहा है। मालिक–नौकर का ही सम्बन्ध है। यदि उसे यह पता लग जाये कि मैं ही परमेश्वर का पुत्र हूँ परमेश्वर के साथ असली सम्बन्ध का ज्ञान हो जाये, तो उसे सारी चाबियाँ ही मिल जायेंगी और परमेश्वर कहेगा 'अब तो सारा काम तुम ही सँभालो' पर यह होगा तभी जब सम्बन्ध का ज्ञान होगा। मालिक और नौकर दोनों को परस्पर सम्बन्ध के ज्ञान की जरूरत है। लेकिन परमेश्वर को तो सम्बन्ध का ज्ञान है ही, इसलिये अब केवल तुम्हें ही जानना है। तात्पर्य यह है कि जब तक जीव ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को जानेगा नहीं तब तक परम पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये बार–बार यही कहा जाता है कि कर्म चाहे जितने कर लो, मोक्ष की प्राप्ति उनसे होने वाली नहीं है। भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं 'न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः'(११–४८)। श्रुतियों में कर्म के लिये कहा है 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः।' यज्ञादि हैं तो नावें जो मनुष्य को डूबने नहीं देती। ये न हों तो मनुष्य अशुभ कर्मों में पड़ कर ऐसे डूब जाये कि पता ही नहीं चले कि कहाँ गया। यज्ञ नाव तो है किन्तु छोटी-सी नाव है, एक हिलोर आने से उसके डूबने का भय है। 'अष्टादशोक्तम् अवरं येषु कर्म' अट्ठारह जबरदस्त मल्लहों को इसमें लगा दिया है: पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच प्राण, मन, बुद्धि और चित्त ये अट्ठारह मल्लाह यज्ञादि की नौका को चलाते हैं। उनमें से एक भी कमजोर हुआ कि गये। इसलिये प्लव को अवर

कहा है कि नाव बड़ी श्रेष्ठ नहीं है। यदि नाव को छोड़कर बड़ा भारी जहाज बैठने को मिले तभी सुरक्षित है। पहले दो मील घेरे वाले जहाज हुआ करते थे। क्वीन एलिजाबेथ का जहाज ८६ हजार टन वजन का था। इतने बड़े जहाज को बड़ी से बड़ी लहर भी नाम मात्र को ही हिला-डुला सकेगी। यज्ञादि करके बड़े श्रेष्ठ फल मिलेंगे लेकिन वे छोटी नाव की तरह ही हैं, जहाज की तरह नहीं। जहाज पर तभी बैठोगे जब परमेश्वर और जीव का सम्बन्ध जान लोगे। सम्बन्ध-ज्ञान होते ही मालिक बन गये। जीव-परमेश्वर का सम्बन्ध समझना आवश्यक किन्तु कठिन है। भगवान् शंकर ने भी यही सोचा कि यदि पार्वती तपस्या सम्बन्ध को जानकर कर रही है तो पूर्ण फल मिलेगा, मत्स्वरूप ही बन जायेगी। अगर सम्बन्ध को नहीं जाना तो गंगा और चंद्रकला की तरह सिर्फ साथ रह सकती है। भगवान् शंकर सर्वज्ञ हैं, उन्हें सब पता है, फिर भी यह बताने के लिये कि ईश्वर और सृष्टि का सम्बन्ध लोग कैसे जानें, वे ब्रह्मचारी का रूप लेकर वहाँ गये। पूछा, 'क्यों तपस्या कर रही हो?' पार्वती ने जवाब दिया, 'भगवान् शंकर की प्राप्ति के लिये तपस्या कर रही हूँ।' कहने लगे 'तुम्हें किसी ने भरमा दिया है। विष्णु आदि अन्य देव हैं, उनकी तपस्या करो।' अब भगवती ने सीधा जवाब दिया ज्यादा 'बक-बक मत करो।'

'अकिंचनः सन् प्रभवः स सम्पदाम् त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः।
स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः।।'

वे कहने लगीं कि सारे विरोध जहाँ सम्भव हो जायें वही परमेश्वर का स्वरूप है। वे अपने पास कुछ भी नहीं रखते किन्तु सारी सम्पत्ति दे सकते हैं। ये अत्यंत विरोधी बातें उनमें देखी जाती हैं। यही बात वेदान्त भी कहता है कि इस सारी सृष्टि को उत्पन्न करने वाला परमात्मतत्त्व कैसा है- 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्।' इस समग्र सृष्टि को बनाने वाला निष्कल और निष्क्रिय है। जबकि संसार में 'सर्वे भावाः क्षणपरिणामिनः' एक-एक अणु और एक-एक पदार्थ प्रतिक्षण बदल रहा है, क्षणभर को भी क्रियारहितता नहीं है, फिर भी उसे निष्क्रिय बताया। सृष्टि में कितनी अशांति है जिसका हिसाब नहीं है। उसी सृष्टि को पैदा करने वाले को कह रहे हैं 'शान्तम्'! उनका जिन चीजों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं उन्हें भी पैदा कर देते हैं। इसीलिये हम लोग पत्थर की पूजा करते हैं। लोग कहते हैं कि पत्थर के शिवलिंग की पूजा क्यों करते हैं? शास्त्र का मानना

है कि वहीं तो अभ्यास होगा। कुछ न करने वाला पत्थर जब मेरी विघ्न-बाधाओं को दूर करेगा, तब वही परब्रह्म परमात्मा को भी प्राप्त करा सकेगा। यदि कुछ न करने वाला पत्थर हमें सब कुछ न दे सकेगा तो निष्क्रिय भगवान् भी क्या दे सकेगा! लोग कहते हैं कि ब्रह्म से क्या होने वाला है, इसलिये देवपूजा ही करो। किसी ने बिना समझे ही कह दिया कि जो मूर्ति अपने हाथ से अपने ऊपर चढ़े चूहे को भी नहीं हटा सकती वह हमें क्या देगी! कुछ न दे सकने वाले पत्थर की पूजा में यह सिखाया कि निष्क्रिय और शांत से ही हमें सब कुछ मिल सकता है। वही मूर्ति हमें घोर शत्रु से बचायेगी, ऐसा विश्वास और श्रद्धा पैदा करनी होगी। यदि इसकी पूजा नहीं की तो ब्रह्म की पूजा भी नहीं कर सकते। प्राचीन ऋषि सब-कुछ समझते थे कि मूर्ति पूजा से क्या मिल सकता है। जो शब्द आगरहित है वही शब्द आग जला सकता है। कोई आदमी आया है। उसे यदि सरल से दो अक्षर सुना दो, एक तो दन्त्य 'स' जो बड़ा सरल कोमल माना गया है और दूसरा 'ल' को भी कड़ा नहीं माना गया है। कोमल पदावली में ही इन दोनों का प्रयोग होता है। इन्हें कुछ स्वर मिलाकर बोल दो तो यद्यपि इनका उच्चारण कोमलकांत पदावली का है लेकिन सामने वाला सुनते ही आग-बबूला हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जहाँ कोई क्रिया नहीं है वहीं से सारी क्रियायें निकल आयें, यही उसका रूप है।

पार्वती कहती है कि वे समग्र संसार के अधिपति हैं। हेतुहेतुमद्भाव से अकिंचन होने से नाथ भी हैं। अंग्रेजी में कहावत है कि जो संसार का शासक बनना चाहता है वह गुलाम बनना सीखे! इसी प्रकार जो संसार का नाथ बनना चाहता है वह अकिंचन बने, सारे पदार्थों को छोड़ना सीखे। वे त्रिलोकनाथ हैं। त्रिलोक से पृथ्वी, ऊपर और नीचे के तीनों लोक अथवा भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों काल समझ लो। लोग सोचते हैं कि सारे संसार का नाथ, अधिपति है तो कोई बड़ा भारी महल होगा जिसमें ऐसे रहता होगा जैसे राष्ट्रपति-भवन में भारत का नाथ रहता है। कोई जमाना था जब भारत का नाथ कहीं और ही रहता था। सारे भारत का नेतृत्व करने वाला वर्धा के पास सेवाग्राम में ही एक झोपड़ी में रहा करता था, सचमुच की झोपड़ी में, मिट्टी और फूस की दीवाल में महात्मा गाँधी रहते थे। एक गाँव में इस प्रकार रहने वाले का उस समय संसार में रुतबा था। जहाँ कहीं वह जाता था लोग उसे सम्मान से देखते थे और उसकी बात झट

मान लेते थे। बचपन में वे चाहे जहाँ गये हों लेकिन भारतनायक बनने के बाद सब उन्हीं के पास आते थे, फिर उन्हें कहीं जाना नहीं पड़ा। लगता है उन्होंने यह 'अकिंचन' पद कहीं पढ़ा होगा। अब भारत का नाथ राष्ट्रपतिभवन में रहता है। दुनिया-भर में भीख माँगता है फिर भी खाली हाथ चला आता है। गाँधी जी ने कहा था कि इस महल को मरीजों के इलाज की जगह बना दो। जो मरीज हैं, वे पहले अस्पताल में ही जायेंगे! त्रिलोकी के अधिपति भगवान् शंकर 'पितृसद्मगोचर:' श्मशान में ही रहते हैं। श्मशान एक आदर्श है। सारी सम्पत्तियों का मालिक वही बन सकेगा जो 'अकिंचन' होगा, अधि-पति वही बन सकेगा जो श्मशान में रहेगा। यही विरोधी बात भगवान् में देखने में आती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने जीवन में अपने शरीर को श्मशान बना लेगा वही अकिंचन और अधिपति बन सकेगा। श्मशान में जाने पर क्या होता है? मैं यह शरीर नहीं रहता। जब तक मैं-पना है तब तक देह जिन्दा है और मैं-पना नहीं रहता तो मुर्दा ही है। देहाध्यास की सर्वथा निवृत्ति से शरीर में अहंभाव नहीं करने वाला श्मशान में ही रहता है।

शास्त्रों में लिखा है कि बहुत से बाबा श्मशान में जाकर अघोरी बनकर रहते हैं। लोग समझते हैं वहाँ रहने से ही अघोरी हो गये; वहाँ भी झगड़ा करते हैं कि मुझे कफन कम क्यों और तुझे ज्यादा क्यों मिला! इसलिये देहाध्यास से रहित होकर रहना ही श्मशान में रहना है। भगवती कह रही है कि ऐसे त्रिलोकनाथ की मैं तपस्या कर रही हूँ। जहाँ देहाध्यास निकला वहाँ अनुभव होगा कि अनंतकोटि ब्रह्माण्ड का अधिपति मैं हूँ। मैं देह नहीं हूँ। मैं तो अनंत कोटि ब्रह्माण्ड का एकमात्र अधिष्ठान हूँ। यह अनुभव होगा 'मयि अखण्डसुखाम्बोधौ बहुधा विश्ववीचयः। उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमा:।।' मैं अखण्ड आनंद का समुद्र हूँ। उस अखण्ड समुद्र में आनंद के अतिरिक्त अन्य चीजें नहीं हैं। मुझ में ही अनंत वीचियाँ उत्पन्न हो रही हैं। पानी के समुद्र की लहर पानी, दूध के समुद्र की लहर दूध और आनंद के समुद्र की लहरें आनंद ही होगी। जब वे मेरी ही लहरें हैं तो वहाँ दु:ख कहाँ से घुसेगा? सभी लहरें क्षणमात्र को उत्पन्न होती हैं और फिर मेरे अन्दर ही लीन हो जाती हैं। देहाध्यास हटने पर ही ऐसी त्रिलोकनाथता आयेगी।

'स भीमरूप: शिव इत्युदीर्यते' तीसरी विरोधी बात यह है कि भगवान् शंकर का रूप ऐसा भयंकर है जिसे देखने के साथ ही आदमी ढीला पड़ जाये। महाकालस्वरूप भगवान् शंकर का है। कभी शंकर का दर्शन मिले तो चक्कर में

पड़ जाओगे। हजार फन वाले साँप के बीच में कोई आदमी लेटा हो तो फन ही दिखाई देंगे। यदि कहीं वे जटायें झाड़ते हुए और नंग धडंग ही सामने आ जायें तो समझ में आयेगा कि उसका रूप कैसा है। दहाड़ता हुआ शेर और उसपर शस्त्रों की झनझनाहट के साथ भयानक गर्जना करते देवी आयेगी तो बेहोश होकर गिर जाओगे। इसलिये उसकी प्राप्ति के लिये पहले साहस बटोरना पड़ेगा, तैयारी करनी पड़ेगी। रूप भयंकर होने पर भी उसका नाम शिव है।

इसे अपने ऊपर घटाओ तो भी वही बात है। तुम्हारा रूप अधिष्ठान है। कितना भयंकर रूप है कि ऐसे-ऐसे हाइड्रोजन बम तुम एक फूंक से गिराकर ही समग्र ब्रह्माण्ड को उड़ा सकते हो। अधिष्ठान-ज्ञानमात्र से ही सर्वत्र अज्ञान-अध्यस्त की निवृत्ति हो जाती है। आत्मज्ञान से सब कुछ नष्ट हो जाता है। हाइड्रोजन बम से नष्ट होकर तो कुछ न कुछ गैस ऊर्जा आदि पदार्थ बचा रहेगा। अणुबम से भी सावशेष नाश होगा। लेकिन यहाँ तो ज्ञानमात्र से निरवशेष नाश होगा। पता ही नहीं चलेगा कि कभी अनंतकोटि ब्रह्माण्ड गिरे थे, भस्म तक भी खा जाओगे। 'प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्' श्रुति कहती है कि घबराओ नहीं, वह शिव आनंददायक भी है।

भगवती बता रही है कि मेरा शिव के साथ क्या सम्बन्ध है। उस पिनाकी परब्रह्म परमेश्वर सदाशिव को कोई यथार्थतः नहीं जान सकता। ब्रह्म को यथार्थतः जानने वाला वेत्ता ही नहीं होता। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।' ब्रह्म को जानते ही वह स्वयं ही ब्रह्म हो जाता है। वह कैसा है, यह *कोई* नहीं जान सकता। ऐसा कहने वाली कौन है? नित्य निरंतर सदाशिव में बसने वाली उनकी प्रियतमा ही है। फिर यदि हम उसे जानने का प्रयास करें तो व्यर्थ ही है। जीव-ईश्वरसम्बन्ध तो आध्यासिक, अनिर्वचनीय है। यथार्थ सम्बन्ध होगा तो इसमें अत्यंत विरोध आ जायेंगे।

संक्षेप में जीव-जगत् का ईश्वर के साथ सम्बन्ध छः प्रकार से सम्भव है।

१. जीव-जगत् से ईश्वर भिन्न है।

२. जीव-जगत् ईश्वर से भिन्न नहीं किन्तु ईश्वर जीव-जगत् से भिन्न है।

३. जीव-जगत् ईश्वर में हैं।

४. ईश्वर जीव-जगत् में है।

५. जीव-जगत् ईश्वर और ईश्वर जीव-जगत् है।

६. अनिर्वचनीय सम्बन्ध है। जगत् है ही नहीं। ईश्वर ही है, जीव कुछ नहीं। जगत् मन का स्पन्दनमात्र है, वास्तव में कुछ नहीं है। इन सम्बन्धों की ही सम्भावना रहती है।

कपड़े और तंतु के दृष्टांत से इसे समझ सकते हैं। कपड़े से तन्तु बना। यहाँ ये ही सम्बन्ध सम्भव हैं १. कपड़ा कपड़ा है और धागा धागा है। दोनों अलग हैं। २. धागा तो कपड़े से अलग है लेकिन कपड़ा धागे से अलग नहीं। ३. कपड़े में धागा है। ४. धागे में कपड़ा है। थोड़ी विवेक-दृष्टि से पता चलता है कि धागा व्यापक है और कपड़ा व्याप्य। व्यापक में व्याप्य रहेगा, व्याप्य में व्यापक नहीं रह सकता। ५. धागा और कपड़ा एक ही चीज है। और ६. धागा ही है कपड़ा कुछ नहीं।

भगवती ने अन्तिम सम्बन्ध को ही माना है। वे तो पिनाकी ही हैं और तुम उनमें भिन्न धर्मों की कल्पना कर रहे हो। जहाँ विरुद्ध धर्म होते है वहाँ धर्मी धर्मो से असंस्पृष्ट रहता है। आगम-विदों का सिद्धान्त है कि तत्त्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भगवती पार्वती ने यह कहा तो भगवान् शंकर प्रसन्न हो गये कि सम्बन्ध को जानती है। उनका तात्पर्य तो यही था कि सारे साधक जानें कि वस्तुतः जीव-ईश्वर का सम्बन्ध क्या है। जब बड़ा आदमी या अपना कोई अन्तरंग कोई सच्ची बात कहे तो लोग मान लेते हैं। इसी प्रकार भगवती ने कहा कि सर्वत्र केवल वही है तो साधक को निश्चय हो जाता है। इसको कैसे समझें, इसपर बाद में विस्तार से विचार करेंगे। बहुत-सी चीजें ऐसी हैं जिनके लिये कुछ करने की अपेक्षा होती है। वे साध्य हैं। कुछ ऐसी चीजें हैं जिनके लिये कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। ये ऐसी चीजें हैं जो पहले से हों किन्तु उनका पता न हो।

भगवान् शंकर ने प्रसन्न होकर कहा 'बस अब मैंने जान लिया कि यही सम्बन्ध है। तुम्हारी तपस्या सफल हुई और मैंने तुम्हें पत्नी स्वीकार कर लिया है।' भगवती कहने लगी 'ऐसे नहीं, जब ब्याह-शादी हो जायेगी तभी चलूँगी।' भगवान् शंकर ने कहा, 'क्या फालतू की बात है। अपना ब्याह तो न जाने कितनी बार हो चुका है। तुम तो मेरी नित्य शक्ति हो। थोड़े साल पहले तुम दक्ष की पुत्री थी तब भी मेरे साथ ब्याह हुआ था। हमारा सम्बन्ध ऐसा नहीं जो विवाह की अपेक्षा रखता हो।' सतीरूप में केवल भूल गई थी। सती जब पिता के घर गई थी तो पिता

ने पति की निंदा की। तब सती ने निर्णय किया कि जिस देह की उत्पत्ति करने वाला पिता शिवविरोधी हुआ वह देह भी शिव-विरोधी ही हुआ। इसका दोष इस शरीर पर भी आयेगा। इसलिये अब इस शरीर को रखने वाली नहीं हूँ। उसी समय योगाग्नि में अपने को भस्म कर दिया। अब निर्णय किया कि उसके वहाँ पैदा होऊँगी जो मनुष्य हो ही नहीं। इसलिये पर्वतराज के घर पैदा हुई और अचला बनी। दक्ष ने तो दुर्गा जी की तपस्या करके उन्हें सतीरूप में प्राप्त किया था और शंकर को खुश करने के लिये उनके साथ उसका ब्याह भी कर दिया था। कालान्तर में दक्ष की बुद्धि बदल गई। इसलिये भगवती ने निर्णय किया कि इन मन-बुद्धि वालों का कोई भरोसा नहीं है। जब दक्ष का ही मन बदल गया तो औरों का क्या भरोसा करें! इसलिये अब पत्थर-रूप हिमालय के घर जन्म लिया। पत्थर की मूर्ति की पूजा इसीलिये तो होती है कि संसार में दूसरों के मन बदलने का पता नहीं लगता। जिस पत्नी को सब कुछ समझते हो वही समय आने पर ऊटपटांग बात सुनाती है। ठीक इसके विपरीत पति की दृष्टि बनती है। पत्नी बीमार हो जाये तो भला आदमी भी कहता है 'तेरी तबियत तो ठीक नहीं रहती, अब बच्चों को कौन सम्भालेगा, तू अगर कहे तो मैं दूसरी ले आऊँ।' अथवा अपने परम मित्र का भी कुछ पता नहीं कि कब इन्कम-टैक्स की चोरी लिखा देगा। इसलिये वैदिकों ने कहा कि इन सब मन-बुद्धि वालों को छोड़ो और एक अपरिवर्तनशील पत्थर की मूर्ति को ही सामने रखो। इस प्रकार भगवती ने भी पर्वतराज हिमालय के घर पैदा होने का व्रत लिया।

इस कथा में अनेक रहस्य हैं। मोटा तात्पर्य यही है कि दक्ष से देह उत्पन्न हुआ था इसलिये देहसम्बन्ध प्रतीत हो रहा था। देहसम्बन्ध मानकर ही सती ने शरीर को छोड़ा था। इसी प्रकार देह की तरफ दृष्टि होते ही स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं कि देहदृष्टि होना ही सारे संसार का चक्र चलना है। इसीलिये सती के देह छोड़ने से देह-दृष्टि को छोड़ना बताया है। अब स्वरूपस्मृति हो गई क्योंकि देह रहा ही नहीं। पार्वती ने सोचा कि मुझे कुछ करने की जरूरत नहीं है क्योंकि मैं तो शिव की नित्य शक्ति हूँ। शिव-शक्ति का वियोग सम्भव ही नहीं है। फिर भी यह शोभा नहीं देगा। अतः हिमालय से मिलकर बात कर लें तो शोभा की बात हो जायेगी। दूसरी बात, पहले

विवाह में तो मुहूर्त नहीं दिखाया था, अपने दोनों ने ही विचार किया था, इसलिये वह सब सहना पड़ा था। अब तो किसी विद्वान् पंडित से मुहूर्त निकलवाकर विवाह करेंगे जिससे फिर वियोग न हो। भगवान् शंकर ने कहा, 'मुझे तो यह सब टंटा नहीं आता।' तब दोनों ने मिलकर निर्णय किया और सप्त-ऋषियों को बीच में डाला। वस्तुतः एक अखण्ड चिन्मात्र ही है। ठीक ऐसे ही जीव भी विचाररूप के द्वारा शिव के साथ अपने सम्बन्ध को जान गया कि वस्तुतः उसके सिवाय कुछ है ही नहीं और यह सारी प्रतीति मन का स्पन्दनमात्र है। यह सम्बन्ध समझकर चिन्मात्र दृष्टि से काम होगा तो ठीक है। जीव कहता है कि मैं तो नित्य ही शिवस्वरूप था, इसे आज जान गया हूँ। शिव पूछते हैं, नित्य शिव हो तो फिर जीवभाव बना ही क्यों? देह की तरफ दृष्टि से ही जीवभाव बना है। लेकिन देह-दृष्टि बनी क्यों? इसका कारण बताया कि पहला विवाह-सम्बन्ध बिना मुहूर्त के ही हुआ था इसलिये नित्य शिवस्वरूप होते हुए भी वियोग हो गया। अब के सम्बन्ध में इतनी दृढता है जिससे वियोग सम्भव ही नहीं है। जब पूर्ण दृढता होगी तभी यह सम्बन्ध बन पायेगा।

व्यवहार को ही सृष्टिकाल कहते हैं। जब तक देह-प्रारब्ध है तभी तक व्यवहार है। ज्ञान होते ही देहाध्यास की निवृत्ति हो गई । फिर यदि व्यवहार की प्रतीति होती है तो मनोनाश, वासना-क्षय के साथ पुनः ज्ञान की आवश्यकता है। मनोनाश वासना-क्षय कैसे हो और इस सम्बन्ध को कैसे जानें - इसपर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन-१०

जीव-ईश्वरसम्बन्ध

१७-७-६८

भगवती श्रुति परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति के लिए बढ़ने की सीढ़ियों के स्वरूप का विचार करते हुए भर्ग का रूप बता रही है कि किस प्रकार परमात्मा पाप-राशि को भूंज डालता है। इसके लिये परमात्मा से सम्बन्ध होना जरूरी है। अग्नि के चूल्हे में रहते हुए भी चना अन्यत्र रहे तो भूंजा नहीं जाता। जब चने को अग्नि से सम्बन्ध वाला बना दिया जायेगा तभी भूंजना संभव होगा। परम महेश्वर भी भर्ग है किन्तु भूंजने की सामर्थ्य होने पर भी वह भूंज तभी सकेगा जब जीव-जगत् का उससे संबंध होगा। सम्बन्ध होने से पहले यह जानना जरूरी है कि सम्बंध है क्या? ईश्वर का जीव-जगत् के साथ क्या सम्बन्ध है? यह साधक को जानना आवश्यक है। जब तक यह जानेगा नहीं तब तक सम्बन्ध रखा भी कैसे जा सकेगा! वस्तुतः परमात्मा के सम्बन्ध को जान लेना ही परमात्मा से सम्बन्ध का हो जाना है, क्योंकि यह सम्बन्ध तो पहले से ही स्थित है। यदि कोई नया सम्बन्ध होता तो प्रश्न हो सकता था कि सम्बन्ध पहले जानो तब करो। पहले ही सम्बन्ध है तो जानना ही पर्याप्त होगा। यह पता लगाना ही कि ईश्वर के साथ हमारा क्या सम्बन्ध है, फल उत्पन्न कर देता है अर्थात् सारे पापों को नष्ट कर देता है। अपरोक्ष ज्ञान की बात तो दूर, परोक्ष ज्ञान भी फल देने वाला है।

सूतसंहिता में कहते हैं

'परोक्षं ब्रह्मविज्ञानम् शाब्दं देशिकपूर्वकम्।
बुद्धिपूर्वकृतं पापम् सर्वं दहति तत्क्षणात्।।'

अर्थात् परोक्ष ब्रह्मविज्ञान भी यदि है, साक्षात् नहीं भी होवे, तो भी शब्द से होने

वाला परोक्ष ज्ञान पापनिवारक है। मनन-विचारसहित अपरोक्ष ज्ञान की बात को थोड़ी देर के लिए दूर ही रखो, यहाँ उस ज्ञान की चर्चा है जो शब्द से बता दिया गया, शब्द से अर्थात् उपदेष्टा गुरु के कहने से ही जो परोक्ष ज्ञान हुआ। भगवान् व्यास ने यहाँ विज्ञान शब्द लगाया है। विज्ञान से अर्थ है कि जो ऐसा पकड़ ले कि फिर छोड़े नहीं। अपरोक्षता की बात को रहने दो, यदि परोक्ष सम्बन्ध को भी जान लिया और समझ कर पकड़ लिया कि मेरा परमेश्वर से अभेद सम्बन्ध है, तो काम हो गया। पकड़ना भी ऐसा नहीं कि घंटाभर परमेश्वर से सम्बन्ध हो फिर सारा दिन जगत् से ही सम्बन्ध बनाये रखो! अधिकतर लोगों को तो परमेश्वर पर वह विश्वास भी नहीं जो सौ के नोट पर है। यदि सौ का नोट पास है तो कहीं भी जाकर अपने को सुरक्षित समझता है, पैसे की ऐसी महिमा है। लेकिन यह विश्वास नहीं होता कि परमेश्वर है, सब काम हो जायेगा, चिन्ता की कोई बात नहीं। विदेश में भी चला जाये तो धन होने पर अपने को सुरक्षित और न होने पर असुरक्षित मानता है, परमेश्वर का कोई ध्यान ही नहीं। इसलिये कहते हैं कि सौ के नोट पर जितना विश्वास है उतना परमेश्वर पर नहीं है। सौ का नोट होवे तभी सुरक्षित हो ऐसी बात नहीं है। यदि घर में रुपया है किन्तु पेट खराब है तो खाने को सर्वथा नहीं मिलता। ऐसा भी होता है कि सर्वथा पैसा नहीं है और रास्ते में ही कोई मित्र मिल गये, उन्होंने बिना प्रसंग कह दिया 'आज तो बढ़िया भोजन करायेंगे, घर चलो।' जब भोजन था तब चिकित्सकों ने कह दिया था कि बिलकुल खाने को मत देना और जब नहीं था तब दोस्त के घर का बढ़िया भोजन मिल गया! पर लोगों को जितना तुच्छ चीजों पर भरोसा है उसका हजारवाँ हिस्सा भी परमेश्वर पर नहीं। बहुतसे लोग सोते हैं तो तकिये के नीचे बंदूक रख देते हैं, खाट के पास लाठी आदि कुछ औजार रख लेते हैं। सोचते हैं कि यदि कोई चोर-डाकू आ जाये तो सुरक्षा का साधन पास होना चाहिये। सिंह जंगल का राजा है। कोई अन्य पशु ऐसा नहीं जिससे उसका वैर न होवे। शेर किसके विश्वास पर सोता है? उसके पास तो कुत्ते का पहरा भी नहीं, डंडा या और कोई हथियार भी वह अपने पास रखकर नहीं सोता। क्या तुम उस शेर से भी गये बीते हो कि परमेश्वर सुरक्षा नहीं करेगा? संहारकाल आना ही है। तब क्या तोपें बचा लेंगी? बचा दिया नेहरू जी को या अमरीका के प्रेजिडेण्ट केनेडी को? लोग कहते हैं कि इस समय अमरीका और रूस के पास ही सबसे ज्यादा हथियार हैं। अमरीका का राजा है

प्रेजिडेण्ट। उसके हुक्म से ही वे हथियार चलेंगे। क्या वे बच गये? सब लोगों के देखते-देखते मारे गये। जिस समय संहार होना है, सब कुछ बेकार हो जाता है और तब कोई भी रक्षा करने वाला नहीं बन सकता। तुम तो परमेश्वर के अंश हो, मित्र हो, पुत्र हो। जब यह परोक्ष ज्ञान, दृढ निश्चय हो कि वस्तुतः परमेश्वर के साथ यह सम्बन्ध है तब जितने भी पाप किये होंगे वे सब जल जायेंगे, नष्ट हो जायेंगे। इसीलिये यहाँ भगवान् शंकर को भर्गनाम से कहा जा रहा है।

परोक्षता का इतना महत्त्व तभी है जब ब्रह्मविज्ञान होवे। विज्ञान होने का प्रथम लक्षण है कि शिवप्रेम के सामने सब फीका लगना। संसार में सम्बन्ध होने का प्रथम लक्षण क्या है? उस सम्बन्ध के सामने अन्य सब सम्बन्धों का फीका पड़ जाना। लड़की का विवाह करने का क्या यह मतलब है कि लड़की कभी एक घण्टे के लिये ससुराल चली जाये, घूम आये और शेष सब समय बाप के घर ही बनी रहे? क्या उसे ब्याह कहोगे? सम्बन्ध का तात्पर्य है कि माँ-बाप को छोड़कर पति के घर जाना। अगर बहुत बार कहने पर, अनेक पत्र आदि भेजने पर पीहर आ भी गई तो निरंतर ससुराल की याद बनी रहे कि जल्दी जाना चाहिये। परमात्मा से सम्बन्ध का मतलब यह नहीं कि एक दो घंटा तो ध्यान किया और शेष बाइस घण्टे अनात्म पदार्थों में ही लगे रहे। तब तो वह सम्बन्ध नहीं कहा जायेगा, यदि सम्बन्ध जान लिया तो अनात्म पदार्थों के प्रति प्रवृत्ति होगी नहीं, यदि कभी हुई भी तो उसे जल्दी ही खतम करना चाहोगे और मन से बार-बार उसी सम्बन्ध का स्मरण होता रहेगा। परोक्ष ब्रह्म-ज्ञान में इतनी शक्ति, सामर्थ्य है। इससे विपरीत, जब अनात्म पदार्थों को अधिक सोचते हैं और थोड़ी देर आत्मज्ञान में लगते हैं तो परोक्ष ज्ञान भी नहीं होता, अपरोक्ष की तो बात ही दूर है। शास्त्रकार जोर दे रहे हैं कि इस सम्बन्ध को जानो, यह जानना ही फल देता है। वह सम्बन्ध विविध प्रकार का संभव है:

१. जीव-ईश्वर सर्वथा भिन्न हैं। इसके विषय में भगवान् बताते हैं: 'परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः' अर्थात् जीव-जगत् से परमेश्वर अन्य है। यहाँ भेद बता दिया।

२. ईश्वर से जीव-जगत् भिन्न नहीं, जीव-जगत् से ईश्वर भिन्न है। भगवान् ने भी कहा है- 'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।'

३. ईश्वर जगत् में है 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति' अर्थात् जो सर्वत्र सभी नाम-रूपों में मेरा ही अनुभव करता है।

४. ईश्वर और जगत् आपस में एक-दूसरे से भिन्न नहीं। सारे पदार्थों में ईश्वर पूर्णरूप से रहता है 'मयि सर्वमिदम् प्रोतम् सूत्रे मणिगणाइव' जैसे प्रत्येक मोती में धागा गुंथा हुआ है इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ मैं में रहता है।

५. ईश्वर और जगत् का सम्बन्ध बनता नहीं, जगत् कल्पित है, ईश्वर सच्चा है, कल्पित और सत्य का सम्बन्ध कैसे बने? भगवान् ने कहा: 'नाहम् प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः' तुम जो कुछ भी देखोगे, वह मेरी योगमाया है भगवान् को माया-विशिष्ट ही जान सकोगे। उसके साथ कोई सम्बन्ध बनता नहीं।

६. ईश्वर ही है, जगत् है ही नहीं (अत्यंताभाव)। गीता में भी कहा है 'मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति' ऐसा कोई पदार्थ नहीं हो सकता जो मुझ से भिन्न होवे। मैं सत् हूँ जो मुझे से भिन्न है वही असत् है। इस प्रकार इन छह सम्बन्धों का प्रतिपादन शास्त्रों में जगह-जगह किया गया है। जैसे-जैसे जीव बढ़ेगा, इन सम्बन्धों का रहस्य खुलेगा। तब उसे अन्तिम अनुभव होगा जिसमें जान सकेगा कि ये सम्बन्ध उसी में समन्वित हैं, विरोध है ही नहीं।

पुराणों में कथा आती है : तारकासुर बड़ा घमंडी हो गया। उसने बड़ा तप किया और ब्रह्मा जी से वरदान लेकर सारे देवताओं पर चढ़ाई करके उन्हें दबा दिया। 'तपोहि दुर्धर्षं वदन्ति' तप से इतनी शक्ति आती है जिसे कोई दबा नहीं सकता। ध्यान देना, शक्ति आती है, ऐसा कह रहे है। उस शक्ति को कहाँ लगाओ इससे तप का कोई सम्बन्ध नहीं। अध्यात्म विद्या का यह एक रहस्य है। कौन किस शक्ति का उपयोग किस लिये करता है इसका सम्बन्ध अध्यात्म विद्या से है। तुम्हारी तीक्ष्ण बुद्धि है। विचार से सब कुछ समझ सकते हो। बुद्धि तो एक औजार हुआ, उसी तीक्ष्ण बुद्धि से चोर-बाजारी कर धन इकट्ठा कर सकते हो; दूसरे का खून ऐसी बुद्धिमत्ता से कर सकते हो कि पकड़े ही न जाओ। उसी बुद्धि का उपयोग कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार करने में भी कर सकते हो। परमात्मा के स्वरूप को जानने के लिये भी बुद्धि का उपयोग कर सकते हो, वेद-शास्त्रादि का तात्पर्य समझने के लिये भी लगा सकते हो और उसी बुद्धि को भोगों को बढ़ाने के लिये भी लगा सकते हो। एक ने चोर-बाजारी करके अर्थ प्राप्त किया, दूसरे

ने खून कर अनर्थ की प्राप्ति की, तीसरे ने बुद्धि को कर्तव्य में लगा कर धर्म-प्राप्ति की और चौथे ने परमात्मा की तरफ लगाकर मोक्षप्राप्ति की, पाँचवें ने भोग के लिये बुद्धि का उपयोग किया और काम की प्राप्ति की। बुद्धि का कहाँ प्रयोग करो यह इस पर निर्भर करता है कि तुम क्या हो: धर्मी हो, मुमुक्षु हो या कोई और। बुद्धि के बिना मोक्ष अथवा भोग दोनों ही नहीं प्राप्त कर सकते। साधारण आदमी जिसमें बुद्धि नहीं, केवल घी में शक्कर घोलकर खा लेगा किन्तु जिसमें बुद्धि है वह बढ़िया स्वादिष्ट हलुआ बनाकर खायेगा। इसी प्रकार सर्वत्र समझना।

मन का कार्य संकल्प करना है। संकल्प-शक्ति मन की है। यदि संकल्प दृढ है तो सारा संसार विरोधी हो फिर भी संकल्प पूरा हो जाता है। उस संकल्पशक्ति को कहाँ लगाओ यह तुम्हारे ऊपर निर्भर है। संकल्प हुआ कि खोये के मालपुए खायें तो हजार तरीके निकालकर भी खा लोगे। संकल्प से भोग-परायणता में लग सकते हो और संकल्प से ही मोक्षपरायण भी हो सकते हो। एक बार आसन लगा दिया है तो चाहे मेरा शरीर सूख जाये, चमड़ी में झुर्रियाँ पड़ जायें, हड्डियाँ नष्ट हो जायें किन्तु अनेक कल्पों में मिलने वाले ज्ञान को प्राप्त किये बिना मैं इस आसन से उठने वाला नहीं– यह भी संकल्पशक्ति से ही होगा। कोई कहता है जब तक दस लाख रुपये कमा नहीं लूँगा, चैन नहीं लूँगा। पाँच बजे सुबह दुकान पर जाकर रात को ११ बजे लौटता है, पत्नी के दर्शन नहीं होते, चाहे कोई उसे धन-पिशाच भी कहे तो उसे कोई फर्क पड़ने वाला नहीं, दृढ संकल्पशक्ति जो है कि दस लाख कमाना है, चाहे रेल में बाहर लटककर ही जाना पड़े। गर्मी पड़ रही है, लोग वातानुकूलित कमरे में रहते हैं। किन्तु मेरा नियम है, दृढ संकल्प है कि चाहे जितनी गर्मी लगे किन्तु मुझे तो हवन करना है। यह भी संकल्पशक्ति का ही काम है। इसी से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, जिसे चाहे उसकी प्राप्ति कर सकता है।

सभी जगह ऐसा समझ लेना। हाथ की शक्ति काम करने की है, इससे भगवान् की सेवा करके धर्म कमा ले या धन ही कमाने में लगा ले अथवा परमेश्वर की सेवा में लगाकर मोक्ष-प्राप्ति कर ले। आँख से स्त्रीरूप देखकर काम की प्राप्ति कर ले या देवालय में भगवान् के दर्शन से धर्म प्राप्त करे या उन्ही आँखों से वेदान्त पढ़कर विचार द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कर ले। इसी प्रकार कान,

नाक, जीभ सब जगह समझ लेना। कई बार लोग हमसे पूछते हैं कि परमात्मा की प्राप्ति का सरल साधन क्या है। उत्तर है कि परमात्मा की प्राप्ति का सरल साधन तो इस बात पर निर्भर है कि तुम्हारी योग्यता क्या है। जो तुम्हारी शक्ति है वह सारी ही परमेश्वर की तरफ लगा दो, यही सबसे सरल साधन है। नकलचीपन से काम नहीं चल सकता। मीरा-सूर आदि ने गाकर परमात्मा को प्राप्त कर लिया तो उनके चेलों ने भी सोचा कि गाकर ही परमात्मा की प्राप्ति करें। मथुरा में एक भक्त गा रहा था। वह अपना गधा-राग अलाप रहा था तो एक चौबे जी से नहीं रहा गया, कहने लगे 'अरे मोकूं ही न रिझाई सकै, लल्लन कूं का रिझायगो।' किसी के पास गायन-शक्ति है तो उसने उसी को परमेश्वर के अर्पण किया किन्तु अभिप्राय तो यह है कि अपनी शक्ति को पूर्णरूप से परमेश्वर को अर्पित कर देना ही अध्यात्म मार्ग का रहस्य है। हम क्या करते हैं इससे कोई मतलब नहीं उद्देश्य क्या है, यह महत्त्वपूर्ण है। इसी को ठीक से न समझकर अनेक लोग भ्रष्ट होते देखे गये हैं। तप की शक्ति तो साधन है। इससे परमेश्वर भी मिल सकते हैं तथा अन्य पदार्थ भी मिल सकते हैं।

इसी प्रकार तारक ने बड़ी तपस्या की और ऐसी शक्ति प्राप्त की। उसे कोई देव-दानव दबाने में समर्थ नहीं था। देवता लोग बहुत दुःखी हो गये। पुराणों में बार बार यह बात आती है कि देवताओं को राक्षसों ने दबा दिया। देवता सत्त्वगुणप्रधान हैं अतः वे रजोगुण और तमोगुण वाले व्यक्तियों द्वारा दबा दिये जाते हैं। घर में भी कोई सत्त्वगुणी भाई हो तो उसे डाँटेंगे, उससे काम भी लेंगे और उसका पैसा भी छीनकर खा जायेंगे। इसमें कोई बुराई नहीं, सत्त्व होता ही कमजोर है और वह रजोगुण और तमोगुण से दबा दिया जाता है। दो गुण्डे आ जायें तो सौ भले आदमियों को दबा देते हैं यह सामान्य नियम है। सौ आदमी हैं, अगर दो-दो डंडे भी मार लें तो गुण्डे खतम हो जायें! किन्तु नहीं कर सकते, उनमें सत्त्वगुण जो ठहरा। तारक ने भी तप करके शक्ति प्राप्त की। देवता उससे दब गये। बहुत दुखी होकर एक बार वे भगवान् विष्णु और ब्रह्मा जी के पास गये और बचने का उपाय पूछा। भगवान् विष्णु कहने लगे 'यह हमारे बस का मामला नहीं। उसे तो भगवान् शंकर से उत्पन्न पुत्र ही मारने वाला हो सकता है।' देवगणों ने कहा 'यह तो महान् असंभव मामला है। भगवान् शंकर तो हमेशा समाधि में ही बैठे रहते हैं, उनका पुत्र कैसे उत्पन्न होवे? भगवान् विष्णु ने कहा 'उपाय के लिये तो हमेशा

प्रयत्नशील रहना चाहिये, सहायता मिल जाती है, उन्हीं के प्रयत्न के फलस्वरूप भगवान् शंकर का विवाह हुआ और कृत्तिका नक्षत्र में षडानन (६ मुख वाले) भगवान् कार्तिकेय का जन्म हुआ। तारक को मारने के लिये भगवान् कार्तिकेय को छह मुखों की प्राप्ति कैसे हुई? भगवान् शंकर के तेज को जब अग्नि नहीं सम्हाल पाई तो अग्नि ने उस को छह ऋषिपत्नियों में बाँट दिया। उनसे फिर एक-एक पुत्र उत्पन्न हुआ। फिर उनको मिलाने से छह मुख हो गये। यही भगवान् कार्तिकेय के षण्मुख होने का रहस्य है। षण्मुख भगवान् कार्तिकेय को देवताओं का सेनापति बनाया गया। उन्हीं के सेनापत्य में सारी सेना चली और अन्ततोगत्वा तारक मारा गया।

इस कथा से तात्पर्य क्या है? कविकुलगुरु कालिदास इस कथा का रहस्य बताते हुए लिखते हैं कि बरसात का मौसम है, मेघ को दूत बनाकर यक्ष प्रिया के पास भेज रहे हैं। मेघ को बताते हैं कि भगवान् कार्तिकेय का स्वरूप क्या और जब वहाँ पहुँचो तो क्या करना–

'तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान् व्योमगंगाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनं चमूनाम्
अत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः।।'

वह स्कन्द क्या है? तेज है। वीर्य को अग्नि के मुख में इक्ट्ठा कर दिया गया है। किसका तेज है? नये चन्द्रमा, दूज के चन्द्रमा को धारण करने वाले का। किन्तु वह तेज अनंत सूर्यों के तेज से भी अधिक है। तेज स्वयं अग्निस्वरूप है और अग्नि के मुख में ही रखा गया है। यह वेदों का जरा दार्शनिक विश्लेषण है। अग्नि दो प्रकार की होती है १. चित्याग्नि और २. चितिनिधेयाग्नि। चित्याग्नि – लकड़ी तेज से बनी है किन्तु उस लकड़ी के अन्दर भी एक अग्नि है। लकड़ी पृथ्वी से ही उत्पन्न होती है और पृथ्वी में भी तेज है। पृथ्वी में, मिट्टी में भी अग्नि है किन्तु चित्याग्नि है, चितिनिधेयाग्नि नहीं। लकड़ी में चित्याग्नि और चितिनिधेयाग्नि दोनों ही विद्यमान हैं। बताना तो यह है कि चित्याग्नि के अन्दर चितिनिधेयाग्नि का रोपण है। दोनों में फर्क है 'हुतवहमुखे' अर्थात् धर्माग्नि देवताओं को हवि पहुँचाने के लिये है। नवशशि अर्थात् नया चाँद, इतना छोटा कि मानों नष्ट-सा हो गया है। मन समाप्त-सा हो गया है। यही सविकल्प समाधि की अवस्था है।

उसमें ज्ञान को धर्म में स्थापित किया जाता है। किसके लिये किया जाता है? 'वासवीनां चमूनाम्' देवताओं की चमू (फौज) की रक्षा के लिये। इसका तात्पर्य क्या? चिन्मात्र भगवान् शंकर सारे जगत् के अधिष्ठानरूप तत्त्व हैं। उनका उमा हैमवती से विवाह होने पर जब तद्रूप पुत्र उत्पन्न होगा तभी तारकवध होगा। आँखों की तारा (पुतली) ही तारक है। आँख की पुतली सदैव हिलती रहती है। जाग्रत् काल में आँख खुली हो या बन्द, मन का स्पन्दन होने से वह पुतली घूमती रहती है। जाग्रत् अवस्था में जीव को दक्षिणाक्षि (दाहिनी आँख) में रहने वाला कहा है, अतः हिलना स्वाभाविक है। अज्ञान को कोई भी देवता नहीं मार सकता। 'न वेदयज्ञैर्न तपोभिरुग्रैः' अर्थात् बाह्य क्रिया से अविद्या का नाश नहीं कर सकते। जब सदाशिव का उमा हैमवती के साथ सम्बन्ध होने से पुत्र उत्पन्न होवे तभी तारक मरे। ब्रह्माकार वृत्ति में प्रतिफलित ब्रह्म से जब ब्रह्मापरोक्ष उत्पन्न हो तभी नाश सम्भव है। शिव की निर्विकल्प समाधि में पहुँचना कैसे हो? असंभव है, किन्तु देवताओं ने निरंतर प्रयास किया। जीव भी जब निरंतर शुभ कर्म में लगता है तो असंभव भी संभव हो जाता है।

ब्रह्मसम्बन्ध होने पर छह मुख वाला पुत्र उत्पन्न हुआ। ऊपर बताये छह सम्बन्ध ही उसके मुख हैं। पैदा होने पर ये छहों इकट्ठे हो गये क्योंकि परमात्मा में ये सम्बन्ध एक-साथ विद्यमान हैं। उनकी दृष्टि में क्रम नहीं, हमारी दृष्टि में क्रम है। इन सम्बन्धों में उपादान-कल्पना एक-साथ रहती है। एक दृष्टि से पट में तन्तु दूसरी दृष्टि से तन्तु में पट और अंत में तन्तु ही तन्तु है, और कुछ नहीं। भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ हैं किन्तु तन्तु पट का सम्बन्ध युगपत् ही रहता है। देखने वाले की दृष्टि में अन्तर हो सकता है। कार्तिकेय ब्रह्म के सम्बन्ध को बताने वाले हैं। इस सम्बन्ध का निरूपण होने पर ही वह जानता है और परमात्मा की उपादानता को समझता है कि परमेश्वर ही अभिन्न निमित्तोपादान कारण है, सारा जगत् उनके तेज का ही विस्तार है। किन्तु यह ज्ञान स्थिर कैसे हो? कालिदास ने बताया कि मेघ की तरह ही हमारा जीवन है। एक क्षण इधर तो दूसरे ही क्षण उधर! मेघ की अस्थिरता जीव की अस्थिरता का प्रतीक है। मेघरूपी जीव से कहते हैं कि देवगिरि पर्वत के ऊपर कार्तिकेय का मन्दिर है। शरीर का पर्वत सिर है। परमेश्वर के सारे सम्बन्धों का पता सिर में लगता है, सहस्रार, आज्ञा-चक्र सिर में ही है

जहाँ इसका पता लगता है। वहाँ पुष्प हैं। अपने शरीर के सारे चक्रों में पुष्प हैं। उन पुष्पों के सुगन्धि वाले द्रव्य-विशेष पराग से ही पूजन करना है। उन पुष्पों के सार (पराग) से ही अभिषेक करना है। फिर आकाशगंगा के जल से स्नान करना है। आज्ञा चक्र से जो स्राव होगा जब उससे अभिषेक करोगे तब जीवन का प्रत्येक क्षण उससे सम्बन्धित हो जायेगा, तभी तारकासुर का नाश होगा। ये छह सम्बन्ध जानकर अन्तिम दृष्टि बनेगी कि सर्वत्र ईश्वर ही ईश्वर है, और कुछ नहीं।

प्रवचन-११
शासक
१८-७-६८

परब्रह्म परमात्मा सदाशिव भर्ग देव पाप-राशि को भूंज डालता है जब उससे सम्बन्ध हो जाता है। परमात्मा के साथ हमारा सम्बन्ध क्या है? परमात्मा ही एकमात्र इस जीव-जगत् प्रपंच का उपादान कारण है। शास्त्रीय भाषा में यह परमात्मा का सृष्ट रूप है। चूंकि उसने अपने आप को जगदाकार में परिवर्तित किया, इसीलिये यह उसका सृष्ट रूप है, अपने आप से ही बाहर निकला हुआ रूप है। 'सृज्' धातु का अर्थ है बाहर निकालना। जिस प्रकार स्वप्न में तुम सारा संसार अपने में से बाहर निकालते हो। जाग्रत् काल में जो संस्कार वासनारूप से अन्दर रहता है, स्वप्न काल में वही बाहर निकाला प्रतीत होता है। वहाँ बाहर निकले रूप को किसी अन्य चीज़ से बनाया हो, ऐसा नहीं है। स्वप्न का मकान बनाने के लिए राज्य से आज्ञा लेने नहीं जाते, और भी किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। स्वप्न-संसार में ही नोटों को छाप लेते हो, फिर भी पकड़े नहीं जाते! इस प्रकार सृष्ट रूप हुआ अपने स्वरूप को बाहर करके देखना। यह सृष्टरूप प्राणिमात्र को नित्य प्रत्यक्ष है। किन्तु परमात्मा ने केवल सृष्ट रूप ही लिया हो, ऐसा नहीं। परमात्मा तो चेतन है, उसने केवल जीव-जगत् का ही रूप नहीं लिया, बल्कि इस सारे जीव-जगत् का शासक भी बन कर रहता है। तैत्तिरीय शाखा में कहा है 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' उसकी सृष्टि करके फिर वह उसके अन्दर घुस गया। जब उसने मनुष्य शरीर बनाया तो आँखों में सूर्य देवता, कान में दिक् देवता, हाथ में इन्द्र देवता, इसी प्रकार मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सर्वत्र देवताओं का आरोप कर दिया। सारे देवता आकर बैठ गये तो परब्रह्म परमात्मा

इन्तजार करने लगे कि शरीर आगे कोई सुन्दर काम करेगा। पर देखा कि वह तो कुछ नहीं कर रहा है, वैसे ही पड़ा है! सोचा कि वह कोई काम कैसे करेगा? 'कथं न्विदं मदृते स्यात्' (ऐ.उप. २.४) मैं तो उसके अन्दर घुसा नहीं, मेरे बिना वह क्या करेगा! सुन्दर मकान में जब कोई रहेगा तभी मकान की शोभा है। इसी प्रकार चेतन से ही सबकी शोभा है। एक यंत्रालय बना जहाँ हर पाँच मिनट के अन्दर एक मोटर तैयार होकर बाहर निकल जाती है और काम के लिये आदमी एक भी आवश्यक नहीं। इसे कहते हैं स्वचालन (automation)। मालिक ने कर्मचारियों से कह दिया 'अब सुन्दर कारखाना बन गया है, इसमें आदमी की जरूरत नहीं, इसलिये तुम्हारी नौकरी समाप्त।' कर्मचारियों ने भी कहा, 'बहुत अच्छा है। किन्तु अब तुम इन मशीनों के हाथ अपनी मोटरें बेचते भी रहना। क्योंकि हमारे पास तो न पैसा होगा और न हम खरीदेंगे, इसलिये यंत्र ही खरीदेंगे।' चाहे सारा कार्य यंत्र करें किन्तु खरीददार तो चेतन ही होगा, उसी से चीजों की शोभा होगी। इतना सुंदर संसार बनाने के बाद परमात्मा ने सोचा कि अब मैं इसमें प्रवेश करूँ। कैसे प्रवेश करूँ? सब द्वारों में तो देवता बैठे हैं। पुराने ज़माने के मकानों को याद करना जिसमें नौकर के आने का एक रास्ता और मालिक के आने का रास्ता दूसरा होता था। नौकर की सीढ़ी लोहे की और मालिक की सीढ़ी बढ़िया संगमर्मर की होती थी। दक्षिण भारत में केरल के तिरुअनन्तपुरम् के मन्दिर का एक द्वार हमेशा बंद रहता है। पूछने पर पता चला कि यह राजा के आने का दरवाजा है। वहाँ के महाराजा का ही वह मन्दिर है। इसी प्रकार परमेश्वर के प्रवेश का दरवाजा भी दूसरों से अलग है। आँख-कान आदि में सब देवता बैठ गये तो परमात्मा ने 'सीमानं विदार्य' सबसे ऊपर सिर का हिस्सा फोड़कर, सीमा को फाड़कर प्रवेश किया। मन्दिर स्थापना में भी मूर्ति-प्रतिष्ठा के समय देखा होगा कि शिवलिंग को ऊपर से नीचे की तरफ प्रवेश कराते हैं। शरीर भी देवालय ही है 'देहो देवालयः प्रोक्तः'। ऊपर से इस प्रकार प्रवेश की उपाधि के कारण ही वह शासक बना। वस्तुतः भेद तो उपाधि को लेकर ही है, चिन्मात्र को लेकर नहीं। इस प्रकार वह सृष्ट हुआ और स्वयं शासक भी बना।

शतपथ ब्राह्मण में महर्षि याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं कि इस अक्षर तत्त्व के शासन में ही सूर्य-चन्द्र भी चलते हैं। उसी को श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'हरः' नाम से कह दिया। 'अक्षरं हरः।' सूर्य-चन्द्र भी उसके शासन में नियमपूर्वक सब

काम करते हैं। संसार में कोई भी काम बिना नियम के नहीं हो सकता, यह याद रखने की बात है। लोग नियम से अपने को बचाते-बचाते इसके इतने आदी हो गये हैं कि सोचते हैं परमात्म-मार्ग में भी नियम नहीं चलते होंगे। इसलिये विद्यार्थी ने साल भर तो कुछ नहीं किया, साल के अंत में सोचता है, पाँच रुपये के लड्डू चढ़ाकर ही पास हो जायेगा! सूर्य-चन्द्रमा भी उसके प्रशासन में इतने नियम से काम करते हैं कि कभी किसी काम में देरी होती ही नहीं। कृष्ण यजुर्वेद में बताया 'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पंचमः।' (तै.३.२.७) वायु भी उसी के भय से चलता है। सूर्य ठीक समय से उदय होता है। ज्योतिषी ने हिसाब लगा कर कह दिया कि आज सूर्य ७-२२ पर ही उदय होगा तो तभी होता है, न आधा मिनट कम न ज़्यादा। किसी का डर है, शासन है तभी ऐसा होता है। इंद्र और अग्नि भी उसी के भय से प्रवृत्ति करते हैं। मृत्यु भी उसी के भय से समय पर काम करती है। भयंकर से भयंकर तूफान हो, अंधकारमय रात्रि हो, तारे भी न दीखते हों, खूब तेज़ वर्षा से इतना जल भर गया हो कि चार हाथी भी डूब जायें, मृत्यु तो वहाँ भी दौड़कर पहुँच ही जाता है, देरी नहीं होती। पूछते हैं कि कल सत्संग में क्यों नहीं आये? तो कहते हैं कि वर्षा तेज़ थी। पर मृत्यु तो तेज़ वर्षा में नहीं रुकती। यही बात महर्षि याज्ञवल्क्य कह रहे हैं कि हे गार्गी, ये सब उसके शासन में ही नियमबद्ध होकर काम करते रहते हैं। यह है परमेश्वर का शासकरूप। इसी को अन्तर्यामी रूप भी कहते हैं, जो दीखता नहीं लेकिन उसकी नियमबद्धता दीखती है। परमात्मा का सृष्ट रूप तो दीखता है। उसे धोखा भी नहीं दे सकते। क्यों नहीं दे सकते? यहाँ के राज्य में तो शासक बाहर बैठा है, इसलिये धोखा खा भी जाये किन्तु परमेश्वर के राज्य में धोखा नहीं चल सकता क्योंकि शासक तो घर में ही, अपने अन्दर ही बैठा है।

हम कभी-कभी सोचते हैं कि कुछ विदेशों में लोगों ने उपनिषद् पहले ही बाँच ली होगी! वहाँ शिक्षा की एक विचित्र पद्धति है जिसके द्वारा बालक को शिक्षित करते हैं। रुस में बालक को शिक्षा देते हैं कि जो-जो बात माता-पिता रात को घर में करें, वह सब सवेरे स्कूल में आकर बता दिया करो। किसी ने कहा कि खुश्चेव बहुत खराब है, तो झट सरकार आकर पकड़ लेती है। शासक का शासन उतना ही दृढ होगा जितना वह अन्दर घुसकर शासन करेगा। बाहर ही रहेगा तो सच्चाई नहीं पा सकेगा।

हमारा एक परिचित लड़का है। वह रूसियों के साथ कोष बनाने का कार्य करता है। हम कभी उससे पूछते हैं कि वहाँ का क्या हाल है। कहता है, 'स्वामी जी, मैं तो रात-दिन उनके साथ रहता हूँ, हम सब एक-साथ खाते-पीते, उठते-बैठते भी हैं। मैं उनसे कई बार पूछता हूँ कि 'भाई, तुम हमेशा चुप ही रहते हो, कोई राज्य-सम्बन्धी बात नहीं करते, क्या बात है?' उनमें से दो के साथ तो मेरी बड़ी दोस्ती है, वे हिन्दुस्तान में ही रहते हैं, मैं उनसे भी कहता हूँ कि कुछ रूस की राजनीति के बारे में बात क्यों नहीं करते; तो भी वे कहते हैं 'चुप रहो, दीवारों के भी कान होते हैं।' 'इतना भय है वहाँ के शासक का।' परमेश्वर ने सोचा कि घर में घुसेंगे तो काम नहीं चलेगा, वहाँ भी छिपाया जा सकेगा, इसलिये अंतःकरण में ही प्रवेश किया और साक्षी-रूप से बैठा है। तुम्हारे अन्दर कोई वृत्ति उठी नहीं कि उसने झट जान लिया। इसलिये इसे प्रविष्ट रूप कहा- 'तदेवानुप्राविशत्'। परमेश्वर का यह रूप प्रत्यक्ष नहीं दीखता। सामने ही राजपुरुष खड़ा हो तो कोई अपराध नहीं करता। उसका सृष्ट रूप तो दीखता है किन्तु प्रविष्ट रूप दीखता नहीं।

इन दोनों रूपों से ऊपर परमात्मा का एक रूप है- विविक्त रूप। यह सृष्ट-प्रविष्ट दोनों से अलग रहता है। श्रुति कहती है 'पादोस्य विश्वा भूतानि।' ये अनंतकोटि ब्रह्माण्ड तो उसके एक हिस्से, एक पाद में ही रहते हैं। उसका अत्यधिक हिस्सा तो ऐसा है जिससे सृष्टि का कोई सम्बन्ध ही नहीं। गीता में भी भगवान् ने यही कहा 'एकांशेन स्थितो जगत्।' अर्थात् परमेश्वर एक अंश से यह सारा जगत् धारण किये स्थित है। बाकी उसका विविक्त रूप है। प्रशान्त महासागर में कितना पानी है? हाथियों का तो वहाँ माप ही नहीं, कहीं-कहीं तो सुना है कि पाँच मील गहरा पानी है वहाँ अंधड़ आने पर बड़ी-बड़ी लहरों से बड़े से बड़ा जहाज भी डोल जाता है। सोचा, इतने अथाह पानी का कितना हिस्सा लहर में आ जाता होगा, यदि एक मील भी मान लो तो शेष चार मील वाला पानी तो सर्वथा स्थिर ही है। अंधड़ आने पर, ऊपर लहरें उठने पर भी उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। इसी प्रकार उस परमात्मा से अनंत कोटि ब्रह्माण्ड बनने पर भी उसका शेष सारा भाग शांत ही रहता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

दूसरी दृष्टि से देखिये कि रस्सी में साँप कितने हिस्से में दिखाई दिया? उसका ऊपर का खोल ही तो साँपरूप में दीखता है, रस्सी के अन्दर वाले हिस्से

में कोई भ्रान्ति नहीं। अन्दर वाला हिस्सा तो बाहर वाले हिस्से से बहुत बड़ा है। इसी प्रकार परमात्मा के एकदेश में सारे जगत् का भ्रम हो रहा है।

उसके प्रविष्ट रूप पर विचार कर रहे हैं। परमात्मा का प्रविष्ट रूप हमारे बहुत ज़्यादा काम का है। उसी के शासन में सारा काम चलता है। जितना भी भौतिक, नैतिक, आध्यात्मिक व्यवहार है वह सारा इसी भाव का ही तो व्यवहार है। सारा व्यवहार उसी अक्षर के प्रशासन में हो रहा है। इस अक्षर-तत्त्व के स्वरूप को समझकर उस शासक के शासन में रहने वाला परम सुखी रहता है।

लोग हमसे पूछते हैं कि नौकरी में उन्नति करने का सर्वोत्तम साधन क्या है? हम कहते हैं कि मालिक का दिल समझ लो, तो सारा काम ठीक हो जायेगा। जब तक मालिक का दिल नहीं समझा, तब तक उन्नति नहीं कर सकते। एक सज्जन अपना अनुभव बता रहे थे। कहने लगे, 'स्वामी जी! मैं पहले जिस मालिक के यहाँ नौकरी करता था, वे बार-बार यही सिखाते थे कि ग्राहक को देखो और ज़्यादा दाम वसूल करो। मैंने पूछा तो कहा अमुक चीज साढ़े चार रुपये की है, पाँच रुपये में बेचनी है। मैं वह चीज साढ़े पाँच में बेचूँ तो कहते 'कम दाम बतला दिये, तेरी अकल को क्या हो गया है!' वहाँ से नौकरी छूटी तो दूसरे के यहाँ कर ली। वहाँ मैं काफी फायदा करूँ, चार की चीज को छह रुपये में बेचूँ तो मालिक नाराज होते 'यह तूने क्या किया! इस तरह तो दुकान की बदनामी करा दोगे। बड़े विश्वास से ग्राहक हमारे पास आता है।' समझ में नहीं आता कि मालिकों के अन्दर क्या है!' हमने कहा, मालिक बदल गया तो नये मालिक के दिल को समझो, इसे समझे बिना काम ठीक चलेगा नहीं। कोई मालिक धन चाहता है, कोई मालिक इज़्ज़त और कोई खुशामद ही चाहता है। उसके दिल को समझोगे तो ठीक है, वरना प्रयत्न सफल नहीं होगा।

इसी प्रकार अक्षर परमात्मतत्त्व के शासकरूप, प्रविष्ट रूप को समझोगे तो काम बनेगा। जब समझोगे कि वही 'एकांशेन स्थितो जगत्' है तभी सफलता होगी। चाहे कोई उसके विविक्त रूप को जानकर मुक्त हो जाये, वह अलग बात है, किन्तु जगत् में काम करने के लिये तो उसके शासकरूप को समझना अनिवार्य है कि यह सारी सृष्टि बनाने का उसका उद्देश्य क्या है और वह उसे कैसे पूरा करना चाहता है। जब प्रयत्न-पूर्वक इस बात पर ध्यान देंगे, तभी काम बनेगा।

उज्जैन में, अवन्तिकापुर में चन्द्रसेन नाम का राजा था। किसी काल में उस पर काल-यवनों ने आक्रमण कर दिया। वह लड़ा लेकिन हार गया। उसने विचार किया कि यदि अंत तक युद्ध करूँगा तो यवन आकर उसके देश को बरबाद कर देंगे। ये लोग तो धन लेने ही आये हैं। इसलिये उसने अपना सारा खजाना यवनों को दे दिया। कहा 'तुम धन लेने आये हो तो ले जाओ।' उन्होंने मान लिया। उसने सोचा कि अब यहाँ रहना ठीक नहीं। पुत्र को राज्य देकर जंगल जाकर तपस्या करने लगे। परमेश्वर के स्मरण-चिन्तन में ही समय बिताने लगा। जाते समय अपने साथ पद्मराग मणि का शिवलिंग ले गया था। नित्य निरंतर उनके पूजन में रत रहना ही उसकी दिनचर्या थी। अंततः उसके शरीर छूटने का समय आ गया। पुत्र को खबर भेजी कि आकर शिवलिंग ले जाओ और नित्य नियम से पूजन करना। किसी कारणवश लड़का वहाँ नहीं था, इसलिये आने में विलम्ब हो गया। राजा को पता लगा कि शरीरसमाप्ति का समय आ गया है। वहाँ छह-सात वर्ष का एक ग्वाल-बालक राजा की सेवा किया करता था। वह रोज देखता था कि किस प्रकार पूजा करते हैं। राजा ने उसे बुलाकर पूछा, 'तू एक काम करेगा?' उसने कहा 'हाँ! अवश्य करूँगा।' राजा ने कहा 'तू इस शिवलिंग पर प्रतिदिन जल-पुष्प चढ़ा देना।' शंकर भगवान् की पूजा वैसे भी बड़ी सरल है। केवल पानी और फूल से ही पूरी पूजा हो जाती है। इसी का वर्णन आचार्य अप्पयदीक्षितेन्द्र करते हैं-

'अर्कद्रोणप्रभृतिकुसुमैरर्चनं ते विधेयम् प्राप्यं तेन स्मरहर फलं मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीः।
एतज्जानन्नपि शिव शिव व्यर्थयन् कालमात्मन्नात्मद्रोही करणविवशो भूयसाधः पतामि।।'

आपकी पूजा तो फूलों से होती है; वह भी कैसे फूलों से? अर्क, आँकड़े के फूलों से। वह भी नहीं हो तो दूब ही चढ़ा दो, उसी से अर्चना, पूजा हो जाती है। लोक में क्या होता है? 'जैसा दाम वैसा माल'। दाम तो बढ़िया और माल घटिया यह व्यापारी का आदर्श तो उससे भी आगे है! लेकिन यहाँ मामला उल्टा ही है, दाम तो घटिया लेकिन माल बढिया। शिवार्चन से केवल मोक्ष और लक्ष्मी ही नहीं मिलेगी बल्कि मोक्ष का साम्राज्य मिलेगा। तुम मोक्ष के राजा हो जाओगे, दूसरे को भी मुक्त करने की शक्ति तुम्हारे अन्दर आ जायेगी। कहोगे, 'जी बात कुछ जँची नहीं।' हेतुगर्भ सम्बोधन विशेषण दिया 'स्मर-हर'। यदि भगवान् शंकर ऐसा न करते तो उनका नाम स्मर-हर क्यों पड़ता? जिसकी सारी कामनायें ही नष्ट हो गयीं उसे किस पदार्थ की इच्छा रहेगी? वे तो भाव को ही लेंगे। चूँकि वे स्मरहर

हैं अतएव चीजों की तरफ नहीं देखते। कभी काशीविश्वनाथ-मन्दिर में चले जाओ। एक सेठ जी ने बढ़िया केसर-कस्तूरी-गोरोचन से भरे पाँच रुपये का चन्दन लगाया, फूल चढाये; हटे कि एक बुढ़िया पीतल की टूटी हुई लुटिया लाई, उसने जो जय-जय भोलेनाथ कहकर जल चढ़ाया तो सारा चन्दन बह गया। वहाँ तुम्हारा भी भाव ग्रहण है, उसका भी भाव ग्रहण है। भगवान् विष्णु के मन्दिर में जाओ तो पुजारी कहेंगे 'अभी-अभी भगवान् का श्रृंगार किया है।' पहला गजरा अच्छा है, दूसरा गजरा यदि खराब है तो उसे नहीं चढ़ायेंगे। फूलों में पानी भी नहीं लगा होवे आदि बड़ा विचार करते हैं। अप्पय कहते हैं, मैं यह जानता हूँ किन्तु फिर भी उसकी तरफ न जाकर संसार के लोगों की तरफ जाकर काल व्यर्थ खोता हूँ। लड़का पैदा किया। अभी लड़का गर्भ में ही था कि बाप को मिलता दूध बंद हो गया, माँ को मिलने लगा। बच्चा पैदा हुआ तो उसने रात का सोना ही बन्द करवा दिया। क्योंकि अब उन जनाब की मर्ज़ी, चाहे जब रोवें। दिनभर पिता बेचारे काम में लगे रहें, इसकी बच्चे को कोई चिन्ता नहीं। जब इच्छा हो रोये, जब इच्छा हो पेशाब टट्टी करे, बदबू की कोई चिन्ता नहीं। बड़ा हुआ तो पिता का घूमना-फिरना बन्द। कहीं दोस्तों के साथ घूमने जा रहे हो तो बच्चा कहता है 'मैं भी चलूँगा।' कितना ही समझाओ 'नहीं बेटा, हमें दूर जाना है, तू नहीं चल पायेगा' किन्तु नहीं मानता। चले अंगुली पकड़कर। दो ही बाँस मुश्किल से गये होंगे कि कहता है मैं तो थक गया, अब नहीं चला जाता।' उसे वहीं तो नहीं छोड़ोगे! चढ़ाओ कंधे पर। फिर पढ़ने जाने लगा। खुद तो फटी धोती पहने है किन्तु उसके लिये पैण्ट चाहिये। मास्टर, ट्यूटर, न जाने क्या-क्या रखते हैं। पढ़-लिखकर तैयार हो गया, नौकरी करने लगा। पिता प्रसन्न है। किन्तु बेटा माँ से क्या कहता है? 'मेरे लिये पिता जी ने क्या किया, मेरे लिये क्या छोड़ा!' विचार करो, उस बेचारे ने तो पैदा होने से पहले से लेकर अंत तक सब कुछ किया। जिसे सारा प्राण दे दिया उसने तुम्हें क्या फल दिया और जो एक लुटिया पानी से ही सारी कामनाओं को पूरा करते हैं, यहाँ तक कि मोक्ष भी दे देते हैं, उनके लिये फुर्सत नहीं। हम तो स्वयं अपने द्रोही हैं। लोग पूछते हैं, स्वामी जी राग-द्वेष, ईर्ष्या कैसे छूटें? हम कहते हैं कि पहले आत्मा के द्वेष को तो छोड़ो। इन्द्रियों के अधीन हो। इंद्रियाँ क्षणभर में ही न जाने कहाँ पहुँचा देती हैं। यदि आत्म-द्वेष को छोड़ दिया तो चाहे सारे संसार के साथ ईर्ष्या मद मात्सर्य हो, परमात्मा सब को काट देते हैं।

राजा ने उस बालक से कहा कि तुम नित्य इस पद्मराग शिवलिंग पर जल-फूल चढ़ा देना। बालक ने पूछा 'यह सब तो मैं नियम-पूर्वक करूँगा किन्तु एक बात और बताओ। पूजन के बाद आँखें मीचकर आप क्या करते हो? वह भी बताओ।' राजा कहने लगे 'तू अभी छोटा है, समझेगा नहीं, उसे ध्यान कहते हैं। पूजा के बाद हम ध्यान करते हैं।' बालक ने पूछा 'ध्यान क्या होता है।' अब मृत्यु का समय पास आ रहा था। राजा को भी भगवान् शंकर का ध्यान करना था, भगवत्-चिंतन करना था। उन्होंने स्तुति आरंभ की 'शान्तं पद्मासनस्थं शशिध रमुकुटं पंचवक्त्रं त्रिनेत्रम्' भगवान् का ऐसा परम मंगलमय स्वरूप था। उनकी इस स्तुति से साक्षात् भगवान् शंकर प्रकट हो गये। राजा ने ग्वालबाल से कहा 'सामने ही दीख रहे हैं, इसी के चिन्तन का नाम है ध्यान।'

दूसरे ही दिन उसने भी वैसा ही किया। आँखें मीचे, फिर खोलकर देखे, वहाँ कुछ भी नहीं था। फिर बंद करके 'शान्तं पद्मासनस्थम्।' उसे क्या पता था कि ध्यान में भगवान् अंदर दीखते हैं। उसने खान-पीना छोड़ दिया। ११-१२ बज गये। पिता ने आकर देखा, कभी आँखें खोलता है, कभी बंद करता है। पूछा 'कुछ चाहिये?', सिर हिला दिया कि नहीं। इस प्रकार शाम हो गई। पिता को बड़ा गुस्सा आया। उन्होंने चार थप्पड़ मारे। उसने इशारा किया कि चाहे गर्दन काट दो, मैं उठूँगा नहीं, अभी ध्यान का काम तो हुआ नहीं। रात भर बैठा रहा। भगवान् शंकर ने विचार किया कि अब इसे खुली आँखों ही दिखाई देना पड़ेगा। बंद में दीखने से काम नहीं चलेगा। प्रातः काल जब पूजा पूरी हुई तो अजस्त्र अश्रुधारा बहने लगी क्योंकि पूजा पूरी नहीं हुई। जैसे ही उसने जल चढ़ाया कि साक्षात् भगवान् शंकर अत्यंत मनोहर रूप धारण किये वृषभ के साथ प्रकट हो गये। उसने भगवान् शंकर की स्तुति की 'एकम् ब्रह्मैवाद्वितीयम् समस्तम् सत्यम् सत्यम् नेह नानास्ति किंचित्' यह अखंड स्वरूप ही अद्वितीय है। लोक में श्रेष्ठ को भी अद्वितीय कहते हैं। कोई आदमी शुद्ध पढ़ लेता है तो कहते हैं कि वह पढ़ने में अद्वितीय है। शंकर में भी ऐसी अद्वितीयता न मान ली जावे अतः कहा 'सत्यं सत्यम्' सचमुच ही उस परब्रह्म सदाशिव के सिवाय इस जगत् में भिन्न कुछ भी नहीं है। इस प्रकार वेदान्तवाक्यग्रथित सूत्र ही उसके मुख से निकला। यही शिवदर्शन की विशेषता है। कैसे पता चले कि भगवान् के दर्शन हो गये? जब दृष्टि एकता को ही ग्रहण करे, एकता की दृष्टि वाले को ही परमेश्वर दीखते हैं। राग, द्वेष, मद-मात्सर्य आदि भले

ही रहें किन्तु यदि जीवन के प्रत्येक क्षण में परमेश्वर को ही देखे तो प्रतिक्षण परिवर्तन न आये, यह हो नहीं सकता। भगवान् शंकर ने उस बालक से कहा, 'क्या वरदान चाहिये, माँग लो।' बड़े प्रेम से भगवान् ने उसे अपनी गोद में बिठाया। उनके परम मंगलमय स्पर्श से उसके सारे दोष निवृत्त हो गये। कहने लगा, 'अब तो साथ ही चलूँगा।' भगवान् शंकर ने कहा 'नहीं, तुम यहीं रहो।' उसे बड़ा अद्भुत वरदान दिया: 'तुम्हारी पीढ़ी से आठवाँ पुरुष (पुत्र) नन्द होगा और उन के यहाँ भगवान् विष्णु अवतार लेकर रहेंगे।' उसी वरदान के फलस्वरूप द्वापर में भगवान् कृष्ण हुए। भगवान् कृष्ण का नाम जितना देवकीनन्दन प्रसिद्ध है, उतना ही नन्द-नन्दन अथवा नन्द का लाल भी प्रसिद्ध है। जिस परमात्मा को पुत्ररूप में प्राप्त करने के लिये मनु-शतरूपा को अतिदीर्घकाल तक तपस्या करनी पड़ी थी, उसी को श्रीकर ने एक बार पूजन करके ही प्राप्त कर लिया।

इस कथा में परमेश्वर के प्रविष्ट रूप का वर्णन है। वस्तुतः चन्द्रसेन कौन है? चन्द्र मन का अधिष्ठाता है और सारी वृत्तियाँ चन्द्र (मन) की सेना है। एक बार चन्द्रसेन पर काल-यवन ने चढ़ाई कर दी। समय-रूपी यवन मन पर भी चढ़ाई करता रहता है। समयाभाव के कारण ही तो परमात्मा की तरफ प्रवृत्ति नहीं होती। बचपन में खेल, जवानी में भोग और व्यापार आदि, बुढ़ापे में पोतों से स्नेह में ही सारा समय चला जाता है। काल ने चन्द्रसेन पर चढ़ाई कर दी। बुद्धिमान् चन्द्रसेन (मन) निर्णय करता है कि जो कुछ ये लेने आये हैं, इन्हें दे दो, इनके साथ युद्ध करने से कोई लाभ नहीं। सारा खजाना दे दो और भागो यहाँ से वरना ये सारे राज्य का ही नाश कर देंगे। जीवन में सारे पाप तो करता है मन पर उसका फल शरीर भी भोगता है और इंद्रियाँ भी भोगती हैं, घर वाले भी भोगते हैं स्त्री भी भोगती है, पुत्र भी भोगता है। बुद्धिमान् निर्णय करता है कि इन्हें खजाना आदि देकर अलग हो जाओ। मन से ही विचार उत्पन्न होता है। उसने विचार से ही सारा खजाना दे दिया, पुत्र को राज्य सौंप दिया और मन को परमात्मा में लगा दिया। जंगल में तप के लिये चला गया।

व्यवहार को विचार से करो, मन से नहीं, मन से करते रहोगे तो फँसते ही रहोगे। व्यवहार तो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विचार से ही करो। मन तप करता है। पद्मराग का एक शिवलिंग है। हृदय-कमल के बीच में निर्विषयक और कार्य-कारणभाव से रहित एक तत्त्व है, वहीं पद्मराग मणि का शिवलिंग है। वह

उसका पूजन करता है। साधना पकने पर अंत में मन समाप्त होने वाला है अर्थात् निर्विकल्प समाधि में मन नहीं रहता। वह सोचता है कि अब कर्म-बुद्धि से व्यवहार होगा। मन तो निर्विकल्प अवस्था में चला गया। इस अवस्था में कर्म-बुद्धि का भी कार्य नहीं है लेकिन गोप, गो, इन्द्रियों द्वारा कार्य करने वाला है। प्रारब्ध शेष होने से निर्विकल्प समाधि में भी शरीर मरता नहीं है। वही गोप है। इसी प्रारब्ध से कहा कि हे गोप, इतना ध्यान रहे कि इसके विरुद्ध कोई भी कर्म नहीं होवे। मन को अनन्यता का इतना अभ्यास हो जाता है कि देहादि का व्यवहार सर्वथा भगवन्मुखी हो जाता है; यही अधिकार देना है।

अब समाधि पक्की हो गई। ७ भूमिकाओं को पार कर ८ वीं में जाकर साक्षात् परब्रह्म परमात्म तत्त्व प्रकट होगा। ऐसा बनने पर साक्षात् परमात्म-स्वरूप हो जाता है। यह परमात्मा का प्रविष्ट रूप है। उस परमात्मतत्त्व को हृदय में प्रत्यक्षवत् कर लेता है तो मनुष्य इस स्वरूप में पहुँच जाता है, यही उसका प्रविष्ट रूप है। इस प्रविष्ट रूप को समझने की बहुत जरूरत है।

प्रवचन-१२

शब्द से अतीत

१९-७-६८

'भर्गो मे वोच:' पापों को नष्ट करने वाला रूप तभी काम का है जब परमात्मा से अपने सम्बन्ध को जानेंगे। परमेश्वर के तीन सम्बन्ध बताये। सृष्ट, प्रविष्ट और विविक्त; इन तीन रूपों से वह परब्रह्म परमात्म-तत्त्व अपने आपको जानता भी है, जाना जाता भी है, जानना और जाना जाने वाला सम्बन्ध भी है। भोगादि भी वही देने वाला है। प्रविष्टरूप वस्तुत: शासकरूप का है, शासन करने वाला है। संसार के अन्य मत-मतांतर भी परमेश्वर को शासक मानते हैं किन्तु बहिर्यामी-रूप से। वस्तुत: ईश्वर का अर्थ है ईशन करने वाला। ईशावास्योपनिषद् में भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'ईष्टे इति ईट् ' वह शासन करता है, इसी लिये ईश है। और भी शासक हैं किन्तु उन सबकी अपेक्षा उसका शासन श्रेष्ठ है। अत: उसे ईश्वर कहा। साधारण राजा भी ईशन करते हैं, उनकी अपेक्षा इन्द्र, वरुण, यमादि का शासन श्रेष्ठ है, उन्हें भी ईश्वर कहते हैं, अत: परमात्म-तत्त्व को महेश्वर कहते हैं। 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' ईश शब्द से परमात्मा का ज्ञान होता है। जब साधारण मानव को ईश कहा तो उससे ऊपर देवताओं को ईश्वर कह दिया, यही मानव और देवता में फर्क है। इनसे भी ऊपर जो सबका शासन करने वाला है, उसे महेश्वर कह दिया। आगे और शासन करने वाला कोई नहीं, उसका शासन कोई नहीं करता, वह सबका शासन करता है। वेदान्ती के ईश के सम्बन्ध में कोई प्रश्न ही नहीं बनता कि ऐसा क्यों है। संसार के अन्य मतों में परमेश्वर को बहिर्यामी माना है, अत: सर्वत्र यह प्रश्न बन जाता है कि ऐसा क्यों है। बाहर से शासन करने वाले को किसी नियम से बंधकर शासन करना पड़ेगा। केवल वेदान्त

यह कहता है कि परमेश्वर अन्दर से भी शासन करता है। यही ईश्वर के विषय में वेदान्त के साथ अन्य मत–मतांतरों का मुख्य भेद है। ईश्वर के अन्दर के शासन को नहीं मानते अन्य मत। शतपथ ब्राह्मण में तो एक अलग अध्याय ही है जिसे अन्तर्यामी ब्राह्मण नाम दिया गया है। 'यःपृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्, यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।'

जो पृथ्वी के अन्दर रहता है, जिसे पृथ्वी नहीं जानती, पृथ्वी जिसका शरीर है, वह अन्दर रहकर पृथ्वी का शासक है, उसी को अन्तर्यामी कहा है। इसी प्रकार जो जल में, आकाश में, अग्नि में रहता है जो जल, आकाश, अग्नि का शासक है, जो इसका शरीरी है, किन्तु जल, आकाश, अग्नि जिसे नहीं जानते, वह अन्तर्यामी है। हमारे शरीर में कोई रह रहा है, जिसे शरीर नहीं जानता, वही आत्मा अन्तर्यामी है। उस आत्मा ने ही यह शरीर ले रखा है। यह उसका शरीर है लेकिन वह अन्दर रहकर ही इस शरीर का शासन करता है। अन्य मत वालों ने केवल बहिर्यमन माना है, वेदान्त अन्तर्यमन को कह रहा है। उस अन्दर के शासक की दृष्टि से वह प्रश्न का विषय बनता ही नहीं। जो अन्दर ही शासन करता है, उसके विषय में 'क्यों?' यह कौन पूछेगा! मन भी नहीं जानता क्योंकि उसका शरीर है। सबके अन्दर रहने के कारण वेदान्त में उसे प्रत्यग् आत्मा कहा गया है। महर्षि याज्ञवल्क्य से ब्रह्मवादिनी गार्गी ने प्रश्न किये थे। बड़ी भारी सभा हुई थी। बड़े–बड़े ब्रह्मवेत्ताओं को जनक ने एकत्र किया था। बड़े–बड़े ऋषि वहाँ आये हुए थे। महाराजा जनक ने घोषणा की थी कि ये १० हजार गायें पुरस्कार के लिये खड़ी हैं। जैसे आजकल नासिक में छपे कागजों को ही धन समझा जाता है, वैसे ही उस समय गाय को धन समझा जाता था। 'इन गौओं के पैरों में चाँदी के खुर, सींगों में सोना, गले में सोने की माला है। जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता होगा, उसे ये दस हजार गायें दे देंगे।' सारे ही ब्रह्मवेत्ता वहाँ थे। जनक ने कह दिया। सभा में बिलकुल शान्ति हो गई।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य से कहा 'अरे सामश्रवा! खोल ले जा इन गायों को।' अपने उस शिष्य को वे सामवेद का अध्ययन कराते थे, इसलिये उसे सामश्रवा बुलाते थे। इतना कहने के साथ ही सभा की शांति भंग हो गई, खूब हुल्लड़ मचा। अन्य ऋषि पूछने लगे, 'क्या तू ही हैं अपने आप को सबसे श्रेष्ठ

ब्रह्मवेत्ता मानता है?' याज्ञवल्क्य महर्षि कहने लगे 'नमो वयम् ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा वयं स्म:' ब्रह्मवेत्ताओं को हम नमस्कार करते है। हम तो गौ चाहने वाले हैं। ब्रह्मवेत्ताओं को नमस्कार किया तो इसका मतलब यह नहीं कि वे ब्रह्मवेत्ता नहीं थे, परन्तु 'मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ यह भी एक भ्रम है जो ब्रह्मिष्ठ को नहीं होता, यह बताया। ब्रह्मनिष्ठता, 'ब्रह्मज्ञान हुआ' यह भी एक भ्रम ही है। भगवान् गौडपादाचार्य लिखते हैं-

'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।।

निष्ठा का अर्थ किसी चीज में रहना होता है। एक वह जो रहे, दूसरा वह जिसमें रहे। भगवान् शंकर लिखते हैं कि जब श्रुति में कहा 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे' उस समय चारों ओर घना अंधकार था, तो इससे दो चीजें सिद्ध होती हैं: एक वह तम जो ढाँक रहा था, दूसरा वह जो ढका जा रहा था। इसी प्रकार ब्रह्मनिष्ठ का भी यह अर्थ है कि एक ब्रह्म, और दूसरा उसमें रहने वाला। इसलिये महर्षि कहते हैं कि ऐसे ब्रह्मनिष्ठ को तो नमस्कार करता हूँ! जब तक द्वैत-भ्रान्ति है, अविद्या की सत्ता है, तभी तक वह ब्रह्मनिष्ठ है। अन्य ऋषि चिल्लाये, 'फिर गायें क्यों खोल रहे हो?' महर्षि याज्ञवल्क्य कहने लगे 'हमें गायों की जरूरत है इसलिये खोल रहे हैं।' ऋषियों ने बहुत से प्रश्न किये और महर्षि ने सबको जवाब दिया। ब्रह्मवादिनी गार्गी ने, जो जन्म से ही सिद्ध थी, कहा कि मुझे दो प्रश्न करने दो-गार्गी ने कहा मैं दो प्रश्न पूछूँगी वे दोनों प्रश्न ऐसे पैने बाण हैं जो बड़े-बड़े महारथी को भी धराशायी कर देंगे। इन बाणों को जिसने सहन कर लिया, इन प्रश्नों का उत्तर जिसने दे दिया, समझ लेना कि वह महारथी है और किसी से पराजित न होगा। फिर वह किन्हीं प्रश्नरूप बाणों से घायल न होगा। अतः आप लोग शांत हो जाना।' पहला प्रश्न किया कि ये समग्र ब्रह्माण्ड किसमें हैं। महर्षि ने उत्तर दिया कि आकाश में। गार्गी ने स्वीकार कर लिया। दूसरा प्रश्न हुआ कि वह आकाश किसमें प्रतिष्ठित है, उसे नियंत्रण करने वाला कौन है, उसका नियामक, धारण करने वाला कौन है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा कि 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलम्' इनका धारक, नियामक, अधिष्ठाता अक्षर है। इस के पूर्व गार्गी को जब क्रमशः ब्रह्मलोक को बताया था तब याज्ञवल्क्य कह

चुके थे कि अप्रष्टव्य प्रश्नों को पूछ अपना सिर न गिरवाना! अतः गार्गी ने कुतर्क न कर सीधे ही याज्ञवल्क्य को नमस्कार कर सभी को उन्हें श्रेष्ठ मानने को कहा। सिर कटने का अभिप्राय है कि ब्रह्मज्ञान टिक नहीं पायेगा। सिर तो सबका कटा ही है! जो सब चीजों का नियामक है, आगे यदि उसका भी नियामक मानोगे तो वह सब चीजों का नियामक ही नहीं है। अतः यह व्यर्थ का प्रश्न है। इसी को कुतर्क कहते हैं। भगवान् सुरेश्वराचार्य लिखते हैं कि ईश्वर की इच्छा परम स्वतंत्र है। स्वतंत्र का मतलब ही होता है कि दूसरे का उस पर नियम नहीं। उसे परिच्छिन्न करने में कोई भी समर्थ नहीं। उसके परम स्वतंत्र होने के कारण यह प्रश्न बनता ही नहीं। क्योंकि मन-बुद्धि का गमन भी वहाँ संभव नहीं। उसके सिवाय यदि किसी ईश्वर को कोई शासक कहे तब तो प्रश्न बनता है। अन्तर्यामी के बारे में प्रश्न ही नहीं बनता। उसका बहिर्यामी रूप मन-बुद्धि का विषय होने के कारण प्रश्न का विषय बनता है। अन्दर वाला रूप तो मन-बुद्धि का विषय नहीं, यही उसका स्वातंत्र्य है।

शरशैया पर पड़े हुए भीष्म पितामह युधिष्ठिर को उपदेश कर रहे हैं। लोक-प्रसिद्ध भी है कि मरते आदमी की बात सच्ची होती है। भीष्म-पितामह के उपदेश भी मरण-काल में ही किये गये थे। उनके शरीर के अंग-प्रत्यंग में बाण बिधे हुए हैं, कोई अन्य वासना वहाँ सम्भव ही नहीं । बाणों पर ही होने के कारण जमीन से शरीर का स्पर्श भी नहीं हो रहा था। ऐसी अवस्था में युधिष्ठिर ने राजधर्म, नीति-धर्म, मोक्ष-धर्म आदि पर प्रश्न किये और उसी अवस्था में भीष्म पितामह ने उपदेश किया। यही निष्ठा का रूप है। मनुष्य कष्ट में हो और तब मन में क्या भाव उठते हैं, यह महत्त्व की बात है। बढ़िया खाने को मिलता रहे तो 'सर्वम् ब्रह्ममयं जगत्' सोचे, यही काफी नहीं। बीस दिन से भूखे हों और तब कहें कि 'या देवी सर्वभूतेषु क्षुधारूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।' 'हे क्षुधारूप आत्मस्वरूप। तुम मेरे पास बीस दिन से हो, हमेशा ही पास बने रहना।' जो क्षुधा में भी परमात्म-स्वरूप को ही देख सकेगा, जो कह सकेगा कि उस स्वरूप को भी मेरा नमस्कार है, वह वस्तुतः निष्ठा वाला है। यदि केवल दोनों समय भरपेट भोजन करने से ही दुर्गा-सप्तशती का पाठ किया तो क्या मजा! भीष्म पितामह ऐसी अवस्था में भी तत्त्व का उपदेश करते हैं। अन्त में युधिष्ठिर

पूछते हैं 'आपने सब धर्म बतायें, विष्णु-सहस्त्रनाम का भी उपदेश किया लेकिन एक बात नहीं बताई। परम महेश्वर भगवान् शंकर के बारे में कुछ नहीं बताया, कृपा करके कुछ बताइये।' भीष्म पितामह कुछ देर के लिये चुप हो गये, मानों समाधिस्थ हो गये। अंत में जवाब देते हैं कि 'अशक्तोहं गुणान् वक्तुं महादेवस्य धीमतः।' यह ठीक कि सारे धर्म सिखाये, लेकिन महादेव का गुणवर्णन करने की सामर्थ्य मुझ में नहीं है। उस महादेव का लक्षण है 'यो हि सर्वगतो देवः सर्वत्र न च दृश्यते।' वह कण-कण में व्याप्त है किन्तु दीखता किसी भी जगह नहीं है। इसमें दो बातें समझने की हैं: आदित्य, रुद्र, वसु, इन्द्र, प्रजापति ये तैंतीस हैं। भीष्म पितामह अष्ट वसुओं में हैं। सारे संसार के नियामक ३३ देवता हैं। भीष्म भी एक वसु हैं। कोई साधारण व्यक्ति नहीं, स्वयं भीष्म पितामह कह रहे हैं कि वे भी उनका गुण-वर्णन कर नहीं सकते 'अशक्तोहम्' मैं अशक्त हूँ। क्योंकि वह सर्वत्र व्याप्त देव है।

यदि गुणों की दृष्टि से देखो तो अंनत गुणों का वर्णन शक्य नहीं। यदि गुणरहित दशा को देखो तो वह भी वर्णन का विषय नहीं। इसीलिये वेद का घोष है 'यद् वाचाऽनभ्युदितम् येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।' कोई वाणी से उसे कह सके, यह असम्भव है। जब वह मन और बुद्धि का ही विषय नहीं तो वाणी का विषय कैसे बन सकता है? उसके अनंत गुण कैसे हैं: संसार में तीन अरब आदमी हैं किन्तु दो चेहरे एक-जैसे नहीं। आजकल तो अंगुलियों की छाप देखनेवाले विशेषज्ञ हैं। चेहरों की बात रहने दो, दो आदमियों की अंगुली की छाप भी एक-सी नहीं होती। मन, बुद्धि भी एक-से नहीं। कितनी तरह के आदमी संसार में हैं इसका कोई ठिकाना नहीं। भगवान् के पास ये ही तीन अरब नमूने हों। ऐसा नहीं समझ लेना। सौ साल आगे पीछे भी देख लो, कोई किसी से मिलता नहीं। मुर्दों को कबरों से निकालकर उनकी अंगुलियों की छाप देखकर इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि किन्हीं दो व्यक्तियों की छाप एक-जैसी नहीं है। घर में तीन लड़के हों तो तीनों ही नमूने अलग-अलग मिलेंगे। अनन्त रूपों को लेने वाला, बनाने वाला देव वर्णन का कैसे विषय बने! यही तो उसकी स्वंतत्रता का उन्मेष है। जो अनंत पदार्थों में देखने, दीखने और दिखाने वाला है उसकी स्वतंत्रता पर क्या प्रशन बनेगा! अंत में युधिष्ठिर ने कहा 'कोई तो होगा जो जानता

हो?' भीष्म पितामह ने कहा 'जो गर्भ, जन्म, जरा और मृत्यु का अनुभव करने वाला हो, वह उस देव के बारे में कुछ नहीं कह सकता। जो इनसे रहित है वही कह सकेगा।' युधिष्ठिर ने पूछा 'पितामह! यह कैसी बात करते हैं! ऐसा कोई तो हो सकता है।' भीष्म कहने लगे 'इन सबसे मुक्त तो सामने ही खड़े हैं।' भगवान् कृष्ण उपदेश के समय वहीं खड़े थे। भीष्म ने कहा 'ये निश्चितरूप से जानते हैं क्योंकि गर्भ जन्म जरा मृत्यु से मुक्त हैं। इनका उद्घोष है।

'न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।'

जन्म-मरण मुझ में असंभव हैं; कोई काल नहीं जब मैं न रहा हूँ; कोई काल नहीं जब मै नहीं रहूँगा, यह जिनका अनुभव है वे वासुदेव ही उस तत्त्व का उपदेश कर सकते हैं, अन्य किसी में सामर्थ्य नहीं।' यही बात यमराज ने नचिकेता से कही कि आत्मतत्व का उपदेश कौन कर सकता है? 'अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति' जो उस तत्त्व के साथ अपने को अनन्य नहीं बना लेता, उसके उपदेश दिये बिना ज्ञान होने वाला नहीं। अतः चाहे जिस द्वारा वह कहा नहीं जा सकता, यह सिद्धान्त है। भीष्म पितामह स्वयं प्रश्न का जवाब न दे सकते हों, ऐसा नहीं है। उन में इस प्रकार की शंका ही नहीं हो सकती। भीष्म जानते न हों, ऐसा नहीं। वह तो मन-वाणी का विषय नहीं, इसलिये उसे किसी प्रकार कह नहीं सकते इस बात के प्रतिपादन के लिये वर्णन है। केवल अनन्य होकर पकड़ सकते हैं, अपने को शिव में खोकर ही उससे मिल सकते हैं। ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं। जो स्वयं सबको जानेगा वह स्वयं किससे जाना जायगा! इसी लिये महर्षि याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मवादिनी गार्गी से कहा था कि 'अतिप्रश्न मत कर अरे गार्गी! तू तो ब्रह्मवादिनी है, अतः इस प्रकार का प्रश्न मत पूछ।' गार्गी विदुषी थी, स्वयं ब्रह्मवादिनी थी। कहा 'याज्ञवल्क्य! मैं समझ गई।'

जो कुतर्की होता है वह विषय समझना ही नहीं चाहता बल्कि कुछ दोष ही निकालना चाहता है। वास्तव में समझने की कामना वाला हो तो समझ लेता है। गार्गी ने सबसे कहा कि अब कल्याण इसी में है कि सब चल दें। ये मेरे बाणों को सह गये। इनपर विजय करने की सामर्थ्य किसी में नहीं। जो व्यक्ति आई. सी. बी. एम.के कोबाल्ट बम को एक कोने में रखकर बैठा है, जो एक महाद्वीप से

दूसरे महाद्वीप में केवल बटन दबाने से ही गोला फैंक सकता है, उसके आगे तलवार वाले का क्या भय! अपने पास तलवार भी होवे तो उससे कैसे लड़ोगे? गार्गी के यह कहने पर सब लोगों ने विचार किया कि अब चुप रहना ही अच्छा है।

वहाँ जनक का पुरोहित विदग्ध शाकल्य नाम का पण्डित भी बैठा था सोचा, कि कहीं याज्ञवल्क्य उसकी रोजी ही न ले लेवे! उसने गार्गी का भी अपमान कर दिया कि यह औरत क्या समझती है! मैं प्रश्न करता हूँ, यदि मेरे प्रश्नों का जवाब दे देवे तो ठीक है। शाकल्य ने असंख्य प्रश्न किये। महर्षि सबका जवाब देते गये। अंत में महर्षि याज्ञवल्क्य ने सोचा कि यह तो बड़ा लम्बा मामला चलेगा, कई दिन लग जायेंगे। अतः शाकल्य से कहा 'तुमने सैकड़ों प्रश्न मुझसे किये, मैंने उन सबका जवाब दे दिया। अब मैं भी तुमसे केवल एक प्रश्न करता हूँ, जरा उसका भी जवाब दे दो। यदि जवाब दे दिया तो ठीक, वरना तुम्हारा सिर कट जायेगा और हड्डियाँ चूर-चूर हो जायेंगी, अंतिम संस्कार करने को भी कुछ नहीं रहेगा। लाश भी चोरों द्वारा पददलित होगी! 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यति इति।' तुमसे उस परब्रह्म परमात्म तत्त्व के विषय में प्रश्न करता हूँ, किसी ओने-कोने वाले के विषय में प्रश्न नहीं करता! कौषीतकि ब्राह्मण में क्या माना है, काठकों ने क्या माना है, पूर्व में कौन देवता है आदि नहीं पूछता। तू तो इसी प्रकार के प्रश्न करता रहा। मैं तो तुझसे केवल मुख्य विषय ही पूछ रहा हूँ। यदि तुझे उसका पता है तो बता। मैं उस परब्रह्म परमात्मतत्त्व को ही पूछ रहा हूँ कि उपनिषदों का मुख्य विषय है क्या?' बेचारे शाकल्य को वही नहीं आता था! कहीं साहित्यवेत्ता काव्य के विषय में विचार कर रहे हों और कोई सज्जन आकर कुतर्क करने लगे कि इस काव्य में ऐसा शब्द क्यों लिखा है। विद्वान् धैर्य से जवाब भी देता रहे। अंत में उससे पूछे 'तुमने काव्य के विषय में इतने प्रश्न कर दिये, जरा यह तो बताओ कि इस काव्य में कौन से विषय का प्रतिपादन किया गया है?' वह कहे 'जी, यह तो मुझे पता नहीं।' ऐसे व्यक्ति को शास्त्रार्थ करने का अधिकार ही नहीं है जो मुख्यविषय ही नहीं जानता। महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी यही पूछा कि उपनिषद् के अन्दर कहा किसे गया है, किस विषय का प्रतिपादन किया गया है। शाकल्य को पता नहीं था। अनधिकार चेष्टा करने से

मारा गया। इस प्रकार शास्त्रार्थ समाप्त हुआ। कहने का मतलब यह कि उपनिषद् के द्वारा प्रतिपादित पुरुष को वाणी से बताना सम्भव नहीं। यही बात महर्षि याज्ञवल्क्य ने तीन बार (तीन रूप से) कही:

मैं ब्रह्मनिष्ठ को नमस्कार करता हूँ। इस वाक्य का अभिप्राय है कि मैं वस्तुतः ब्रह्मरूप से स्थित हूँ। जो कहे 'मैं जानता हूँ' वह ब्रह्म को नहीं जानता; जो कहे 'मैं नहीं जानता हूँ' वह ठीक भी कह रहा हो सकता है। जो कहे 'जानता हूँ - ऐसा भी नहीं, नहीं जानता ऐसा भी नहीं', वही सही जानता है। 'मेरा तो नमस्कार है, उसे' यह पहली स्थिति है। दूसरी बार जब पूछा कि वह किसमें प्रतिष्ठित है तब कहा कि वह विषय ही नहीं। इतने पर भी शाकल्य नहीं समझा। तीसरी बार कहा कि वह कार्य-कारण, मन-बुद्धि का विषय नहीं हो सकता। इस प्रकार परब्रह्म परमात्मतत्त्व के तीन रूपों को सृष्ट, प्रविष्ट और अनन्त रूपों को कह दिया। जैसे सारे सृष्ट स्वरूप से एक,वैसे ही सारे प्रविष्ट स्वरूप से एक वही कण-कण का शासक है और कण-कण का आत्मा भी है। अनंत भी है चूंकि कण-कण में एक ही स्वरूप से स्थित है।

माता अनंत भी है और एक भी है। जिसके शरीर से किसी का शरीर निकला उसे माता कहते हैं। माता एक है। प्रत्येक स्त्री माता है क्योंकि उससे किसी का जन्म हुआ है। उपाधि से इतना ही फर्क है कि मेरा शरीर जिससे उत्पन्न हुआ, वह मेरी माता है। माता की शक्ति की दृष्टि से तो माता एक है। अतः उपाधि-भेद से ही हरेक की अलग-अलग माता है। इसी प्रकार सबका शासन करने वाला ईश्वर तत्त्व एक है। लेकिन इस कण का शासक और उस कण का शासक उपाधि से परिच्छिन्न होने के कारण अनेक भी हुआ। आत्मा सबमें एक, यज्ञदत्त के शरीर में भी वही आत्मा और देवदत्त के शरीर में भी वही। किन्तु यज्ञदत्त के शरीर का शासन करने वाला अलग और देवदत्त के शरीर का शासक अलग, आत्मा (शासन करने वाली शक्ति) दोनों में एक ही है। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा कि परम महेश्वर एक होते भी अनेक रूपों वाला है। एक तरफ तो श्रुति कहती है कि 'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः' एक ही महादेव है। दूसरा कोई उसके सामने कैसे ठहरे! दूसरी तरफ श्रुति अनंत रुद्रों का वर्णन करती है। उपाधिमात्र से भेद है, वास्तविक नहीं। इस तत्त्व को पकड़कर ज्ञानी अनेकता देखते हुए भी भ्रम में

नहीं पड़ता। पापों को नष्ट करने के लिये सम्बन्ध जरूरी है। इसलिये सृष्ट और प्रविष्ट दोनों से भिन्न उसका तीसरा विविक्त रूप भी बताया। उपाधि-ज्ञान से वही सृष्ट है। उपाधि-विशिष्ट उसका प्रविष्ट रूप है। वस्तुतः दोनों रूप एक अखण्ड चिन्मात्र में प्रतीतिमात्र होने के कारण वह स्वतः विविक्त भी है। इसलिये याज्ञवल्क्य ने यह बताया कि वह मन और बुद्धि से परे है। जब तक गुण पकड़ोगे, उसका अंत आने वाला नहीं है। उसके गुणों को सीमित करने की इच्छा क्यों है? जरा टटोलो। प्रथम तो यह कि परमेश्वर ज्ञेय है और दूसरे, परमेश्वर को पूरी स्वतंत्रता नहीं होनी चाहिये। हमारी मन और बुद्धि से सोचने की कार्य-कारणपरम्परा के कारण मन में यह बात बैठ गई है कि परमात्मा को तो देश-काल के अन्दर होना चाहिये। हमारे पास एक फुट रूल (१२ इंच वाला) है और नापने चले हैं आकाश को! कितना नाप लोगे? हजारों मील की पटरी होवे तो भी आकाश को नहीं नाप सकते। आजकल जितना पता चला है, अब तक जितने आकाश का पता लगा है, उसकी लम्बाई बताते हैं। आगे घर जाकर हिसाब लगा लेना। रोशनी की गति १ लाख ८६ हजार मील प्रति सेकिंड है। उस गति से चलकर २ करोड़ ८० लाख साल में जहाँ पहुँचे, वहाँ तक तो आकाश दीखता है। आगे कितना है पता नहीं। अब जरा इस हिसाब से (१ लाख ८६ हजार (६०×६०×२४×३६५×२ करोड़ ८० लाख) पता लगा लेना कि कितना आकाश है जो दीखता है! अभी इससे आगे कितना है, इसका तो कोई कहना ही नहीं। तुम चले हो १२ इंच की पटरी से आकाश को नापने, क्या यह कभी सम्भव है!

सारे ब्रह्माण्ड को चलाने वाला प्रजापति ब्रह्मा और उन ब्रह्मा जी को उत्पन्न करने वाले भगवान् विष्णु भी उसे नहीं जान पाये। तुम अपनी मन-बुद्धि का हाल भी जरा देख लो, तुम्हें तो यही नहीं पता कि पीठ-पीछे कौन है। ब्रह्मा और विष्णु ने विचार किया कि पता लगायें कि उस अनंत कोटि ब्रह्माण्ड के ज्ञाता परब्रह्म परमात्मा की सीमा क्या है। दोनों हजार दिव्य वर्षों तक एक वराह के रूप में और दूसरा हंस के रूप में घूमते रहे किन्तु अंत में वापिस लौट आये, पता नहीं लगा सके। ब्रह्मा जी ने आकर तो झूठ कह दिया 'मैंने जान लिया' और दो झूठे गवाह भी साथ ले आये। झूठी गवाही आजकल ही होती हो, ऐसा नहीं है, ब्रह्मा जी के जमाने में भी थी। एक गाय और एक पेड़ को लाकर खड़ा कर दिया कि ये गवाह

हैं। कामधेनु ने कहा 'मैं उस समय दूध का स्त्राव कर रही थी' पेड़ ने भी कहा मैं छाया कर रहा था।' भगवान् विष्णु ने तो सच्ची बात कह दी 'मुझे तो पता नहीं लगा।' उसी समय आकाशवाणी हुई। भगवान् शंकर ने गर्जना की 'अरे ब्रह्मा! तू झूठ बोलता है। जिसका अंत संभव नहीं, उसे तू अंत वाला कह रहा है। तू पूज्य नहीं रहेगा।' गाय से भी कहा, 'तू भी झूठ बोलती है। तुझे तो मैंने पशुओं में अच्छा पशु बनाया था। जा तू भी इसी के परिणामस्वरूप टट्टी खाया करेगी।' देख लो, आज भी जहाँ गाय को टट्टी नजर आई कि उसने मुँह मारा। पेड़ से कहा 'तू तो वैसे ही जड योनि में है, लेकिन तेरे फूल को मेरे ऊपर कोई नहीं चढ़ायेगा।' श्रुति कहती है 'समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति' (प्र.५)जो झूठ बोलता है, वह जड से ही सूख जाता है। जो फूल परमेश्वर पर नहीं चढ़ा उसका क्या लाभ? तुम उसकी स्वतंत्रता को जानना चाहते हो और अपने मन और बुद्धि से उसका नाप करने का प्रयत्न करते हो, यह कैसे हो सकता है? उसे कार्य-कारणभाव में तुम्हीं लाये हो। अतः हे परमेश्वर, तू ही अंतर्यामी और सर्वथा स्वतंत्र है ऐसा जानकर हाथ-पैर पटकना छोड़ देना, यही साधना है।

प्रवचन-१३
परिच्छेद का मोह
२०-७-६८

भगवती श्रुति बता रही है कि किस प्रकार क्रमशः परमात्म-तत्त्व का अनुभव होता है, किस प्रकार हमारी स्थिति परिवृद्ध होती जाती है, किन सोपानों के द्वारा, किन मील के पत्थरों के द्वारा पता लगता है कि हम जिस मार्ग पर जा रहे है, उस में आगे बढ़ रहे हैं या नहीं। जब तक यह पता न चले कि हम जिस ध्येय की तरफ जा रहे है, वह स्पष्टतर होता जा रहा है या नहीं, तब तक पूर्ण निष्ठा के साथ किसी भी उद्देश्य की ओर बढ़ना संभव नहीं। परमात्मा के ज्ञान की विशेषता अन्य ज्ञानों की अपेक्षा यह है कि यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है।

भगवान् शंकर भगवत्पाद कहते हैं कि यह ज्ञान भुक्तिवत् है। प्रकृत श्रुति से उन्होंने भुक्ति शब्द लिया है। भोजन करने पर भोजन से तृप्ति प्रतिकौर आती जाती है। ऐसा नहीं होता कि आज भोजन करें और तृप्ति कल या परसों हो। जितना-जितना इधर बढ़ोगे, उतनी-उतनी तृप्ति बढ़ती जायेगी। यदि चार रोटी की भूख है और दो रोटी पेट में गई तो आधा पेट भर गया। ऐसा नहीं कि चारों खाओगे तभी अकस्मात् पेट भरेगा। यदि एक कौर भी खाओ तो भी कुछ-कुछ पेट भर जाता है। इसीलिये सर्वज्ञात्म महामुनि लिखतें है कि-

'यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि।।'

जिस-जिस भ्रांति से निवृत्त होते जाओगे उतना तो विमोचन या मोक्ष हो ही गया। फिर वह भ्रांति तो पुनः नहीं फँसा सकेगी। जब सारी भ्रांति दूर होकर, निवृत्त होकर, अखंड ब्रह्माकार वृत्ति बन जायेगी तब अणु-मात्र भी दुःख का अनुभव होने

वाला नहीं। जितने-जितने भ्रम हटेंगे, उतनी-उतनी निवृत्ति आयेगी। ऐसा नहीं कि अकस्मात् सारे भ्रम हटेंगे और अकस्मात् ही निवृत्ति आ जायेगी। इसलिये यह आवश्यक है कि इस तत्त्व में आगे बढ़ते हुये देखते रहें कि यह ठीक हो रहा है या नहीं। दूसरे धर्म आदि व्यवहारों से उसमें यही फर्क है। यदि आज पूजा की तो आज ही फल मिलने वाला नहीं, आज व्यापार किया तो आज ही धन मिलने वाला नहीं। कब मिलेगा, कोई ठिकाना नहीं। नौकरी की बड़ी आशा थी कि पहली तारीख को तन्ख्वाह मिलेगी। किन्तु कम्पनी तो २८ को ही फेल हो गई, गया तन्ख्वाह का सपना। आज बच्चे की शादी की, कुछ पता है कि बहू का सुख मिलेगा या नहीं? अगर सास से झगड़ा करने लगी तो गया सारा सुख। अन्य व्यवहार देशान्तर, कालान्तर, वस्त्वन्तर में फल देने वाले हैं। कोई कार्य अन्य देश में, कोई अन्य काल में और किसी अन्य वस्तु के रूप में फल देगा। काम एक देश में किया, फल कहीं अन्यत्र मिलेगा। काम आज किया तो फल दो महीने बाद मिलेगा। बीज आज बोया तो गेहूँ चार महीने बाद आयेगा, यों कालान्तर में फल है। कार्य कुछ और एवं फलरूप वस्तु कोई दूसरी होती है। बेचा तो कपड़ा लेकिन मिले नोट। अब उस नोट से पदार्थान्तर मिलेगा और फिर उस पदार्थभोग से सुख मिलेगा। अभी तो लौकिक दृष्टि से ही कह रहे हैं। आज कपड़ा बेचकर २५ रुपये आये, कल खुर्चन खरीदी और शाम को खाई तब सुख मिला। रुपये के प्रातिभासिक सुख की बात नहीं कर रहे हैं। प्रातिभासिक इसलिये कि पास का रुपया मन में कल्पना से सुखद भी है। कई बार कल्पना से सुख मिलता है। कैसे? जेब में बढ़िया बटुये में सौ का नोट लेकर चले कि कहीं जाकर चार दोस्तों के साथ बादाम में छानेगे। दोस्तों को निमंत्रण दे दिया। कहा 'तुम सिल बट्टा साफ करना, मैं बादाम ला रहा हूँ।' दुकान पर पहुँचे और सेर भर बादाम तुलवा लिये। जेब में हाथ डाला तो बटुआ गायब। कहीं निकाला गया है, कब निकला यह तो पता ही नहीं है, शायद दोस्तों को निमंत्रण देने से पहले ही निकल गया हो, लेकिन तब तक तुम्हारे सुख में तो फर्क नहीं हुआ। व्यावहारिक सुख यह हुआ कि तुम गिलास में पी रहे हो। यदि बादाम न पड़े हों तो केवल कल्पना से मजा आने वाला नहीं है। नोट से होने वाला सुख प्रातिभासिक और पदार्थों से होने वाला व्यावहारिक है। रुपया आज आया, पदार्थ कल मिला और शाम को खाया तो यह वस्त्वन्तर से होने वाला फल हुआ।

एकमात्र परमात्मा ही ऐसा है जो किसी अन्य देश, काल और वस्तु से फल नहीं देता, वह स्वयं फल है। वह स्वयं आनन्दस्वरूप है। उसका ज्ञान होना ही आनन्द कहा जाता है। देश-काल-वस्तु से अपरिच्छिन्न होने के कारण ही वह देश, काल, वस्तुरूप में फल नहीं देता। प्रतिक्षण यह पता लगता रहता है कि हम परमात्मा के पास जा रहे हैं या उससे दूर। कालान्तर में फल न देने के कारण ही परमात्म-तत्त्व का स्पर्श करने वाले कर्म फल देते नहीं। जो खुद कोषा (bank) का निदेशक (managing directer) या अध्यक्ष (chairman) बना बैठा है उसे वहाँ अपना खाता खोलने के लिये किसी अन्य के परिचय की जरूरत नहीं होती। यदि तुम नया खाता खोलने जाओ तो एक परिचय देने वाला चाहिये जिसका वहाँ खाता हो। लेकिन अध्यक्ष को किसी अन्य से परिचय कराने की जरूरत नहीं। परमात्म-तत्त्व सारे साधनों की अंतिम सीमा है, उससे सम्बन्ध करने पर फिर अन्य कार्यों की, अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं। छोटे-छोटे कर्मों से तो छोटा सुख ही मिलेगा, जिसने आनन्दघन प्राप्त कर लिया, वह छोटे सुख का क्या करे! अतः उसके सारे छोटे कर्म नष्ट हो जाते हैं। इसलिए सूतसंहिताकार ने कहा है-

'परमशिवमशेषं पश्यताम् आदिभूतं हृदयकुहरमध्ये संचितं कर्मवृन्दम्।
झटिति भवति दग्धं तूलवद् वह्नियुक्तं न फलनिकरभोगप्राप्तये तद्भवेच्च।।'

जो उस परम शिव का साक्षात् अनुभव कर रहा है, अपरोक्षरूप से उस तत्त्व को जान रहा है उसके सारे पाप जल जाते हैं। उसे कहाँ जाना जाता है? उसके जानने का मात्र एक स्थल हृदय-कुहर, हृदयरूप गुहा है। परमात्मा बड़े-बड़े पहाड़ों पर या नदियों में नहीं घुसा बैठा है, वह तो इस हृदय-कुहर में ही बैठा है। वह हृदय-कुहर के मध्य ही क्यों बैठता है? किसी के हृदय में वही बैठता है जो उसका अत्यंत प्रिय हो। परमात्मा भी इतना प्रिय है कि हृदयकुहर में बैठता है। हमने अनादि काल से परमात्मा से ही प्रेम किया है। यह जरा समझने की बात है। लोग समझते हैं कि उन्होंने दूसरी चीजों से प्रेम किया, अब उन्हें छोड़कर ईश्वर से प्रेम करेंगे। वेदान्त कहता है कि ऐसा नहीं है। परमात्मा से यदि अब प्रेम करना शुरू किया तो यह प्रेम आदि वाला होने से विनाशी हो जायेगा। इसे दृष्टांत से समझ लो: पैदा होने के क्षण से ही माता-पुत्र का प्रेम है, अतः मरते दम तक भी यह प्रेम रहेगा। शादी के बाद पत्नी का प्रेम शुरू हुआ, और चार-छह महीने बाद

ही ढीला पड़ जाता है। इसका कारण क्या है? क्योंकि शुरू जो हुआ है वह हमेशा रहने वाला नहीं। पत्नी के कारण माता से चाहे ऊट-पटांग बोले, दुर्व्यवहार करे, पर किसी समय शान्त वृत्ति वाला हो तो कहेगा कि माँ का प्यार ज्यादा है। भले ही पत्नी के कारण वैसा करे, यह नहीं कहता कि अच्छा किया। यहाँ तक कि अलग भी हो जाता है, फिर भी हृदय में माँ के प्यार को स्मरण करता ही है। माता का प्रेम हमेशा से है, इसलिये हमेशा ही रहेगा, चाहे किसी समय प्रकट हो या न हो। इसी प्रकार यदि परमात्मा का प्रेम अभी शुरू हुआ तो थोड़े दिन बाद खत्म हो जायेगा। तुम कह रहे हो कि 'हमें संसार से प्रेम है', हम कहते हैं कि तुम हमें बरगला रहे हो, प्रेम तो तुम्हें ब्रह्म से ही है। पूछो 'कैसे?' तुम सुख चाहते हो और ब्रह्म का ही दूसरा नाम है सुख। इसी शाखा में आगे आयेगा 'यो वै भूमा तत्सुखम्' जो ब्रह्म है वही सुख है। यदि पूछें कि क्या तुम्हें ब्रह्म से प्रेम है, तो कहते हो 'कैसे उस से प्रेम हो? हम तो संसारी जीव हैं।' यदि पूछें कि सुख चाहते हो? तो कहोगे, 'हाँ सुख तो चाहते ही हैं।' धन, पुत्र, पत्नी आदि की चाहना सुख के ही लिये है अतः सुख से नित्य प्रेम है और यह प्रेम अनादि काल से है। अनादि काल से हृदय में सुख बस रहा है। उसे वेदान्त में ब्रह्म कह देते हैं! जब तक सुख के भ्रम से दूसरे असुख को पकड़ने जाता है तब तक कर्म की अपेक्षा है। परिच्छिन्न सुख के लिये परिच्छिन्न पदार्थ की जरूरत है और परिच्छिन्न पदार्थों के लिये परिच्छिन्न कर्म की जरूरत है। यह क्रम है कि परिच्छिन्न कर्म से परिच्छिन्न पदार्थ की प्राप्ति और वह पदार्थ परिच्छिन्न सुखप्रद है।

भड़भूँजे की दुकान में आधा पाव चना खरीदने वाला आदमी यदि पचास हजार का नोट ले जाये तो क्या चना मिल सकता है? पचास हजार के नोट से चना नहीं खरीद सकता, चाहे करोड़पति ही क्यों न हो। परिच्छिन्न पदार्थ के लिये चवन्नी, अठन्नी या रुपये का नोट ही चल सकता है। सारे कर्म इसीलिये बटोरते हो कि परिच्छिन्न सुख मिले। जब पता लगा कि परिच्छिन्न कर्मों के सुख को इकट्ठा करने से कोई भी लाभ नहीं तो फिर परिच्छिन्न पदार्थों को बटोरना बन्द कर दोगे।

एक बार किसी कार्यवश हम मैनपुरी जिले के मन्दार गाँव में गये थे। वह डाकुओं का गाँव है, वहाँ वालों का काम ही डाका डालना है। हमने उनसे कहा, भले आदमियों डाका क्यों डाला करते हो, कुछ काम किया करो। वे कहने लगे

'स्वामी जी! बिना काम किये ही डाका पड़ता है क्या! ये लाला लोग तो छोटे-छोटे काम करते हैं। एक-एक आदमी से चवन्नी, अठन्नी ठग-ठग कर हजार रुपया इकट्ठा करते हैं लेकिन परिच्छिन्न ही बने रहते हैं। हम से तो ये छोटे काम नहीं बनते। एक मार में ही पाँच लाख ले लेते हैं।' इसी प्रकार कोई कहता है कि छोटे कर्मों से छोटे सुख को कहाँ तक लेते रहें, एक ही मार से अपरिच्छिन्न सुख को प्राप्त कर लो। जैसे ही उस अखंड सुख को पकड़ा कि झट से कर्म-शेष का जाल जल जाता है। कैसे? दृष्टांत दिया कि सूखी रूई की तरह जो आग लगते ही झट जल जाती है, विलम्ब की अपेक्षा नहीं। वह धीरे-धीरे जले, ऐसा नहीं हो सकता, एक-साथ ही जल जाती है। फिर सारा कर्म-जाल फल (भोग) देने में समर्थ नहीं होता। इस प्रकार छोटे-छोटे कर्मों द्वारा पदार्थों की प्राप्ति से छोटे सुख की प्राप्ति देश-काल वस्तु के भेद से है। देश, काल और वस्तु तीनों से रहित परमात्मा नित्यसुखरूप होने के कारण सारा काम झट कर देता है।

हमारे हृदय में वह परम-प्रेमास्पद बैठा है, हमारे प्रेम का वह विषय भी है। हमें सुलभ भी है, इतना सब होने पर भी क्या कारण है कि उसे पकड़ नहीं पा रहे हैं? कोई अच्छी चीज पास भी है, मिलने में सुलभ भी है, प्रेम का विषय भी है और तब भी सुख प्राप्त नहीं हो तो कोई कारण होगा ही। शास्त्रकार इसका कारण बताते हुए कहते हैं कि उसका हृदयगुहा में आ जाना ही एकमात्र कारण है। चूंकि वह जीव-भाव में परिच्छिन्न हो गया, अतः परिच्छिन्न जीव को सब परिच्छिन्न ही सूझता है। कहावत भी है कि सावन के अन्धे को हरा ही दीखता है : उसे परिच्छिन्न पदार्थ, परिच्छिन्न कर्म और परिच्छिन्न सुख ही सूझता है। अपरिच्छिन्न पदार्थ, अपरिच्छिन्न कर्म और अपरिच्छिन्न सुख उसे नहीं सूझता है। परिच्छिन्नता का चश्मा अपने ऊपर लगा रखा है। जिस रंग का चश्मा हो उसी रंग की चीज दीखती है। देश, काल और वस्तु से चीजों पर रंग चढ़ाते हैं अतः शिव को भी हम देश काल और वस्तुरूप में देखना चाहते हैं। वे देश काल वस्तु हैं तो चश्मे में किन्तु दीखते हैं बाहर। बाहर तो केवल वही है लेकिन चश्मे के कारण देश, काल, वस्तु वाला दीखता है। हृदय में परिच्छिन्नभाव की प्राप्ति ही उसकी परिच्छिन्नता का कारण है। अपरिच्छिन्न ने परिच्छिन्न से दोस्ती गाँठी तो वही परिच्छिन्न हो गया। कोई बड़ा विद्वान् आदमी है, उसकी दोस्ती एक महामूर्ख से

हो गई। कौन झुकेगा? विद्वान् तो शुद्ध संस्कृत बोल सकता है। उस मूर्ख की हिन्दी भी हरिः ओम् तत्सत् है। विद्वान् को ही झुकना पड़ेगा क्योंकि वह तो टूटी-फूटी हिन्दी बोल सकता है किन्तु मूर्ख संस्कृत नहीं बोल सकता। स्वतन्त्रता से पहले अंग्रेज आते थे तो कर्मचारी हिन्दुस्तानी ही रखने पड़ते थे। उनके साथ टूटी-फूटी हिन्दी में ही बोलते थे, अपनी अंग्रेजी में नहीं। अपरिच्छिन्न परमात्म-तत्त्व प्रेम के कारण हृदय में आया तो वही झुकेगा। इसीलिये अपरिच्छिन्न कुछ परिच्छेद वाला बना। शास्त्रीय दृष्टि से विशिष्ट चेतन की कल्पना, मायाविशिष्टरूप से ही है। मायाविशिष्ट बने तो अंतःकारण-विशिष्ट का रहस्य समझे। वह प्रकट कैसे हो? वह मौन से ही प्रकट किया जायेगा। कोई पूछे 'परमात्मा कैसा है?' तो मौन, चुप हो जाओ। बोलोगे तभी जब माया की उपाधि की खोल चढ़ाओगे। अतःवेदान्त की प्रक्रिया है कि 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपंच्यते' पहले अध्यारोप करो, फिर अपवाद करो, उसे हटाओ। इसीलिये तरह-तरह के अध्यारोपों को शास्त्रकारों ने बताया और हरेक का अपवाद भी बताया है। भगवान् शंकर सूत-संहिता में कहते हैं-

'दासोऽहम् इति संमोहः ततः सोहम् इति भ्रमः। अहं स इति संमोहः तथा त्रीणि परित्यजेत्।
निर्भेदे निर्मले नित्ये निराधारे निरंजने। दासः सोहम् अहं सोपीत्यात्मन्येतत्कथं भवेत्।।'

सबसे पहले परमात्मा का विचार हुआ तो कहा दासोऽहम्, वह परब्रह्म परमात्मा तो सबका शासक है और तुम उसके दास हो। यह संमोह है, अविवेक है। यह अविवेक पहले शास्त्र ने कराया। अब तक समझ रहे हो कि राष्ट्रपति के दास, बीबी के दास, पढ़ने वाले बच्चों के गुलाम हो। बैंक-प्रबंधक भी घर आये तो बड़ी खातिरदारी करते हो कि रुपया दिलवा देगा। इसी प्रकार समाज आदि न जाने किस-किसका दास अपने को समझ रखा है। शास्त्र ने कहा कि पहला कदम यह है कि सबकी गुलामी छोड़कर एक परमात्मा के ही दास बनो। अनेकों के दास तो पहले से हो, अब एक की दासता करो। जब पुत्र, पत्नी, समाज आदि की गुलामी नहीं रही, राज्य, धन, समाज सबकी गुलामी छोड़ दी, व्यापारी हो तो ग्राहकों की भी गुलामी छोड़ दी, तब हम केवल शिव के गुलाम हो गये। अब किसी से डरना सम्भव नहीं। बाकी सब उसी के दास हैं। सूर्य चन्द्र आदि सब भी

उसी के शासन में हैं। अतः दूसरों के सामने हाथ नहीं फैलाओगे। जिसकी दोस्ती प्रधानमंत्री से हो गई, उसे छोटे-छोटे राजपुरुषों को चवन्नी-अठन्नी की घूस देने की क्या जरूरत है! 'दासोऽहम्' इस दृढ निश्चय वाला बाकी सारी गुलामी से छूटा। है वह भी भ्रम, किन्तु पहले जितना परिच्छिन्न नहीं रहा।

वह मालिक तो इतना प्रेम करता है कि हमारे अन्दर ही बैठा है। यह दूसरा भ्रम हुआ कि वह परमात्मा मेरे अन्दर आत्मरूप से विद्यमान है 'सोऽहम्।' है यह भी भ्रम। क्योंकि 'सः' और 'अहम्' हैं कहाँ! फिर भी पिछले भ्रम से बेहतर है यह भ्रम कि परमात्मस्वरूप मैं हूँ। सर्वसाक्षी परमात्मा मेरे भी हृदय में रहता है, वह साक्षी ही मेरा स्वरूप है। आगे चलने पर 'अहं सः' मैं ही वह हूँ। परमात्मा सब के हृदय में रहने से सर्वज्ञ है। जैसा मेरे हृदय में वैसा सर्वत्र है – यह सोऽहम् का अनुभव है। ऐसा है तो एक देह में ही चेतन की अपरोक्ष प्रतीति क्यों होती है? जैसे एक जीव को शब्द-गंध आदि का पता कान-नाक में ही लगता है वैसे एक मन से घिरे को उतनी ही प्रतीति है; वस्तुतः सभी अन्तःकरण में एक ही साक्षी है। एक स्थिति हुई 'चेतन मुझमें है', दूसरी है 'मैं ही चेतन (परमात्मा) हूँ।' इस स्थिति में एक की तरह सब मन पारदर्शी-जैसे स्पष्ट दीखते हैं।

अब यह संमोह भी छोड़ो। 'मैं सब कुछ हूँ' यह भी संमोह है, अविद्याका ही रूप है। भगवान् कहते हैं 'निर्भेदे निर्मले नित्ये निराधारे निरंजने'; तीनों ही भ्रम उस आत्मा में हैं, वह आत्मा निर्भेद है। इन तीनों भ्रमों का उपदेश तो समझने के लिये किया। तीनों को छोड़ने के बाद न उपदेश है और न उपदेष्टा ही है। काल्पनिक भेद तो मानो, यह भेद में आग्रह वालों का मत है। किंतु यह सब भी तब तक है जब तक अनुभव नहीं हुआ, वस्तुतः कोई भेद नहीं है। भेद नहीं क्योंकि मलरूप आवरण करने वाली माया नहीं रही। यदि माया है तो आगे व्यवहार कल्पित होने से कल्पित काम करते जाओ। वस्तुतः शिव में आवरण का सम्बन्ध ही नहीं अतः कल्पना व काल्पनिक व्यवहार भी वहाँ बनता नहीं। आधार और अध्यस्त भी नहीं क्योंकि अध्यस्त तो अध्यस्त को दीखता है। जहाँ विशेषण झूठा हुआ करता है, वहाँ विशिष्ट की कल्पना भी झूठी होती है। इसे दृष्टांत से समझो: एक काले रंग का आदमी देखा, कहा कि देवदत्त काला है। दूसरा कहता है 'वह तो गोरा चिट्टा है'। यद्यपि काला देवदत्त ही देखा था पर बाद में

पता लगा कि वह अच्छी तरह कालिख लगाकर रूपपरिवर्तन करके किसी जगह जा रहा था। देखा तो देवदत्त को ही था किन्तु कृष्णवर्ण-विशिष्ट कल्पित है, देवदत्त कल्पित नहीं। विशिष्ट-ज्ञान कल्पित हो तो सारा ज्ञान ही कल्पित होता है। स्वरूप से कल्पित हो, ऐसा नहीं। इसी प्रकार अध्यस्त की कल्पना होने पर विशिष्ट अधिष्ठान को जानते हो। जिसमें सर्प की कल्पना रहे वह रस्सी स्वरूप से चाहे कल्पित न हो, सर्पाधार रूप से तो कल्पित है। इसीलिये वस्तुतः परमात्म-तत्त्व में अधिष्ठानता भी नहीं। यह मानना कि परमात्मा में अध्यस्त है, भी कल्पित है। वस्तुतः कुछ भी कल्पित नहीं, बल्कि है ही नहीं। सत् के सिवाय कुछ भी नहीं है, सब कल्पित अग्न् ही है। नाम, रूप सच्चा, मिथ्या अथवा तुच्छ है- ये सब कल्पना ही हैं। न वह किसी का अधिष्ठान है और न वह किसी पर अध्यस्त है, वह तो निरंजन है। फिर ये तीनों भ्रम आत्मा में कैसे? वह परमात्मतत्त्व अपरिच्छिन्न होने पर भी परिच्छिन्न हृदय से सम्बद्ध प्रतीत होकर परिच्छिन्न-सा है। ध्यानार्थ परिच्छिन्न का उपदेश भी दिया जाता है।

संसार की गुलामी से छुड़ाकर भगवान् को स्वरूप से और उस स्वरूप में सारे जगत् को बताया, फिर उसे भी छोड़ा। इस प्रकार सारा क्रम कल्पित बताया है।

आत्म-तत्त्व को परिच्छिन्न कहा क्योंकि परिच्छिन्न हृदय से सम्बन्ध के कारण ही अपरिच्छिन्न तत्त्व परिच्छिन सुख चाहता है। तीनों अवस्थाओं के पदार्थों से दृष्टि हटाकर परमात्मा की तरफ दृष्टि ले जाने में ही अभिप्राय है। रोशनी चलचित्र के अन्दर का सारा दृश्य दिखाती है। रोशनी से ही सारा चलचित्र दीखता है क्योंकि नजर पर्दे की तरफ है। जब तक नजर पर्दे पर है तब तक रोशनी मायारूपी 'फिल्म' में उतरा हुआ संसार दिखायेगी। रोशनी की तरफ नजर होगी तो रोशनी ही दीखेगी, फिल्म या चित्र नहीं। इसी प्रकार सारे संसार से दृष्टि हटाकर परमात्मा की तरफ ले जाओगे तो माया भी नहीं दीखेगी। परमात्मा की तरफ दृष्टि है तो संसार नहीं और संसार की तरफ दृष्टि है तो परमात्मा नहीं। स्वरूप से तो हम ब्रह्म हैं। लेकिन उसका कोई फल नहीं। फल तभी होगा जब दृष्टि परमात्मा की तरफ ही हो।

प्रवचन-१४

अहंकार

२१-७-६८

अपरिच्छिन्नता, व्यापकता ही प्राप्त करनी है, पापों को भूँज डालनां है, अव्यापकता, परिच्छिन्नता को नष्ट करना है। विधि-मुख से कहा कि व्यापक बनो, महान् बनो एवं उसी को निषेध-मुख से कहा कि परिच्छिन्न मत बनो। परिच्छिन्नता को भूंजना है, संकीर्णता संकुचितता को नष्ट करना है। उसी को शास्त्रीय भाषा में कहते हैं कि व्यष्टि को समाप्त करना है। साधना में अहम् को नष्ट करना है। परिच्छिन्नता का स्थल ही है अहम्, आगे के सब अनुभव उसी की संतान हैं। आचार्य शंकर कहते हैं–

'सन्त्यन्ये प्रतिबंधाः पुंसः संसारहेतवो दृष्टाः।
तेषाम् एकं मूलं प्रथमविकारो भवत्यहंकारः।।'

जीवन में अनेक प्रतिबंधक हैं जो मनुष्य को जन्म, मरण, संसार-कारणता की तरफ ले जाते हैं। पुत्र, धन, मान आदि के द्वारा मनुष्य को बार-बार जन्म-मरण की प्राप्ति होती है यह सत्य है। जिस प्रकार ये प्रतिबंधक हैं, इसी प्रकार अशुभ कर्म, असद् वासनायें भी प्रतिबंधक हैं। इनकी कोई सीमा नहीं। एक-एक से कब तक बचोगे! एक एक को दूर करना चाहोगे तो कठिन मामला है। जैसे यात्रा आदि में चीजें कितनी ढो सकते हैं! एक चीज धन रख लो तो आवश्यकतानुसार सामान पा लोगे। नोट पास हो तो जो मर्जी आये सो ले लो। रुपया ही इकट्ठा करें, सब मिल जायेगा। किन्तु जो नोट इकट्ठा करते हैं उनके साथ कुछ और भी आ जाता है, जैसे गेहूँ इकट्ठा करें तो उसके साथ ईली आ जाती है, चीनी इकट्ठा करोगे तो उसके साथ चींटियाँ आ जायेंगी; इसी तरह ध न के साथ दुःख भी आ जाता है। आटा-दाल के साथ चूहे और धन के साथ दुःख

आयेगा। सामान्य मनुष्य समझता है कि एक धन से सब कुछ आ जाता है, उसी प्रकार कोई पदार्थ ऐसा भी है क्या जिसके आने से ये सारे प्रतिबंधक आ जाते हों और जिसके हट जाने से ये सारे प्रतिबंधक हट जायें? अहंकार ही सब प्रतिबन्धकों का मूल है, यह आ गया तो बाकी सब स्वयं ही आ जायेंगे, यदि किसी कारण से इसे हटा दिया जाये तो बाकी सब हट जायेंगे। एक तो पदार्थ की प्रकृति होती है और दूसरा उसका विकार होता है। प्रकृति से जो ठीक विपरीत हो वह विकार है। विकार का ही अपभ्रंश है 'बिगाड़'। भाषावैज्ञानिक जानते हैं कि व का ब, क का ग और र का ड़ हो जाता है। दूध मीठा था, पड़ा-पड़ा ही खट्टा हो गया। बरसात में चीनी ठोस हो गई, कागज सफेद था पीला पड़ गया; ये सब चीजों के बिगाड़ हैं। अपने स्वरूप को छोड़कर विपरीत स्वरूपवाला हो जाना ही बिगाड़ है। चेतन जडरूप में, सत् असद्रूप में, आनंद दु:खरूप में, व्यापक परिच्छिन्नरूप में बन जाये यही सब विकार है। एक अहम्रूप विकार ने ऐसा सम्भव किया कि सब चीजें उल्टी होती चली गयीं। अहम् चेतन तो सत् है। अहम् मायने चेतन। चेतन ही 'मैं' कहता है, पत्थर तो नहीं बोलता! उसे लट्ठ मारो तो चुप रहता है किन्तु कुत्ते को जरा सा झटका भी दो तो भूंकता है, मारो तो काटेगा। मैं-शब्द का प्रयोग चेतन ही करेगा। वह चेतन है अत: सत् अर्थात् हमेशा बना रहता है। उसमें परिवर्तन नहीं होता। चेतन तो सत् है पर कहते क्या हो? मैं अब चालीस साल का हो गया। जिस समय सृष्टि का ईक्षण भी नहीं हुआ था कि 'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ' यह संकल्प ही नहीं किया था, जिस समय मेरी महिमा मेरे अन्दर ही थी, बाहर प्रकट भी नहीं हुई थी, उस समय भी मैं था! श्रुति कहती है कि मैं ही मनु-शतरूपा हूँ और सारे ही रूपों में उत्पन्न हूँ। वही चेतन कह रहा है 'मैं अब चालीस साल का हो गया।' कितनी बड़ी विडम्बना है! इस उलट की कोई सीमा संभव नहीं।

लोग कहते है महँगाई बढ़ गयी। पहले एक रुपये का २२ सेर गेहूँ आता था। यदि एक रुपये के २२ सेर की जगह २२ रुपये का एक सेर भी हो जाये तो भी कोई फर्क नहीं। उम्र को मापने के लिये अनेक मापदण्ड बनाने पड़े। कितने साल हो गये जब कहा था - एक से अनेक हो जाऊँ? इसके लिये एक नया परिमाण बनाया कि तुम्हारे एक साल का देवताओं का एक दिन, ऐसे दिव्य सहस्र वर्षों को लेकर प्रजापति का एक दिन होगा (३६५×३६५×१०० को गुणा करके देख लो)।

बहुत हो जाऊँ कब कहा था। 'ब्रह्मणो द्वितीये परार्धे श्वेतवाराहकल्पे, वैवस्वतमन्वन्तरे, कलियुगे कलियुगस्य प्रथमचरणे' इस हिसाब से ब्रह्मा का ५१वें साल का पहला दिन चल रहा है। उसमें भी सत्ताइसवीं चतुर्युगी चल रही है। यह सारा हिसाब तब शुरू हुआ जब मैंने कहा 'बहुत हो जाऊँ।' जब कहते हो 'मैं ४० साल का हो गया' तब मानों सारे हिसाब पर ठंडा पानी पड़ गया! तुमने ब्रह्मा के इतने दिनों को ४० साल कहा! कभी हिसाब लगाया कि कोई ऐसा काल हो सकता है जब तुम नष्ट हो जाओ, जब तुम न रहो? सारा संसार उड़ जाय किन्तु तुम्हें फिर भी नहीं उड़ा सकेगा। ऐसा कोई काम है जो भगवान् नहीं कर सकते? हाँ है। भगवान् सर्वशक्तिमान् है, ऐसा कौन-सा काम है जो वे नहीं कर सकते? भगवान् मर नहीं सकते, परमेश्वर न रहे ऐसा कभी नहीं हो सकता। सबको खतम करने वाला रहेगा तभी सबको खतम करेगा। जिसने सबको ही खतम कर दिया उसे कौन खतम करेगा? वही सर्वाधिष्ठान, सबका नियामक, साक्षिरूप से रहने वाला भला किस साक्षी से हटाया जायेगा! कोई काल ऐसा नहीं जब तुम अवशिष्ट न रहो फिर भी कहते हो '३५ साल बाद नहीं रहूँगा।' इन सबका मूल अहंकाररूप पहला बिगाड़ है। जो नित्य है, उसे अत्यंत अनित्य बना दिया। उस ब्रह्म-प्रकाश के सामने सूर्य भी नहीं दीख सकता। चन्द्र तारों का प्रकाश कहाँ तक काम करेगा! बिजली या बेचारी अग्नि भी क्या करेगी! हजारों-लाखों-करोड़ों सूर्यों का उदय हो किन्तु जब शिव का प्रकाश होगा तभी प्रकाश है। ऐसे दिव्य ज्योतिःस्वरूप, ज्ञान-स्वरूप आत्मा होकर तुम कह रहे हो 'मुझे पता नहीं!' जिसके प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित हो रहा है वह कहता है 'पता नहीं', मानों सूर्य कह रहा है 'अंधकार है'। सत्य को असत्यवत्, चित् को अचिद्वत् बना दिया। इतने पर भी संतोष नहीं हुआ। अपने को अज्ञानी, दुःखी समझ रहा है। मरने-जीने वाला फिर अज्ञानी मानकर खेल रहा है। जिसके लव-कण से ही सारा संसार आनंदित हो रहा है, वही आनन्द कह रहा है, 'मैं बड़ा दुखी हूँ।' ब्रह्मादिक देवताओं में भी जो आनंद है, वही स्वयं को आनंदसमुद्र की एक बूंद भी नहीं समझ रहा।

इसके आगे क्या बिगाड़ हुआ? उसे जरा क्रम से समझना: 'मैं अमुक हूँ' का भाव अपेक्षाकृत ज्यादा अज्ञान है। सत् की अपेक्षा चित् ज्यादा ढका है। मैं हूँ - यह तो दृढ निश्चय है किन्तु 'मैं ज्ञान-स्वरूप हूँ, चेतन हूँ,' यह निश्चिय नहीं।

अज्ञानी 'मैं थोड़ा-थोड़ा जानता हूँ' कहकर सिद्ध करता है कि ज्ञान ढकता नहीं। मैं अज्ञानी ज्यादा हूँ लेकिन कुछ-कुछ चीजों का ज्ञान तो फिर भी रहता है। उससे भी ज्यादा ढँका रूप है कि मैं दुःखी हूँ। कुछ सुख तो है पर बहुत नहीं, बल्कि बहुत समय दुःखी हूँ। यों चित् से भी ज्यादा आवृत आनन्द हुआ। अंतिम उलटबाजी तो ऐसी खाई कि विश्वास ही नहीं होता कि मैं आनन्द हूँ। मैं आनंदित हूँ - ऐसा तो फिर भी कभी हो जाता है पर मैं ही आंनद हूँ ऐसा भान नहीं होता। प्रातः काल ही पत्नी बादाम-पिस्ते-खूब मोटी मलाई वाला दूध लाई। पीते समय मन आनंदित हो गया। उस क्षण में तो आनन्द का भान ही है। फिर चाहे व्यापार-चिन्ता से मामला बदल जाये। सत् की अपेक्षा चित् कम और चित् की अपेक्षा आनंद कम उद्बुद्ध है। आगे की बात पर तो शास्त्र व गुरु के कहने पर भी विश्वास ही नहीं होता कि सर्वव्यापक हूँ। यह कभी नहीं मान सकते, बात जँचती नहीं। परिच्छिन्न देश-काल में अपने स्वरूप को देखता है। यह अनंतता सर्वथा ढँकी है, खुलती ही नहीं।

दार्शनिक दृष्टियों से देखिये। मैं सत् हूँ, ऐसा तो सभी आस्तिक दर्शन मानते हैं। जीव मरते ही खतम नहीं हो जाता। सद्भाव को प्रतिपादित करने वाले बहुत-से शास्त्र हैं। भौतिकवादी चार्वाकों को छोड़कर बाकी सब जीव को है मानते हैं। उससे आगे, आस्तिक दर्शनों में सांख्य श्रेष्ठ है, वह कम से कम चिद्रूप तो मानता है। सांख्य की मान्यता है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। उससे भी आगे विशिष्टाद्वैत दार्शनिक आत्मा का रूप सुख भी मानते हैं। भक्त उसे आनंदघन मानते हैं। अनंतता के भाव को सिवाय वेदान्त के और कोई बताने वाला, मानने वाला नहीं। सत् चित् आनंद अन्य वैष्णव आदि शास्त्र भी मानते हैं। पर अनन्तता केवल शिवयोगी ही स्वीकारते हैं। अनंत-शब्द से भक्तिशास्त्र वाले भी संकोच करते हैं। अनंत की दृष्टि वेदांत की विशेष है। अनंत कहोगे तो अद्वैत कहना ही पड़ेगा और अद्वैत में किसी अन्य का अनुप्रवेश नहीं। इस प्रकार सत् चित् और आनन्द को कुछ-कुछ संकुचित किया और अंत में अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्व परिच्छिन्न हृदय में आया तो अहंकार का बिगाड़ आत्मा में भी देखने लगे। यह अहम् ही सब बिगाड़ों की जड़ है और इसीलिये शंकरभगवत्पाद ने प्रथम विकार कह दिया।

दूध में खटास कहाँ से आई? कहीं बाहर से नहीं। दूध का मिठास ही खटास हो गया। कैसे? वैज्ञानिक समझेंगे कि चीनी में मिठास देने का एक तरीका होता है। उसके ही अणुओं के एक प्रकार का संग्रथन तो मिठास और दूसरे प्रकार का संग्रथन खटास देता है। शराब पीने वालों से पूछना कि उसका क्या स्वाद है। सुरा के दो स्वाद हैं- खट्टा और कड़वा। बनती तो चीनी से ही है, चाहे अंगूर से बने या किसी अन्य से, बनेगी मिठास से ही। हम कहते हैं कि चीनी ही पीनी है तो शिकंजी ही बनाकर पी लो, सड़ाकर क्यों पीते हो! उनको सड़ाकर पीने में ही मजा आता है। दूध का मिठास ही खट्टा स्वाद हो जाता है। कागज पीला हुआ तो कहीं बाहर से पीलापन नहीं मँगाया था, कागज की सफेदी ही पीली हो गई। विकार कहीं अन्य बाह्य जगह से नहीं आता, सीमेण्ट में भी पत्थर की शक्ति कहीं अन्य से नहीं आई, मजबूत करने की शक्ति तो उसकी अपनी ही है। सीमेण्ट के मकान इसीलिये बनाते हैं। लेकिन चूर्ण का ठोस बनना ही उसका बिगाड़ है। इसी प्रकार चेतन का ही पहले बिगाड़ से अहम् नाम पड़ गया। अहंकार बनने से अब चेतन में संग-दोष आ गया।

कभी देखो तो पता लगेगा कि बिगाड़ कैसे शुरू हुआ। पहली बार तो दूध में खटास देर से आती है। सवेरे का दूध एक बजे तक तो मीठा, डेढ़ बजे उसमें थोड़ी नाममात्र की खटास आई, ऐसा जो पिया जा सकता है। लेकिन डेढ़ बजे से तीन बजे तक एकदम खट्टा हो जायेगा। पहली बार खटास आने में देर किन्तु जहाँ विकार शुरू हुआ वहाँ और बिगड़ने में देरी नहीं। कागज पर पहली बार पीली झाँई आने में २५-३० साल लग जाते हैं, पुराने दस्तावेज ऐसे ही होते हैं। एक बार झाँई पड़ी तो फिर सर्वथा पीला होने में देरी नहीं। अतः सब विकारों में प्रथम विकार होता तो थोड़ा है किन्तु जैसे ही प्रथम विकार आया, वैसे ही फिर सब बिगड़ने में ज्यादा देर नहीं लगती। थोड़े दिन पहले कोई सज्जन काशी से कच्चे आम की पेटी लाये थे। उसमें एक बिगड़ा हुआ था। पहला आम ही बिगड़ने की देरी थी, जहाँ प्रारंभ हुआ कि दो दिन में सारे आम बिगड़ गये। पहले बिगाड़ के बाद संग-दोष आ जाता है और तब सारा का सारा बिगड़ जाता है। आज से ३०-३५ साल पहले ब्राह्मण की बाजार में जाकर मिठाई भी खाने की हिम्मत नहीं होती थी। पहले जिसने खाया उसे जात-बाहर कर दिया गया। न जाने पहले होटल में खाने वाले को

कितनी मुश्किल का सामना करना पड़ा होगा, सारे कष्ट भोगकर भी पहुँचा होगा और अंत में मिठाई खाई होगी। जब दूसरे ने खाई तो सोचा 'अब तो एक से दो हो गये।' लग्गा लगने के बाद तो न खाने वाले ही कम मिलेंगे। पहला ही बिगाड़ शुरू हुआ, फिर सारा रास्ता खुल गया। पहली बार अहम् में दोष नहीं था किन्तु पहली बार बना तो सारा ही बिगड़ गया।

ऋग्वेद में कथा आती है। विकुण्ठा नाम की राक्षसी थी। उसने विचार किया कि ऐसी ताकत वाला मेरा पुत्र हो जो इंद्र को भी हरा दे। उसने कृच्छ्र-चान्द्रायणादि बड़े-बड़े व्रत, तप किये। उसके फलस्वरूप ऐसे तेज की संभावना हुई जो इंद्र-जैसा हो। तपस्या से साधक सब कुछ प्राप्त कर सकता है। इंद्र-जैसे बलवान् पुत्र की इच्छा से विकुण्ठा ने तप किया। उसकी तपस्या का फल उत्पन्न होने में इंद्र ने सोचा कि हमारी टक्कर वाला पैदा हो जायेगा। इंद्र बुद्धिमान् था। सोचा, दूसरा कोई न हो तो अच्छा है अतः 'विकुण्ठयां सम्प्रविवेश।' विकुण्ठा के गर्भ में स्वयं घुस गया। स्वयं ही इसका बेटा बनूँ तो फिर यह अपने आपको कैसे मारेगा? यह मत समझना कि इंद्र की कथा व्यापारी नहीं जानते, उन्होंने भी कहीं वेद सुन रखा होगा अतः अपनी दुकान के सामने अपने दूसरे भाई को दूसरी दुकान खोलकर बिठा देते हैं। सोचते हैं, यदि हम न खोलते तो कोई दूसरा खोलता और अब यहाँ नहीं तो वहाँ ग्राहक फँसेगा ही और जो भी चवन्नी-अठन्नी आयेगी, वह अपने ही घर में आयेगी। इंद्र ने सोचा, 'इसने तप किया है, लड़का तो होगा, और होगा भी मेरी टक्कर का। तो मैं ही क्यों न इसका बेटा बनूँ। इसका तप भी खतम हो जायेगा और फल भी मिल जायेगा। मेरा भी कोई नुकसान नहीं होगा।' इंद्र विकुण्ठा के पुत्ररूप में पैदा हुआ, बढ़ने लगा। असुर-स्त्री विकुण्ठा और वहाँ के अन्य असुर लोग इस प्रकार की शिक्षा देते रहे कि कैसे देवता हमारे हमेशा से वैरी हैं, हमारे ऊपर क्या-क्या अत्याचार करते हैं, अतः इन देवताओं का नाश ही सबसे बड़ा काम है। जैसी शिक्षा मिली, वैसा ही उसे जँचता भी रहा। नीतिकारों ने कहा है कि असत् पुरुषों के संग से भले आदमी भी विकार को प्राप्त हो जाते हैं। इन्द्र को भी कुसंग और कुशिक्षा मिली। सोचने लगा, 'देवताओं को खतम नहीं करेंगे तो काम नहीं बनेगा।' इन्द्र जवान हुआ, बड़ा शक्तिमान् था। वैकुण्ठ्य कहा जाता था। देवताओं पर चढ़ाई कर दी। इधर देवता ढूँढ रहे थे कि उनके राजा कहाँ गये।

बिना राजाज्ञा के कैसे लड़ें? देखा तो राजा साहब ही नदारद हैं। वैकुण्ठ्य इन्द्र ने देवताओं के राज्य को जीत लिया। देवता भटकते-भटकते घूम रहे थे। जब कहीं कोई सहारा न मिला तो गुरु बृहस्पति जी के पास गये। कहा 'बाकी सब तो हमने सहन कर लिया किन्तु राजा ही गायब हो गया, यह सहन नहीं होता। लड़कर हारकर भागते तो कोई बात नहीं थी। आप बताओ कि इंद्र कहाँ गये।' बृहस्पति ने समाधि लगाई। इंद्र को सारे संसार के कोने-कोने में खोजने का प्रयत्न किया किन्तु कहीं भी इंद्र का पता नहीं लगा। कहा, 'गजब हो गया, सारे ब्रह्माण्ड के कोने-खुरचे में देख लिया, इंद्र का कहीं पता नहीं चला। कहीं मर कर भी पैदा होता तो मुझ से छिपता नहीं। मैंने सबके अंतःकरण में जा-जाकर देखा किन्तु कहीं पता नहीं।' अब सारे देवता भगवान् शंकर के पास पहुँचे। कहा, 'भगवन्! राजा इंद्र गायब हो गये। आप कहीं उनका पता-ठिकाना बता सकते हो?' भगवान् शंकर कहने लगे 'तुम्हारे गुरु बृहस्पति बैठे हैं तो हमसे क्यों पूछते हो?' कहा 'इन्होंने तो एड़ी-चोटी का जोर लगा लिया किन्तु पता नहीं चला।' भगवान् शंकर ने कहा- 'देवगुरु, आप ही कच्चाई करोगे तो कैसे काम बनेगा! क्या आपने सबको देख लिया?' बृहस्पति कहने लगे 'हाँ महाराज, सबको देख लिया।' शंकर हँसकर कहने लगे- 'एक को नहीं देखा। वह दैत्यों का जो राजा बना बैठा है, उसे भी देख लिया?' बृहस्पति ने कहा- 'एक उसी को तो नहीं देखा।' भगवान् ने कहा- 'सब जगह तो देखा, उसी एक को नहीं देखा और वहीं वह छिपा है।' बृहस्पति ने पुनः समाधि लगाई, देखा कि वहीं बैठा है।

घर में चोरी हो जाये तो नौकर से पूछोगे, लड़के को देखोगे, किन्तु अपना ट्रंक नहीं देखोगे। अपने को कैसे देखें! बृहस्पति ने कहा- 'सब चलो और इंद्र को ले आओ।' अतः नीतिकारों ने ठीक ही कहा है कि

'असताम् संगदोषेण साधुर्यात्यपि विक्रियाम्।
इंद्रेण बाधिता देवाः साधुनाऽसुरसंगतेः।।'

इन्द्र द्वारा ही देवता बाधित हैं क्योंकि यद्यपि इंद्र साधु, सज्जन है तथापि असत्-संगति से विकृत हो गया है। देवता पहुँचे, कहा- 'आपसे अकेले में बात करनी है।' इंद्र ने कहा- 'अकेले में नहीं। मैं दैत्यराज हूँ। ऐसे फँसने वाला नहीं।' तब कहा 'अच्छा, सबके सामने कान में ही एक बात कहने दो।' मान गया।

देवताओं ने कान में पूछा 'तू कौन है?' इंद्र को बड़ा गुस्सा आया, कहा 'तुम पूछते हो कि मैं कौन हूँ। मेरी दैत्यराजता कहीं किसी से छिपी है?' दैत्यों से कहा 'इन पागलों को समझाओ वरना इन्हें निकाल-बाहर करो।' देवताओं ने सोचा अब क्या करें? बृहस्पति से पूछा तो उन्होंने कहा कि अब सप्तऋषियों को आगे करो। ऋषियों ने सोचा कि कोई पहचान बीच में खड़ी की जाये। इंद्राणी शची को लेकर सप्तऋषि पहुँचे। दैत्य इंद्र ने ऋषियों को स्वागत से बिठाया। शुक्राचार्य भी ऋषि हैं, ऋषि तो सर्वत्र सम्मानित हैं। शची को भी आदर से बिठाया। शची बड़ी सुन्दरी थी। उसकी सुन्दरता को देखकर इन्द्र का मन जरा शिथिल हो गया। सोचा, इससे ब्याह हो जाये तो अच्छा है। ऋषि भी साथ हैं, अकेले में बात की जाये तो ब्याह कर देंगे और देरी भी नहीं होगी। ऋषि इन्द्रसम्बन्धी गुणों को ही वैकुण्ठ्य इन्द्र में गिनाते रहे और उसकी सराहना करते रहे। इन्द्र इस सराहना से फूलकर कुप्पा होने लगा। बड़ा खुश हुआ कि मैं भी इंद्र हूँ। अंत में कहा 'तुम तो मूर्तिमान् धर्म हो।' इन्द्र ने कहा कोई बुरी बात तो नहीं जो मेरे मन में इस लड़की के साथ ब्याह करने की आ रही है? ऋषियों ने भी कहा, 'तुम राजा हो, कोई बुरी बात कह नहीं सकते। यदि यह बात भी तुम्हारे मन में आई है तो बुरी नहीं हो सकती। हम जल्दी ही ब्याह का मुहूर्त निकाल देंगे।' ऋषि रोज सराहना करते। धीरे-धीरे इंद्र के मन में बैठने लगा कि मैं सचमुच धर्मात्मा, देवता बनने लायक हूँ। बार-बार प्रशंसा करने से आदमी वैसा ही बन जाता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है। लड़कों को रोज कहोगे, 'तुम मूर्ख हो, तुम मूर्ख हो' तो मूर्ख ही हो जायेंगे। यदि कहो, 'तू ब्राह्मण के घर पैदा हुआ है, विद्वान् है, पढाई में जरा ध्यान दिया कर', तो वह विद्वान् बन जायेगा। इंद्र के मन में भी संस्कार पड़ने लगे। ब्याह का समय आया। आहुति होने लगी। उस समय 'अश्मारोहण' होता है। इंद्राणी कहने लगी 'मैं जानकर तुम्हारा हाथ पकड़ती हूँ-

'जगृम्भा ते दक्षिणम् इंद्र हस्तम् वसूयवो वसुपते वसूनाम्।
विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः।।'

'हे इन्द्र! मैं तुम्हारे दाहिने हाथ को पकड़ रही हूँ।' इंद्र खुश हुआ कि ठीक है। इन्द्राणी बड़ी बुद्धिमत्तापूर्वक मंत्र बोली 'तुम वसुपति हो। तुम धन को देने वाले और वसुओं में श्रेष्ठ हो, देवराज इन्द्र तुम ही हो। एक अर्थ धनपति हो गया और

दूसरा अर्थ हुआ कि तुम तो वसुओं के अधिपति देवराज हो, बड़े श्रेष्ठ हो। आगे कहती है कि तुम गोपति, गो-रक्षक हो। वेदों में इन्द्र का एक नाम गोपति भी आया है। शूरवीर तो हो ही। किन्तु मैंने तुम्हें पहली बार नहीं देखा है, मैं तुम्हें पहचान रही हूँ, मेरी आँखें देखो, तुम भी पहचान जाओगे।' इन्द्र में सारे संस्कार तो पहले ही डाले जा चुके थे। शची के प्रति प्रेम से हृदय भरा था। अन्य कोई बाधा रही नहीं। आत्मज्ञान हुआ। आँख से आँख मिलाकर देखो तो सही शिव को, स्वयं खुद ही दीख जाओगे। किन्तु घरवाली, दुकान आदि देखने नहीं देते। शची बोली 'हमारे लिये जो विचित्र धन है, महिमा है, उसे बरसाओ। उस रयि को बरसाओ जो विज्ञानानन्द ब्रह्म है।' इंद्र ने देखा तो पता लगा, 'अरे, यह तो वही शची है,' उसे अपने से चिपकाने लगा। अन्य ऋषि वहाँ खड़े थे, कहने लगे, 'अरे ब्याह तो होने दो, मर्यादा पूरी होने दो।' इन्द्र गरज पड़ा- 'मैंने जान लिया है।' अब इंद्र इंद्राणी को साथ लेकर वज्र हाथ में लेकर दैत्यों को मारने लगा!

यह कथा क्या बताती है। इन्द्र आत्म-तत्त्व को बताता है। इंद्र असुरपत्नी के पेट में खुद गया। श्रुति भी कह रही है कि 'स्वयमेव जगद् भूत्वा प्राविशत् जीवरूपतः।' यह अनात्मरूप जगत्, माया कहती है कि मैं किसके द्वारा प्राणवाली बनूँ? परमात्मा की माया-शक्ति ही विकुण्ठा नाम की राक्षसी है। कहती है 'मैं किससे पुत्र (प्राणों) वाली बनूँ। मुझे तो तुम्हारे जैसा पुत्र चाहिये।' जब तक चेतन माया में नहीं जायेगा तब तक काम नहीं बनेगा। परब्रह्म परमात्मा कहते हैं 'मैं दूसरा कहाँ से लाऊँ? कहीं दूसरा हो गया तो मेरा काम कैसे बनेगा?' दो चेतन हुए तो दोनों ही खतम। जो न जाना जा सके वह चेतन एक ही हो सकता है। दो हुए तो एक-दूसरे को जानकर दोनों जड सिद्ध हो जावेंगे। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'। मैं ही तेरे गर्भ में आ गया। ब्रह्म ही माया के गर्भ में आया तो जीव नाम पड़ा। जीवभाव को प्राप्त कर वही अहंकार से परिच्छिन्न हो गया। अब माया के साथ ही रहने लगा। उसी की शिक्षा ग्रहण करता रहा। विकुण्ठा को शर्म नहीं आई कि जिसने मुझे सत्ता वाला बनाया, उसका कुछ भी लिहाज करूँ। उसके साथियों ने भी यही सिखाया कि 'एक तू है और दूसरा तेरा दुश्मन सर्वव्यापक चेतन है, जो तुझसे अलग है और वही तुम्हारे अधिकार पर अपना अधिकार जमा रहा है।' हम चाहते हैं झूठ बोलें पर डंडे न पड़ें। चाहे जितने दुष्कर्म करें किन्तु फल न भोगना पड़े। बिना सच्चाई के फल लेते रहें किन्तु परमेश्वर ऐसा नहीं करने देता अतः उसे

विरोधी मान रखा है। कभी उसे घूस-पट्टी से ही खुश करना चाहते हैं। विरोध से काम तो चला नहीं, अतः यह जीव-ईश्वर का द्वैत खड़ा कर दिया। नाक-कान आँख से मैं व्यवहार करता हूँ। पुत्र-पत्नी आदि सब मेरे हैं। असुरदल में अपने को भी असुर मानता रहा। अपने शुद्ध स्वरूप को भी नहींवत् मानता रहा। कहता है कि अभी बुढ़ापा नहीं आया, अभी क्या परमात्मा का चिंतन करना है!

असुरों के क्षेत्र में आनंद लेता रहा और जो अपने हैं उस देववर्ग को पराया समझता रहा, उन्हें विरोधी मानने लगा। वेदादि बातों को पराई मानता रहा कि ये हमारे काम की नहीं, इन्हें तो पंडित बाँचा करें। कहता है 'मैं अभियंता बनूँगा, चिकित्सक बनूँगा।' न जाने और क्या-क्या बनूँगा। कहो, 'जरा वेद भी बाँच लो' तो कहता है, रहने दो। क्योंकि देवों को विरोधी और असुरों को अपना समझ रहा है। अब क्या करें? पता लगाना है कि वह परमात्मा कहाँ है? बृहस्पतिरूप बुद्धि पता लगाने चली, बड़ी समाधि लगाई, सब जगह ढूँढा, अंत में कहा 'ईश्वर है ही नहीं।' यह है नास्तिक-दर्शन। बाकियों को जाने दो, हिन्दुओं में भी क्या होता है? सवेरे एक-दो घंटा ईश्वर है और शेष २२ घण्टे ईश्वर नहीं है। ईश्वर नहीं-जैसा ही हो गया है। कपिल मुनि ने कहा कि 'ईश्वरासिद्धिः प्रमाणाभावात्' ईश्वर-सिद्धि में प्रमाण का अभाव है। अन्य दार्शनिकों बौद्धों, जैनों-ने भी कहा कि ईश्वर हो इसमें कोई प्रमाण नहीं। प्रमाण का अभाव है, अतः ईश्वर है ही नहीं। बुद्धि का वहाँ प्रवेश ही नहीं, यह नहीं समझा। अपने अन्दर ही आत्मा को नहीं ढूँढा। अंत में पुण्य-संचय से शंकररूप वेद के पास पहुँचे। बुद्धि ने कहा सबको देखा किन्तु कहीं सिद्धि नहीं हुई तो वेदरूप शंकर ने कहा 'लेकिन अपने में नहीं देखा!' अब अहम् के अन्दर ईश्वर को देखा तो पता चला कि वही आसुरी राज्य का मालिक बना बैठा है। श्रुति कहती है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्' सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म को हृदयगुहा में अहं के प्रकाशकरूप से ही पाया जा सकता है। पता लगा कि वही है अंतःकरण में। बुद्धि को प्रत्यगात्मा समझ में आ जाता है, लेकिन अहम् को समझ में नहीं आता। अहम् तो मानता है कि मैं गोरा हूँ, बनिये के घर पैदा हुआ, चोर-बाजारी, घूस का काम करने वाला हूँ। बुद्धि से समझ में आता है किन्तु वह कहता है, 'यह कैसे हो सकता है!' समझ में आ रहा है किन्तु व्यवहार में रह जाता है।

सप्त ऋषि शचीरूप इन्द्राणी को लेकर पहुँचे। प्रशंसा की, धीरे-धीरे बात मन में बैठने लगी। वस्तुतः अहम् का विश्लेषण करने लगा। मैं पैदा हुआ। क्या उससे पहले नहीं था? नहीं था तो यही पता कैसे लगा? मैं तो परम-प्रेमास्पद है ही। समझने लगता है कि मैं धर्ममूर्ति हूँ। बात जँच तो रही है। अंत में ऋषियों ने मुहूर्त निकाला। विवाह प्रारंभ है। शचीरूप समाधि की आँख में आँख डालकर पता लगता है कि अहम्रूप में आने से पहले तो मैं निर्विकल्प-स्वरूप रहा। शची इन्द्र को ही नित्य विषय कराने वाली शक्ति है। समाधि ही ब्रह्म को विषय कराती है। समाधि कहती है 'मैं दक्षिण हस्त 'चेतन' को पकड़ रही हूँ।' अहम् में दो चीजें हैं, वृत्ति जो जड है और चेतन जो प्रायः जडरूप हो गया है। शची कहता है 'तू तो अष्ट-वसु, पुर्यष्टक का मालिक है। तू इन्हें चलाने वाला है। मैं पहचानती हूँ तुझे।' तब अहम् भी पहचानता है। निर्विकल्प समाधि में ब्रह्म ही ब्रह्म को पहचान रहा है। इंन्द्रियों का पति सृष्टि का आनंद लेने वाला है। वह अत्यंत पवित्र हो गया और निरंतर इसी में मग्न रहेगा जैसे सारे राक्षसों को इन्द्राणी के साथ रहकर मार डाला वैसे सारी आसुरीवृत्तियाँ समाधि के साहचर्य से समाप्त हो जाती हैं। संगदोष से ही इंद्र में दोष आया और ब्रह्म में भी अहम् के संग से दोष आ गया। वास्तव में वह शिव निर्दोष ही है।

प्रवचन-१५
कारण
२२-७-६८

सारे पापों का मूल अहंकार है। यद्यपि पापों के रूप बहुत हैं तथापि प्रथम विकार, जिसके संग से शेष सारे विकार चलते हैं, अहंकार ही है। किसी चीज की प्रथम विकृति कठिन है, यदि एक बार विकार किंचित् भी आया तो फिर संसर्ग-दोष से विकार बढ़ते देरी नहीं लगती। अहंरूप विकार एक बार आ गया, फिर बढ़ने में देर नहीं लगी। एक के बाद एक आते ही गये। यह प्रथम विकार हुआ कैसे? सारे विकार की जड़ मैं-पना है। इस मैं-पने को यदि उड़ा दिया जाये तो काम बन जाये। अहंरूप विकार न रहने पर सारे विकार स्वयमेव नष्ट होते जाते हैं; लेकिन इस अहंरूप विकार को मिटाने के लिये आवश्यक है कि हम यह जानें कि यह विकार पैदा कैसे होता है। कारण नहीं समझेंगे तो नियंत्रण का प्रकार समझ में नहीं आयेगा।

कारण के प्रश्न में दो प्रकार के भाव होते हैं, क्यों और कैसे। हर एक चीज के दो कारण होते हैं। धन क्यों कमाते हो? बच्चों का पोषण करने के लिये, मकान का भाड़ा इत्यादि देने के लिये। कैसे कमाते हो? व्यापार करके, नौकरी करके, सरकार से, चोरबाजारी से, अथवा मजदूरी करके। कमाने के अनेक तरीके हैं। दो कारण हुए-क्यों और कैसे। लौकिक दृष्टि में भी कार्यकारण-परम्परा का भेद है। कैसे होता है, यह बताने वाले शास्त्र को विज्ञान (science) और क्यों होता है, यह बताने वाले शास्त्र को धर्म-शास्त्र (ethics) कहते हैं। 'अहं' क्यों और कैसे आया इसका जवाब समझना जरूरी है। पहले इस पर विचार करें कि कैसे आया। 'अहं' यह एक विचित्र ज्ञान है। इसको समझना बड़ा टेढ़ा मामला है क्योंकि यह दो रूपों

वाला है। यद्यपि इसका अर्थ हमेशा चेतन ही होता है किन्तु इसकी प्रतीति हमेशा जड के साथ होती है! यह विचित्र बात है। परमात्मा चेतनरूप है, इसमें संदेह नहीं। अहंकी उत्पत्ति क्यों होती है, इसको बताने के पहले बता रहे हैं कि कैसे होती है। आत्मा अहंरूप से प्रकाशित होता है। विज्ञान का विद्यार्थी जानता है कि सूर्य की रोशनी का तब तक पता नहीं लगता जब तक कोई दूसरा पदार्थ उस रोशनी को ग्रहण न करे। जहाँ धूल-बालू कुछ नहीं, अंतरिक्ष में, पृथ्वी की आकर्षणपरिधि से दो सौ मील आगे, 'अंधेरा' है। प्रकाश के सामने कोई पदार्थ आता है तो वह प्रकाशक बनता है। सूर्य बिना किसी प्रकाश्य पदार्थ के प्रकाशक नहीं, प्रकाशस्वरूप है, अत: प्रतीत नहीं होता। उसकी महिमा का भाव प्रकट नहीं होता। सूर्य प्रकाशक है या नहीं, इसे समझने के लिये प्रकाश्य पदार्थ का होना जरूरी है। तुम भी सूर्य को इसलिये देखते हो कि आँखरूप पदार्थ सामने है। जब किसी अन्य पदार्थ को प्रकाश नहीं देता तब भी आँख को प्रकाशित करता ही है। यदि वह किसी को प्रकाशित नहीं करे तो सूर्य का प्रकाश अज्ञात रहेगा। इसी प्रकार चेतन-प्रकाश भी हमेशा अज्ञात रहेगा। शिव तभी प्रकाशक है जब वह किसी को प्रकाशित करेगा। कोई चीज प्रकाशक तभी कहलायेगी जब किसी को प्रकाशित करे। प्रश्न होगा कि आत्मा किसको प्रकाशित करे? आत्मा ने चारों तरफ बड़ी दौड़ लगाई, देखा कि कोई हो तो उसे प्रकाशित करूँ। आत्मा से अतिरिक्त कहीं कोई है नहीं! इसलिए जब कोई नहीं मिला तो अपने आप को ही प्रकाशित किया! इसका मतलब क्या है? अपने आप को अप्रकाशरूप माना। जब तक किसी को अप्रकाशरूप न समझा जाये तब तक उसे प्रकाशित कैसे किया जाये? अपने को अप्रकाश माना तो इदम् बना और अपने को प्रकाशक माना इसलिये अहम् भी बना! उसने खुद अपने को ही दो रूपों वाला मान लिया। एक सज्जन सुना रहे थे कि उन्होंने एक न्यास (Trust) बनाया। न्यास को उन्होंने एक लाख रुपया उधार दिया। मालिक वे ही थे उस न्यास के, रुपया देने वाले भी वे ही। न्यास ने मकान बना लिया। मकान बनाने पर उस न्यास ने मकान के किरायेदार से एक लाख रुपया पेशगी ले लिया। फिर उस न्यास ने एक लाख रुपया उन्हें वापिस कर दिया। सम्पत्ति मुफ्त में खड़ी हो गई! खुद रुपया दिया, और खुद ही लिया। तुम खुद ही लेने वाले, खुद ही देने वाले, मकान खड़ा हो गया। इसमें ग्रंथि क्या है? मकान मुफ्त में नहीं खड़ा होता!

एक लाख की कमाई का कर दें तो घर में २५ हजार रुपया ही रह जाता है। अतः यदि न्यास मकान न बनाता और खुद ही बनाते तो चार लाख रुपये लगते।

ऐसे ही मैं स्वयं प्रकाशक और स्वयं ही प्रकाशित हूँ, बीच में मुफ्त में ही अनंत कोटि ब्रह्माण्ड खड़े हो गये। इसलिए अहम् में दो हैं। अहं ही प्रकाशक है चूंकि उसी में आत्मा प्रकाशित हो रहा है एवं वही प्रकाशित भी है। इस प्रकार अहम् में आत्मा का पता लग रहा है। सर्वज्ञ शंकर कहते हैं कि आत्मा सर्वथा अविषय नहीं है ('नायम् एकान्तेनाविषयः') सर्वथा इसका पता न लगता हो,ऐसा नहीं है, क्योंकि 'मैं' इस प्रतीति के अन्दर उसका पता लगता ही है। प्रकाशक और प्रकाशित दोनों जाति वाला 'मैं' है। जब प्रकाशित अंश बढ़ा तब ब्रह्माण्ड, और प्रकाशक अंश बढ़ा तब अनंत जीव बन गये। जितना प्रकाशित बढ़ा उतना ही प्रकाशक बढता गया। अहम् में अपना प्रकाशक-प्रकाशितपना स्पष्ट है। अहम् का ज्ञान होता है तो पता लगता है कि मैं अपने को जान रहा हूँ। किसको जानते हो? मुझे ही जानता हूँ। अतः प्रकाशक-प्रकाशितपना दोनों ही अहम् में स्पष्ट हैं। जब कहते हो 'खुद को जान रहा हूँ' तब इस ज्ञान के विषय खुद को कौन जानता है? खुद जानता हूँ। इस प्रतीति में खुद जानने वाला खुद को जान रहा है। यह हुआ प्रथम विकार, क्योंकि प्रकाशक-प्रकाशित में एकता का भान होने पर भी भेद कल्पित है। प्रकाशित का क्षेत्र बढ़ा तो अभेद भूल गये। अहम् में तो वह स्पष्ट था। आगे प्रकाशित बढ़े तो भूल गये कि प्रकाशक ही प्रकाशित हूँ। अतः जड, चेतन दृश्य-द्रष्टा का भेद, ऐसा लगता है मानो मिटने वाला ही नहीं। अहम् का विस्तार करने वाला भी अहम् ही है ऐसा यदि स्मरण बना रहे तो बंधन का प्रश्न ही नहीं। फिर प्रकाशक के प्रकाशित बनने में कोई हर्ज नहीं। इसे भिन्न मानकर ही मनुष्य फँसता है। वस्तुतः न प्रकाशक है, न प्रकाशित है, प्रकाश ही है। अहम् के ज्ञान में खुद ही है, जानने वाला ही जान रहा है। सारा जगत् शिव ही है 'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः।' वह परमात्मा शिव-तत्त्व सारे प्रपंच में भी शांत है; ऐसा प्रशांत शिव-तत्त्व एक ही है। शायद वह बड़ा होगा, इसलिये एक कह दिया हो, जैसे लोक में भी कहते हैं 'वह बहुत बड़ा आदमी है, शहर में वह एक ही है।' किन्तु परमेश्वर यों कहने-भर को ऐसा नहीं है, क्योंकि साथ ही श्रुति कह रही है कि दूसरा कोई है ही नहीं। 'प्रपंचोपशमं शान्तम्' अद्वय स्वरूप के अन्दर

प्रकाशक-प्रकाशित, दृश्य-द्रष्टा दोनों कल्पित हैं। खुद को जान रहा है, इसमें 'को-पना' कल्पित है और खुद से जान रहा है इसमें 'सेपना' कल्पित है। किन्तु 'खुद' में कोई भेद नहीं, वह अकल्पित एकरस ही है। इस प्रकार ज्ञानस्वरूप एक ही है। ज्ञान करने वाला ज्ञाता कल्पित है। जानता है, इसलिये कल्पित है। मैं इसे जानता हूँ, यह भी कल्पित है, इसलिये ज्ञेय भी कल्पित है। केवल ज्ञान ही सत्य है। उसमें एक प्रकाशक अंश और दूसरा प्रकाश्यांश है। ज्ञान तो एक है, ज्ञाता-ज्ञेय चाहे कितने भी हों। लेकिन जहाँ द्वैत-बुद्धि आयी कि ज्ञान हाथ से छूटा।

अहम् ही सारे विकारों का बीज और सारे तालों को खोलने की चाबी है। जिस ताले की जो चाबी होती है, वही उसे खोलती और बंद करती है। एक तरफ घुमाओ तो खोलती है, दूसरी तरफ घुमाओ तो बन्द करती है। ठीक इसी प्रकार सारे तालों को खोलने वाले अनंत अखण्ड स्वरूप को बढ़िया, सुन्दर मोटी चद्दर वाली तिजोरी में बन्द कर दिया जिससे खुशबू भी बाहर न जा सके। फिर उसके चारों ओर एक कमरा बनाया, उसमें भी ताला घुमाया। लेकिन वह तो साधारण दरवाजा है, बीच-बीच में अन्दर की खुशबू आ जाती है। जिस कमरे में बढ़िया खुशबूदार फूल रखे हों, कमरा बंद भी हो तो कुछ खुशबू बाहर भी आती रहती है। उस कमरे को एक मकान में रखा। यह मकान दीखता है। पड़ोस वाले मकान से कुछ उसका पता लग जाता है। लेकिन पूरा पता नहीं लगता कि वह कैसा है। वह मकान भी किसी देश में है, उस देश का सबको पता है। उस देश में भी ताला लगा है। देश में ताला कैसे? दिल्ली में कुछ साल पहले देखा होगा, चारों तरफ दीवार में चार तालों की जगह काश्मीरी गेट, दिल्ली गेट, अजमेरी गेट, और लाहौरी गेट थे। यह हुआ देश में ताला। आजकल के हिसाब से समझ लो कि पारपत्र (passport) ताले की चाबी है। यदि वह हो तो दूसरे देश वाले घुसने देंगे, अन्यथा नहीं। जैसे देश का ज्ञान सामान्यरूप से सबको है, मकान का ज्ञान भी काफी है, कमरे का उससे कम है फिर भी खुशबू तो बाहर आती है। कमरे में घुसा पर तिजोरी की चाबी को यदि नहीं पाया तो अनंतता का पता बिलकुल नहीं चला। शांति का पता तो सभी दार्शनिकों को है। सद्रूपता सभी जानते हैं कि मैं हूँ पर मैं चेतन हूँ इसे कम जानते हैं और मैं आनंद हूँ यह बहुत कम जानते हैं, मैं अनंत-अखंडस्वरूप हूँ, यह कोई भी नहीं जानता। इन तालों को खोलने की

चाबी एक ही है। कहोगे, चारों ताले एक ही चाबी से कैसे खुलेंगे? एक ताला आता है जिसमें दिमागी चाबी होती है। जिस संख्या से चाबी लगी है, उसी संख्या से खुलेगी। यदि उस की संख्या भूल गये तो गड़बड़ हो जायेगी। वहाँ चाबी स्मृति ही है। इसी प्रकार अहम् की विश्लेषणरूप स्मृति ही चाबी है। सत् को खोलने का स्मरण सरल, चित् को खोलने का स्मरण कठिन, आनंद को खोलने का बहुत कठिन और अनन्तता खोलना तो बड़ा ही टेढ़ा मामला है। इस अहम् की चाबी को समझो, इसी से बंद हुआ है और इसी से खुलेगा। अहम् कैसे आया ? ज्ञान ने अपने को ही प्रकाशित किया तो अहम् आ गया। जहाँ अपने को प्रकाशित नहीं किया वहाँ भी तो वह खुद ही है।

पंडित देवीसहाय जी भगवान् शंकर के एक भक्त थे। उनके जीवन में आता है कि एक बार उनकी आँख बहुत खराब हो गई, दीखता नहीं था। भगवान् के भक्त होने के नाते प्रसिद्ध भी थे। बड़े-बड़े चिकित्सकों ने इलाज किया। अंग्रेजों ने शल्य भी किया पर फायदा कुछ नहीं हुआ। उनके एक मित्र ज्योतिषी थे, देवीसहाय जी के पास आया करते थे। उनकी पत्नी ने पूछा 'ज्योतिषी जी, आप ही बताइये कि इनकी आँख ठीक होगी या नहीं?' वे बोले कि ज़रूर ठीक होगी। जब सारे इलाज हुए फिर भी आँख ठीक नहीं हुई तो एक दिन पत्नी ने कहा, 'ज्योतिषी जी भी ऐसे ही बातें करते हैं।' देवीसहाय जी ने कहा कि ज्योतिषी जी ठीक ही कहते होंगे, अन्दर से आँख ठीक होगी, बाहर से नहीं होगी। भक्ति में तो दृश्य-द्रष्टा का भेद है नहीं। दृष्टि कहीं जा नहीं सकती। इसलिए दृष्टि ठीक होगी और ज्योतिषी जी की बात ठीक है। अब यदि आँख देखती नहीं तो यह बाहर की हमारी गोलक गड़बड़ है, इलाज में कोई कमी होगी। यह बात लड़के को जँची। उन्होंने चिकित्सकों पर ज़ोर दिया 'मेरे पिता की आँख ठीक है, आप बाहर से केवल पर्दे को हटा नहीं पाते।' चिकित्सक को भी गुस्सा सा आया। कहा 'देवताओं के वैद्य धन्वन्तरि भी आ जायें तो तुम्हारे पिता की आँख ठीक होने वाली नहीं!' उसने जाकर पिताजी से कह दिया कि चिकित्सक तो यह कहता है कि देवताओं के वैद्य धन्वन्तरि भी आ जायें तो तुम्हारे पिता की आँख ठीक होने वाली नहीं! देवीसहाय जी भक्त थे; कहने लगे, 'इतनी हिम्मत? मेरी आँख ठीक हो या नहीं, लेकिन देवता का अपमान सहन नहीं हो सकता।' लड़के से कहा, 'लाओ टिकट, मुझे अभी काशी जाना है।' घरवालों ने कहा- 'आपकी तबियत

गड़बड़ है, इसलिये कुछ दिन ठहरिये।' कहा 'नहीं, मुझे पहली गाड़ी से ही जाना है, अब मैं तुम्हारे घर में तभी आऊँगा जब आँख देखेगी।' सबने समझाया, हल्ला-गुल्ला मचाया, लेकिन देवीसहाय जी ने कहा कि 'अब मुझे रोटी पानी भी नहीं खाना, जब तक आँख से न देखूँ।' उन्हें लोग काशी ले गये। उनका हाथ पकड़े हुए विश्वनाथ जी के पास पहुँचे। एक हाथ पिण्डी पर रक्खा। कहा-'का तुमहि देखबो, हम न देखी, ई का!' 'यह मिलने का कोई तरीका है कि तुम ही देखो और हम तुम्हैं न देखें?' तुरन्त दृष्टि आ गयी। कहा, 'चलो अब भोजन करेंगे।' सब कहें, ऐसा क्या मंत्र जप किया? कहने लगे, 'अरे हम मिलने आये थे। घर में कोई मिलने आये और अपने को बढ़िया पर्दे में ही बंद रखे, यह कोई मिलने का तरीका है? मिलना है तो बाहर निकल के सामने आओ।' तीसरे दिन वापिस घर पहुँच गये। आते ही सीधे चिकित्सक के पास गये। चार-पाँच साल से इलाज चल रहा था। चिकित्सक ने दूर से कहा 'ज़रा देखकर आना भाई, आगे दरवाजा है।' कहने लगे, 'अब हमें देखने के लिये तेरी आँख की जरूरत नहीं।' सारी परीक्षा की गई, कोई दोष दिखाई नहीं दिया। फिर तो मरते दम तक उन्हें चश्मा भी नहीं लगाना पड़ा। यह कोई बहुत प्राचीन बात नहीं है।

दो बातें समझने की हैं: पहली यह कि द्रष्टा की दृष्टि का विपरिलोप नहीं होता, विपरिलोप-सा भले ही है। जैसी-जैसी कल्पना है, वैसा-वैसा विपरिलोप है। यह निश्चित है कि दूसरों की आँख से देखने वाला शिव ही मेरी आँख से देखने वाला भी है, यदि हमारी आँख नहीं देखती, दूसरे की आँख देखती है तो भी इसका मतलब है कि मुझे दीख रहा है। वह शिव तत्त्व ही तो देख रहा है। मुझे यदि दीखता नहीं तो यह अहम् की समस्या है। अहम् नहीं जानता या अहम् ही जानता है। इस आँख से नहीं, उस आँख से देख रहा है, इससे ऐसा मान लिया है कि नहीं देखता। अहम् का सच्चा स्वरूप नहीं जाना है। उसे मिथ्या जान रहे हैं। जहाँ यह गुत्थी खुली कि दृष्टि काम करने लगी। जब बंद थी तब भी देख रही थी। जब यह दृढता आती है, तब गुत्थी खुलने में देरी नहीं।

लोग विश्वनाथ में जाकर भी विश्वनाथ पर जल नहीं चढ़ाते, वे पत्थर पर जल चढ़ाते हैं। जिस कड़कड़ाती सर्दी में अपने दो बूंद पानी से घबराते हैं, उस समय वहाँ घड़ों पानी भी डालें तो कुछ अन्तर नहीं आता। चावल वहाँ मारे जावेंगे,

चढ़ेंगे नहीं। जैसा व्यवहार वैसा ही फल भी मिलता है, दोनों एक ही बात है! जड-पदार्थ की सिद्धि कैसे करोगे? प्रकाशक-प्रकाशित तो एक है। वही निष्कल अद्वितीय वहाँ भी है, वहाँ भी चेतन की ही पूजा है। पत्थररूप में साक्षात् परमेश्वर ही है। अहम् से भिन्न कोई सत्ता है ही नहीं इस दृष्टि से सद्यः फल भी प्राप्त होता है। आचार्य दीक्षित कहते हैं

'भुङ्क्ते गुप्तं बत सुखनिधिं तात साधारणं त्वम् भिक्षावृत्तिं परम् अभिनयन् मायया मां विभज्य।

मर्यादायाः सकलजगतां नायकः स्थापकस्त्वं युक्तं किन्तद् वद विभजनं योजय स्वात्मना माम्॥'

भगवन्! यह क्या गड़बड़ कर रखी है? जो मेरा हक बनता है वह दे दो। मेरा तो अनंत-अखंड स्वरूप ही बनता है पर आप धोखा देते हो। सोचते हो, पता नहीं लगेगा तो माँगूंगा नहीं, इस भय से भिक्षावृत्ति का नाटक कर रहे हो। मैं इस चक्कर में आने वाला नहीं। बाहर ही जो त्याग स्पष्ट दिखा रहे हो उससे काम नहीं, अन्दर जो आनंद तुम्हारा और मेरा एक-सा स्वरूप है, वही दे दो। हाथ से गिरते हो तो कुछ नहीं कहते, चीनी की बालू से रगड़ते हैं तो भी उफ नहीं करते, सिसकारी भी नहीं भरते, यह धोखा ही है। अब छिपाने से काम नहीं चलेगा। अनंत-अखण्ड स्वरूप में स्थित हो, इसीलिये तो चिल्लाते नहीं कि वह अनंत आनंद दबाये बैठे हो। इस प्रकार यह चाबी भी अहम् का विचार ही है। इससे ही माया का ताला खुलता है।

प्रवचन-१६

यश

२३-७-६८

परिच्छिन्नभाव को छोड़कर अपरिच्छिन्नभाव कैसे प्राप्त करें? परिच्छिन्नभाव ही सारे पापों की जड़ कैसे है? परिच्छिन्नभाव की जड़ है अहम्। अपनी सीमा बनानेवाला सर्वप्रथम भाव 'मैं' की प्रतीति में दृश्य और द्रष्टा की एकता स्पष्ट है। इससे आगे यह एकता दूर-दूरतर होती जाती है। यह सृष्टि कैसे बनी? दृश्य और द्रष्टा की अद्वयता को अक्षुण्ण रखते हुए ही 'द्वय' की प्रतीति 'अहम्' में की। उसी अहम् के द्वारा और विस्तार हुआ। दो की प्रतीति बढ़ने पर उसे सत्य ही द्वैत मान लिया। यही हुआ 'सृष्टि कैसे बनी' प्रश्न का केवलाद्वयवादी जवाब। सृष्टि कैसे बनी, इसको समझने से ही 'सृष्टि क्यों बनी' इसका रहस्य भी समझ में आ जायेगा। सृष्टि क्यों बनी, इस प्रश्न का जवाब श्रुति स्वयं देती है- 'यशो मे वोचः' कहकर।

सृष्टि क्यों बनी? यश के लिये बनी। श्रुत्यंतर में स्पष्ट कह दिया 'न तस्य प्रतिमा अस्ति।' उस परब्रह्म के जोड़ी की, बराबरी की दूसरी कोई चीज नहीं। पहले जो बताया था कि उसे माप नहीं सकते, उसी को यहाँ प्रतिमा शब्द से कह दिया कि उसकी बराबरी का और कोई नहीं। यदि उस परमात्म-तत्त्व को समझना चाहते हो तो उसके यश को समझना चाहिये। यही 'यशो मे वोचः' से कहते हैं। इस से श्रुति ने 'क्यों' का जवाब दे दिया।

लोक में अनेक लोगों को साक्षात् न जानने पर भी यश के द्वारा जानते हो। सम्भवतः भारत के अन्दर अनेक लोगों ने कैनेडी को नहीं देखा होगा। ऐसा होने पर भी कैनेडी को मारना अच्छा है या बुरा, इस पर आपस में सिर-फुड़ौवल भी

हुई थी। कोई कहता है कि अच्छा हुआ, वह काले और गोरों को मिलाना चाहता था। दूसरा कहता है कि बड़ा ही उदारदिल था! भले आदमी, क्या उसे देखा है कि उदार था? या कैसा था? देखा तो नहीं, अखबारों में चित्र तो जरूर देखा था। इसलिये यह जरूरी नहीं कि पहले किसी को जानो तभी यश की बात समझो। बहुत-से लोग तो यश के द्वारा ही जाने जाते हैं। इसी प्रकार परमात्मा को जानने का भी एक प्रकार हुआ कि परमात्मा के यश को जानो। वह स्वयं सारे ज्ञानों का आश्रय होने के कारण ज्ञान का विषय नहीं। अहम्-वृत्ति में यद्यपि वह जाना जाता है पर वहाँ परिच्छिन्न है, यहाँ अपरिच्छिन्नता बता रहे हैं कि इतनी बड़ी सृष्टि परमात्मा का ख्यापन कराने के लिये ही है। परमात्मा का ज्ञान कितना अनंत है, इसे सारे अनंतकोटि ब्रह्माण्ड बता रहे हैं। कोई कहे 'मैं अगर चाहूँ तो भारत को बाँये हाथ से उठा लूँ।' उससे कहो 'भैया, जाने दो, भारत को तो फिर उठा लेना, जरा हमारे मकान को तो उठा के दिखाओ।' वह कहे 'मकान तो नहीं उठा सकता, लेकिन मुझ में ताकत है।' भारत छोड़ अगर हिमालय को भी किसी ने उठा लिया तो इतना मान लोगे कि शायद मौके पर भारत को भी उठा लेगा। कोई कहे 'मैं चाहूँ तो बिड़ला को व्यापार में हरा दूँ,' उससे पूछो 'मनियारी की हजार रुपये की लागत वाली दुकान तुम्हारी क्यों खतम हो रही है?' कहे 'मनियारी का काम तो मैं कर नहीं पाता' तो बिड़ला को व्यापार में हरा सकेगा यह जंचेगा नहीं ।

यह नियम है कि प्रयुक्त शक्ति ही शक्ति मानी जाती है। जिस शक्ति का कभी, कहीं कुछ प्रयोग नहीं किया वह शक्ति नहीं मानी जा सकती। शंकर भगवत्पाद शक्ति का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि अव्यक्त नाम वाली परमेश्वर की शक्ति कार्य से ही अनुमेय है। कुछ किया तब अनुमान हुआ कि ताकत थी, तभी किया। बिना कार्य के शक्ति का ज्ञान, अनुमान असंभव है। परमेश्वर अनंत है, यह ज्ञान तब होता है जब उसके अनंत कार्य को देखते हैं। परमेश्वर की अनंतता को प्रकट करना ही उसका यश है और सृष्टि क्यों बनी इसका जवाब भी है।

यश और भर्ग में थोड़ा अन्तर है, इसे पहले समझ लो। भर्ग है पापों का नाशक और यश है उस परमेश्वर की महिमा का प्रख्यापक। एकमें क्यों का जवाब और दूसरे में कैसे का जवाब है। भर्ग का बीज है 'अहम्'। यहाँ द्रष्टा की प्रधानता

है। यश का बीज है 'शक्ति' (युष्मद्), यहाँ दृश्य की प्रधानता है। दोनों अहम् में ही हैं। अहम् के विचार से पता लगता है कि अहम् में दृश्य और द्रष्टा दोनों भाव हैं। जब दृश्यभाव पर जोर दिया तो वह शक्ति यश हो गई एवम् जब उसके द्रष्टारूप पर जोर दिया तब उसका नाम पड़ा भर्ग (पापनाशक), पर हैं दोनों अहम्। जितना-जितना दृश्य का विचार होगा उतना-उतना संसार बढ़ता जायेगा। विज्ञान का क्षेत्र असीम है।

जितना विज्ञान के अन्दर बढ़ोगे, उतना ही ज्यादा विस्तार प्राप्त होगा। भौतिकी और रसायन पहले एक विज्ञानमात्र था। फिर दो भेद हुए, फिर आगे अन्य भेद वानस्पत्य और जन्तुविज्ञान हुए; जैसे-जैसे विज्ञान का विस्तार हुआ वैसे-वैसे नये-नये प्रकार के ज्ञानों का पता चला। विस्तार बढ़ता ही गया क्योंकि शिव की शक्ति अनंत है। यह है उस अनंतता का यश। यह परमेश्वर के यश का दृश्यरूप में विचार है। जितना परमेश्वर के यश की तरफ जाओगे, परमात्मा की अनंतता का प्रतिपादन हो जायेगा। विज्ञान भी भक्ति है पर वैज्ञानिक परमात्मा के दृश्यरूप की भक्ति करता है। उसका फल भी उसे मिलता है। जैसे परमेश्वर की अनन्त शक्ति है, वह भी अनंत शक्ति वाला होगा। दूसरी भक्ति है दृश्य को छोड़कर द्रष्टा की तरफ ध्यान देना। पहला संसार-वर्द्धक है और दूसरा संसार-निवर्तक है। हैं दोनों ही परमात्मा के स्वरूप। दृश्य में यश का विस्तार, संसार की विविधता, उसकी माया-शक्ति का विस्तार, अहम् का दृश्यभाव में बढ़ना (माया) है। वह भी ब्रह्म ही है किन्तु वहाँ शक्ति का विस्तार है। दूसरे में उसका उपसंहार है। द्रष्टा पर ध्यान दो तो संसार का उपसंहार हो जाता है, निवृत्ति हो जाती है। अपना ही दृष्टान्त लो : तुम एक हो, यदि तुमको जानना है तो एक को जानना है पर यदि तुम्हारी शक्ति (यश) को जानना चाहें तो आँख देखती है, कान सुनता है यह जानना पड़ता है; उसके बाद, आँखों में कितने रंग हैं, वे दूरी कैसे देखती हैं यह भी जानना होगा। पेट में खाना हजम कैसे होता है? एक व्यक्ति पावभर घी पीकर भी डकार नहीं लेता और दूसरा पावभर दूध पीकर ही कहता है कि पेट खराब हो गया। इस प्रकार की भी अनंत शक्ति है। एक आदमी को सवेरे से शाम तक हेगेल नामक पाश्चात्य दार्शनिक की कठिन पुस्तक पढ़कर भी कुछ थकान नहीं होती, और दूसरा है कि उसने कुछ भी पढ़ा तो माथे में दर्द होने लगता है। इस प्रकार

शक्तियों का ज्ञान बड़ा लम्बा-चौड़ा है। एक की शक्ति को ही जानना असंभव-सा है। यद्यपि हमारे सिद्धान्त में असंभव कुछ भी नहीं है पर अपनी शक्ति को ही पूरी तरह खुद ही नहीं जानते।

श्रुति कहती है 'य एको जालवान् ईशत ईशनीभिः' वह परमेश्वर मायारूपी जाल वाला है। अनेक शक्तियों द्वारा नियमन करता है। दृश्यभाव का विस्तार करके वही द्रष्टा-भाव में उपसंहार करता है। शक्तिमान् एक है, शक्ति अनंत है, अहम् से दृश्य-भाव का विस्तार किया जिससे यश आया। भर्ग, नष्ट करने वाले रूप में संसार-निवर्तकभाव है और यश में विस्तार करने वाला भाव है।

अब समझ में आयेगा कि वेदों में दो प्रकार के वाक्य क्यों हैं। वेद कहता है, सारा जगत् असत्य है, मायिक है। और वेद यह भी कहता है कि यह सारा जगत् ब्रह्म ही है, तदतिरिक्त कुछ है ही नहीं। इसके रहस्य को न जानकर दो भ्रांतियाँ हुई हैं। बौद्धों ने केवल यह पकड़ा कि जगत् मायिक है, माया से पैदा है। अतः कहने लगे कि ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म की सिद्धि तभी होगी जब यह सिद्ध हो कि उसने उत्पन्न किया है। जगत् के सिवाय उनका और कुछ अनुभव में नहीं है। यदि जगत् को माया ने पैदा किया तो ब्रह्म नाम की चीज सर्वथा नहीं रही। यदि यह जगत् ब्रह्म का यश है यह माना होता तो ठीक था पर यदि उसे माया ने बनाया तो मायिक है अतः ब्रह्म असिद्ध है (है ही नहीं), क्योंकि जगत् के अंतःपाती ही सारे विचार हैं, अपना विचार भी जगत् से बाह्य नहीं है। बौद्ध अन्त में शून्यवादी बने, उन्होंने केवल मायावाद को पकड़ा। वैष्णवों ने माना कि सब कुछ ब्रह्म है। अतः उन्होंने जगत् को भी सत्य माना, जैसा ब्रह्म वैसा जगत्, यह माना। मायावाद का विचारक बौद्ध शून्यवादी बना। वैष्णव केवल जगत् को ही ब्रह्मस्वरूप मान बैठा। भेदों से उसे विशिष्ट मानकर विशिष्टाद्वैती, द्वैताद्वैती मार्गों से होते हुए अंत में द्वैतवादी तक बन गया। जो बुद्धि के अहंकार को छोड़े वही अद्वैत तक पहुँच सकता है। आचार्य शंकर कहते हैं कि अपनी युक्ति से शिव का पता नहीं लगता। जो वेद की शरण लेता है वही परमात्मा के विषय में ठीक समझता है, उसी के सामने वेद का रहस्य खुलता है। भाष्यकार कहते हैं 'नहि वचनस्यातिभारो नामास्ति' वेद की स्वतंत्रता पर कोई रोक नहीं लगा सकता कि ऐसा कैसे कहा। यदि वेद प्रत्यक्षादि से विरोध वाली बात कहता लगता है तो भी दोष समझ का

होता है, वेद का नहीं। जब अपनी युक्ति का अभिमान छोड़ेंगे तभी वेद में प्रतिपादित विषय समझ में आ सकता है। वस्तुतः वेद कहता है कि सिवाय ब्रह्म के कुछ भी नहीं है। अतः कहा

'सत्यत्वेन जगद्भानं संसारस्य प्रवर्त्तकम्।
असत्यत्वेन भानं तु संसारस्य निवर्त्तकम्।।'

जगत् सत्यरूप से भान होता है तो दृश्य में फँसते जाते हो। असत्यरूप से जगत् का भान होने से दृश्य से नजर हटती है, द्रष्टा की तरफ जाती है। 'अतः संसारनाशाय कदाचित् परमाश्रुतिः जगत्सर्वमिदं माया वदत्यत्यन्तनिर्मला' श्रुति अत्यंत कल्याण-मयी है क्योंकि उससे ही संसार का नाश होता है। बढ़िया मिठाई रखी है पर लड़के का पेट खराब है। वह कहता है 'बालूशाही खानी है।' पिता कहता है 'बेटा कल खा लेना।', लड़का कहता है 'आज ही खाऊँगा। वह रक्खी तो है, दे दो।' कहते हैं 'अरे यह तो पुरानी है, खराब हो गई।' लड़का जिद करता है कि 'खाऊँगा।' पिता ने बालूशाही दो टुकड़े किये सूंघकर कुछ अजीब भाव-भंगिमा बनाई। बच्चे ने चेहरा देखा। बालूशाही अन्दर से तो सफेद पीली मिली होती है, केवल ऊपर ललाई होती है। नाक-भौं और भाव-भंगिमा से पिता कहता है, 'बदबू आती है,' बच्चे को भी निश्चय हो जाता है कि बालूशाही खराब है। बच्चे के स्वास्थ्य के लिये हितकारी था कि वह उस बालूशाही से दूर रहे, इसीलिये निवृत्त कराने के लिये पिता ने कह दिया कि वह खट्टी हो गई है। कोई दूसरा घर पर मेहमान आया हुआ है। थोड़ी देर बाद कहे कि वह बालूशाही मत देना तो उससे कहोगे 'जरूर खाओ।' वह कहे 'खट्टी बालूशाही खिलाओगे?' पिता कहेगा 'आपको खराब थोड़े ही खिलायेंगे। वह तो केवल बच्चे को न खाने देने के लिय सब कहा था।' अत्यंत प्रेम के कारण ही बच्चे को निवृत्त करने के लिये उसे खराब कहा। इसी प्रकार सारे दृश्य-प्रपंच में जीव ऐसा फँसा हुआ है कि वह बार-बार कुल्हाड़ी की मार खा रहा है, दुःख, शोक, मोह में तड़प रहा है उसे सत्य मान रखा है इसीलिये बार-बार उसी की ओर दौड़ता रहता है। श्रुति ने कहा, यह तो खट्टा है, छोड़ो सारे जगत् को; उसे असत्य बताया, कहा कि वह क्षणिक, नाशवान् और दुख देने वाला है। यह सब भान कराया।

संसार से दृष्टि कैसे हटेगी? दृश्य की तरफ देखने से वह बढ़ी थी, अब द्रष्टा

पर नजर डाली तो परमात्मा में स्थित होने लगी। इसीलिये कहा कि जगत् से दृष्टि हटाने को कभी-कभी श्रुति ऐसा कहती है कि यह सारा जगत् माया है। बच्चे को फँसने से बचाने के लिये कहा था कि सारा जगत् माया है ताकि माया कहने से असत्यभान हो। उससे दृष्टि हट गयी तो कथन का कार्य हो गया। जब देखा कि संसार का द्वैत-दर्शन हट गया, अब संसार में फँसने वाला साधक नहीं, तो श्रुति ने कृपा से उसे जंगल में शिवदर्शन करा दिये। 'अतीव पक्वचित्तस्य चित्तपाकमपेक्ष्य सा। सर्वं ब्रह्मेति कल्याणी श्रुतिर्वदति सादरम्।।' उस परमशिव को देखकर चित्त ऐसा पक गया कि अब संसार देखेगा भी तो शिवदृष्टि बदलेगी नहीं। तब कल्याणी श्रुति ने कहा कि सभी ब्रह्म है, माया का कहीं संग भी नहीं।

एक लड़का यद्यपि लखपति का बेटा था पर उसे चोरी, शराब और अन्य गन्दे कार्य करने की बुरी आदतें पड़ गयीं। पिता देहात के बड़े व्यापारी थे, नगरसेठ कहे जाते थे, गाँव में बड़ी इज्जत थी पर लड़का ऐसा निकला कि बहुत बदनामी हुई। बड़े दुःखी हो गये। लड़का बात मानता ही नहीं था। कभी चोरी करते पकड़ा जाता, कभी शराब पीता। सेठ सत्संगी था। महात्माओं के पास जाया-आया करता था। महात्मा पूछते तो परिचय होने पर कहता कि 'और तो सब कृपा है किन्तु एक ही लड़का है। उसने मेरी ऐसी स्थिति कर रखी है कि कभी-कभी तो जहर खाकर मर जाने को जी करता है। बड़ा नालायक है। बड़ी बदनामी होती है।' एक बार महात्मा ने कहा 'ले आना, समझा देंगे।' एक दिन वह उसे बड़ी मुश्किल से महात्मा के पास ले गया। वहाँ जाकर लड़का कहने लगा, 'बाबाजी, आपकी बातें मेरे ऊपर नहीं चलेंगी, ये बातें तो बुड्ढों को ही बताओ।' इस प्रकार कहकर वह चला आया। लेकिन सेठ का महात्माओं से बड़ा प्रेम था। इसी पुण्य-पुंज के प्रभाव से एक दिन एक शिवयोगी उघर से निकले। वहाँ वे कुछ दिन ठहरे। वह सेठ उनके पास बराबर आया जाया करता था। योगी ने पूछा- 'आनंद से तो रहते हो?' कहने लगा 'सबको तो सुना चुका हूँ लेकिन उस रोग की कोई दवा नहीं है।' योगी को उसके नेत्र देखकर करुणा आई। कहा 'हतोत्साह न हो, बात बताओ।' सेठ रो पड़ा, कहा 'बाकी सारा सुख है। लड़का है, करोड़ों की सम्पत्ति है किन्तु रात में चोरी करते या जेब काटते पकड़ा जाता है। मैंने कई बार कहा, तुम्हें जितना रुपया चाहिये ले लो। कहता है 'वाह, मैं आपका रुपया क्यों लूँ, मैं चोरी करना नहीं

जानता क्या?' शराब पीता है, पापस्थली जाता है।' योगी ने कहा 'किसी दिन उसे ले आओ।' कहने लगा-'पहले तो वह आयेगा नहीं और आ भी गया तो यहाँ आपको बकेगा और पाप मेरे ऊपर चढ़ेगा। क्या करूँ, अब तो पुराने पापों का फल भोगना ही पड़ेगा।' योगी हँसे, कहा 'एक बार लाओ तो सही। यदि नहीं भी ला सकते हो तो इतना ही बता दो वह कहाँ मिलेगा। मैं खुद ही जाकर उससे मिल लूँगा।' पिता तो जानता ही था कि कहाँ होगा। कहा 'महाराज अमुक वेश्या के घर मिलेगा।' महात्मा ने कहा 'मैं उससे मिलूँगा' महात्मा उधर से निकले। सिद्ध महात्मा थे, हिसाब लगाया कि किस समय वह उतरेगा। जैसे ही महात्मा आये, वह भी उतरा, दोनों की टक्कर हुई तो वह नीचे गिर पड़ा और महात्मा का बोझ भी उस पर पड़ा। बड़ी चोट आई, कहा 'देखकर नहीं चलते!' महात्मा गरजे 'देखकर मैं चलूँ! समय नहीं देखता? नौ बजे हैं, अरे चार बोतल चढ़ाकर आया हूँ।' लड़के को बड़ा आश्चर्य हुआ कि मेरा तो एकाध बोतल में ही काम हो जाता है और इसने चार बोतलें चढ़ा रखी हैं।

यह नियम है कि अपने से तगड़ा आदमी मिले तो पराभव हो जाता है, आदमी दब जाता है। धनी के पास पचीस हजार रुपया हो और सामने पचीस लाख वाला आ जाये तो वह उसके आगे हाँ-जी हाँ-जी करने लगता है। धनी विद्यावाले के सामने जाये तो बेवकूफ जैसा खड़ा रहता है, उसकी बात समझता ही नहीं। अपनी-अपनी अर्हायें हैं। वह लड़का भी कहने लगा, 'लगते तो साधु हो, पैसा कहाँ से लाते हो?' वे बोले 'मैं तेरी तरह बेवकूफ नहीं कि बाप का पैसा लूँ। खुद सोना बनाता हूँ और बेचता हूँ। तुझे चाहिये तो मुझसे ले जाना। तू इस मुहल्ले में आता है, रुपये की जरूरत होगी, आकर मुझसे ले जाना।' पूछा 'कहाँ रहते हो महाराज।' कहने लगे, 'अमुक बगीचे में।' महात्मा तो तेजी से वापिस चले। अब इसके चित्त में संस्कार घूमने लगा कि एक दिन जरूर जाना है। पिता जी भी महात्माओं के पास जाते तो हैं लेकिन असली महात्मा तो अब मिला। दोस्तों से बात की तो उन्होंने भी कहा कि सिद्ध महात्मा होते तो हैं। एक दिन उसके पास रुपये की कमी थी। इधर महात्मा ने सेठ से कहा 'लड़के को सुधारना है तो एक लाख रुपया दे जाना।' सेठ कहने लगे, 'महाराज, पच्चीस पचास लाख, जितना चाहो ले लो।' सेठ रुपया दे गये। एक दिन लड़का वहाँ पहुँचा। बड़ी भक्ति से नमस्कार किया। महात्मा ने पूछा 'कौन है?' कहने लगा 'महाराज एक दिन रास्ते

में मिला था आपको।' कहने लगे, 'अच्छा अच्छा । बोल क्या चाहिये? क्या पीने को चाहिये।' कहने लगा, 'नहीं पीने को तो मिल जाता है लेकिन आज दस हजार रुपये की जरूरत पड़ गई है। आप तो सोना बना लेते हो।' महात्मा ने कहा 'हाँ हाँ, दस हजार मेरे लिये कुछ भी नहीं। जा, मैं उस पेड़ के नीचे टट्टी किया करता हूँ, वहाँ से तुझे दस हजार मिल जायेंगे। पेड़ के नीचे चला जा।' लड़का वहाँ पहुँचा और गड्ढा खोदा तो दस हजार वहाँ से मिल गये। सोचने लगा, यदि महात्मा है तो यही है। आया बड़ी श्रद्धा-भक्ति से, फिर नमस्कार किया, कहा 'लौटा जाऊँ?' महात्मा कहने लगे 'क्या बेवकूफी की बात करता है, लौटाने की बात करता है तो यहीं इन नोटों को जला डाल।' अब चाहे वह लौटाता या न लौटाता, कहने भर से बात पक्की हो गई। कुछ दिन बाद उसे फिर जरूरत पड़ी, पाँच हजार माँगे तो वे बोले 'अरे क्या पाँच हजार माँगता है! अच्छा, जा मैं वहाँ पेशाब करता हूँ उस जगह से पाँच हजार ले ले।' लड़के ने सोचा, गजब के महात्मा हैं, दस-पाँच हजार को तो ये टट्टी-पेशाब की जगह छिपाकर रखते हैं। दो-चार बार व्यवहार के बाद पूछा- 'महाराज यह कैसे कर लेते हो?' महात्मा कहने लगे, 'मुझे मंत्र आता है, उसी से यह सब काम हो जाता है।' कहने लगा, 'मुझे भी सिखा दो।' महात्मा ने कहा 'इसके लिये तो साधना करनी पड़ेगी। झूठ बोलना बिलकुल छोड़ना पड़ेगा। जो झूठ बोलता है वह जड़ सहित सूख जाता है। तीन साल तक सत्य बोलने का नियम कर।' कहा 'आज से ही तिथि लिख लो। मै झूठ नहीं बोलूँगा।'

वह घर पहुँचा, नौ बजे रात घर से निकला तो घरवाली ने पूछा, 'कहाँ जा रहे हो?' सोचा, अब क्या कहे? पहले तो झूठ बोल देता था कि दोस्तों के पास जा रहा हूँ। कहा 'चलो तुमने पूछ लिया है तो नहीं जाता।' रातभर घर पर ही रहा। पत्नी को आश्चर्य हुआ कि आज पहली बार ही ये घर में रहे। दूसरे दिन कहीं शराब पीने जा रहा था, रास्ते में चाचाजी मिल गये। पूछा 'कहाँ जा रहे हो?' पहले तो कह देता था कि यहीं मोड़ की दुकान से पान खाने जा रहा हूँ, अब क्या कहे? कहने लगा, 'चाचाजी आप मिल गये हैं तो आप ही के साथ चलता हूँ।' शराब भी छूट गई। यह नियम है कि सारे पापों को करने से पहले झूठ बोलना पड़ता है। झूठ न बोले तो सब पाप कम हो जायें। आजकल लोग कहते हैं कि भारत में

अधर्म बढ़ रहा है। इसका कारण नहीं समझते। लोग पहले से ज्यादा मन्दिर में जाते हैं, सत्संग भी ज्यादा करते हैं। दानपुण्य आदि भी पहले से कहीं ज्यादा होता है। फिर भी अधर्म क्यों बढ़ रहा है? इसका कारण झूठ का बढ़ना है। दान देने वाले में झूठ, लेने वाले में झूठ, सत्संग में आने वाले में झूठ, सत्संग सुनाने वाले के मन में झूठ। कर की चोरी करके उस धन से महात्मा को खिलाओगे तो क्या होगा! इसी से सारा अधर्म होता है। सारा धर्म सूखता जाता है। महात्मा ने एक सत्य का डंडा पकड़ा दिया तो सारे पाप छूटने लगे।

एक बार दोस्तों के साथ चोरी करने निकला। रास्ते में राजपुरुषों ने पकड़ लिया। औरों को तो मारपीट कर उनके बहाने बताने पर छोड़ दिया। किन्तु इसने कहा 'मैं नहीं बताऊँगा कि कहाँ जा रहा था।' खूब मारा, अन्त में सहन नहीं हुआ तो कहा कि चोरी करने जा रहा था आज सत्रह संख्या वाले मकान में चोरी करनी थी। राजपुरुषों ने उसे छोड़ दिया। अब दूसरे दोस्तों ने उसे पीटना शुरू किया। कहा 'मैं झूठ नहीं बोलता।' कहने लगे, 'तू तो राज्य के साथ मिल गया है, मुखबिर बन गया है। अब तू यहाँ मत आया कर, आयेगा तो सिर काट देंगे।' चोरी भी छूट गई। दिन भर क्या करता! अब दुकान में बैठने लगा। दो दिन तो मुनीमों के साथ गप्प मारता रहा। मुनीमों ने भी कहा कि मालिक देख लेंगे तो हमें नौकरी से हाथ धोना पड़ेगा, हमें बात करने की फुर्सत नहीं है। अब क्या करे? पिता जी से कहा 'मुझे भी कोई काम बताओ।' पिता ने कहा, बड़ी अच्छी बात है। उसे काम में लगाया। जैसे-जैसे काम करने लगा, उसे काम में रस आने लगा। सोचा, रातभर जागता था, पचीस हजार आता था तो मेरे हिस्से ढाई ही हजार पड़ता था। यहाँ दो घंटे में ही ढाई हजार बना लेता हूँ। वहाँ हमेशा दिल भी डरता था। अब घर में पत्नी के साथ रहना हुआ, तो सोचा कि यों ही रात-रात भर इधर-उधर जाकर भटकता था। घर में पत्नी पैर दाबती है। कभी बोल दूँ तो चुप हो जाती है। पत्नी में सब गुण दीखने लगे। सोचा, सारे मुझे बेवकूफ बना रहे थे। शराब पीता था, थोड़ी गर्मी तो आती थी पर गलियों में गिरता था, चोट लगती थी। पत्नी बढ़िया दूध का गिलास बादाम-पिस्ता-केसर पड़ा हुआ देती है, दूध में गर्मी भी तिगुनी मिली और तन्दुरुस्ती भी बनी। कुछ ताकत भी आई। शरीर लाल हो गया। तीन साल गुजरे। इतने में वह बहुत बड़ा व्यापारी बन गया। बीच-बीच में महात्मा के

पास जाता रहा। तीन साल पूरे हुए। महात्मा ने कहा, 'अब क्या मंत्र सीखेगा? तेरा स्वरूप ही सोना बन गया। तुझे धन मिल गया है।' यह भी एक नशा है कि मेरे जैसा कोई व्यापारी नहीं। सत्य की साधना पकड़ी थी, उससे बुद्धि शुद्ध हो गई, यही मंत्र था। उसने महात्मा के पैर पकड़ कर कहा, 'आपने मुझे बचा लिया।'

इसी प्रकार संसारनाश के लिये श्रुति कहती है कि यह सारा जगत् माया है। सत्य को पकड़ो, सेठ की जगह परमात्मा है। पुत्र जीव है। पुत्र दृश्य जगत् के विचार में फँसा है, मोहरूप शराब पीता है। कभी अंतःकरण की वृत्ति से वेश्यागमन करता है। इसे रोज नई वृत्ति चाहिये। वे वृत्तियाँ विषय चाहती हैं। दौड़कर वहाँ जाता है। चोरी करके भी गुजारा करता है। तुम जो अनंत आनंदस्वरूप हो, एक रसगुल्ला खाकर ही थोड़ी-सी इच्छा की शान्तिरूप आनंद का अनुभव करके प्रसन्न हो जाते हो। घट-पट आदि पदार्थों से आनंद लेने में लगे हो। यही वृत्ति का सेंध मारना या चोरी है। अंत में श्रुति भगवती से सम्बन्ध होता है। उसने कहा 'तुम्हें इसका मालिक बना देंगे। खाली एक नियम करो, सत्य को पकड़ लो।' द्रष्टा का विचार करते हुए भर्ग बना। चित्त पका, द्रष्टाभाव में स्थित हुआ। ठीक पकड़ लिया तो अपनी शिवरूपता को जानता है। इससे परम शुद्धि प्राप्ति हुई। कल्याणकारी श्रुति कहती है कि सिवाय ब्रह्म के कुछ नहीं है। यश का विस्तार इसीलिये कि अहम् परब्रह्म परमात्म तत्त्व के साथ एक समझ आ जाये। जब श्रुति ऐसा बताती है तब ब्रह्म का ही ज्ञान होता है।

प्रवचन- १७
मायादृष्टि
२४-७-६८

श्रुति बता रही है कि परब्रह्म परमात्म-तत्त्व की उपलब्धि में किस प्रकार से दृढता आती है तथा इस दृढता के लिये किस प्रकार भिन्न-भिन्न पहलुओं के द्वारा परमात्म-तत्त्व को अवगत करना चाहिये। सबसे पहले बताया 'महन्मे वोचः' अपरिच्छिन्न-दृष्टि को सब काल बनाना है, जितनी अपरिच्छिन्न-दृष्टि बनेगी उतना ही उस तत्त्व की प्रभुता की ओर प्रगति है और इसके विपरीत, परिच्छिन्न-दृष्टि बनने पर उस तत्त्व की स्मृति दूर होती चली जायेगी। इस सबका मूल अहम् को बताया। पापों को नष्ट करने वाले भर्ग-स्वरूप का भी विचार किया। तीसरा रूप है 'यशो मे वोचः' जिसमें जगत्-विस्तार-स्वरूप पर विचार किया गया है। 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः' परमात्मा का विस्तार (यश) किसे दीखता है? यह माहात्म्य-ख्यापन किसके लिये? यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा में बताया 'यश इति पशुषु' कि परमेश्वर के रूपों को कौन किस दृष्टि से देखता है। यश पशु में प्रतिष्ठित होता है। वेदांत में पशु का अर्थ है जो अविद्या के द्वारा बाँधा गया है। इसलिए जो बाँधने वाला है उसे पशुपति कहा गया है। परमेश्वर ने इस सृष्टिविकास को किसमें प्रतिष्ठित किया? उत्तर है कि वह अविद्या से आवृत परमात्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित है। जब तक अविद्या नहीं तब तक जगत्-प्रतीति नहीं। शास्त्रकारों का निर्णय है 'अविद्यास्तमयो मोक्षः।' अविद्या का अस्त होना ही मोक्ष है, और अविद्या ही बंध है। परमेश्वर की महिमा अविद्या को लेकर है, जब तक मायादृष्टि नहीं होती तब तक यह सृष्टि नहीं है।

यह समझने की बात है। परमेश्वर माया से सृष्टि किस दृष्टि में बनाता है या

सृष्टि-रूप में बनता है? माया की (अविद्या की) दृष्टि में ही, अपने स्वरूप में नहीं। अपने स्वरूप में कुछ न होते हुए भी अनंत रूपों को धारण करना ही परमेश्वर की विशेष ऐश्वर्य-शक्ति है। पशु की दृष्टि में सब कुछ है और ईश्वर की दृष्टि में कुछ भी नहीं। संस्कृत में ऐश्वर्य का अर्थ होता है ईश्वर का भाव, ईश्वरपना। ईश्वरपना इसमें नहीं कि उसने कुछ पैदा कर दिया। पैदा तो हम भी कई चीजें कर देते हैं। कभी-कभी तो समझते हैं कि उससे भी अच्छी चीजें पैदा कर देते हैं! परमेश्वर ने रूई बनायी और हमने टेरीलीन बनाई। परमेश्वर ने गुफा बनाई और हमने मकान बनाया। उसकी विशेषता तो इसमें है कि वह सब कुछ बनकर, और बना लेने पर भी अपनी दृष्टि में कुछ नहीं बनता या बनाता। हम प्रतिक्षण कुछ बनते हैं और कुछ बनाते हैं। वह अनंत-कोटि ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करता हुआ प्रतीत होता भी कुछ उत्पन्न नहीं करता। सारी सृष्टि का संचालन करने पर भी उसमें कोई क्रिया नहीं। हम एक दुकान चलाकर ही कहते हैं कि आज तो बहुत थक गये। किन्तु इस सारे ब्रह्माण्ड को चलाते हुए भी उसमें कोई आयास नहीं होता। इन सारे भावों को, भिन्न-भिन्न भावों को प्रकट करके भी उसमें कोई विरोध नहीं आता। सब कुछ करने पर भी थकावट नहीं, सब कुछ बनने पर भी बनने की प्रतीति नहीं। इतना ही नहीं, अनन्त रूप धारण करने पर भी कोई विरोध नहीं।

मुनीमजी ने बिना मतलब के पच्चीस हजार रुपये का नुकसान कर दिया, सेठ जी को विक्षेप हो गया। घर में आये, पत्नी ने गर्म-गर्म आलू के पकौड़े बनाकर बड़े प्रेम से सामने रखे। कहा 'खा लो' वे बोलते हैं 'अरे क्या खा लूँ! हमने नहीं खाने पकोड़े।' पत्नी अपना-सा मुँह लेकर रह जाती है। सोचती है कि रोज तो पकोड़े अच्छे लगते थे, न जाने क्या हो गया है? उसे क्या पता कि मुनीमजी ने हजारों रुपयों का नुकसान कर दिया है, इसलिये गुस्सा उतर नहीं रहा है। हम एक चीज से विकारापन्न हो जाते हैं तो दूसरी चीज से सम्बन्ध विकृत दशा में होता है।

परमात्मा समग्र जगत् के अनेक रूपों को धारण करता हुआ, उसके समग्र भावों को अपने अन्दर रखकर भी, किसी भाव में आवृत नहीं होता। उसकी भिन्न-भिन्नरूपता तो स्वाभाविक ही है। आचार्य शंकर भगवत्पाद परमेश्वर की अनेकरूपता को बताते हुए कहते हैं कि बाकी चीजों को जाने दो, जरा भगवती

की आंखों पर ही ध्यान दो तो कितने विरोधी अनंत भाव युगपत् रहते हैं

'शिवेश्शृंगारार्द्रा तदितरजने कुत्सनपरा सरोषा गंगायां गिरिशनयने विस्मयवती।
हराहिभ्यो भीता सरसिरुहसौभाग्यजननी सखीषु स्मेरा ते मयि जननि दृष्टिः सकरुणा।।'

भगवान् शंकर के सामने भगवती बैठी है। भगवती की आँखों को देखकर वे उनके भाव देख रहे हैं। वहाँ आठों रसों का समन्वय हो रहा है। काव्यशास्त्रज्ञों ने आठ प्रकार के रस माने हैं। उन्हीं आठ रसों को एक-साथ आँख में दिखा रहे हैं। भगवती जब शंकर भगवान् की तरफ दृष्टि करती हैं तो आँखें श्रृंगार, प्रेम से भरी हैं। उसी काल में अशिव के प्रति, जगत् से अत्यंत जुगुप्सा के कारण बीभत्स भाव है। श्रृंगार और बीभत्स दोनों एक-साथ नहीं रह सकते। गन्दे नाले से गुजरते हुए जैसा मुँह बनेगा, जैसे भाव आयेंगे, वही बीभत्स, घृणा का-सा भाव है, उसके साथ श्रृंगार नहीं रह सकता श्रृंगार का लक्षण किया है 'मधुरो भावः।' उस परम महिषी की आँखों में विरोधी भाव एक-साथ रहते हैं। भगवान् शंकर के मुख को देख रही हैं तो गंगा को भी देखाः भाव आया कि 'मेरे परम प्रियतम के सिर पर बैठी है, क्या बताऊँ, भगवान् की कृपापात्र है, वरना मैं इसे खतम कर देती,' यह रोष का भाव है। उसी समय भगवान् शंकर की आँख को देखकर विस्मय हो रहा है। 'गिरिशनयने' एकवचन है। तीसरे नेत्र को देखकर आश्चर्य हो रहा है कि यह वही आँख है जिसने कामदेव को भस्म कर दिया था और वही मेरी तरफ बड़े प्रेम से देख रही है, अत्यंत आश्चर्य की बात है। यहाँ भी रोष और विस्मय, गुस्सा और आश्चर्य दोनों विरोधी हैं लेकिन भगवती में दोनों साथ-साथ प्रकट हो रहे हैं। इस प्रकार विरुद्ध चार भाव श्रृंगार, बीभत्स, क्रोध और विस्मय की युगपत् स्थिति है।

भगवान् शंकर के ऊपर हजार फण वाला वासुकि नाग भी है फण फैलाये हुये, उसे देखकर भय भी लग रहा है। वह तो हजार मुख वाला है, एक मुख वाले से भी डर होता है! अतः उसे देखकर भय का भाव उदय हो रहा है। भगवान् शंकर के मुखरूप कमल को देखकर मन में आ रहा है कि इस मुख-कमल से अधिक सुन्दर मेरा मुख है जो कमल की रक्तिमा का उत्पादक है। अथवा नेत्र की अरुणिमा ही कमल को जीत रही है। ये भी विरोधी भाव, भय और वीरता, साथ

ही हैं। आगे कहते हैं, सखियों को देखकर थोड़ी मुस्कराहट भी है कि ये सोचती होंगी कि सारे जगत् को उत्पन्न करने वाली साँप से डर रही है। या सोचती होंगी, मैं इतनी सुन्दर होकर भी मैंने चिता-भस्मलेपी से विवाह क्यों किया। शिव से उस सम्बन्ध के कारण हास्य का भाव उत्पन्न हुआ। सामने ही भक्त पर नजर पड़ी जो पुत्रवत् नन्दीरूप में सेवा करता है। उसे देखकर करुणमयी दृष्टि बनी। यहाँ भी दो विरोधी भाव – हास्य और करुणा एक-साथ हैं। जहाँ मजाक का भाव होगा, वहाँ करुणा नहीं होगी और जहाँ करुणा हो तो किसी का मजाक नहीं उड़ा सकते। किन्तु यहाँ दोनों विरोधी भाव एक-साथ हैं। इस प्रकार आठों रस भगवती की आँखों में विद्यमान हैं। कुछ काव्यशास्त्रों ने नव-रस भी माने हैं। प्राचीन विचारकों की दृष्टि है कि 'न शान्तं मेनिरे रसं' उन्होंने शान्त को रस स्वीकार नहीं किया है क्योंकि रस का लक्षण है जो विक्रिया लाये। शांत रस में विकार है ही नहीं। शांत को रस मानने वाले भी इसे विकारहीन मानते हैं।

'न यत्र दुःखं न सुखं न चिंता न द्वेष-रागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः।।'

जहाँ दुःख, सुख, राग, द्वेष, चिंता कुछ भी नहीं और किसी प्रकार की इच्छा भी नहीं है वही शांत रस है। सुख दुःख आदि सबकी निवृत्ति में ही शांत रस कहते हैं। विक्रिया से रहित ही शांत रस है। बाकी सब रस विकार ही हैं। इसलिये प्रायः आठ रस ही स्वीकार किये हैं, नौवें को रस नहीं माना। वेदान्त-सिद्धान्त में भी आठ ही रस माने जा सकते हैं। नौवाँ, तो शान्त रस है जिसमें अन्य सारे रस विलय होते हैं। सदाशिव तत्त्व ही शांत-रस का प्रतीक है। इसलिये भगवान् भाष्यकार ने आठ रस ही बताये, नौवें रस के रूप में अधिष्ठान शिव का ही निर्देश कर रहे हैं। ये आठों रस एक-साथ ही आँखों में विद्यमान हैं। इन आठ रसों का ही सारा जगत् विस्तार है। इन्हीं में से एक-एक के भेद-प्रभेद करते जाओ। छोटी से छोटी वीरता से लेकर बड़ी से बड़ी वीरता तक सारे एक वीर रस में आ जाते हैं। इसी प्रकार अन्य रसों में भी समझना। इन सभी रसों का निवास भगवती में कौन करा रहा है? एक परमशिव। शिव ने ही श्रृंगार उत्पन्न किया। शिव से भिन्न प्रतियोगी बीभत्स का कारण बना। शिव के सिर पर गंगा रोष का कारण बनी; शिव में रहने वाला तीसरा नेत्र ही विस्मय का कारण है; उनके सर्प भय का कारण हैं; शिव

के कमल-मुख को देखा तो जय का भाव; शिव के साथ सम्बन्ध हुआ तो मजाक का भाव; शिव का ही भक्त आया तो करुणा का भाव आ रहा है। भगवती में इन सबको प्रकट कराने वाला एक शिव ही है। सारे रसों से रहित होते हुए भी सभी रसों का उत्पादक कारण शिव ही है। यही है अधिष्ठानरूप 'रसी' होना। परमेश्वर जगत् का कारण कैसे है? सर्वज्ञ शंकर बता रहे हैं कि उसी की विद्यमानता में सब कुछ हुआ, रस की विशेषताएँ आती गयीं। जिस रस का भगवती की आँखों में प्राकट्य है, उसी रस को वह ज्यादा देखेगा। जब तक भगवान् की आँखें खुली हैं, तभी तक ये सारे रस, सारे भाव हैं, जैसे ही आँखें बन्द हुईं कि सब समाप्त। सारे भावपरिणाम होते हुए भी अविकृत भाव से बने रहना, यही परमेश्वर की विशेषता है। फिर वह विकार को क्या प्राप्त होता है! इसमें एक नियम है; नीतिकारों का वचन है-

'भर्त्रा भार्यानुसारेण स्थातव्यम् सुखमिच्छता।
विवस्वान् हि तदाऽश्वोऽभूत् सरण्यूर्वडवा यदा।।'

भर्ता यदि सुख को चाहता है तो उसे भी भार्या के अनुसार ही चलना होगा। दूसरों की बात जाने दो। भगवान् सूर्य को भी घोड़े का रूप लेना पड़ा जब उनकी पत्नी घोड़ी बनी! कथा आती है कि त्वष्टा की दो संतति थी। सरण्यू नाम की लड़की और त्रिशिरा नाम का लड़का। लड़की बड़ी हुई तो उसका विवाह सूर्य से हुआ। विवाह के बाद सरण्यू बड़े सुख से रहती थी। उससे यम-यमी नाम से पुत्र-पुत्री उत्पन्न हुए। वहाँ सारी सृष्टि देवताओं की बनती जा रही थी। देवताओं की इच्छा थी कि किसी तरह मरणधर्मा मनुष्य भी पैदा हों। देवता पुष्ट तभी बनते हैं जब मनुष्य यज्ञ-यागादिक कर्म करते रहें। यज्ञ की आहुति से ही देवता प्रसन्न होते हैं। देवता बड़े चिन्तित हुए कि मनुष्य पैदा नहीं होंगे तो हमारा काम नहीं चलेगा। देवताओं ने विचार किया कि देवताओं से भिन्न मनु विवस्वान् का विवाह हो तब मरणधर्मा मनुष्य पैदा हों। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में आता है

'अपागूहन् अमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामदधुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद् यत्तदासीदजहादुद्वा मिथुना सरण्यूः।।'

अमरणधर्मा सरण्यू से यम-यमी उत्पन्न हुए। उनसे देवता ही उत्पन्न हो सकते हैं। देवताओं ने सोचा, सरण्यू हटे तो काम बने, नहीं तो अमरणधर्मा ही पैदा

होते रहेंगे। जाकर सूर्य देव से कहा कि किसी और के साथ विवाह करो। सूर्य कहने लगे 'मैं अपनी योग्य पत्नी को छोड़कर दूसरे से विवाह नहीं कर सकता, कोई मरणधर्मा पैदा हो चाहे न हो।' देवताओं ने अब युक्ति का आश्रय लिया। सोचा, जब सरण्यू किसी तरह सूर्य को छोड़े तब हमारा काम बने। जाकर त्वष्टा के लड़के को भड़काया 'तुम तो सूर्य के साले साहब हो फिर भी इतने साधारण बने हुए हो। इन्द्र देवताओं का राजा है। तुम राजा बनो और इन्द्र को ठीक करो।' वह कहने लगा 'इन्द्र तो बहादुर है।' देवताओं ने कहा, 'तुम उसपर चढ़ाई कर दो, हम तुम्हारी मदद करेंगे। सूर्य भी तुम्हारी मदद करेंगे।' त्रिशिरा कहने लगा 'चलो सूर्य-देव के पास चलें, पूछ तो लें।' देवता कहने लगे, 'इस तरह शायद वे मना कर दें। पहले तुम चढ़ाई कर दो तो बहनोई और बहिन तुम्हें परिस्थिति से निकाल देंगे। इन्द्र उनके सामने क्या है! इसलिये हिम्मत करो, हिम्मत से सब काम हो जाते हैं। यदि बहिन से बात करोगे तो वह भी कहेगी कि 'शांति रखो, क्यों लड़ाई झगड़ा करते हो।' ठीक यही है कि जब चढ़ बैठोगे तो बहन को भाई पर प्रेम तो आयेगा ही।' इस प्रकार की बातों से त्रिशिरा का उत्साह बढ़ा दिया। त्रिशिरा भी मान गया और चढ़ाई कर दी।

इन्द्र ने त्वष्टापुत्र को वज्र से मार डाला। सूर्य को क्या पता कि त्रिशिरा मारा गया। अब देवता पहुँचे सरण्यू के पास। कहा 'तेरे भाई को इंद्र ने बिना मतलब के मार डाला।' देवता भी अपना काम बनाने के लिये माया रच लेते हैं। कहा, 'तुम्हारा तो इकलौता भाई था। अपना नहीं, तो अपने माँ-बाप का तो विचार करो।' सरण्यू ने सूर्य से कहा कि इन्द्र को मार डालो। सूर्य कहने लगे, 'बात न बेबात, मार डालने को कह रही हो! आखिर क्या किया है इन्द्र ने?' सरण्यू ने कहा 'उसने मेरे भाई को बिना मतलब के मार डाला है।' सूर्य ने विचार किया कि इंद्र ऐसे तो मारने वाला नहीं है। विचार करके देखा। सरण्यू से कहा 'झगड़ा तो तेरे भाई ने ही शुरू किया था।' किन्तु सरण्यू ने फिर भी कहा कि इंद्र को मार डालो। सूर्य कहने लगे 'इन्द्र को परमेश्वर ने देवराज पद दिया है, उसे मैं कैसे मारूँ?' औरत को तो जानते ही हो, जिद पकड़ ली तो पकड़ ली। सूर्य इतने पर भी नहीं माने। सरण्यू को गुस्सा आ गया। कहा 'अब मैं सूर्य के साथ नहीं रहूँगी।' देवताओं का काम बन गया! कहने लगे 'सूर्य से तो कुछ छिपा नहीं सकती, लेकिन हम तुम्हें उपाय बताते हैं।' देवताओं ने सरण्यू से कहा कि वह घोड़ी बन जाये। और, सरण्यू जैसी

ही दूसरी स्त्री देवताओं ने अपने योगबल से बना ली। उसका रूप-रंग भी बिलकुल वैसा ही एवं बोलचाल भी वैसी ही थी। यम-यमी उसे अपनी माँ समझते रहे, दोनों उससे बातें करते थे। सवर्णा सरण्यू सूर्य को दे दी। अब सूर्य को इतना समय कहाँ कि इस धोखे को पकड़ें! उन्होंने भी समझा कि सरण्यू ही होगी। उससे मनु-पुत्र उत्पन्न हुआ। मनु विवस्वान् का पुत्र है। यह तो जानते ही हो, रोज गीता में पढ़ते हो। 'विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।' सूर्य ने मनु का चेहरा देखा तो उसका माथा ठनका। सोचा 'मेरे वीर्य से मेरे बल से यह मरने-जीने वाला कहाँ से पैदा हो गया।' सूर्य ने ध्यान किया तो पता चला कि सरण्यू कहीं भाग गई। सवर्णा सरण्यू ने कहा 'सरण्यू ने मुझसे कहा था, इसलिये मैं रह गई।' अब सूर्य ने पत्नी को ढूंढना शुरू किया। सूर्य ने चारों तरफ ध्यान दिया, सोचा मुझसे कौन छिप सकता है। सूर्य से तो कोई छिप ही नहीं सकता। देखा कि वह उत्तरकुरू देश में घोड़ी बनकर तपस्या कर रही है कि किसी तरह इंद्र मारा जाये। किन्तु ऐसा कोई उपाय नहीं निकला। सरण्यू हृदय में बहुत दुखी थी कि पति का वियोग भी हुआ और काम भी नहीं बना। उसे पता लग गया कि देवताओं ने उसके साथ धोखा किया। भाई को मरवाया और पति को भी छुड़वाया। अब प्रतिष्ठा का सवाल था। सोचने लगी कि कोई बहाना मिले तो घर पहुँचूँ। मन में गुस्सा भी था कि सूर्य मुझे ही नहीं पहचान सके! सोचा, शायद उन्हें पता ही न हो कि मैं हूँ या दूसरी कोई है। जब मनु को देखकर विवस्वान् ने नजर डाली तो देखा कि वहाँ बैठी है घोड़ी के रूप में। उन्होंने भी घोड़े का रूप लिया और वहाँ पहुँच गये।

अश्वरूप लेकर ही वहाँ पहुँचे और बड़े प्रेम से कहा, 'यह क्या हाल कर रखा है अपना? अब तो मुझे भी तेरे ही साथ रहना है। तुझे घोड़ी का रूप पसन्द है तो मैं भी घोड़ा बनकर रहूँगा।' अश्वी सरण्यू खुश हो गई, वह तो पहले ही तैयार थी। इस अश्व-अश्वी शरीर से दोनों अश्विनीकुमार उत्पन्न हुए। दोनों अश्विनीकुमार मिथुन हैं। इन्हें लेकर वह वापिस गई। अब चार बच्चे हो गये- यम, यमी और अश्विनीद्वय। तात्पर्य हुआ कि यदि भर्ता को सुख चाहिये तो पत्नी के अनुसार बनना पड़ेगा। जब भगवती की आँखों में भिन्न-भिन्न रस एक-साथ विद्यमान हैं तो रस-द्रष्टा भगवान् शंकर को भी वैसा ही बनना पड़ेगा।

सरण्यू का अर्थ है जो हमेशा बहता रहे, निरंतर परिवर्तनशील हो। माया ही सरण्यू है, सदैव परिवर्तनशील है। उसी का भाई त्रिशिरा, तीन रूप वाला; ज्ञान, इच्छा और क्रिया वाला है। जहाँ माया रहेगी वहाँ ये तीनों रहेंगे। कुछ न कुछ जानेगा, कुछ न कुछ चाहेगा और कुछ न कुछ करेगा, लेकिन रहेंगे तीनों साथ ही। माया के साथ विवस्वान्-रूपी परमात्मा का विवाह हुआ। शुद्ध विद्या द्वारा तो दिव्य सृष्टि हुई, पंचमहाभूत, विराट्-हिरण्यगर्भ आदि की सृष्टि शुद्ध विद्या द्वारा ही हुई। शुद्ध विद्या की सृष्टि में कोई मरणधर्मा पैदा नहीं हो सकता। जब तक मरणधर्मा पैदा नहीं होगा, यह संसार-चक्र नहीं चलेगा। देवताओं ने सोचा कि हमें परमेश्वर ने पैदा किया किन्तु हम किस पर शासन करें? बृहदारण्यक उपनिषद् में आता है कि मनुष्य देवताओं के पशु हैं 'देवानाम् पशुः।' शास्त्रकारों ने भी कहा- 'व्यष्टयस्तु समष्टिभ्यो जायन्ते ब्राह्मणाऽनघाः।' शुद्ध विद्या से समष्टि संसार पैदा होता है। समष्टि से व्यष्टि उत्पन्न होने का क्या उपाय है? विवस्वान् परमात्मा कहते हैं कि अमर हो तो अमर होकर रहो, मरणधर्मा क्यों बनना चाहते हो? देवताओं ने जाल रचना शुरू किया। त्रिशिरा को इंद्र (मन) से मरवाने का कार्यक्रम बनाया। अन्तःकरण ने ज्ञान, इच्छा, क्रिया के समन्वय को मार डाला। ज्ञान, इच्छा, क्रिया में समन्वय नहीं रहा इसीलिये तो विरोध चलता रहता है। यह जानते हो कि झूठ बोलना पाप है किन्तु सच बोलने की इच्छा नहीं होती। पुनः चाहता तो है कि यहीं बैठा रहे किन्तु क्रिया का विरोध है, मन चांदनी चौक की तरफ भगाता है। ज्ञान-इच्छा-क्रिया का आपस में विरोध ही वध है।

जब तक इन तीनों में पूर्ण समन्वय रहेगा तब तक मरणधर्मा पैदा नहीं हो सकता। जब इनमें विपर्यास आयेगा तभी मृत्यु आयेगी। अंतःकरण ने इस समन्वय को खत्म कर दिया तो सरण्यू-रूपी शुद्ध विद्या ने सोचा कि 'अब चलो यहाँ से, अपना यहाँ रहने का काम नहीं।' और दूसरी सवर्णा सरण्यू, अविद्या को खड़ा कर दिया। शुद्ध विद्या से तो यम-यमी उत्पन्न हुए। यम का अर्थ है संयम। अहिंसा सत्य अस्तेय अपरिग्रह ब्रह्मचर्य ये सब संयम का रूप हैं। यम से आगे नियम, प्राणायामादि पैदा होते हैं। अशुद्ध विद्या भी है तो वैसी ही, ज्ञान-इच्छा-क्रिया उसमें भी दीखते हैं किन्तु वे सब परिच्छिन्न ज्ञान (घट-पट आदि का ज्ञान), परिच्छिन्न इच्छा और परिच्छिन्न क्रिया ही हैं। इसी सवर्णा से मनु पैदा हुए, मरणध

र्मा संतति उत्पन्न हुई। यही भगवती श्रुति ने बताया कि अमृत-तत्त्व तो परा विद्या को मिला था, परन्तु अपरा विद्या को, मरणधर्मा संसारादिक-विद्या को वहाँ बिठा दिया गया। वही यम-यमी की निगरानी करने लगी। तुम लोग भी यम का पालन तो करते ही हो किन्तु अशुद्ध विद्या से। ग्राहक को माल दिय। जब वह कहता है 'तुम्हारा माल तो खराब है' तुम जानते भी हो कि माल ठीक है, किन्तु उसके सामने कहते हो कि 'हाँ जी, आपकी बात ठीक है।' मन में जानते हो कि यह तो बेवकूफ है, इसे क्या पहचान है असली माल की! घटिया माल दिखाकर कहते हो 'यह बढ़िया है!' वह भी उसे अच्छा समझ कर ले जाता है। अहिंसा का पालन तो तुम भी करते हो किन्तु अशुद्ध विद्या के लिये करते हो।

शुद्ध विद्या (परा विद्या) घोड़ी बनकर बैठी तपस्या कर रही है। ब्रह्मविद्या या वेद तो नित्य परमात्मा से युक्त है ही किन्तु उसकी प्रतीक्षा ही कर रही है कि कब पुनः मिलन हो। संसार का चक्र चल रहा है। किसी काल में जीवरूप में शिव का ख्याल आया तो दृष्टि जाती है कि ये सारे के सारे कहाँ से निकल आये हैं। 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्' हम जितने भी काम करते हैं उससे नष्ट होने वाली चीजें ही पैदा होती हैं। हम तो नित्य हैं किन्तु पैदा होने वाले कर्म अनित्य हैं। तब ख्याल आया कि यह तो अशुद्ध विद्या का कार्य है और तभी शुद्ध विद्या का स्मरण हो आता है। अब पता लगा कि पराविद्या अश्वी बनी बैठी है। उससे कहा 'तू कौन है और कहाँ है!' शब्दराशि का रूप लिये वेद बैठा है अश्वीरूप में। जब तक शब्दब्रह्म से सम्बन्ध नहीं होगा, वेद पढ़ोगे कैसे? अश्वी भी मिल गई। उसके बिना तुम भी दुःखी हो रहे थे। अब सवर्णा को छोड़ा, अशुद्ध विद्या का त्याग किया। उसी का रूप (अश्वरूप) लेकर उसके पास पहुँचे। वेदवाणी ने अनंत होने पर भी अपने को शब्दों से परिच्छिन्न कर रखा है। यही उसका घोड़ी बनना है। प्राचीन शास्त्रों में इसके लिये बड़ा सुन्दर शब्द है 'छन्द।' छादनात् छन्दः, शब्द-राशि से ज्ञान आच्छादित है। परिच्छिन्नभाव से जाओ तो सुनोगे। अश्वरूप से गये तो कहा कि वेद का स्वरूप ही मेरा स्वरूप है। ब्रह्मरूप जीव को जैसे ही पराविद्या का रूप मिला कि सम्बन्ध हुआ और तब मोक्षरूप अनंत और आनंद दोनों पैदा हो गये। इसीलिये कहा कि शुद्ध विद्या से सम्बन्ध होने पर ही सफल होगे। अश्वभाव को प्राप्त करोगे तो अन्त में नित्य अनंतानंद को भी प्राप्त कर लोगे।

प्रवचन-१८

अध्वा

२५-७-६८

सबसे पहले जीव को अपरिच्छिन्न भाव की प्राप्ति बताई, जिसको व्यक्त होने से रोकने वाला अहम्भाव है। अपरिच्छिन्न भाव को प्राप्त करके सारे पापों से निवृत्त हो जाते हैं। अहम् की निवृत्ति पर सारे जगत् के साथ आत्म-स्वरूपता हो जाती है। यह सारा विश्व वस्तुतः परमात्मा का यश ही है। अविद्या की दृष्टि से जो संसार वही विद्या की दृष्टि से परम शिव है। भेद पदार्थों में नहीं होता, केवल दृष्टि में होता है। पदार्थ केवल एक ही है। उस पदार्थ को अविद्या या अज्ञान की दृष्टि से देखते हैं तो उसका नाम संसार है, उसी को विद्या-दृष्टि से देखने पर नाम शिव है। वैदिक शास्त्रों का बार-बार यही उद्घोष है। चाहे जितना भी थोड़ा भेद मानें, अन्य मत इन दोनों में भेद अवश्य ही मानते हैं। किन्तु वेदान्त भेद से डरता है! किंचित् भेद भी आ जाने पर मोक्ष असंभव हो जायेगा, यह वेदान्ती मानता है। 'उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति' जहाँ थोड़ा भी भेद माना वहाँ भय होगा और जहाँ भय है वहाँ मोक्ष कैसे! इसलिए कहा कि जगत् और ब्रह्म दो नहीं, ब्रह्म ही अविद्यादृष्टि से जगत् और जगत् ही विद्यादृष्टि से ब्रह्म है। केवल दृष्टि का भेद है। लोक में भी एक पदार्थ में दृष्टिभेद से अनेक भेदों की कल्पना होती है। एक ही सूर्य में दृष्टिभेद से उल्लू को प्रकाश-रहित और मनुष्यादिक को प्रकाशसहित दीखता है। इससे विपरीत, रात्रि के सामान्य प्रकाश को मनुष्यादिक तो अंधेरा समझते हैं और उल्लू को प्रकाश ही दीखता है। अतितीव्र प्रकाश उल्लू को अंधकार की तरह और अति-न्यून प्रकाश कौए को अंधेरे की तरह दीखता है। कौए को तो प्रकाश थोड़ा होने पर अंधेरा, एवं उल्लू को प्रकाश की अधिकता में अंधेरा दीखता है। अंधेरा और प्रकाश दोनों को दीखते हैं। इसी प्रकार परिच्छिन्न

ज्ञान करने वाला, अल्प प्रकाश को देखने वाला जीव संसार को देखता है। जगत्काल में भी ज्ञान ढक नहीं जाता लेकिन परिच्छिन्न-भाव से प्रकट हो रहा है, इसीलिये संसारी को जगत् दीख रहा है। प्रकाश अंधेरे की तरह दीखता है तो कहते हैं 'भगवान् का पता नहीं चलता।' इसलिये अपनी अल्पज्ञता, अल्पशक्तिमत्ता की बात तो समझ में आ जाती है, क्योंकि हमें थोड़ा ज्ञान है, किन्तु 'मैं सर्वज्ञ हूँ' यह समझ में नहीं आता। उल्लू की तरह अपरिच्छिन्नता समझ में नहीं आती, परिच्छिन्नता ही समझ में आती है। दूसरी तरफ, अपरिच्छिन्न प्रकाश को देखने वाले ब्रह्मविद् को घट-पटादि परिच्छिन्न ज्ञान समझ में नहीं आता। उसको विश्वास ही नहीं है कि सर्वव्यापक परमात्मा एक शरीर, एक अंतःकरण में आ सकता है। ज्ञानी कहता है, यह कभी नहीं हो सकता कि अपरिच्छिन्न-भाव आत्म-तत्त्व की दृष्टि में न हो। कोई कहे कि आत्मा परिच्छिन्नभाव को प्राप्त हुआ है, तो ज्ञानी समझता है कि असिद्ध चीज बोल रहा है। जिसकी अपरिच्छिन्न दृष्टि है, उसके लिये परिच्छिन्नता का भाव असम्भव है। अतः सुरेश्वराचार्य ने ज्ञानी-अज्ञानी का भेद बताते हुए कहा है कि उनमें कौवे और उल्लू के रात में देखने की और न देखने की तरह का भेद है। उन दोनों को मिलाकर निर्णय करोगे तो कभी होने वाला नहीं है। कौवे को लाख समझाओ कि रात में भी प्रकाश है, किन्तु उसकी समझ में आयेगा नहीं। इसी प्रकार ज्ञानी को चाहे जितना द्वैतवाद समझाने की चेष्टा करें किन्तु उसकी समझ में बात नहीं बैठती कि कभी परिच्छिन्न भाव हो सकता है। अज्ञानी को लाख अपरिच्छिन्न का भाव समझाने पर भी उसमें वह भाव बनता नहीं। कहता है कि अपरिच्छिन्न भाव की प्राप्ति कैसे हो सकती है! यही परमात्मा का सबसे बड़ा ऐश्वर्य, ईश्वरपना है कि अनंत होते हुए भी सांत की तरह, सुखस्वरूप होते हुए भी दुःखी की तरह, सर्वज्ञ होते हुए भी अल्पज्ञ की तरह प्रतीत होता है। सर्वथा विपरीत प्रतीति हो रही है। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप होते हुए भी जन्म-मरण वाला प्रतीत होता है। अत्यंत निर्दोष होकर भी पापी की तरह, ज्ञान-स्वरूप हो कर भी अज्ञानी की तरह, मुक्त होते हुए भी बद्ध जीव की तरह प्रतीत होता है। सर्वथा असंभव को संभव करके दिखाने से बड़ा कोई ऐश्वर्य नहीं हो सकता। यहाँ तक कि असंभव को दिखाते-दिखाते इतना स्थूल भाव बन गया है कि दिखाने वाला खुद कहता है कि यही ठीक है! आचार्य कहते हैं 'ब्रह्मैव

संसरति मुच्यते च।' संसार एवं मुक्ति का अनुभव ब्रह्म को ही है। अपने ही ऐश्वर्य और माया को धीरे-धीरे प्रकट करते हुए अंत मे वह इतना आच्छादित हो गया कि खुद ही कहता है कि मैं तो परिच्छिन्न हूँ। लोक में भी देखने में आता है कि अपनी ही कृति से खुद ही मुग्ध हो जाता है। लड़के को स्वयं विद्या पढ़ाई, युक्ति देने की विधि सिखा दी। जब उसी को प्रयोग में लाकर वही लड़का क्रमबद्ध रूप से बोलता है तो शिक्षक खुद ही मुग्ध हो जाते हैं कि इसने कैसी सुन्दर बात सुनाई। इसी प्रकार साहित्यरचना करते-करते सुन्दर काव्य की रचना होने पर कवि कहता है, 'मैंने नहीं लिखा, यह तो दैवी प्रेरणा से लिखा गया।'

ब्रह्म का यश, ब्रह्म के घनीभवन को तीन सीढ़ियों में समझना पड़ता है। इसी ताण्ड्य महाब्राह्मण में आगे १६ वें खंड में तीन सोपानों से सृष्टि को बतायेंगे। वहाँ सृष्टिप्रक्रिया विस्तार से कहेंगे। 'यस्माद् अन्यो न परो अस्ति जातः' शिव से भिन्न और कोई उत्पन्न हुआ ही नहीं। परमेश्वर ने दूसरे को उत्पन्न नहीं किया बल्कि स्वयं अपने-आप को ही अनेक रूपों में बना दिया। ऋग्वेद में 'अजायमानो बहुधा विजायते' से जो कहा उसी को यहाँ 'यस्माद् अन्यो न परो अस्ति जातः' से कहेंगे। उससे अन्य होकर कुछ पैदा हुआ, यह वेद में कहीं नहीं कहा। इसी में वेदांत अन्य दर्शनों से दूर जाता है। दूसरे तो घबरा जाते हैं कि जीव इतने पाप करता है, क्या कभी ब्रह्म ऐसा कर सकता है! वेदान्ती कहता है कि और कौन कर सकता है? यदि न कर सकता तो स्वतंत्रता अवरुद्ध हो जाती कि ब्रह्म कम से कम एक चीज नहीं कर सकता और वह है पाप। वेदांत कहता है कि ब्रह्म ही परिच्छिन्न-भाव से पाप करने वाला और पाप का फल भोगने वाला है: अपरिच्छिन्न भाव से फल देने वाला भी वही है। वही डंडा मारने वाला और वही डंडा खाने वाला। ऐसा लोक में भी होता है। एक ही सरकार है। उसी के भिन्न-भिन्न विभागों के रुपये से ही आपस में कर का आदान-प्रदान होता है। ठीक इसी प्रकार समझ लो कि परिच्छिन्न-भाव से जो पाप करने वाला है, अपरिच्छिन्न भाव से वही खुद को फल भुगाने वाला है। आगे श्रुति ने कहा 'य आबभूव भुवनानि विश्वा।' वही विश्व के रूपों को प्रकट करता है। उसका तरीका बताते हैं 'प्रजापतिः प्रजया संविदानः।' वह परब्रह्म परमात्मा पशुपति जब प्रजाओं के साथ एकरूप को प्राप्त करता है तब प्रजापति है। संविदान का अर्थ तादात्म्यभाव किया है 'तादात्म्यभावं

प्रपन्नः संविदानः।' अपनी ही बनाई हुई चीज़ों से खुद ही एकभाव बन जाता है। कैसे? तीन ज्योतियों को बताया कि इन तीन भावों को प्राप्त करते हुए अंत में एक दृढ भाव को प्राप्त होता है।

श्रुति बता रही है कि तीन प्रकार से पदार्थों का भेद है। तीन ज्योतियों से वह प्रजापति प्रजा के भाव को, अपरिच्छिन्न तत्त्व अपने को उपाधि से परिच्छिन्न करता है। शुद्ध अध्वा, शुद्धाशुद्ध अध्वा और अशुद्ध अध्वा, ये तीन ज्योतियों के भेद हैं। लोक में भी एक जेठ का सूर्य जिसकी चमक विशेष है, एक माघ का सूर्य है और एक बादलों में छिपा हुआ सूर्य है जिसमें आँखे चौंधियाती नहीं, गर्मी भी नहीं, लगती परिच्छिन्न-सा दीखता है। एक बार सायंकाल कहीं घूमने जा रहे थे, एक पिण्ड-सा दिखाई दिया। देखते ही प्रश्न हुआ कि यह सूर्य है या चन्द्र। पहाड़ की जगह थी, पहाड़ में वैसे भी रास्ता इतनी जल्दी बदल जाता है कि दिशा का पता नहीं लगता। हमने विचार किया कि पहले यह पता करो कि वह कौन-सी दिशा है? विचार करने पर निर्णय हुआ कि पश्चिम दिशा है, तब पता लगा कि यह सूर्य है। तीसरी अवस्था है जब घनघोर बादल छाये हैं; ऐसे काले बादल कि चारों तरफ कुछ भी नहीं दीखता! तब कहते हैं कि सूर्य छिप गया। यदि बिलकुल छिप गया तो ये बादल किस रोशनी से देख रहे हो? तीक्ष्ण विचार करें तो समझ आता है कि सामान्य प्रकाश तो है ही। प्रकाश तीनों अवस्थाओं में है किन्तु तीनों में प्रतीति भिन्न-भिन्न है। यही बात यहाँ श्रुति कहती है कि तीन प्रकार की ज्योतियों से उसका अनुभव होता है। जो शुद्ध अध्वा है, वहाँ शुद्ध उपाधि में स्वरूप का ज्ञान कभी नहीं छिपता, यद्यपि उपाधि रहती है। पाँच अवस्थाओं, पाँच तत्त्वों तक यह हुआ, किन्तु इस उपाधि में स्वरूप किंचिन्मात्र कम नहीं, इस उपाधि में भी शिव अपने शिवरूप को जानता है। शुद्धाशुद्ध में उपाधि जरा गहरी है। इसलिये शिवरूप से जानता तो है किन्तु बीच-बीच में थोड़ा भूलता रहता है, सर्वथा न जाने, ऐसा नहीं है। शान्ति के क्षणों में जानने पर भी अशांत होने पर भूल जाता है। अशुद्ध-अध्वा में तो जानता ही नहीं है। वहाँ न ब्रह्म का भान है, न ब्रह्मरूप ही है।

शुद्ध-अध्वा में परमेश्वर की पाँच उपाधियाँ हैं जो परमेश्वर के स्वरूप को नहीं छिपा सकतीं। यह परमेश्वर का सर्वथा शुद्धस्वरूप ही है। पाँच उपाधियाँ हैं-

सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह। इन पाँच उपाधियों में तो परब्रह्म परमात्मा तत्त्व को क्षणमात्र भी भूलता नहीं। सृष्टि करने वाले ब्रह्मा, पालन करने वाले विष्णु। ब्रह्मा-विष्णु से रूपों वालों की कल्पना नहीं कर लेना; अभी तो केवल चेतनप्रकाशस्वरूप परमेश्वर संकल्पविशिष्ट हो ब्रह्मारूप से उत्पन्न करने वाला, विष्णुरूप से रक्षा करने वाला और शिवरूप से संहार करने वाला है। आगे चलकर, स्वरूप को ढाँकने के लिये माया प्रकट होती है, यह हुआ तिरोभाव। अनुग्रह में माया के पर्दे को फाड़कर अपने आप में स्थिति होती है। यहाँ शक्ति-विशिष्ट कल्पना है। साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर की ये प्रथम पाँच उपाधियाँ हैं।

ब्रह्मा, विष्णु, सदाशिव, ईश्वर आदि देवताओं में अपना ज्ञान कम नहीं होता, अतः सबको सगुण ईश्वर कह दिया। उपाधिविशिष्ट होने पर भी उपाधि में कोई रुकावट नहीं होती। तिरोधान वाले रूप में माया का पर्दा खड़ा हुआ। आगे शब्द, स्पर्श आदि और तैंतीस देवता शुद्धाशुद्ध अवस्था में हुए। शतपथ ब्राह्मण में बताया है कि ३३ देवता समग्र सृष्टि के संचालक हैं। पहले पंचमहाभूत बने, फिर इन पंचमहाभूतों से आकार बना। शुद्धाशुद्ध में तिरोधान का संकल्प होते ही माया का प्राकट्य और फिर माया से पाँच भूतों का प्राकट्य हुआ। पंच महाभूतों के सात्त्विक अंश के द्वारा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार; राजस अंश से पंच प्राण, पंच कर्मेन्द्रियाँ और तामस अंश से दीखने वाला संसार उत्पन्न हुआ। इस शुद्धाशुद्ध अध्वा में ज्ञान भी बना रहता है, कभी अपने स्वरूप की प्रतीति रहती है, कभी नहीं, यह मिली-जुली अवस्था है। देवताओं को ज्ञान वेदादि से होता हो, ऐसा नहीं है, बल्कि स्वयं होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कथा आती है कि ब्रह्मा जी ने सृष्टि की तो बाद में रोने लगे, डर गये। उन्होंने वेद पढ़ा था। रोने के साथ ही याद आया-'द्वितीयाद् वै भयं भवति' जब कोई दूसरा है ही नहीं तो डर किस से! फिर भी डर तो लगा किन्तु उसके निकलने में भी देरी नहीं। इसलिये शुद्धाशुद्ध अवस्था मिली-जुली अवस्था का ही नाम है।

अशुद्ध-अध्वा में मानव, तिर्यगादि योनियाँ, गन्धर्व आदि हुए। इसमें बार-बार विचार करने पर भी कहता है कि ब्रह्म ही नहीं, ब्रह्म का ज्ञान भी नहीं। अब वेदादि शास्त्र, गुरुओं की आवश्यकता पड़ी। वे लोग बड़ा ज़ोर लगाते हैं किन्तु अभिमान छोड़ता नहीं। वे कहते हैं 'तुम राग-द्वेष आदि से मुक्त हो' तो हम कहते

हैं 'जी, हम तो राग-द्वेष करने वाले ही हैं।' तुम द्वेष करते हो अर्थात् तुमने द्वेष किया, फिर द्वेष तुमसे अलग और तुम उससे अलग रह जाते हो! फिर भी कहते हो 'मैं हूँ तो द्वेष वाला ही।' वेद कहता है 'तुम मुक्त हो', तुम कहते हो, 'हम तो बंधन में हैं। दुकान, मकान, घरवाली, ये सब हमें बाँध रहे हैं, न जाने किस-किस का बंधन मान रखा है! वेद, गुरु बड़ी युक्ति से समझाते भी हैं, किन्तु वह भाव हटता नहीं। इस स्थिति में भी प्रकाश ख़तम नहीं हुआ। नित्य अनुत्तर शक्ति, इस घन-घोर अज्ञान में भी जहाँ सर्वथा अपने आपको अनित्य मान रहे हो, कम नहीं; क्योंकि अपनी इस दशा को भी जिस शक्ति से जान रहे हो, वही तो चित् शक्ति है! स्वयं को अज्ञ, बद्ध जानना भी अलुप्त शक्ति को बताता ही है कि उस प्रकाश को छिपा नहीं पा रहे। अतः श्रुति कहती है कि इन तीनों ज्योतियों के साथ अपने स्वरूप तक एक होता चला जाता है। यही उसका ऐश्वर्य है कि तीनों तरह उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। शुद्ध अध्वा में जो ज्योति तीव्र है, शुद्धाशुद्ध अध्वा में (मिली-जुली अवस्था) कहीं वह तेज है तो कहीं मंद है, और अशुद्धअध्वा में भी सर्वथा छिपी नहीं। वह ज्योति सर्वत्र वैसी विद्यमान है।

एक बार भगवान् शंकर आनंद से बैठे थे। अकस्मात् पार्वतीजी को हँसी करने की सूझी और उन्होंने पीछे से आकर भगवान् की आँखें बन्द कर दीं। सारे संसार की ज्योतियाँ तो उनकी आँखों में ही हैं! सूर्य और चन्द्र उनके नेत्र हैं। आँखें बंद होते ही सारे संसार में एक क्षण के लिये घोर अंधकार छा गया। भगवान् ने जल्दी से ही अपना तीसरा नेत्र खोला कि अग्नि से ही लोगों को प्रकाश मिले। बात तो हुई एक क्षण की हँसी की, पर बड़ों की हँसी में छोटों का काम गड़बड़ हो जाता है। भगवान् शंकर के एक क्षण में पृथ्वी पर दस करोड़ साल बीत जाते हैं। लोक में भी ऐसा होता है कि बड़े आदमी के लिये तो पाँच रुपये कुछ भी नहीं होते, साधारण आदमी के लिये पाँच रुपयों का बहुत महत्त्व है। एक बार एक ड्राइवर हमें सुना रहा था 'स्वामीजी, सेठ जी में सब गुण हैं। इतने पर भी कहीं जायेंगे तो हमसे कहेंगे कि दस रुपये हों तो दे दो। जेब में रुपये रखकर नहीं चलते। सेठ जी ठहरे, रुपयों की जरूरत पड़ गई तो हम दे देते हैं। रुपये वापिस माँगने में मुझे डर-सा लगता है और सेठ जी को रुपये लेकर पाँच-सात दिनों तक तो याद ही नहीं रहता! मेरी घरवाली मुझ से कई बार झगड़ा करती है; कहता हूँ तो

मानती ही नहीं कि सेठ जी मुझसे दस रुपये लेंगे! यदि इस प्रकार सेठ जी ने महीने में तीन बार दस-दस रुपये माँग लिये और मेरी तनख्वाह है एक सौ रुपया, तो मेरी तनख्वाह का तीसरा हिस्सा चला गया, घर का खर्च कैसे पूरा होवे? उनके लिये तो तीस रुपये कुछ भी नहीं। उनके घर में दिन में तीस रुपये की बरफ पानी हो जाती होगी। महीना खतम होने पर मुनीम जी से कहता हूँ कि सेठ जी ने मुझ से तीस रुपये लिये थे, वह भी तनख्वाह के साथ दे दो। मुनीम भी कहता है कि सेठ जी से पूछकर दे देंगे। वह सेठ जी से पूछे तो सेठ जी कहेंगे, 'हाँ-हाँ भाई दे दो।' कभी-कभी तो कह देते हैं कि 'मुझे याद तो नहीं है, यह कहता है तो लिये होंगे, ठीक ही कहता होगा, दे दो।' यह सुनकर मुझे बड़ा दुःख होता है कि मानो मैं चोर हूँ।'

उस सेठ की दृष्टि में तो दस रुपये का कुछ महत्त्व नहीं किन्तु ड्राइवर जैसे साधारण आदमी के लिये दस रुपये के बिना रोटी-दाल की भी कमी हो जाती है। ठीक इसी प्रकार भगवान् के लोक में एक क्षण कुछ भी नहीं, पृथ्वी में वही दस करोड़ साल का अंधेरा हो जाये तो क्या हाल होगा? अग्नि को आते भी दस करोड़ साल लग जायें। भगवान् ने झट हाथ छुड़ाया। देवता लोग हल्ला मचाने लगे। कहा 'भगवन्, अकाल में ही प्रलय करना चाहते हो?' भगवान् ने कहा, 'क्या बतायें, पार्वती इस बात को समझती नहीं।' परन्तु भगवान् ने सोचा कि यह तो ठीक नहीं। कल को देवता भी मन-मानी करने लगेंगे। इन्द्र कहेगा, 'क्या बतायें इंद्राणी नहीं मानती।' व्यवस्था गड़बड़ हो जायेगी। देवताओं में अव्यवस्था होने से जगत् में भी अव्यवस्था हो जायेगी, अतः यह ठीक नहीं। पार्वती जी को बड़े प्रेम से कहा, 'भली मानुष, देख, मेरी आँखों में आँखें डालकर देख, नहीं तो तू गुस्सा हो जायेगी! मेरा तुझ से प्रेम है किन्तु ये सारे देवता बिगड़ जायेंगे। इसलिये थोड़े समय के लिये पृथ्वी पर जा और वहीं मेरा ध्यान कर। पता तो लगे कि वहाँ क्या हाल होता है।' भगवती ने कहा, 'ठीक है।'

भगवान् की आज्ञा थी। पार्वती जी ने बालू का लिंग बनाया और कांजीवरम (जिसे आजकल कांचीपुरम् कहते हैं) में आ गई। वहाँ भगवान् शंकर की आराधना में लगी रही। यहाँ कई मानवीय वर्ष बीते, १५-२० वर्ष की हो गई। माता-पिता ने कहा अब ब्याह करना है तो कहने लगी 'मुझे ब्याह नहीं करना है।'

घरवाले भी पीछे पड़े रहे। पार्वती जी ने बहुत समझाया कि ब्याह तो एक ही बार होता है। घरवाले कहने लगे 'हम भी तो एक ही बार तेरा ब्याह कर रहे हैं।' कहने लगीं कि 'पिछले जन्मों में एक के साथ मेरा ब्याह हो चुका।' घर वालों ने सोचा, पागल हो गई है; पिछले जन्म की बात करती है। शुद्ध अध्वा वाले की बात अशुद्ध अध्वा वाले की समझ में कैसे आवे? वह तो कहे कि 'मैं नित्य विवाहिता हूँ, मेरा किससे विवाह करोगे! मेरा तो हमेशा एक से ही विवाह-संबंध रहता है।' भगवती ने सोचा कि ये सब घरवाले मेरी बात मानेंगे नहीं। इसलिये वे शिव-लिंग लेकर जंगल में चली गयीं और नदी के किनारे तपस्या करने लगीं। इधर भगवान् शंकर ने विचार किया कि पार्वती तो तपस्या करने लगी है, अपने घर का काम चलाने वाली भी तो वही है! जहाँ पार्वती थी उस नदी में बाढ़ आ गयी, धीरे-धीरे भगवती भी डूबने लगीं। किन्तु यह चिंता मन में बनी रही कि बालू का शिवलिंग हाथ से न छूट जाये, पानी में पड़कर गल न जाये। उसे उठाकर छाती से चिपका लिया। बड़े ज़ोर का भंवर आया, भगवती उसमें चक्कर खाने लगीं किन्तु चाहे जितना चक्कर आया, लिंग को हाथ से नहीं छोड़ा। लोक-मर्यादा में भी सिद्ध हो गया कि शिव के सिवाय पार्वती जी की कोई इच्छा नहीं। इतने में नदी शांत हो गई पर भगवती अचेतन अवस्था में थीं। होश आया तो देखा भगवान् शंकर सामने खड़े हैं। कहने लगीं 'अब ऐसे चलने वाली नहीं। आपने लौकिक मर्यादा से परीक्षा ली है तो आपको भी मनुष्य बनकर शादी करनी होगी।' एक बार भगवान् शंकर ने अगस्त्य को वरदान दिया था। अगस्त्य भगवान् शंकर का विवाह नहीं देख सके थे तो भगवान् ने उस समय वरदान दिया था कि तुम्हें एक बार विवाह का मज़ा दिखायेंगे। उस वरदान के फलस्वरूप भगवान् शंकर ने मदुरा (मदुरै) में जाकर सुन्दरेश का रूप लिया। मदुरै में भगवान् सुन्दरेश्वर का मन्दिर अब भी है। भगवती का विवाह हुआ। कुछ काल तक पांड्य देश का राज्य कर पुनः अपने कैलास लोक में गमन किया। जाते समय भगवती की अपनी करधनी वहाँ छूट गई थी। जहाँ करधनी छूटी थी, वही जगह काँची-क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध है। अब भी वहाँ जाकर यदि लिंग को देखोगे तो उसपर एक तरफ स्तन के चिह्न और दूसरी तरफ अंगुलियों के चिह्न दिखाई देंगे। भगवती ने कहा था, 'यह इसी रूप में यहाँ रहेगा, लोग इसका दर्शन-पूजन करके कल्याण को प्राप्त करेंगे।'

इस कथा के अन्दर एक ही विषय नहीं बल्कि इसके द्वारा जीव के बहुभवन के अलग-अलग प्रकार बता दिये। शिव-शक्ति के सामरस्य के अनुत्तर तत्त्व को बताया जो परमार्थ की अवस्था है। वहाँ न शिव अलग है और न शक्ति अलग है बल्कि दोनों के सामरस्य की अवस्था है। द्रष्टा-प्रधान शिव और दृश्य-प्रधान शक्ति है। दृश्यभाव ने एक क्षण के लिये द्रष्टृतत्त्व को बन्द कर दिया, तभी माया का विस्तार हो गया। इसी पर भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं। 'विनोदाय चैतन्यमेकं विभज्य द्विधा देवि जीवं शिवं चेति' खेल-खेल में भगवती ने आँखें बंद कर दीं। द्रष्टा की दृष्टि परिच्छिन्न हो गई। यह पहला सोपान तो हुआ पर इतने में ही दस करोड़ साल बीत गये। यह हुआ सृष्टि का अनादि-चक्र। अनादि चक्र का अर्थ क्या? स्वप्न लम्बा-चौड़ा तभी तक है जब तक आँखें न खुलें। जैसे ही आँख खुली कि स्वप्न वाला संसार ख़तम। इसी प्रकार, जैसे ही आत्म-दृष्टि बनी कि संसार का यह अनादि-चक्र कुछ भी नहीं। 'क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत्।' उस समय ऐसा लगता है कि क्षणभर के लिये शायद दीखा हो, शायद नहीं ही दीखा हो! 'अधुनैव मया दृष्टं।' अभी दीख रहा था, अभी नहीं है। जब तक पृथ्वी की तरफ दृष्टि है, असत्-दृष्टि से दस करोड़ साल दीख रहे हैं, शिव तत्त्व को शक्ति-तत्त्व ने ढाँक रखा है, यह हुआ संसार का प्रसार। यह सारा ब्रह्माण्ड शक्ति-तत्त्व का विस्तार ही है। एक क्षण के लिये भी सामरस्य में विक्षुब्धि आते ही शक्ति का सारे जगत् रूप में विस्तृत हो जाना मानो सृष्टि है। इतना समय बीतने पर भी यह भान नहीं गया कि मैं भगवान् की शक्ति हूँ।

देवताओं का ज्ञान परमेश्वर की शक्ति से शक्ति वाला है। किसी काल में कर्मों के प्रवाह में थोड़ी देर के लिये विस्मृति-सी होती है, यही अचेतन अवस्था है और इसी से मानवादि योनियों की प्राप्ति है। इसे प्राप्त करके भी उस चिन्मय प्रकाश (मुक्तालिंग) को साथ लगाये हैं, चाहे जितनी अचेतन अवस्था हो जाये, चिन्मय-तत्त्व तो नहीं छूटता। यदि दृढता से पकड़े रखा तब तो किंचित् काल में पुनः प्रकाश के साथ एक हो जायेगा, किंचित् काल में समय बीत जायेगा। मानो किंचित् काल के लिये दस करोड़ साल वाले संसार में रहे, पुनः स्वरूप में स्थिति हो गई। किसी काल में उसे छोड़ना नहीं, यदि ऐसे दृढ भाव की प्राप्ति हो गई कि परब्रह्म परमात्म-तत्त्व ही अतितीव्रता से तीनों भावों को प्राप्त करते चलते हैं, तो सामरस्य की स्थिति आ जायेगी।

इसलिये शुद्ध अध्वा में ज्ञान, इच्छा, क्रिया सबकी पूर्णता है, शुद्धाशुद्ध अध्वा में स्मृति है किन्तु उतनी तीव्र नहीं और अशुद्ध अवस्था में आने पर कहते हैं 'ब्रह्म न अस्ति, न भाति' आदि। इन तीनों के अन्य कई भेद हैं जिनपर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन-१९

ईक्षण

२६-७-६८

सबसे पहले परब्रह्म परमात्म-तत्त्व की महत्ता का स्वरूप बताया। उस महत्ता के प्रतिबंधक अहंकार के हटने पर सारे पाप-पुण्यों का नाश हो जाता है। वह परब्रह्म परमात्मा अनंत भाव को कैसे प्रकट करता है, इस पर विचार करते हुए यह बताया जा चुका है कि तीन अध्वाओं के अनुसार परमेश्वर तीन भावों में भात होता है। तीन ज्योतियों में क्रमशः पूर्ण प्रकाश, अपूर्ण प्रकाश और पूर्णाभाववत् प्रकाश है। पूर्ण प्रकाश में तो पूर्णता है, अपूर्ण में कुछ कम प्रकाश है और तीसरे में प्रकाश सर्वथा ही पूर्ण नहीं-सा है। ज्ञान का प्रकाश स्वतः सदैव पूर्ण होता है। ज्ञान को छोड़कर बाकी सब अपूर्ण हैं। इसलिये पूर्ण प्रकाश का मतलब है जहाँ अनंतता का प्रकाश हो; दूसरे में अनंतता का भान होते हुए भी नहीं-जैसा है, और तीसरे में अनन्तता का भान सर्वथा नहीं है। अब सृष्टि-क्रम से विचार करना आवश्यक है। यश का प्रकार क्या? किस क्रम से अखंड चिन्मात्र, जिसमें किसी प्रकार का भेद संभव नहीं है, अनन्त रूपों वाला बनता है? श्रुति ने सारे भेदों का निषेध किया कि उसमें सजातीय, विजातीय और स्वगत किसी प्रकार का भेद नहीं है। वह अखंड चिन्मात्र इन तीनों भेदों से सर्वथा रहित है। सजातीय नहीं है अर्थात् ब्रह्म की जाति का दूसरा ब्रह्म नहीं है। विजातीय भेद नहीं है अर्थात् ब्रह्म को छोड़कर कोई अब्रह्म भी नहीं है। स्वगत-भेद नहीं है अर्थात् ब्रह्म में किसी प्रकार का अवयव या अंश नहीं है। ब्रह्म इन तीनों भेदों से सर्वथा रहित होकर रहता है। इसलिये कहा कि एकमात्र अखण्ड ब्रह्म ही है, तदतिरिक्त कुछ नहीं।

सृष्टि होती कैसे है? श्रुति ने बताया 'तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेय।' ईक्षण का

संकल्प होने से ही सृष्टि हुई। इस संकल्प को मन के संकल्प की तरह मत समझना, क्योंकि मन तो बहुत बाद में बनने वाला है। केवल अपनी तरफ दृष्टि होना ईक्षण है। वहाँ भेद नहीं है। वह अभिन्न चिन्मात्र तत्त्व ही कर्ता-कर्म दोनों बनता है। स्वतः अपने को देखने की क्रिया या ज्ञान में कर्ता-कर्म, या ज्ञाता-ज्ञेय दोनों वही है। अहंकार का विचार करते हुए बताया था कि अहम् का स्फुरण जीव में बिना किसी प्रकार का भेद हुए ही हो रहा है। अहम् में कर्ता, कर्म स्वयं ही बनता है। उसी प्रकार चिन्मात्र तत्त्व के अभेद का स्फुरण है। इसे अहम् से कहो या किसी भी शब्द से कहो, इसी स्फुरण की संभावना को शक्ति कहा गया है। जो अनुत्तर है, उसमें भेद नहीं है। अपनी ही शक्ति से भेदप्रतीति आयी है। वस्तुतः शक्ति शिव से भिन्न नहीं। आगम शास्त्रों में उस सम्बन्ध को बताते हुए कहा गया है 'पावकस्योष्णतेवेयम् उष्णांशोरिव दीधितिः।' जैसे 'अग्नि की गर्मी' इस प्रतीति में अग्नि और गर्मी दो न होने पर भी भान होता है कि आगरूप गुणी में गुणरूप गर्मी है। अथवा जैसे सूर्य की धूप में लगता है कि सूर्य अलग है, धूप अलग है पर वस्तुतः धूप सूर्य ही है। एक ही चीज होने पर भी दो की तरह लगना दोनों उदाहरणों में है। कमरे में धूप आ रही है। पूछा जाय कि सूर्य भी दिखाई दे रहा है? तो कहते हैं कि सूर्य तो दिखाई नहीं देता! धूप ही तो सूर्य है किन्तु अलग-अलग मानते हैं। 'चन्द्रस्य चन्द्रिकेवेयम्' जैसे चन्द्र और चन्द्रिका (चाँदनी) में भेद नहीं उसी प्रकार 'शिवस्य सहजा ध्रुवा' शक्ति हमेशा शिव के साथ सहजरूप से रहती है और क्षणभर को भी छोड़ती नहीं।

इन तीन दृष्टांतों से तीन बातें स्पष्ट की गई हैं। जैसे पावक चीज को जला डालती है, वैसे ही उष्णता भी जला डालती है। पावक में पवित्र करने का भाव मौजूद है। जैसे अग्नि के जलाने का नाम ताप है, ऐसे ही परमात्मशक्ति निरंतर भर्ग बनी हुई सारे पापों को जलाती रहती है। यह उसका स्वरूप और आरंभिक अभिव्यक्ति है। सबसे पहले जीव इसीलिये परमात्मा की तरफ जाता है कि मेरे सारे पाप नष्ट हो जायें। वह परमात्म-शक्ति जीव के सारे पापों को खत्म कर देती है। शक्ति ने पहला काम यह किया। कहीं-कहीं तो शास्त्रों में यहाँ तक परमेश्वर की भर्गशक्ति का प्रतिपादन है कि पापों को वे इतनी जल्दी नष्ट करने में समर्थ हैं कि करोड़ों साल में जितने पाप किये जा सकते हैं, एक क्षण में ही वे सबको जला डालने में समर्थ हैं। परमात्मा को जलाने में समय लगे इतने पाप किये ही

नहीं जा सकते! इस भर्ग स्वरूप को बताने के लिये कहा-'पावकस्योष्णतेवेयम्' जैसे आग किसी चीज को जलाने में देरी नहीं लगाती, उसी प्रकार परमात्मा की तरफ दृष्टि होते ही सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। उसकी तरफ दृष्टि न होने तक ही पाप दुःख देंगे।

मोटी भाषा में समझो : बच्चा सवेरे से शाम तक खेलता रहता है, बदमाशी करता है। माँ कहती है 'तू बहुत बदमाश हो गया, जा तुझ से बात नहीं करनी।' लड़का भी कहता है 'ठीक है, मैं भी बात नहीं करता।' फिर वही क्रम; सारा दिन खेलता रहा है, भूख लगे तो नौकर से भोजन माँगता है। दिन भर उद्दण्डता करता रहा और माँ से बोलना बन्द रहा। वैसे माँ अन्दर से तो तड़प रही है। सायंकाल बच्चा थक गया तो घर आया; जैसे ही आया कहता है 'माँ' पर माँ बोलती नहीं। फिर कहता है 'माता जी।' अब भी माता चुप है लेकिन अंदर से तो फिर भी तड़प रही है। तड़प सहन नहीं होती तो नजर उसकी तरफ कर लेती है। अन्त में बच्चा दौड़कर माँ की छाती से लिपट जाता है और कहता है 'आइंदा ऐसा कभी नहीं करूँगा।' अब माँ क्या कहेगी? वह तो पहले से ही तड़प रही थी, झट उठाकर प्रेम से छाती से लगा लेगी। बड़े प्रेम से नहलायेगी, साफ कपड़े पहनायेगी, भोजन करायेगी। पूर्व दिन की उद्दण्डता और आज दिन-भर की उद्दण्डता के बाद भी नहलाने-धुलाने में कुछ भी देर नहीं लगेगी। क्षमा में देर तो नौकरों के साथ होती है। नौकर यदि कह भी देवे कि गलती हो गई, आइन्दा नहीं करेगा तो भी मालिक कहता है कि 'अच्छा, अब दो महीने तक अच्छी तरह से काम कर, फिर तेरी तरक्की कर देंगे।' किन्तु बच्चे के साथ ऐसा नहीं होता। हम परमात्मा के पुत्र हैं। उससे दूर होकर चाहे जितनी उद्दण्डता कर लें किन्तु जैसे ही उस तरफ गये वैसे ही सारे पाप जल गये। 'उष्णां शोरिव दीधितिः' से बताया कि सूर्य में अंधकार का समावेश नहीं है। परमेश्वर की ज्ञान-प्रकाश शक्ति में भी कहीं प्रतिबंध नहीं है। लोग समझते हैं कि ब्रह्म को जान लेंगे तो बाकी चीजें समझेंगे नहीं, न्याय की युक्ति समझ में नहीं आयेगी! महत् का प्रकाश आने पर तो जिधर भी दृष्टि जायेगी, उधर ही चीज स्वयं प्रकाशित होती चली जायेगी, यह नहीं समझते।

एक महात्मा थे, उनके पास जवान बच्चे जाते थे और तरह-तरह के प्रश्न पूछते थे। विज्ञान का विद्यार्थी अपने प्रश्न पूछता था। महात्मा सबकी बातों का

उत्तर देकर उनकी शंकाओं का समाधान कर देते थे। इस प्रकार कई साल हो गये। एक दिन महात्मा ने बच्चों से कहा 'कब तक ऐसे माथा-फोड़ी करोगे!' बच्चे कहने लगे, 'जब तक समझ में नहीं आयेगा।' महात्मा कहने लगे, 'कभी सोचा है, मैं इन बातों का जवाब कहाँ से देता हूँ?' बच्चों ने कहा 'आप विद्वान् हैं इसलिये जवाब देते हैं।' महात्मा ने कहा, 'इस प्रकार कितना ज्ञान प्राप्त कर लोगे? किताबें पढ़-पढ़कर क्या प्राप्त कर लोगे?' बच्चों ने पूछा 'आप हमारी सब बातों का जवाब फिर कैसो देते हो?' महात्मा कहने लगे कि कोई मेरे अन्दर बैठा है, जिससे कोई चीज छिपी नहीं। जब तुम कुछ पूछते हो तो मैं उसी से कहता हूँ कि तू ही बोल दे। उसके हाथ में अपनी जबान दे देता हूँ तो वह तुम्हारे सारे प्रश्नों का जवाब दे देता है। वही तुम्हारे हृदय में भी बैठा है, तुम उसी से पूछना क्यों नहीं सीखते।

कोई कहे, सूर्य तो चमकता दीखता है किन्तु रास्ते में चलती मोटरें नहीं दीखती तो यही मानोगे कि यह अंधा होगा और केवल कहता है कि सूर्य दीखता है। इसी प्रकार अनंत ज्ञान हो जाने पर अल्प ज्ञान न होने का तो प्रश्न ही नहीं रहता। पहले दृष्टांत से परमेश्वर की पाप-नाशिनी शक्ति बताई और दूसरे दृष्टांत से परमेश्वर की ज्ञान-शक्ति बताई। ये दोनों दृष्टांत गर्मी देने वाले हैं, पाप-नाशक रूप में भी गर्मी और ज्ञान-शक्ति में भी गर्मी बनी रहेगी। परमात्मा की तरफ चलने वाले का पहला निशान ही लोगों ने मान रखा है कि चेहरा ऐसा हो मानो एरण्ड का तेल पीया हो। जो उदास बैठा हो, लोग उसे साधक कहते हैं। एक सज्जन अपने शिष्यों को बता रहे थे कि 'लोगों को कुछ समझाना हो तो स्वयं के मुखमण्डल में भी उसके अनुसार भाव बनाना चाहिये। स्वर्ग का वर्णन कर रहे हो तो चेहरे पर चमक हो, आँखें नाचती हों। लेकिन कहा कि जब नरक का वर्णन करना हो तो रोज के चेहरे से ही काम चल जायेगा!' ऐसे साधकों के चेहरे से सुख की भावना नहीं झलकती तब अगर किसी की दृष्टि उधर चली जाये तो कहता है कि भगवान् की तरफ जाने से ऐसा ही होता है तो साधना के प्रति उत्साह पर और भी ठंडा पानी पड़ जाता है।

आनन्दस्वरूप परमात्मा की तरफ जाओगे तो तीसरे दृष्टांत से बताया कि 'चन्द्रस्य चन्द्रिकेवेयम्।' चन्द्रमा की चाँदनी जैसी आह्लादकारिणी है जिसे देखकर

चित्त उछल पड़ता है, वैसा ही आह्लाद मुख में छाया रहेगा। दिल्ली में चाँदनी का तो पता ही नहीं चलता। सड़कों की नियोन रोशनी व बड़े-बड़े गेंदों की रोशनी की चका-चौंध में दिल्ली वालों को असली चाँदनी दिखाई ही नहीं देती। यदि चाँदनी चौक में ही मकान है तो वहाँ चन्द्रमा झाँकने की हिम्मत ही नहीं कर सकता। कलकत्ते की कई गलियों में तो सूर्य भी हार बैठा है। वहाँ सूर्य की एक किरण तक नहीं पहुँच पाती। जेठ की कड़कती धूप में भी लोग सौ संख्या का लट्टू जलाकर ही सीढ़ी पर चढ़ सकते हैं। लोग पूछते हैं, पुराणों में अंधतामिस्र, कुंभीपाक नरकों का वर्णन मिलता है, यह कैसे हो सकता है? कुम्भीपाक में भी तो वहाँ दोनों तरफ मल ही होता है। दिल्ली आदि महानगरों की गंदी गलियों में भी ऐसे ही है। दोनों तरफ ही टट्टियाँ खुलती हैं। इधर बचाओ तो उधर गंदगी लग जायेगी। हम कहते हैं कि कुम्भीपाक नरक का दृश्य तुम यहीं देख लो। परमात्मा भी आह्लादकारी है, चन्द्र की चाँदनी की तरह। किसी पर्वत-प्रांत में सुन्दर नदी के किनारे कलरव सुनते हुए चन्द्रमा की चाँदनी को देखो तो पता चलेगा कि कैसी आह्लादिनी शक्ति है। शक्ति के तीन स्वरूप हुए। पापों को नाश करने वाली शक्ति; ज्ञानस्वरूपा शक्ति; और आह्लादिनी शक्ति। ये तीनों शिव में सहज हैं। 'शिवस्य सहजा ध्रुवा'। परमेश्वर की शक्ति हमेशा रहती है, कभी भी उससे अलग नहीं होती। यही शक्ति वस्तुतः संवित् कही जाती है।

अब जरा साधना की प्रक्रिया से इस पर विचार करें। सर्वोत्तम पूजा क्या है? इसी संवित् शक्ति की पूजा ही सर्वोत्तम पूजा है। शिव के साथ वह सहज और ध्रुव, हमेशा रहने वाली है फिर भी मानो उसे अलग-सा कर रखा है। जैसे जीव का अहम् है, वैसे ही यहाँ शिव का स्वरूप सझना चाहिये। यहाँ शक्ति का स्पन्दन हो चुका है इसलिये अलग प्रतीत होती है, वस्तुतः अलग है नहीं। दृष्टांत से समझ लो : किसी क्षण बड़े शान्त बैठे हो, सर्वथा वृत्तिरहित हो, उस निर्वृत्तिक अवस्था में अहम् का भान भी नहीं ('मैं हूँ' का भान नहीं); यह हुई उस परमात्मा की ऐक्यावस्था। वहाँ किसी भी प्रकार का स्फुरण नहीं है। उस अवस्था में सोचते हो 'मैं उठूँ'। यहाँ 'मैं' पहले आया। जल्दी में इसका पता नहीं लगता, तुम इसे एक ही ज्ञान समझ रहे हो। उस स्फुरण अवस्था में 'मैं', जब तक यह वृत्ति नहीं बनी तब तक आगे 'उठूँ' वृत्ति बन ही नहीं सकती। जब पहले 'मैं' को लाये, तब भी

उठने का या शरीर का भान नहीं था, आसपास की किसी चीज का भी भान नहीं था। केवल 'अहमस्मि' मैं हूँ, इतना भान था। जिस प्रकार इस भान में द्वैत की वृत्ति होते हुए भी नहीं के बराबर है उसी प्रकार बिलकुल निर्विकल्पावस्था से प्रथम 'मैं' आया, उस समय भी द्वैत होते हुए भी नहीं है। द्वैत है, तभी 'मैं' कह रहा है। इस 'मैं' को जानने वाला कौन? 'मैं' भाव से रहित शुद्ध आत्मा ही है। इसमें वह मैं को ही जान रहा है, दूसरा भान वहाँ अभी तक उठा ही नहीं। शरीर का भान भी अभी नहीं बना। कोई कहे 'कौन?' तो हर एक कहता है 'मैं'। वह मैं किसको जानता है? यही कहोगे 'मैं खुद को ही जान रहा हूँ'। खुद ही खुद को जान रहा है, दूसरा कोई है ही नहीं।

लोक में देखने में आता है कि किसी को माल देना हो तो नमूना मुफ्त में ही दिया जाता है। मुफ्त देते हो ताकि थोक माल खरीद ले। थोक माल बेचने के लिये ही नमूना मुफ्त देते हो। कोई कहे कि हमें दो रसगुल्ले लेने हैं, तो दुकानदार कहता है कि लाओ पैसे। यदि कहें कि हमने तो सुन रखा है कि आपके यहाँ नमूने का रसगुल्ला मुफ्त मिलता है। तो वह कह देगा 'हाँ, अगर ५०० रसगुल्ले की फरमाइश करें तो एक रसगुल्ला नमूने का देंगे।' ज्यादा माल बेचने के लालच में कभी-कभी घाटा भी हो जाता है, यह बात दूसरी है। कई लोग नमूने को देखकर भी माल नहीं खरीदते।

ऐसे ही परमात्मा ने अखण्ड स्वरूप को बताने के लिये शुद्ध अध्वा में, जहाँ पूर्ण प्रकाश है, वहाँ नमूना 'मैं' दे दिया। जब अपने को परिच्छिन्न जान रहे हो तब द्वैत प्रतीत होते हुए भी नहीं है। परमात्मा कह रहे हैं, इस अनंत अहम् में भी यही है। इसी भरोसे दे रखा है कि अच्छे ग्राहक (साधक) हो। लेकिन लोभी आदमी नमूना देखकर भी कहता है कि माल पसंद नहीं है क्योंकि पैसा देना नहीं चाहता। 'मैं' ही आनंद को लेता है। अपने इसी आनंदस्वरूप को ग्रहण करो। परमात्मा के संवित् स्वरूप में निष्ठाशून्यों ने ही सारे द्वैतवाद को खड़ा कर रखा है। इसलिये कहा 'संविद्रूपातिरेकेण यत् किंचिदवभासते' इस संवित् के अतिरिक्त किसी भी चीज का भान नहीं है। इसी परा शक्ति की उपासना सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि यह सद्यः (तत्क्षण) मुक्ति देने वाली है। जैसे चन्द्र की चन्द्रिका सद्यः आह्लादकारिणी है, अग्नि की गर्मी सद्यः जला डालती है और सूर्य की रोशनी सद्यः ही ज्ञान करा देती

है, दिखा देती है, वैसे ही संवित् तत्क्षण मोक्ष देती है। जैसे ही संवित् की दृष्टि की, वैसे ही सर्वश्रेष्ठ पूजा हो गई। अतः इसे 'संसारनाशाय सर्वमात्मस्वरूपिणी' कहकर 'सद्यः मुक्तिप्रदायिनी' भी कहा। यह संसार का नाश करने वाली और सद्यः मुक्ति देने वाली है। संसार क्या है? संवित् से अलग होकर भान होना, यही संसार है। भगवान् की शक्ति से अतिरिक्त कुछ भी नहीं, यही ज्ञान है। ज्ञान के बिना कोई भी पदार्थ आज तक संसार में मिला नहीं। ज्ञान के बिना किसी वस्तु की सिद्धि नहीं। ज्ञान ही सारे आकार लिये हुए है। ऐसा अपना दृढ निश्चय होना चाहिये। यहाँ 'अपना' निश्चय कह रहे हैं, बुद्धि तो बाद में निश्चय करेगी! बुद्धिमात्र का निश्चय करेंगे तो हम फिसल जायेंगे। यदि बुद्धि के सहारे खड़े हैं तो वह भी अच्छा है परन्तु निर्भय नहीं। सर्वोत्तम पूजा तो है कि फिसलें ही नहीं; उस संवित् शक्ति को छोड़कर किसी अन्य का सहारा ही न लें। अच्छा तो है कि रास्ते में चलते हुए फिसलो ही नहीं। यदि फिसल ही गये तो आगे उपाय बतायेंगे। अभी तो बता रहे हैं कि जो भी चीज सामने हो उसे संविद्रूप से ही देखो। यदि संविद्रूप से ग्रहण नहीं हुआ तो पहले घट को देखा। फिर घट को ज्ञान से अतिरिक्त जाना । अब बुद्धि का सहारा लिया कि वहाँ वस्तुतः घट नहीं है। लेकिन यह विलम्बित मार्ग है। पहले ही समझो कि घट का ज्ञान नहीं है बल्कि ज्ञान ही घटाकार में भान हो रहा है। ऐसी साधना बता रहे हैं कि दुश्मन को जगह ही नहीं मिले तो कहाँ से गिरायेगा! ऐसा होता नहीं है क्योंकि जिस अवस्था में ऐसा होता है, उस अवस्था को समझोगे तो सद्यः मुक्ति है। वहाँ संसार का नाश होने में देरी नहीं होती। केनोपनिषद् में कहा है 'प्रतिबोधविदितम्'। जहाँ भी बोध हो रहा है, वहीं आह्लादिनी शक्ति तदाकार ले रही है। मैं किसे ग्रहण करूँ, किसे छोड़ूँ 'किं हेयं किमुपादेयम्'।

वह किसी भी आकार में आवे, यह जानना कि संवित् ही है, यही स्वतः पूजा है। पूजा का अर्थ होता है कि जिसकी पूजा करते हैं, वह खुश हो जाये। वह प्रफुल्लित ही न हो तो पूजा नहीं है, पूजा का ढकोसला है। आजकल की तो दृष्टि ही अलग है। दक्षिण भारत में बहुत बड़े वेदान्तनिष्ठ रमण महर्षि हुए हैं। वे एक बार बैठे थे। एक भक्त आया तो पंखा करने लगा। जाड़े का मौसम था। एक-दो मिनट तो महर्षि चुप बैठे रहे, अन्य भक्तों ने भी कुछ नहीं कहा। थोड़ी देर बाद

कहा, 'भैया! इतनी ठंड पड़ रही है, यहाँ लोगों ने हीटर लगा रखे हैं, तू हवा क्यों करता है?' भक्त कहने लगा, 'जी, अपना-अपना भाव है।' रमण महर्षि हँसकर कहने लगे, अपने पूर्व भक्तों की गाथा बताने लगे कि जब बहुत साल पहले साधना कर रहे थे, एक रात भयंकर सर्दी पड़ी। उनके पास कोई कपड़ा नहीं था, घुटनों में ही मुँह दबाकर दाँत कट-कटाते हुए रात बिताई। सवेरे धूप निकली तो धूप में बैठे ही थे कि अकस्मात् 'चटक' की आवाज आई। ऊपर देखा तो एक भक्त नारिलय का ही अभिषेक चढ़ा रहा है! वे जाड़े से काँपैं तो वह भक्त क्या करे? उसका भाव जो रहा! इस भावमयी पूजा की अभी बात नहीं कर रहे हैं। ये भाव कर्म-संस्कारों से जड बने लोगों के हैं। पूजा वह है जिससे पूज्य प्रसन्न होवे। विचार करो, कोई प्रिय मित्र हो तो उसे अधिक खुशी किस बात की होगी? तुम हजार आदमियों के बीच बैठे हो, जैसे ही वह आया कि तुमने इशारा करके अपने पास बुलाया, धीरे से कहा, 'हरीलालजी आ गये, आओ, बैठो।' अब वह मित्र बड़ा खुश है कि हजार आदमियों के बीच भी पहचान लिया, हो गई उसकी पूजा। पत्नी कब खुश होती है? चाहे जैसे आवे, जिस रूप में भी आये, उसे अपनाये रखो, यही पूजा है। अन्यथा वह तो श्रृंगार करके तुम्हारे सामने खड़ी है और तुम अखबार बाँच रहे हो, वह कहे 'ज़रा इधर भी देख लो' तो अखबार से ध्यान हटाकर कह दिया, 'हाँ-हाँ, देख लिया।' वह क्या इससे कभी खुश होने वाली है? चाहे सारे आभरणों से भर दो पर यह उपेक्षा अक्षम्य है।

इसी प्रकार संवित् परा शक्ति भी नित्य नवीन श्रृंगार करके सामने आती है, हम उस श्रृंगार में ही उसे पहचान लें तो सर्वोत्तम पूजा हो गई। अत्यधिक पूजा करनी है तो धीरे से इतना कह दो 'गहने तो तुमने बहुत सुन्दर पहन रखे हैं, किन्तु इन गहनों से तुम नहीं फब रही बल्कि तुम्हारे ऊपर चढ़कर ये गहने शोभा पा रहे हैं, तुमसे ही गहनों की शोभा है।' बस, हो गया उसका पूजन। अतः संवित् जिस भी रूप को लेकर आये, कहो, 'मेरी ही तो संवित् है।' घट-पटादि का रूप भी संवित् के ही कारण फब रहा है। संवित् पर नजर गड़ाकर रहो, घट-पटादि अथवा गहने पर नहीं। सारे आकारों को लेने वाली संवित् ही अति सुन्दर है। वह सुन्दर रूप भी तो संवित् के अतिरिक्त कुछ नहीं। प्रतिबोध को पकड़ना ही उस संवित्, अमृत-तत्त्व को पकड़ना है।

जातुकर्ण भगवान् शंकर का परम भक्त था। उसे शंकर का साक्षात्कार भी होता था। जब भगवान् वृषभ पर बैठकर आयें तो पार्वती जी भी साथ होती थी। वह भक्त शंकर की तरफ तो नमस्कार करे किन्तु भगवती की तरफ नहीं। दो-एक बार तो भगवान् ने देखा। एक बार भगवान् ने पार्वती से कहा 'तुम्हें नमस्कार नहीं करता, यह तो गलत-सी बात है।' भगवती ने भी कहा 'मैं क्या कहूँ! कहती तो आप कहते कि तुझे जलन होती है।' भगवान् ने जातुकर्ण से कहा, 'ऐसा क्यों करता है?' कहने लगा, 'हम तो आपकी ही पूजा करेंगे।' भगवान् ने बहुत समझाया पर वह नहीं समझा। वह समझता था कि शिव दूसरे हैं और इनके साथ कोई दूसरी है।

भगवान् ने सोचा कि भक्त का उद्धार करना चाहिये। निर्णय किया कि इस बार अर्द्धनारीश्वर रूप लेकर ही चलें कि जब अर्द्धनारीश्वर रूप में, आधे में शंकर और आधे में (बायें) पार्वती जी होंगी तो इसे पता चलेगा कि ये एक ही हैं, दो नहीं। भक्त ने भी कहा, ठीक है। उसने एक पैर को धोया, एक को नहीं, आरती भी आधी करके उल्टी ही वापिस ले आवे! अब भोजन का समय आया, भगवान् को नैवेद्य का भोग लगाना था। सोचा, नैवेद्य कैसे खिलाये, मुँह और पेट तो एक ही है! निर्णय किया कि नैवेद्य नहीं चढ़ा सकता! भगवान् ने कहा 'भोजन नहीं करायेगा?' कहा, 'नहीं, पूजा अधूरी ही छोड़ दूँगा।' अब भगवान् ने पार्वती जी की तरफ धीरे से देखा। अर्द्धनारीश्वर रूप में प्रायः दाहिने में भगवान् शंकर और बायें में भगवती हैं। उसी समय ठीक विपरीत स्पन्द किया और दाहिने में भगवती और बायें में भगवान् शंकर हो गये! दक्षिण भारत में एक मन्दिर में यही विपरीत अर्द्धनारीश्वर-रूप है। भगवती कहने लगी 'अर्द्धनारीश्वर रूप में तूने मेरे ही पैर धोये, मेरी ही आरती की है तो अब नैवेद्य खिलाने में भी क्या हर्जा है?' अब जातुकर्ण की समझ में आया कि अब तक भ्रम में था। कहने लगा, 'भगवती, मुझे क्षमा करना। मैं यह नहीं समझ सका कि एक ही हो।' बड़े प्रेम से भगवान् ने उसे उठाया कि अब तू मेरा पुत्र हो गया।

जातुकर्ण की कथा के द्वारा बताया जा रहा है कि जातुकर्ण वह जीव है जिसने कानों से सुन रखा है। महापुरुषों, शास्त्रों से सुनकर समझता है तो जातुकर्ण की परमेश्वर की तरफ दृष्टि होती है; किन्तु इसमें भेद की दीवार खड़ी कर रखी है। वह निर्विकल्प-सविकल्प, शिव-शक्ति, अधिष्ठान-अध्यस्त को अलग-अलग समझता है। कहता है, इसकी पूजा करनी है, उसकी नहीं। विचारदृष्टि से समझे

तो पता लगे कि है तो सर्वत्र एक ही सामरस्य की अवस्था। नाम-रूप दो हैं, अनुस्यूत तत्त्व एक ही है। भगवान् ने भी गीता में 'सूत्रे मणिगणा इव' कहा, मणि और धागा भी एक ही है। यह देखना हो तो पंजाब जाना पड़ेगा। वहाँ धागे की माला बनती है, मणि भी धागे के ही बनते हैं। धागा मणि में व्याप्त है। सूत ही मणिरूप से और मणि सूतरूप से है। इसी प्रकार वही परमेश्वर-शक्ति नामरूपाकृति है और वही नामरूपाकृति में रहने वाला है। किन्तु साधक के मन से यह भेद हटता नहीं। सोचता है, हैं तो दो ही। जितना कहो कि अध्यस्त कुछ नहीं, तुच्छ है, यह जगत् कुछ नहीं, मायिक है, अज्ञ कहता है 'केवल कहना ही है कि कुछ नहीं है, सामने चीज़ें देखकर भी कैसे कहते हो कि कुछ नहीं है!' जितना भी कहो कि मायिक, आविद्यिक, प्रातिभासिक है, तो कहता है कि जो भी हो, है तो सही। एक तो वह नामरूप है जो दीख रहा है और दूसरा वह जो शास्त्रादि से सिद्ध सच्चिदानन्द है जो नहीं दीख रहा है। शिव का भक्त तो उधर ही देखता है। पार्वती जी कहती भी हैं कि वैराग्य वाला है, इसकी साधना पकने दो। भगवान् ने कहा, 'यह तो ठीक नहीं, यह दो माने बैठा है' तब अर्द्धनारीश्वर रूप लेते हैं। विवेकी विचार की तीक्ष्ण दृष्टि से समझता है कि जो रूप है वही ज्ञान है और जो ज्ञान है, वही रूप है। बिना एक के दूसरे की सिद्धि नहीं। उसमें भी दीवार खड़ी कर देते हैं कि 'मैं तो आँखें मींचकर निर्विकल्प समाधि में ही ब्रह्म को देखूँगा।' विचार के लिये अर्द्धनारीश्वर रूप को दिखाया तो पहले उसमें भी दो मानता है - एक निर्विकल्प और दूसरा सविकल्प! अंत में नैवेद्य का समय आया। चाहे जितना समय निर्विकल्प समाधि में रहे, कभी न कभी तो जगत् का भान होगा। प्रारब्ध -फल का भोग ही नैवेद्य है। दो देखने वाला कहता है कि मरने के बाद ही विदेह मुक्ति का आनन्द लूँगा। अंत में कृपा करके स्पन्द-मात्र से समझाया कि वह घट-ज्ञान भी बदल कर शिव-ज्ञान ही है। घट-ज्ञान का बदलना यही है कि शिव-शक्ति की तरह और शक्ति भी शिव की तरह है। घटविशिष्ट ज्ञान भी असत् नहीं है। 'नील घट' इस ज्ञान में भी दो दीख रहे हैं। किन्तु वस्तु व ज्ञान एक ही है। घट-ज्ञान में कारण एकमात्र ज्ञान ही है। घटाकार तो उसमें विशेषणमात्र है। यहाँ पहुँचकर शिव-शक्ति की एकता का पता लगता है। तब इसी की पूजा करता है। संवित् के अतिरिक्त किसी का ग्रहण नहीं करना, यही सर्वोत्तम पूजा है।

प्रवचन–२०

आत्मविस्तार

२७-७-६८

भगवती श्रुति इस मंत्र में 'यशो मे वोचः' से आत्मतत्त्व के विस्तार का निरूपण करती है। विस्तार का स्वरूप क्या है? इस पर विचार करते हुए देखा कि प्रथम निर्विकल्प अवस्था है जहाँ द्रष्टा–दृश्य दोनों भावों का सर्वथा अभाव है। द्रष्टा–दृश्य ही सविकल्प है और इससे रहित दर्शन–मात्र है, अथवा ज्ञेय–ज्ञाताभाव से रहित ज्ञप्तिमात्र है। इस भाव के अन्दर ईषत् विकार को प्राप्त होने पर भेद का स्फुरण होते ही द्रष्टा–दृश्यभाव की प्राप्ति होती है। शुद्ध विद्या या शुद्धाध्वा के अन्तर्गत भेद का भान न होने पर और अभेद पूर्ण स्फुट होने पर भी किंचित् विकार मानना पड़ता है क्योंकि वहाँ द्रष्टा–दृश्यभाव बन रहा है। इस ईषत् विकार में अभी बंधन का भाव नहीं है। पदार्थों का भान तीन आकारों से होता है। इस का संकेत कर चुके हैं कि तीन भावों में पदार्थों की प्रतीति होती है वस्तुप्रतीति, वृत्तिप्रतीति और संवित्प्रतीति।

घट–ज्ञान से घड़े की प्रतीति हुई तो इसका नाम वस्तुप्रतीति है। 'घड़ा है' इस बात को जानते हैं अर्थात् घट नामक वस्तु की प्रतीति हो रही है। सामान्यतः अविवेकियों को वस्तु–प्रतीति ही होती है और विवेकी को वस्तुप्रतीति न होकर वृत्तिप्रतीति ही होती है। मन की वृत्ति ही घड़े–रूप में बनी प्रतीत होती है। यही 'वृत्तिप्रतीति' है। वृत्ति का अर्थ कोई विवेकी ही जानता है। आज का वैज्ञानिक यह मानता है कि पदार्थों के बारे में दो तरह की प्रतीतियाँ होती हैं। एक, व्यवहार चलाने वाली और दूसरी, जिसे सिद्धान्त से समझा जाता है। विज्ञान का विद्यार्थी भी जानता होगा कि दो तरह की प्रतीति होती है। एक वह दीवाल है जिसके अन्दर से कोई नहीं निकल सकता। दूसरी वह जिसके बारे में पूछो तो वैज्ञानिक कहेगा

कि पोल है। थोड़ी शक्तिमात्र, ऊर्जा (एनर्जी) ही है। इस विषय में इतना हिसाब लगाया गया कि सारी सृष्टि में जितने भी ठोस पदार्थ हैं, उन सबको इकट्ठा करके एक पिण्डी कर दें तो एक नारंगी जितना आकार हो जायेगा। इस प्रकार पोल ही पृथ्वी नजर आती है। विवेक किया जाता है तो यह प्रतीति होती है।

दूसरे दृष्टांत से समझ लो : जैसे छोटे-छोटे विद्यालयों में भूगोल में यह पढ़ाया जाता है कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है और पृथ्वी का जो हिस्सा सूर्य के सामने आता है, वहाँ दिन होता है। वैज्ञानिक को भी प्रमाण के साथ यह निश्चय है। इतना होने पर भी व्यवहार में यह प्रतीति है कि सूर्य उदय और अस्त हो रहा है। व्यवहार में यह कहना नहीं चलेगा कि अब पृथ्वी सूर्य के सामने आ गई, इसलिये दिन हो गया। इसी प्रकार पदार्थ के सर्वथा असिद्ध होने पर भी लोग कहते हैं कि वासनाजाल में फँसे हैं। किसी भाषा के कवि ने भी कहा कि व्यवहार को लोग कैसा मानते हैं। 'रंगी को नारंगी कहें, कढ़े दूध को खोया। चलती को गाड़ी कहें देख कबीरा रोया।' देखते तो है रंगी, रंग वाला फल और कहते हैं उसे नारंगी। देखते हैं दूध का सारभाग और कहते हैं उसे खोया। ऐसे ही यह जानते हैं कि पृथ्वी घूम रही है फिर भी कहते हैं कि सूर्य ऊपर या नीचे हो गया। ठीक इसी प्रकार वेदान्त-विचारक या अन्य विचारक को यह निश्चय है कि अंतःकरण की वृत्ति के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं जिसका हमें ज्ञान हो सके। ऐसा नहीं कह रहे कि जहाँ घड़ा दीख रहा है, वहाँ घड़ा है ही नहीं। यह नहीं कह सकते क्योंकि किसी व्यक्ति से कहो कमरे में देखकर आओ, हरे राम जी बैठे हैं या नहीं। वह यह कहे 'मैं तो अंधा हूँ, मुझे पता नहीं चलेगा।' तुम उससे यह नहीं कहते हो 'अगर तुम अन्धे हो तो तुम्हें यही बताना है कि हरे राम नहीं है।' चीज को न देख सको यह ठीक है लेकिन इतने से उसके अभाव को देख सको ऐसा नहीं। जिसे रूप नहीं दीख सकता उसे रूप के अभाव का भी ज्ञान नहीं हो सकता। शब्द नहीं सुन सकते तो शब्द के अभाव का ज्ञान भी हो नहीं सकता है। 'घट है' यह जानने का साधन नहीं है तो 'घट नहीं है' अर्थात् उसके अभाव को जानने का साधन भी नहीं है। अन्तःकरण की वृत्ति ही विषयज्ञान में साधन है। 'घट है' यह वस्तु-प्रतीति तो अविवेकी को होती है। और वृत्ति-प्रतीति विवेकी को ही होती है कि मेरे अन्तःकरण में ही घटाकार प्रतीति है। वृत्ति-प्रतीति घड़े के कारण है या घड़े के अभाव के कारण, यह दूसरी बात है; किन्तु विवेकी को यह निश्चय है

कि वृत्ति के सिवाय ज्ञायमान वस्तुतः और कुछ नहीं है। ये दोनों प्रतीतियाँ बंधन का कारण हैं। व्यक्ति सोचता है कि वस्तु के कारण ही सुख और दुःख हुआ है, इसीलिये वस्तु को छोड़ने या पकड़ने में लगा रहता है। जब अंतःकरण की वृत्ति की प्रतीति पर दृष्टि रहती है तब बाहर की दौड़-धूप मिट जाती है किन्तु अंदर की दौड़-धूप बाकी रह जाती है! बाहर की वस्तु की तरह ही वृत्तियाँ भी सुख-दुःख का कारण होती हैं। सुखकारी वृत्ति है तो चाहते हो कि उसका पुनः पुनः दर्शन हो। दर्शन न होने पर दुःखकारी वृत्ति बनती है।

वस्तुप्रतीति या वस्तु के आकार की प्रतीति तक क्रिया या कर्म प्रधान रहेगा। वस्तु है – इस प्रतीति के कारण व्यक्ति वस्तु की तरफ जाता है। क्योंकि क्रिया से ही उस वस्तु की प्राप्ति हो सकती है अतः यहाँ क्रियाप्राधान्य है। इसमें वस्तु के अतिरिक्त कोई दृष्टि नहीं है। लौकिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये लौकिक क्रिया और शास्त्रीय पदार्थों की प्राप्ति के लिये शास्त्रीय क्रिया करता है।

वृत्ति-प्रतीति का काल उपासना-प्रधान है। वस्तु-प्रतीति में तो बाह्य सामग्री एकत्रित करता है। चित्त में शुद्धि बढ़ने पर इस निश्चिय पर पहुँचता है कि अंतःकरण की वृत्ति ही स्वर्ग का भी स्पन्दन है। अब बाह्य क्रिया की अपेक्षा उपासना पर ही ज्यादा जोर देता है। यहाँ पहुँचा तो समझेगा कि वृत्तिमात्र भी दुःख का कारण है। वस्तु-प्रतीति में जो कर्म से प्राप्त होता है वह दुःख का कारण है यह निश्चय तभी हुआ जब कर्म करके वस्तु को प्राप्त कर लिया। आदमी करोड़पति है और कहता है कि धन से सुख नहीं तो उसकी बात मान लेते हैं। लेकिन तीस रुपये की नौकरी वाला यदि यह कहे तो विश्वास नहीं कर सकते। उसे सौ रुपये की नौकरी देकर देखो। अगर सौ रुपयों को देखते ही दौड़ा आता है तो मानना पड़ेगा कि 'धन से सुख नहीं' यह उसका अनुभव नहीं, केवल सुनी हुई बात कहता है। अगर कहे 'दो सौ रुपये भी दो तो नहीं आयेंगे', तब तो धन दुःख का कारण है यह उसका अनुभव अवश्य है। इसी प्रकार आजकल बहुत-से लोग कहते हैं कि उन्हें स्वर्ग की इच्छा नहीं। लेकिन इसका पता तभी चलता है कि जब स्वर्ग के जैसे पदार्थों की सम्भावना होती है। यदि उन पदार्थों को लेने दौड़ते हैं तो उनका कहना वास्तविक नहीं। ऐसे ही बुढ़ापे से पहले लोग कहते हैं कि जवानी अच्छी नहीं लेकिन बुढ़ापा नहीं आये इसके लिये औषधि लेने दौड़ते

हैं तो उनका वह कहना अनुभव से नहीं, कहनामात्र है क्योंकि उन्हें इच्छा तो हुई कि जवान ही रहें। यदि जवानी अच्छी नहीं होती तो क्या वे ऐसी इच्छा करेंगे? अतः कर्म से पदार्थों को प्राप्त करने पर और उपासना के द्वारा इन्द्रादिपदों के भोगों को प्राप्त करके यदि कोई कहे कि पदार्थों में और भोगों में कुछ सुख नहीं तो उसका यह सच्चा अनुभव होगा। इसी प्रकार, उपासना में अंतःकरण की वृत्ति को बनाते-बनाते जब यह निश्चय हो कि वृत्ति भी दुःख का कारण है तब उपासना को भी छोड़ेगा। अब वह निर्विकल्प वृत्ति की ही इच्छा करेगा। अतः पहला कदम हुआ वृत्ति।

जब निर्विकल्प में पहुँचता है तब देखता है कि वहाँ भी पूर्ण स्थिति नहीं है। आखिर कितने समय तक निर्विकल्प रहोगे? आचार्य विद्यारण्य स्वामी लिखते हैं कि केवल अंतःकरण की वृत्ति के अभाव से मोक्ष होता तो सुषुप्ति में सबका अंतःकरण समाप्त हो ही जाता है। ऐसे ही महाप्रलय में भी जब तक वृत्तिशून्यावस्था है, हजार चतुर्युगी बीतने पर भी उसका पता नहीं चलता, क्योंकि अंतःकरण की वृत्ति वहाँ नहीं है। किन्तु जैसे ही वृत्ति बनी कि फिर वैसा का वैसा संसार है। कहाँ निर्विकल्प अवस्था और कहाँ इन सबका प्रकाशक साक्षी मैं! यह अन्तर ही योग और उपासना की चरम सीमा है। यहाँ पहुँचकर निश्चय होता है कि घट और वृत्ति दोनों नहीं, वस्तु-प्रतीति और वृत्ति-प्रतीति दोनों ही नहीं हैं, केवल ज्ञान ही है, वही तदाकारेण भान हो रहा है। ईषत् वृत्ति को प्राप्त करने पर ज्ञान तत्तद् आकारों को प्राप्त करता है बस इतना ही उसका अनुभव है। इस क्रम में शुद्धाध्वा के अंदर संविदाकार, शुद्धाशुद्ध में वृत्त्याकारता और अंत में अशुद्ध में वस्तु का ही भान होने लगता है।

महत् का विचार करते हुए बताया था कि संकल्प दृढ होकर कैसे घनीभाव बनता है। संविद् का घनीभाव ही अंतःकरण की वृत्ति और उस वृत्ति का घनीभाव होने पर बाहर वस्तु की प्रतीति या प्राप्ति हो जाती है। यही ईषत् विकार की प्राप्ति है। वस्तुतः शुद्धाध्वा में संविदाकार-प्रतीति है। द्रष्टा-दृश्य का भेद होने पर भी यह भेद विकार को नहीं ला पाता क्योंकि शिव-शक्ति में भेद का आभास मिथ्या है। द्रष्टा-दृश्य की भेद-प्रतीति ही मिथ्या है। ईषत् वृत्ति प्राप्त होने पर भेद है नहीं, केवल शिव का शक्ति की ओर अभिमुख होना है। जैसे दो आदमी मोटर में

चुपचाप जा रहे हैं। उनमें से एक अकस्मात् थोड़ा हिलता है तो दूसरा भी तुरन्त उसकी तरफ आँख करता है। ऐसे ही जब दृश्यभाव बना तो शक्ति में विकार हुआ और शिवतत्त्व उसकी ओर अभिमुख हो गया। यहाँ भेद या द्वैत नहीं। दोनों ही संविद्रूप से हैं। अतः मिथ्या ज्ञान नहीं है जबकि द्वैत का भान मिथ्या है। द्वैत का भान न होने से स्वस्वरूपेण भान है। है तो यह भी ज्ञान ही, लेकिन भेद-प्रतीति न होने के कारण मिथ्या नहीं है।

इस पर साधनादृष्टि से विचार करें। ब्रह्माकार वृत्ति में अंतःकरण की वृत्ति का ब्रह्मज्ञान मिथ्या नहीं है। मैं ब्रह्म को जान रहा हूँ, यह भान नहीं, बल्कि वृत्ति के कारण 'मैं ब्रह्म हूँ' यह भान है। इस 'मैं ब्रह्म हूँ' के पेट में दो बैठे हैं, एक मैं और दूसरा ब्रह्म। जब ये दोनों हैं, तभी तो मैं बन रहा है। अतः यहाँ भी स्पष्ट है कि भेद का अवभास न होने के कारण स्वरूपका ही ज्ञान है। जब तक पदार्थ का संविद्रूप से भान हो तब तक मिथ्या नहीं हो सकता, अतः द्वैत नहीं है।

विष्णुपुराण में कहा है 'अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनः' सारे विश्वके रूप में मैं हरि हूँ, मैं जनार्दन हूँ। 'हरितो जगतो न हि भिन्नतनुः' हरि से जगत् का कोई भिन्न देह नहीं है यह स्थिति है जब भेदावभास नष्ट हो गया। चूंकि मैं ही जगद्रूप भी हूँ, इसलिये बंधन का कोई कारण नहीं है। छान्दोग्योपनिषद् में उत्पत्ति-क्रम बताते हुए श्रुति कहती है 'अहं पुरस्तात् अहमेवाधस्तात्।' नीचे, ऊपर, सामने, पीछे, चारों तरफ मैं ही हूँ, मेरे सिवाय कुछ भी नहीं है। यह साधना की दृष्टि है। उत्पत्ति क्रम में भेदावभास नहीं है। केवल ईषत् अभिमुखता है। इसी पर विचार करते हुए भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकरभगवत्पाद ब्रह्मसूत्रभाष्य में कहते हैं कि निर्विकार ब्रह्म अचिन्त्य शक्ति के योग से अनंतरूप बनता है। सौन्दर्यलहरी के आरंभ में ही लिखते हैं 'शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।' आचार्य लक्ष्मीधर यदि-पद की व्याख्या निश्चयार्थ में करते हैं कि शिव शक्ति से भिन्न हो ही नहीं सकता! जैसे कहें कि यदि वेद प्रमाण है तो स्वर्ग जरूर होगा, तो यहाँ कहने का अर्थ है कि स्वर्ग अवश्य होगा। या कहें 'यदि तू बनिये का बच्चा है तो व्यापार में सफल अवश्य होगा,' यहाँ भी यदिपद निश्चयार्थ में प्रयुक्त है। इसी प्रकार 'शक्ति के बिना शिव स्पन्दन कर ही नहीं सकते' का तात्पर्य यह है कि दो प्रकार की उपाधि को स्वीकार किया गया है। यद्यपि शिव-शक्ति निर्विकल्पावस्था में एक ही है परन्तु शक्ति का प्रथम स्फुरण है जिसमें दो प्रकार का भेद है, शक्य

के अनधीन और शक्य के अधीन। जैसे एक चीज घड़ा है और एक तदाकार वृत्ति है। घड़ा तुम्हारी वृत्ति के अधीन नहीं है जबकि तुम्हारी वृत्ति का निर्णय करने वाली चीज घड़ा है। तुम वृत्ति के जोर से घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते। अथवा, तुम्हारी वृत्ति तो घड़े के अधीन है लेकिन घड़ा तुम्हारी वृत्ति के अधीन नहीं है। अतः शक्य (घट) की संभावना प्रतियोगी (घट-ज्ञान) के अधीन नहीं, किन्तु घट-ज्ञान घट के अधीन है।

ऐसे ही शक्ति सर्वथा अनधीन है। वह कौन-सा रूप लेगी, यह निर्णय करने वाला कोई नहीं है। किन्तु जैसे ही शक्ति ने रूप लिया, वैसे ही प्रकाश करना शिव का कार्य है। अतः शिव का आकार शक्ति के अधीन है, शक्ति का तो सर्वथा स्वातंत्र्य है, क्योंकि शक्ति जिस आकार की बनेगी शिव को उस आकार का प्रकाश करना है। इसलिये यहाँ शक्ति के अधीन शिव है। अतः एक जगह (निर्विकल्पावस्था में) अनधीन होने से शिव स्वतंत्र है और दूसरी जगह वही शक्ति-अभिमुख होने से अधीन है। यदि शक्ति का स्पन्दन न हो,यदि वह तदाकार में परिवर्तित ही न हो तो ज्ञान किससे करोगे! अब जो सामने आ रहा है वह या तो संविद्रूप है, या वृत्तिरूप अथवा वस्तुरूप है। वस्तु-प्रतीति में भिन्नरूप से जानता है, वृत्तिरूप में भिन्नाभिन्नरूप से और संविद्रूप में अभिन्नरूप से जानता है। उसे किस प्रकार से जाना जाये यह तुम्हारी स्वतंत्रता है कि तुम किसे प्रकट करते हो, उसे किस प्रकार से जानते हो।

दो उपाधियों को लेकर द्रष्टा-दृश्यभाव आया तो विकृति के अन्दर पाँच सोपान हो जाते हैं। ये सोपान शुद्धाध्वा के हैं।

१. अनुत्तर अवस्था में किसी प्रकार का भेद नहीं है।

२. शक्ति में ईषत् विकार आया तो शक्ति-तत्त्व का प्रथम स्पन्दन है। यहाँ शक्ति में विकार स्व-इच्छामूलक ही है। उसका कारण चाहे जो हो। उसे चाहे पूर्व कल्प के जीवों का प्रारब्ध मानो अथवा उसका स्वातंत्र्य उन्मेष मानो लेकिन हर हालत में ईक्षण है कि 'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ,' यही शक्ति का दीखना है।

३. सदाशिव तत्त्व उसकी ओर अभिमुख हुआ, उस विकार को प्रकाश करने वाला है।

४. अब विद्या तत्त्व आया। जब इच्छा को जाना तो सदाशिव तत्त्व था। जब जान लिया तो क्रिया-शक्ति आई। सृष्टि की इच्छा पहले हुई और फिर उसे जाना।

अब अनंत कोटि ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो गया। इस ज्ञानोन्मेष से क्रिया-तत्त्व का विकास हुआ और सर्वज्ञता आई तो बाह्य आकार में परिवर्तन के लिये फिर इच्छा शक्ति का उन्मेष हुआ और उसके अनुसार क्रिया हुई।

५. पाँचवाँ सोपान ईश्वर तत्त्व है, यहाँ तक तो पूर्ण अभेद का ही ज्ञान है, 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च।' जैसे मकड़ी जाले को बाहर-अंदर करती है या पेड़-पौधे मिट्टी से उत्पन्न होकर फिर मिट्टी में ही लीन हो जाते हैं। अतः ईश्वर तत्त्व पर्यन्त भेद का भान नहीं है। इसलिये इस अवस्था को शुद्धाध्वा कहा है। इसके अंदर सारे भेद आते नहीं हैं। जब भेद का भान हुआ तो इसे उल्टी तरफ से समझ लोः ईश्वर तत्त्व में सर्व-कर्तृत्व, सर्वज्ञता, सदाशिव-तत्त्व, शक्ति-तत्त्व और फिर अनुत्तर अवस्था। यह क्रम प्रयोग से पता लगेगा।

प्रयोगशाला तुम स्वयं ही हो! वेदांत की यही विशेषता है 'अनुभवावसाना हि ब्रह्मविद्या।' तुम रात में सोये हो तो न अपना भान है और न अपनी शक्ति का भान है। 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने' वहाँ सब कुछ विलीन है, दृश्य-द्रष्टाभाव कुछ भी नहीं चिन्मात्र ही है। यद्यपि अविद्या का पर्दा वहाँ है। यह न होता तो फिर सुषुप्ति और चिन्मात्र-स्थिति में भेद ही क्या होता! जैसे नमूने की मोटर चल नहीं सकती, क्योंकि कुछ उसमें पर्दा है। इसी प्रकार सुषुप्ति में भी अविद्या का भेद है। इसे हटा दो तो फिर कोई भेद नहीं। सुषुप्ति में अनुत्तर अवस्था है। सुषुप्ति के बाद जब पहले-पहल जाग्रत् अवस्था आई तो उसमें कुछ दीख नहीं रहा है। फिर विकार हुआ। किन्तु जानने की शक्ति है कि 'मैं उठ जाऊँ' यह इच्छा है। सोने से पहले घड़ी को कमरे से बाहर रख दो और अपने आप से दृढ संकल्प कर कहना कि मुझे सवेरे ठीक चार बजे उठ जाना है। इसी संकल्प के साथ सो जाना। यह भी इच्छा ही है। जैसे ही आँख खुलती है तो देखोगे कि चार बजे हैं। चार बजे उठाने वाली इच्छा ही है। इच्छा ने स्पन्दन किया और उस स्पन्दन से जान लिया। यह इच्छा तत्त्व है। लोग जब कहते हैं कि उठा नहीं जाता तो हमें हँसी आती है। हम कहते हैं- जागना-सोना तो केवल तुम ही कर सकते हो। खाना खिलाने का काम तो दूसरे भी कर सकते हैं। जैसे आजकल डाक्टर इंजैक्शन से शक्ति दे देते हैं।

प्रथम शक्ति-स्पन्द होते ही शिव-स्पंद ने जान लिया, शिव ने देख लिया। जैसे ही इच्छा को जाना तो ज्ञानशक्ति का विकास हुआ कि मुझे अमुक जगह जाना है। उस समय के संसार के तुम सर्वज्ञ हो। अतः सर्वज्ञता का स्पंदन हुआ।

सोचा, यदि साढ़े पाँच बजे नहीं पहुँचे तो लाख रुपये का सौदा समाप्त हो जायेगा क्योंकि साढ़े पाँच बजे व्यापारी का जहाज छूट जायेगा। जैसे ही यह सर्वज्ञता आई तो क्रिया का उन्मेष हुआ। अब तक भेद-ज्ञान नहीं था, अब दूसरे को जानोगे। जब जमीन पर पैर रखा तो कुछ ठंड लगी, मोजे पहने और तैयार हो गये। स्वयं भी अपने अंदर भान है, अविद्या का भेद तो है ही। यहाँ किंचित् भेद को भेद नहीं मानना चाहिये।

एक बार भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर काशी में स्नान करके भगवान् विश्वनाथ के दर्शन के लिये जा रहे थे। एक जगह रास्ते में लम्बा तगड़ा चाण्डाल खड़ा था। काशी की गली वैसे भी बड़ी सँकरी, उसपर चाण्डाल ने चारों तरफ कुत्ते खड़े किये हुए थे। भाष्यकार ने कहा, 'हट जा।' चाण्डाल ने विचार किया कि मुझे हट जाने को कहते हैं तो उसने बड़े प्रेम से कहा कि 'मुझ में दो चीजें हैं; एक शरीर और दूसरा उसमें रहने वाला चेतन है। अतः हे द्विजवर आप किसे दूर करने के लिये कह रहे हैं? यदि शरीर को दूर करने के लिये कहा तो जो अन्न का विकार हमारा शरीर है, वही अन्न का विकार तुम्हारा शरीर भी है। मैं भी उसी अन्न-विकार को लेकर घूम रहा हूँ जिसे आप लेकर घूम रहे हैं। यदि यह बात नहीं, बात चेतन की है तो शुद्ध संवित् से मेरे-तेरे में कोई भेद नहीं है, फिर मैं क्या दूर करूँ? यदि कहो, यह भी जाने दो, आत्मा तो शुद्ध है, अंतःकरण या वासनाओं का भेद है। तो अंतःकरण से भी भेद किस आधार से करना चाहते हो? यदि अंतःकरण पानी की तरह है तो एक सूर्य का प्रतिबिम्ब गंगा के जल में और दूसरा प्रतिबिम्ब महान् गंदे नाले में भी पड़ रहा है। लेकिन सूर्य की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। यदि बढ़िया काँच या थाली में चेहरा देखें तो फर्क हो सकता है लेकिन सूर्य की दृष्टि से दोनों में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब में कोई फर्क नहीं। अथवा एक घड़ा सोने का हो और दूसरा मिट्टी का, तो दोनों में रहने वाले आकाश में कोई फर्क नहीं है। प्रत्यगात्मा का काम तो है प्रकाश करना। इस आनंदसमुद्र में जहाँ कोई तरंग नहीं, वहाँ विप्र और चाण्डाल का इतना भेद कैसे करते हो? अतः शरीर में कोई भेद हो तो बताओ। आत्मा में या अंतःकरण को उपाधि मान रहे हो तो उसमें क्या भेद है? ऐसा तो नहीं कि तेरे अंतःकरण में तू और मेरे अंतःकरण में मैं हूँ! जैसे जो आकाश या सूर्य का प्रतिबिम्ब सोने के घड़े में है, वही मिट्टी

के घड़े में भी है, ऐसे ही जो 'मैं' तुम्हारे अंतःकरण में विप्ररूप से आया, वही 'मैं' इस शरीर में श्वपचरूप से आया है।'

यह सुनकर भगवान् भाष्यकार को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यहाँ तो चाण्डाल भी वेदान्ती है! कहने लगे 'तेरा कहना ठीक है कि भेद-भ्रम ठीक नहीं है। संवित् तो जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति में तदाकार ही है। फिर भी जब तक एक को प्रातिभासिक, दूसरे को व्यावहारिक कहते हो तब तक सारे भेद होंगे। यद्यपि जाग्रत्-स्वप्न में भी संवित् ही तदाकार भास रही है, सुषुप्ति में सर्वलीनावस्था में भी संवित् ही तदाकार हो रही है, सारे विकल्पों से रहित शिव-शक्ति सामरस्य भी संवित् का ही रूप है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में स्फुट-स्फुटतर संवित् ही है, वही स्वप्न से जाग्रत् में और ज्यादा फैल गई है। ब्रह्मा और चींटी में भी संवित् एक ही है। 'या ब्रह्मादि-पिपीलिकान्ततनुषु प्रोता जगत्साक्षिणी' दोनों में जगत् का साक्षी एकमात्र वही है। 'सैवाहम्' वही मेरा स्वरूप है ऐसा दृढ अनुभव है। अतः पहले दो का निराकरण शास्त्रयुक्ति से होने वाले ज्ञान और निर्विकल्प में होने वाले ज्ञान से कर दिया। फिर कहते हैं कि 'चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुः इत्येषा मनीषा मम' मेरा निश्चिय है कि तुम चाण्डाल नहीं हो और द्विज भी नहीं हो, तुम मेरे गुरु ही हो! मैं ही संवित्रूप से सब कुछ स्पंदित कर रहा हूँ, यह बात साक्षात् गुरु ही कह सकते हैं। चूंकि यहाँ तुम भेदावभास वाले हो, तभी हमने भेद की बात कह दी है।' जैसे ही उन्होंने यह बात कही, वहाँ साक्षात् भगवान् विश्वनाथ प्रकट हुये और उन्होंने कहा कि 'अब तू ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिख।' बताना यह है कि इस प्रकार का भेदावभास न होने पर जो शुद्ध विद्या (शुद्धाध्वा) में पहुँच चुका है और बाहर से भेदवत् व्यवहार करते दीख भी रहा है तो भी अंदर से उसी तत्त्व में स्थित है। भेदवत् 'गच्छ गच्छेति' कहने के काल में भी संविद्रूप से ही भान है तदतिरिक्त कुछ नहीं। क्योंकि शुद्धाध्वा में संविद्रूप का ही भान है।

प्रवचन-२१
शक्ति
२९-७-६८

भगवती श्रुति ने प्रथम उस परमात्मा की व्यापकता का निरूपण किया, फिर उस व्यापकता को संकुचित करने वाले महापापरूपी परिच्छिन्नता की निवृत्ति के रूप को बताया। उसके विस्तार पर विचार करते हुए पहले शुद्ध विद्या में होने वाले तत्त्वों का निरूपण अथवा परमेश्वर की तिरोधान-शक्ति का विचार किया कि किस प्रकार परमेश्वर ने एक-एक चीज में अपने को परिच्छिन्न कर दिया। इसका विचार करते हुए शुद्ध विद्या को शुद्ध अहम् द्वारा बताया। जिस प्रकार जब केवल 'मैं' या अहम् भावना होती है तब उस शुद्ध 'मैं' में मैं ही जानने वाला हूँ और 'मैं' ही वह हूँ जिसे जाना जा रहा है। मैं को मैं ही जान रहा है। मैं जानने वाला और मैं जिसे जान रहा है, लगता है दो हैं पर सचमुच एक ही है। यही अहम् प्रथम स्पन्दन है। 'अहम्' कहने पर सर्वथा अभेद होने पर भी कुछ स्फुरण हुआ है। यह ईषत् विकार का प्रथम संकल्प स्वातंत्र्य शक्ति का उन्मेष है। अथवा प्रस्थानभेद से मंदाधिकारी के लिये पूर्व-कल्पों के प्रारब्ध के कारण है।

अहम्-संकल्प में अद्वैत का स्फुरण है और साथ ही द्वैत का भान भी है। मैं अपने को जान रहा हूँ। यह प्रतीति करने वाला स्पष्ट रूप से जान रहा है कि ज्ञाता और ज्ञेय में अद्वैत है। दो डण्डों को आपस में भिड़ाने पर आवाज निकलती है। डंडे अलग-अलग हैं किन्तु उनसे निकलने वाली आवाज एक है। या यों समझ लो, ओठ दो हैं किन्तु उनमें से निकलने वाली ध्वनि एक है। ध्वनि निकलने में ओष्ठ के नीचे या ऊपर वाले हिस्से का अलग कोई महत्त्व नहीं। रसगुल्ला और जीभ दो हैं किन्तु उसका आनन्द, सुख एक है। जिस प्रकार यों दो से एक होता

है, वैसे एक से दो शिव-शक्ति हुए हैं। साधना-प्रक्रिया में वहाँ भी दो से एक होना है। ब्रह्माकार वृत्ति (ब्रह्मज्ञान) और उसका विषय ब्रह्म दो हैं किन्तु उत्पन्न स्थिति एक ही है यह लय-प्रक्रिया में आगे बतायेंगे। सृष्टि-प्रक्रिया में इससे उलटा है। जैसे ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति उमा हैमवती मिलकर एक है ठीक उसी प्रकार जिस एक से दो निकले उसमें कोई भेद नहीं। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।' दो का स्फुरण 'अहम्' में हुआ। तब जैसे ही शक्ति का विकास आया, शिव को उसे जानने वाला भी बनना पड़ा क्योंकि बिना जाने उसकी सिद्धि नहीं। बनने वाला स्वतंत्र है और जानने वाला परतंत्र है। एक शक्य-प्रतियोगी-अनधीन और दूसरा शक्त-प्रतियोगी-अधीन है। क्या देखें, यह हमारे हाथ की बात नहीं, पर जो दीख रहा है, इसमें हम स्वतंत्र हैं। बिना देखे दृश्य की सिद्धि नहीं होती। इसी प्रकार शक्ति अपनी सिद्धि के लिये शिव के अधीन है लेकिन वह किस रूप में सिद्ध हो, इसमें शक्ति स्वतंत्र है। सामने रूप आया, रूपज्ञान हुआ। कैसा रूप आये, इसमें रूप स्वतंत्र है लेकिन सिद्ध तभी हुआ जब उसे जाना। जैसे-जैसे शक्ति का उन्मेष हुआ, उसे जाना; ज्ञान बढ़ गया इसलिये वह सर्वज्ञ हो गया। ज्ञान होने पर ज्ञेय पदार्थ में परिवर्तन करने के लिये क्रिया का उद्भव हुआ। यहीं से ईश्वर तत्त्व आरंभ हुआ। फिर उसमें पाँच भेदों का विकास हुआ: सृष्टि, स्थिति, उपसंहार, अनुग्रह और तिरोधान। तिरोधानरूप पर विचार कर रहे थे।

तिरोधान अर्थात् छिपानेमात्र से अशुद्धि शुरू नहीं हुई। लेकिन जीवने उसके छिपे हुए रूप की तरफ अनुग्रह किया, यहीं से अशुद्धि का बीज प्रारंभ हुआ। शिवने जीव पर अनुग्रह किया और जीव ने उसकी तरफ मुँह न कर अपने स्वरूप को भुला दिया, यही अशुद्धि है। पत्नी मानो शृंगार करके आई और पति बार-बार यही कह रहा है कि यह हार बड़ा अच्छा लग रहा है। वह पूछती है 'मैं हार में अच्छी लग रही हूँ या हार मुझ पर अच्छा लग रहा है?' परब्रह्म परमात्मा ने अनेक रूप में तिरोधान कर जिस जीव पर अनुग्रह किया, उसकी दृष्टि होनी तो यह चाहिये थी कि परमात्मा कितना महान् और सुन्दर है, लेकिन वह रूप और नाम को ही अच्छा कहने लगा, इसी को महत्त्व देने लगा। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है 'आरामम् अस्य पश्यन्ति न तम् पश्यति कश्चन' सुन्दर बगीचे को देखने में

सभी लगे रहे लेकिन जिसने यह सुन्दर बगीचा बनाया, उसकी तरफ कोई नहीं देखता। अन्य रूपों से अपने को छिपाया अपना यश ख्यापन करने के लिये पर जिस के प्रति यशख्यापन करना था और इसीलिये जिसपर अनुग्रह किया था उसने उलटा ही करना शुरू कर दिया! लोग शिकायत करते हैं कि हम जिसका उपकार करते हैं वही विरोधी बनते हैं। किन्तु यह तो नियम जीव ने ही पहले-पहल चलाया है कि जिसने उपकार किया उसका ही विरोध किया। जिसका कुछ उपकार नहीं किया, उससे कोई भी सरोकार नहीं है। दुश्मन बनाने का तरीका ही है कि किसी पर अनुग्रह करो! जब जीवभाव शुरू हुआ तब परम अनुग्रहकर्ता ईश्वर से दृष्टि हटा कर जीव ने संसार की तरफ दृष्टि कर दी, यही जीवभाव का मूल है। जीव अपने अनुग्रहकर्ता का ही तो विरोध करेगा, अन्य किसी से क्या विरोध करेगा! यदि अनुग्रह करने वाले की बात मानें तो बन्धन से मुक्त हो जायें। वैदिक शास्त्रों में जहाँ पाप का विचार किया है, वहाँ सबसे बड़ा पाप कृतघ्नता को माना है। वेदान्त न जानने वाले इसका रहस्य नहीं समझ सकेंगे। 'निष्कृतिः सर्वपापानां कृतघ्नस्य न हि न हि।' स्मृतिकार हारीत स्मृति में कहते हैं कि सारे पापों से छूटने का कोई न कोई प्रायश्चित्त है, यहाँ तक कि महापाप का भी प्रायश्चित्त है, किन्तु कृतघ्न पुरुष की निष्कृति किसी काल में, किसी उपाय से नहीं हो सकती। यही बताने के लिये स्मृतिकारों ने दो बार 'न हि न हि' कह कर जोर दिया। कृतघ्न का सामान्य अर्थ होता है जो किये हुए को भूल जाय पर संस्कृत में यह शब्द हन् धातु से व्युत्पन्न होता है जिसका अर्थ है मार डालना। किये को जो मार डालता है वही कृतघ्न है।

आत्मा को हृदय से मारना, अर्थात् उसे भूल जाना ही कृतघ्नता नामक सबसे बड़ा पाप है। अन्य पापों को स्मृतिकारों ने इतना बड़ा नहीं माना है, अन्य बड़े से बड़े दुष्कर्म भी हैं सुरापान, ब्रह्महत्या, चोरी करना, मांस खाना आदि बड़े पाप हैं, इन सब की अपेक्षा कृतघ्नता को ही सबसे बड़ा पाप क्यों माना इसे यदि समझ लिया जाय तो भारत की आज की पतित स्थिति का कारण भी समझ में आ जाये। हम अनेक कार्य उन्हें धर्म समझ कर करते हैं, किन्तु कृतज्ञता हमारे हिन्दू राष्ट्र में नहीं है। शास्त्रों में यहाँ तक कहते हैं कि 'एकाक्षरप्रदातारं गुरुं यो नाभिमन्यते' एक अक्षर भी किसी ने सिखा दिया तो उसे अपना गुरु समझकर उसका अपमान नहीं

करना चाहिये। आजकल क्या होता है? जिस अध्यापक से पढ़े उसी के विरुद्ध आन्दोलन चलाने में क्षणभर भी देरी नहीं करते। इसका प्रारंभ कहाँ से हुआ? पाश्चात्य देशों से समग्र विज्ञान सीख कर उन्हीं की निन्दा करना धर्म माना गया। यहाँ तक कृतघ्नता हुई कि उनके यहाँ से तार आदि जानकर उन्हें वेदों में प्रतिपादित मानने लगे। इससे विज्ञान की उन्नति और प्रगति तो हम कर नहीं पाये, खाली वादविवाद में फँसते गये। कुछ साल पहले हम कुल्लू घाटी में गये हुए थे। वहाँ के एक अभियंता हमारे पास आया करते थे। एक दिन कहने लगे, आज यह हालत है कि जिस अफसर को अपना सहायक रखा, उसे सब कुछ सिखाया, अब बदली होकर वह कहीं और चला गया तो उसे हमसे दुआ-सलाम करने में भी जोर पड़ता है, हमारा काम करने की तो बात ही दूर है। हालाँकि काम वह अब भी हमारे नीचे करता है किन्तु अब दूसरे जिले में जो चला गया है। अगर कहीं बदली होकर यहीं लौट आये तो फिर रोज सलाम करने लगेगा। किन्तु हमें जो काम सिखाते थे वे रिटायर भी हो गये पर कोई काम कहें तो हम करने की पूरी-पूरी कोशिश करते हैं। आजकल हमारे रिटायर होने के बाद की बात तो दूर रही, हमारे रहते ही भूल जाते हैं।

कृतघ्नता यहाँ तक बढ़ गई है कि लोग अपने माँ-बाप के प्रति भी कृतघ्न हो जाते हैं। जिस राष्ट्र में पुत्र यह कहे कि माँ-बाप ने मेरे लिये क्या किया, शिष्य यह कहे कि अध्यापक ने मेरे लिये क्या किया, तब भी वह देश अपने को धार्मिक कहे तो यह धर्म-ध्वजता हो सकती है, किन्तु धर्म नहीं। आज सारी अवनतिके मूल में 'असत्य' तो कारण है ही, किन्तु दूसरा सबसे बड़ा कारण कृतघ्नता ही है। इस कृतघ्नता के पाप की निवृत्ति नहीं है। यदि सालभर कोई उपकार करता रहे तो उसका ख्याल ही नहीं रहता और एक बात न माने तो याद रहती है। इसीलिये स्मृतिकारों ने इस पाप पर बड़ा जोर दिया है।

सारी कृतघ्नता का आरंभिक क्षण क्या है? ईश्वर के प्रति कृतघ्नता ही सारी कृतघ्नताओं का आरंभिक क्षण है। जिसने हमें सब कुछ दिया, उसी के प्रति कृतघ्नता की दृष्टि बनी हुई है। जिसने पानी बरसाकर एक बीज से हजार बीज बनाये उसके प्रति कृतघ्नता हो तो सभी के उपकार की गणना न करना अश्चर्य नहीं। घास खिलाकर दूध देने की शक्ति किसमें है? बना सकते हो उसे किसी

फैक्ट्री में? हमारे सारे काम करने वाला कौन है? किसने इतनी नदियाँ प्रवाहित करके, इतना जल देकर हमें सुखी किया तथा अन्य अनेकों बढ़िया पदार्थ दिये? आज कार्पोरेशन एक छोटा-सा पानी का नल लगाकर हजार रुपये का बिल भेज देती है, जिसने अथाह जल हमें दिया और हमसे कुछ माँगा नहीं, उसकी कैसी शक्ति और कृपा है! प्रत्यक्षसिद्ध सूर्य देव की ही शक्ति है जो अपनी किरणों से जल इकट्‌ठा कर के वर्षा करते हैं तभी नदियाँ बहती है। यदि सूर्य अपनी शक्ति से इतना न करे तो परम आनन्ददायक जल नहीं मिल सकता। उसके बदले में एक लाल फूल और थोड़ा-सा पानी समर्पण करने में भी आज बड़ा जोर आता है। इतनी-सी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये भी लोग सोचते हैं कि कहाँ से फूल लायें; यह उन्हें टंटा लगता है।

'एहि सूर्य सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते।
अनुकम्पय माम् भक्त्या गृहाणार्घ्यम् महेश्वर।'

लोगों को यह कहना नहीं जँचता। स्वल्प आयाससे सर्वप्रदाता परमेश्वर के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के बारे में कहते हैं कि हिन्दू धर्म में बड़ा टंटा है। लोग कहते हैं 'सूर्य हमारे लिये क्या करते हैं?' जब माँ-बाप ही कुछ नहीं करने वाले नजर आ रहे हैं तब सूर्य का उपकार नजर न आये, इसमें किसका दोष कहा जाये! यही कृतघ्नता का रूप है, और इसकी निष्कृति संभव नहीं। जिस परमेश्वर ने हमारे लिये सब कुछ किया, उसी की तरफ आदर, प्रेम की स्थिर दृष्टि रखना ही कर्त्तव्य है। लोग कहते हैं कि परमेश्वर के लिये समय नहीं मिलता। चलचित्र जाना है, दोस्तों को दावत देनी है, गोष्ठी में जाना है आदि के लिये मिल जाये पर भगवत्सेवा के लिये न मिले तो दोष समय का नहीं, ढूँढने वाले का है। कहते हैं, आज शाम भजन नहीं कर सके क्योंकि ठीक आरती के समय एक दोस्त आ गये थे। शाम का समय परमेश्वर से मुलाकात का निर्धारित हो चुका। उसी समय के दो ग्राहक थे, एक परमेश्वर और दूसरा दोस्त। तुमने सोचा 'परमेश्वर बुरा माने तो माने किन्तु दोस्त बुरा न माने।' दोस्त को ईश्वर से अधिक महत्त्व तुमने दिया इसी से भजन छोड़ा। न भजन स्वयं छूटा, न दोस्त ने छुड़ाया।

जब ईश्वर के प्रति ही कृतघ्न हो गये तो अन्य कृतघ्नतायें स्वाभाविक हैं। इसी की निवृत्ति के लिये देवता-वाद का विचार आरम्भ होता है। शुद्धाशुद्ध अध्वा में

देवगण आते हैं। तिरोधान के बाद सृष्टि उत्पन्न होने वाली है। तिरोधान से पूर्व तो केवल उपाधि है और यहाँ उपाधि से युक्त देवता (चेतन) भी बैठा है। वेद कहता है कि जहाँ जड चीज है वहीं जड-उपाधि वाला चेतन भी बैठा है। शरीर जड है, और उसमें जीव चेतन है। ऐसा क्यों? वेदान्ती जानता है कि अध्यस्त हमेशा अधिष्ठान पर रहेगा। यदि घट दीख रहा है तो घट-विशिष्ट चेतन भी विद्यमान है। जड उपाधिवाले चेतन का नाम देवता है। जैसे शरीर की उपाधि वाले जीव इस शरीर के देवता हैं, वैसे घड़े की उपाधि वाला चेतन घट-देवता, मकान उपाधि वाला गृह-देवता, कुल की उपाधिवाला कुल-देवता आदि। इस देव-वाद को न समझने के कारण ही लोग हमारे देवताओं से, बहुदेववाद से घबराते हैं। पत्थर, मिट्टी, पेड़, पानी आदि को हम देव मानते हैं। देवताओं की सीमा तो तब लगे जब परमेश्वर की शक्ति का अंत हो। परमेश्वर अनन्त उपाधियों वाला है, जितनी उसकी उपाधियाँ उतने ही देवता हैं।

महाराजा जनक की सभा में विदग्ध शाकल्य ने महर्षि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किये और महर्षि उन सबका उत्तर सम्यक् रूप से देते रहे। विदग्ध शाकल्य ने पूछा 'याज्ञवल्क्य! देवता कितने हैं।' याज्ञवल्क्य बोले, वैश्वदेव में जितनी निविद् हैं, उतने ही देवता है। अर्थ है कि सारे ब्रह्माण्ड का जो वैश्वदेव है, उस विश्व से संयुक्त चेतन-तत्त्व के जितने रूप होते चले गये, वे सभी अनंत देवता हैं। विदग्ध शाकल्य ने उनकी गिनती पूछी। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि तीन हजार तीन सौ तीन हैं। यह संख्या अनंतता को ही बताती है। देव हैं तो असीम। शाकल्य ने सिद्धान्ततः स्वीकारा कि जड की सत्ता चेतन के बिना सिद्ध नहीं, फिर भी पूछा कि देवता हैं कितने। महर्षि याज्ञवल्क्य ने बताया कि तैंतीस हैं। शाकल्य ने और संकुचित संख्या जाननी चाही तो महर्षि ने कहा 'पूरे तैंतीस तो नहीं, छह हैं।' छह को घटाकर तीन, उन्हें घटाकर दो और फिर डेढ देवता बताये। अन्त में याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट किया 'एक इति' कि एक ही देवता है। जब देवता एक ही है तो फिर ये डेढ़, दो, तीन, तैंतीस क्यों कहे? महर्षि याज्ञवल्क्य ने समझाया कि है तो एक ही किन्तु एक ही के ये अनेक भेद हैं। कई काम एक होते हैं किन्तु किस प्रकार किया जाता है, इसके अनेक भेद होते हैं। रसोई बनाने का काम एक किन्तु रसोई बनाने के भेद कई हैं। हीरा चमकाने का काम एक पर प्रकार अनेक अथवा हीरा एक है और उसके पहलू अनेक हैं। हीरे के पहलू कोने पर कटे हुए हिस्से होते हैं।

हीरे को लोग क्यों अच्छा मानते हैं? हीरे की अच्छाई तो इसमें है कि वह कड़े से कड़ा हो। संसार के सबसे कड़े पदार्थों में हीरा है काँच काटने में उसकी आरी से ही काम लेते हैं। इतना कड़ा हीरा रखा जाता है अत्यंत मुलायम मखमल की पेटी में मानों और कहीं रखना ही नहीं चाहिये! ठीक भी है, हीरे की शोभा उसी में है। हीरे में मुलायमियत नहीं, देखने में भी कोई विशेषता नहीं, काँचवत् ही है, कोई सुगंध भी नहीं, चखकर देखो तो स्वाद भी नहीं अर्थात् हीरे में शब्दादिक कोई भी विशेषता नहीं जिसमें कोई सुख हो। फिर क्या विशेषता है? हीरे की विशेषता है कि उसके पहलू अच्छे कटे हुए हैं तो चमकता है।

इसी प्रकार महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि देवता तो एक ही है लेकिन उसके पहलू अलग-अलग हैं। जितने पहलू बनेंगे, कीमत उतनी बढ़ेगी। हीरे में जितने कटाव भिन्न-भिन्न होंगे उसकी कीमत भी उतनी ही बढ़ेगी। ठीक इसी प्रकार से हम इसकी महत्ता मानते हैं कि एक ही देव में अनेक पहलू हैं। अन्य लोग तो कहते हैं कि देवता का एक ही पहलू रखो, एक पहलू वाला ही खुदा रखो, उसका एक ही मसीहा रखो। किन्तु वेददृष्टिमें उसकी भिन्न-भिन्न कटाई से अनंत पहलू बताते हैं। शास्त्र बताते हैं कि वह कैसे इतना अनंत बन गया। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह सारी सृष्टि उसी की महिमा है। अतः अनेक देवता, बहुदेववाद एक निरर्थक लांछन है। यदि अपठित जनता उन्हें अलग-अलग माने तो दूसरी बात है, ऐसा तो किसी भी वाद में भ्रम हो सकता है। एक ही देवता अनेक पहलू लेकर, अनंत रूपों को लेकर जगमगा रहा है। यह जगमगाहट न होती तो ये अनेक पहलू और अनंतता कैसे दिखाई देती? अनेक पहलू से ही जैसे हीरे की जगमगाहट विशेष है, वैसे ही अनंतता से उसकी महिमा विशेष है। चमक तो हीरे की अपनी है किन्तु कटाई से वह प्रकट हो गई। प्रकाश तो देव का अपना ही है, किन्तु अनंत रूपों को धारण करने के साथ ही उस एक देव की शक्ति प्रकट होती है। अतः शुद्धाशुद्ध अध्वा में देवतावाद का ही प्रकरण है, जिसपर आगे विचार चलेगा।

प्रवचन-२२

जुहू

३०-७-६८

'बहु स्याम्' इस ईक्षण के द्वारा आत्मा ने जब माया का नशा कर लिया तो उसको मानो एक हल्कापन जैसा महसूस हुआ। बहुत से लोग जब भाषण करना हो तो थोड़ा नशा कर लेते हैं। हमारे भूतपूर्व प्रधानमंत्री भी कभी-कभी ऐसा ही करते थे, फिर २-३ घंटे बोलते थे। उसमें विचार की कमी नहीं होती किन्तु चित्त के अन्दर की तीक्ष्णता या तनाव उतनी नहीं रहती। तीक्ष्णता में कमी आना ही जी-हल्का होना है। जो नशा पीने से पहले एक वाक्य बोलने पर भी विचार करते थे, वही अब मजाक करने पर भी कमी का अनुभव नहीं करते, यही मन का हल्का होना है। नशे की दूसरी अवस्था यह है कि मैं कौन हूँ कहाँ हूँ इसका भान तो होता है, अपने को सर्वथा भूला तो नहीं, किन्तु नशे के हिलोर में बहुत कुछ भूला-सा है। कहीं दस बजे पहुँचना है, इसका भान भी है, किन्तु हर क्षण मन कहता है, 'कोई बात नहीं, थोड़ी देरी भी हो जाये तो क्या?' इसी समय कोई याद दिला दे कि यदि नहीं पहुँचे तो हजारों रुपयों का नुकसान हो जायेगा तो हड़बड़ा कर चला भी जायेगा। खुद उसपर छोड़ दिया जाय तो जल्दी नहीं जायेगा।

इसी प्रकार अपने स्वरूप का भान है किन्तु स्वरूप से अतिरिक्त पदार्थों के भान से वह छिपा-सा है। किसी कारण से तो स्वरूप की स्मृति आ जाती है किन्तु स्वतः नहीं। नशे की पहली अवस्था में होश-हवास दुरुस्त रहते हैं पर नशे की दूसरी अवस्था में जागरूक करने की आवश्यकता पड़ती है। तीसरी अवस्था में तो 'मैं कौन कहाँ हूँ' इसे सर्वथा भूल जाता है। कान में ढोल भी बजाओ तो कोई असर नहीं, हिला-डुलाकर खड़ा भी करो तो फिर बैठ जाता है। ठीक इसी प्रकार आत्मा,

जो माया का नशा पीता है उसके विषय में समझना चाहिये। आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि 'पीत्वा मोहमयीम् प्रमादमदिराम्' शुद्ध अध्वामें अद्वैत का भान है कि मैं अखण्ड ही संविद् आकार में परिवर्तित हुआ हूँ। शुद्ध अध्वा में थोड़ा नशा तो है, किन्तु होश-हवास ठीक है, सुनने या स्मृति की जरूरत नहीं पड़ती। ईषत् विकार की दृष्टि होने पर भी कोई फर्क नहीं पड़ता। मध्य वाला हिसाब देवगणों का है। इसमें नशा दूसरी अवस्था का है। इतना नशा है कि अद्वैत का भान कुछ दबा हुआ है। बस, थोड़ा याद दिलाया कि झट जग गया और फिर अपने ही स्वरूप में स्थिति रहती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में आता है कि सृष्टिकर्ता ने जब सृष्टि की तो पहले मन में भय हो गया कि मैं अकेला ही हूँ; तो वेद-वाणी ने याद दिलाया कि 'द्वितीयाद्वै भयम् भवति' तू किससे डर रहा है! तब तक प्रतीति होने पर भी अद्वैत का भान दबा हुआ ही है। द्वैत का प्राधान्य भी है; यदि द्वैत का भान न हो तो सृष्टि का कार्य कैसे हो सकता है? कार्यव्यवहार के लिये द्वैत की विचारधारा लानी ही पड़ेगी। व्यवहार-सिद्धि में बिना द्वैत की दृष्टि बनाये व्यवहार असम्भव है। भगवान् भाष्यकार स्पष्ट कहते हैं कि 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य सर्वे लोकव्यवहाराः सम्भवन्ति' जितने भी लौकिक व्यवहार हैं, वे सब सत्य और अनृत को मिलाकर ही संभव हैं। सत्य मायने ब्रह्म और अनृत मायने माया। जब दोनों के स्वरूप मिथुनीकृत्य (एक किये हुए) हों तभी सारे लोकव्यवहार चलेंगे। नमस्कार भी करोगे तो सत्य और अनृत को मिलाना पड़ेगा। हरीराम जी बैठे हैं। एक तो आत्मा (उनका शुद्ध स्वरूप) है और एक उनका शरीर (शरीर में मन, बुद्धि सब समझ लेना) है। उनसे व्यवहार करना है तो सत्यानृत-मिथुनीकृत्य ही व्यवहार सम्भव है। शुद्ध स्वरूप से तो व्यवहार नहीं हो सकता और केवल शरीर से भी क्या व्यवहार होगा, क्योंकि वह तो जड है, उसे प्रणाम बनता नहीं। शुद्ध से बात नहीं कर सकते, क्योंकि वह बिना कान वाला है। नमस्कार भी करोगे तो वह देखेगा नहीं। अतः शुद्ध अथवा केवल सत्य से व्यवहार नहीं हो सकता। केवल अनृत शरीर से भी व्यवहार सम्भव नहीं, ज्यादा से ज्यादा अंतिम समय में ही उसकी अन्त्येष्टि क्रिया कर सकते हो! अतः व्यवहार तो सत्यानृत दृष्टि से ही संभव हो सकता है। तुम्हें हाथ से कोई चीज दे रहा है, तुम्हें यह निश्चय है कि हाथ वाला अलग है किन्तु हरीराम और हाथ को मिलाया तो व्यवहार हुआ कि हाथ से दे रहे हैं; इसी प्रकार कान और हरीराम को

मिलाया तो कहा कि हरीराम जी सुन रहे हैं यद्यपि सुनने वाला कान है। सत्य-अनृत को ऐसा मिथुन कर दिया जाये कि पता ही न लगे कि दोनों अलग हैं, तभी लोकव्यवहार होता है।

शुद्धाशुद्ध अध्वा में सत्य और अनृत का मिथुनीभवन है। जैसे ही देवताओं ने सृष्टि का कार्य किया वैसे ही सत्य-अनृत को मिथुनीकृत कर लिया। जो विवेकी है वह सत्य-अनृत का मिथुन करके व्यवहार तो करता है लेकिन प्रसंग आने पर स्मृति होने पर झट सत्य को पकड़ लेता है। वैसे ही समष्टि-अभिमानी देवतागण भी सारी सृष्टि का कार्य करते हैं किन्तु फिर उन्हें अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होने में देरी नहीं लगती।

जिस शक्ति का नियामक जो शक्तिमान् है, उसे उसका देवता कहते हैं। इसीलिये देवताओं को अनन्त बताया। व्यवहारप्रधान होने से उनमें सत्य-अनृत का मिथुनीभवन है, किन्तु सत्य को फिर से याद करने में भी देरी नहीं, इसीलिये देवता संसार के बंधन में नहीं बँध सकते, यदि बँध जाते तो फिर संसार से निकल नहीं सकते थे। आजकल लोग देवताओं की निंदा करते हैं। इसका प्रचलन बुद्ध के समय से चला कि इन्द्र, वरुण आदि आदरणीय नहीं। फिर यह प्रभाव इतना बढ़ा कि देवता पौराणिकों के मत से सदाचारी मनुष्य से भी गये बीते हो गये! यही प्रभाव हमारे घर कर गया है। जब देवताओं को ही श्रेष्ठ न माना गया तो महापुरुषों के प्रति श्रद्धा कैसे हो! इससे यह विचार भी घुसा है कि देवता हैं ही नहीं। यदि कोई महान् कर्म भी कर रहा हो, लोग उसे भी निम्न स्तर वाले के साथ मिला देते हैं। प्रत्येक राष्ट्रनायक, पूरे राज्य के संचालक के बारे में जितनी बातें सुनने को मिलती हैं, यदि उन का १००वाँ हिस्सा सच्चा हो तो यह राष्ट्र एक दिन भी नहीं चल सकता। यदि घर में एक व्यक्ति भी दुर्गुण वाला हो जाये तो घर की व्यवस्था नहीं चल सकती। ऐसे ही राष्ट्रनायक के बारे में लोग बहुत विरोधी बातें करते हैं, विरोधी अखबार और पत्रिकायें भी उनकी बुराइयाँ निरंतर छापते हैं। उन्हें नैतिक, आर्थिक और चारित्रिक दृष्टि से भ्रष्ट बताते हैं, कि वे काम नहीं करते, प्रमादी पड़े रहते हैं। ऐसे दोष यदि तुम्हारे घर में हों तो तुम्हारी दुकान एक दिन भी नहीं चल सकती। यह नहीं सोचते कि यदि वे सब दोष उनमें होते तो वर्षों से राष्ट्र कैसे चल रहा है। कुछ दिन पहले किसी फ्रैंच औरत का एक ग्रंथ पढ़ा। उसने लिखा है कि भारत के अर्थ-विभाग के एक मंत्री थे, उन्होंने पहले ऐसा निर्णय किया कि कुछ हवाई जहाज रूस से खरीदने

थे किन्तु बाद में उन्होंने फ्रांस के हवाई जहाज खरीदे। लोग कहने लगे कि अर्थमंत्री एक फ्रैन्च औरत के साथ रहते हैं इसीलिए फ्रान्स के हवाई जहाज खरीदे हैं! उस समय वे लेखिका के ही साथ रह रहे थे। उसके पति का उनके साथ पुराना परिचय था और कुछ दिन से वे उनके साथ रह रहे थे। उसे मालूम था कि किसी दुर्भाव आदि से नहीं, योग्यता आदिवश ही निर्णय बदला था। पहले देवताओं की निंदा की और आज धीरे-धीरे यह स्थिति हो गई कि राष्ट्रनायकों को निम्नश्रेणी के व्यक्ति से भी गया-बीता समझते हैं। राष्ट्रनायक में गलतियाँ नहीं हैं, ऐसा नहीं कह रहे हैं, गलतियाँ हो सकती हैं। किन्तु कितनी गलतियाँ कहाँ हैं, इसका तो विचार करो, केवल निन्दा है इतने मात्र से सत्य न मानो।

दूसरी तरफ राजनेता जो कुछ व्यापारियों के बारे में कहते हैं, उसका भी यदि सौवाँ हिस्सा सच होता तो आज सारे ही दीवालिये हो गये होते। कहते हैं कि ये तो खून चूसते हैं और धन इकट्ठा करते हैं। अगर आज दुकान खोली और दो-तीन माह बाद दुकान बन्द हो गई तो कुछ हद तक कह सकते हैं कि खून चूसने वाले थे। लेकिन जिसकी दुकान आज सौ साल से चल रही है, उसके बारे में यह कहना बिलकुल सच नहीं हो सकता। पहले लोग जमींदारों की बहुत बदनामी करते थे कि ठिकाना ही नहीं। किन्तु अब अगर किसी गाँव में पहुँचो तो गाँव वाले कहते हैं कि जमींदार इतने भी बुरे नहीं थे। ब्राह्मण एक लंगोटी लगाकर और केवल नमस्कार लेकर हजारों वर्षों तक हमें संस्कृति की थाती देता रहा । उसने क्या लिया? ज्यादा से ज्यादा अमावस्या या पूनम को थोड़ा सीधा ले लिया। कभी आपने अपने बच्चे का जनेऊ करना हुआ तो उसके बच्चे को भी करा दिया, या कभी उसके बच्चे का विवाह हुआ तो आपने दो-चार सौ रुपया ही दे दिया। पुराण-काल में, वैदिक ग्रंथों में यही वर्णन मिलता है। इदानीं काल में भी देखो कि पुरोहित का कर्म करते हुए कितने ब्राह्मण करोड़पति हैं! जिन्होंने व्यापार कर लिया, उनकी बात जाने दो। किसी काल में भी ब्राह्मण करोड़पति नहीं हुआ। उसने हमारे बच्चों को अच्छी से अच्छी शिक्षा दी। आज कहते हैं कि वे फालतू का दान ही लेते रहे हैं। इसीलिये आज शिक्षा का बुरा हाल हो गया है। अध्यापक वेतन आदि के लिये आंदोलन करते हैं। ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि हमने ब्राह्मण पर संदेह किया। आजकल यह मानने की प्रवृत्ति है कि ब्राह्मण भी सर्वथा मतलब से, राष्ट्रनायक भी सर्वथा मतलब से, और व्यापारी भी सर्वथा मतलब से ही कार्य कर रहा है, उनके त्याग को हम नहीं मान

पाते। इसी संदेह के कारण आज लोगों में कोई किसी पर विश्वास नहीं करता। अब यह स्थिति घर में भी आ गई है। पहले यह दुर्विचार देवताओं पर लादा गया, फिर राष्ट्रनायक को भ्रष्ट माना। राष्ट्रनायक से समाज के लोगों में इसी संदेह की प्रवृत्ति हुई और आज घर में भी घुस गई है। यदि एक भाई दुकान बंद करके अंदर हिसाब करने बैठ जाये तो जल्दी जाने वाला उसका दूसरा भाई सोचता है कि क्यों बैठता है! आज मनुष्य को अपने भाई पर भी विश्वास नहीं रह गया है कि कहीं इसके पास ज्यादा पैसा न हो जाये। अब कुछ साल बाद लड़के बाप पर, पति पत्नी पर भी अविश्वास करने लगेंगे। इसकी कोई सीमा नहीं। सन्देह सबसे बुरी चीज है क्योंकि सन्देह करने वाला सन्देह के आधार को नहीं ढूंढता, अपने मनोराज्य या दूसरे की सुनी-सुनाई बातों को ही सत्य मानता रहता है। देवता तो समष्टि-अभिमानी हैं। समष्टि-अभिमानी होने पर भी अद्वैत-दृष्टि नहीं हटेगी। जो जितना अधिक कार्य करेंगे, उतनी अधिक समष्टि-दृष्टि बनानी पड़ेगी और व्यष्टि दृष्टि हटाते रहेंगे। तुम घर में सारा काम चला रहे हो, आज मन में आया कि अकेले ही रबड़ी खा ली जाये, किसी कमजोरी से खा जाओ तो भी मन में आयेगा कि बुरा किया। जितनी समष्टि-दृष्टि बढ़ेगी, प्रभावतः उतनी अद्वैत-भावना प्रायः बढ़ेगी। कभी किसी कमजोरी के कारण द्वैत-भावना, द्वैतदृष्टि, बन जाये तो हो सकता है कि गलती हो जाये। पर प्रायः नहीं होगी। यदि द्वैतभावना दृढ हो जाये तो काम नहीं चल सकता। पत्नी खुद तो रोज बढ़िया माल बनाकर खाये और पति को रूखा-सूखा ही दे देवे तो घर का काम नहीं चल सकता।

जो देवगण सारे ब्रह्माण्ड के संचालक हैं, उनमें अद्वैतदृष्टि सदैव बनी रहती है यद्यपि कार्य-काल में द्वैत-भावना से सत्य-अनृत को मिलाकर कार्य करते हैं। किसी कारण से सत्य-दृष्टि की स्मृति होते ही वह अद्वैत दृष्टि तुरन्त प्रस्फुट हो जाती है। शुद्धाध्वा में अद्वैत प्रधान और द्वैत कुछ नहीं-जैसा ही है। शुद्धाशुद्धाध्वा में अद्वैत प्रधान है किन्तु सृष्टि चलाने के लिये द्वैत बढ़ गया है।

लिमिटेड कम्पनियों में भी जिसके अधिकांश शेयर हों, उसे मालिक समझा जाता है। जिसके हिस्से में ५१ प्रतिशत आ गये वही मालिक हो गया, यद्यपि ४९ और ५१ में फर्क सिर्फ दो प्रतिशत का ही है। किन्तु ४९ प्रतिशत वाला सर्वथा मालिक नहीं। यदि किसी के हिस्से मं ९९ प्रतिशत शेयर हो जायें तो वह सर्वथा

मालिक हो गया। इसी शुद्ध अध्वा में ९९ प्रतिशत अद्वैत और एक प्रतिशत द्वैत है। यद्यपि है तो एक प्रतिशत से भी कम, यदि १० अंक के आगे १८ शून्य और लगाओ तो उतना हिस्सा ही द्वैत का है, किन्तु साधारण रूप से एक प्रतिशत ही कह दो। देव-राज्य (शद्धाशुद्धाध्वा) में ५१ प्रतिशत अद्वैतानुभूति और ४९ प्रतिशत द्वैतानुभूति है। इसलिये व्यवहार में द्वैत-प्राधान्य होने पर भी अद्वैत ही अधिक है। यदि ऐसा न होता तो संसरण बन जाता (जन्म-मरण का चक्कर वहाँ भी रहता) जो नहीं है।

यदि एक आदमी किसी ब्राह्मण को मार देता है तो उसकी शुद्धि सात जन्मों के बाद होती है, ऐसा शास्त्र में लिखा है। वैसे एक आदमी को भी मारने पर बड़ा पाप होता है। यमराज सवेरे से शाम तक क्या करते हैं? उनका काम ही है मारना, चाहे ब्राह्मण हो, ब्रह्मवेत्ता ऋषि हो, या चाण्डाल हो; किसी को भी मारने में उन्हें कोई पाप नहीं। यदि द्वैतानुभूति के कारण वे भी जन्म-मरण के चक्र में पड़ते तो निकलेंगे कैसे? अद्वैत-ज्ञान होने के कारण सबका संहार करने पर भी कोई द्वैत-भाव नहीं होने से उनमें अद्वैत ही प्रधान रहता है। अतः निष्पाप ही बने रहते हैं। अथर्ववेद में प्रश्न आया कि देवगण क्या हैं। 'यस्यांगे त्रयस्त्रिंशत् देवाः' परब्रह्म परमात्मतत्त्व सदाशिव के अंगों में ३३ देवता हैं। परमात्मा तो अद्वैत है। जैसे हाथ तुम्हारे शरीर का अंग है, शरीर से अलग नहीं, वैसे ही देवगण भी परमात्मा के अंग हैं। थप्पड़ मारना हो तो हाथ से मारते हो, पैरों से चल सकते हो, कानों से सुन सकते हो। ये सारे अंग अलग-अलग क्रिया करते दीखते हैं लेकिन तुम एक ही हो। उन उपाधियों को लेकर ही कार्य करते हो, यद्यपि करने वाले तुम एक हो। उपाधिभेद करोगे तब व्यवहार होगा। परमात्मा को भी जो कार्य करना है वह इंद्र, वरुण, विष्णु, रुद्र के द्वारा ही करेंगे। करने वाला अद्वैत-तत्त्व एक ही है, किन्तु उनकी भी प्रधानता हो जाती है जिनके द्वारा करता है। अंगप्रधान के स्तर पर द्वैत की प्रधानता हो जाती है।

मैं ही सब कुछ करने वाला, द्रष्टा, श्रोता हूँ। इस 'मैं' के ज्ञान में सब करने वाली शक्ति का भान होता है, यहाँ अद्वैत प्रधान है। क्रिया आदि व्यवहार करोगे तो द्वैत उपाधि को प्रधान बनाना पड़ेगा। जैसे, देखने की इच्छा की तो आँख चाहिये तभी आँख से देखने की क्रिया होगी। पहले आँख और शरीर का भेद समझा तभी देखा, व्यवहार हुआ। देवताओं के व्यवहार में द्वैत की प्रधानता होते हुए भी अन्दर से अर्थात् वस्ताविक अनुभूति में अद्वैत-भावना ही प्रधान है अतः कहा 'स्कम्भम्

तं ब्रूहि' वही स्कम्भ (खंभा) है जिसके ३३ अंग हैं। यह प्रकाशस्तम्भ ही ज्योतिर्लिंग है चूंकि कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन, बुद्धि, १२ इसकी अभिव्यक्ति के स्थल हैं।

स्कम्भ की कथा यह है कि एक बार ब्रह्मा और विष्णु में झगड़ा हो गया कि कौन बड़ा। इतने में सामने ही ज्योति का एक खम्भा, ज्योतिर्लिंग खड़ा हो गया जिसका पार ब्रह्मा और विष्णु दोनों ही न पा सके। इसी स्कम्भ के ही ये सारे देव अंग हैं। अंग कभी अंगी को पूर्णरूप से नहीं जान सकता। अंगी निकाल लो तो अंग कुछ भी नहीं रहता किन्तु यदि अंग निकाल लो तो अंगी बना ही रहता है। उसी अंगी स्कम्भ को समझने पर ही सारे अंग यथावत् समझ में आते हैं। जो बुद्धि स्कम्भ को समझती है, वह लाभदायक है। जो अंगों में अंगी को भूल जाती है वह दृष्टि हानिकारक सिद्ध होती है। 'हाथ और हाथ वाला' की एक अनुभूति है। फिर क्या हाथ वाले को अलग मानना पड़ेगा? तनख्वाह हाथ से देते हैं तो नौकर पैर दबाता है। यदि नौकर भी कहे, 'तनख्वाह तो हाथ से दी है अतः मैं हाथ ही दबाऊँगा' तो व्यवहार नहीं चल सकता। देते समय हाथ प्रधान होने पर भी हाथ व पैर का अंगी एक ही है। पैर में दर्द के समय पैर ही दबाना पड़ेगा। इसलिये अंग को ही पकड़कर अंगी (स्कम्भ) को भूलना नहीं चाहिये। जो बुद्धि केवल अंगों में फंस जाये, वह सदैव त्याज्य है।

शुद्धाशुद्ध से शुद्ध में जाने के लिये शुद्ध की तरफ ही दृष्टि करनी पड़ेगी। अगर पत्नी अशुद्ध हो गई, उसने कोई गलती कर दी तो शुद्ध हो सकती है। नीतिज्ञ कहते हैं, 'शुद्धा भार्या सदा ग्राह्या त्याज्याऽशुद्धा नरैः सदा' जो पत्नी शुद्ध है, वह हमेशा ग्रहण के योग्य और जो अशुद्ध है वह त्याज्य है। इसी प्रकार जब तक बुद्धि शुद्ध तब तक ग्राह्य और अशुद्ध हुई तो त्याज्य है। अशुद्धाध्वा में आकर बुद्धि अशुद्ध हुई क्योंकि एक पति को छोड़कर दूसरे अनेक पतियों को पकड़ लिया, एक नहीं कई पति हो गये हैं। शिव-शक्ति के सम्बन्ध में बता चुके हैं कि घट-ज्ञान घट के अधीन है। घटाकार वृत्ति ने घट को पति बनाया, कभी नोटों को पति बनाया। इस प्रकार अन्य-अन्य पदार्थों के अधीन होती गई, ऐसी बुद्धि सदैव त्याज्य है।

प्रश्न होता है कि फिर बुद्धि को छोड़कर क्या क्वारे ही बने रहें? नहीं। शास्त्रकार कहते हैं कि यदि अशुद्ध भार्या शुद्ध हो तो पुनः ग्राह्य होती है 'ब्रह्मणापि

जुहूं त्यक्त्वा ब्रह्मजायां पुनर्दधुः।' ब्रह्मा और उनकी पत्नी जुहू की कथा आती है: एक बार ब्रह्मा जी यज्ञ कर रहे थे। उसमें शम्बर नाम का एक असुर भी आया हुआ था। ब्रह्मा जी यज्ञ में ही व्यस्त थे। उस यज्ञ को १२ हजार दिव्य वर्षों तक चलना था। एक दिव्य वर्ष में ३६ हजार मानव साल होते हैं। इतने वर्षों तक यज्ञ चलना था और जब तक यज्ञ चले तब तक ब्रह्मा जी को ब्रह्मचर्य का पालन करना था। शम्बर असुर उनकी पत्नी को फुसलाने लगा। धीरे-धीरे जुहू भी फँसी और अंत में उसके साथ विवाह भी कर लिया। ब्रह्मा जी को पता लगा तो उन्होंने जुहू को घर से बाहर निकाल दिया। पत्नी के चले जाने से सत्र बंद हो गया क्योंकि यज्ञ में यजमान और उसकी पत्नी दोनों उपस्थित हों तभी वैदिक यज्ञ होता है। विधुर अथवा विधवा वैदिक यज्ञ नहीं कर सकते। सत्र बंद होने से जिन देवताओं को उससे आहुति प्राप्त होनी थी, वह भी बंद हो गई। देवताओं को मिलना बंद हो गया तो मनुष्यों को भी अन्न मिलना बंद हो गया, क्योंकि यज्ञ द्वारा देवताओं को आहुति मिले तो वे वर्षा करें तो अनाज हो। जब मनुष्य को ही अन्न नहीं मिलेगा तो राजा कहाँ से लायेगा! इस प्रकार जुहू की गलती से सत्र बंद होने से देवता, मनुष्य, राजा सभी दुःखी हो गये। राजा जब राज्य नहीं चला पाये तो सारे मिलकर भगवान् शंकर की आराधना करने लगे। कहा, 'भगवन् अब आप ही कोई उपाय बताओ।' अतिदीर्घ अनुष्ठान के बाद भगवान् शंकर ने राजाओं से कहा कि देवताओं को खुश करो तो काम बने। देवताओं ने कहा, 'हम खुद ही दुःखी हैं। न ब्रह्मा यज्ञ कर रहे हैं और न हमें हमारा भाग मिल रहा है, तुम्हें कहाँ से देवें!' यह तो चक्र है। व्यापार में भी धन घूमता रहता है तभी काम चलता है। यदि पैसा बंद करके रख दो तो व्यापार भी बंद हो जायेगा।

राजाओं ने मिलकर शम्बरासुर पर चढ़ाई कर दी और शम्बर असुर को जेल में ले लिया। उन राजाओं में इंद्र भी थे। इसीलिये इंद्र का नाम शम्बरारि भी है। देवता जुहु को समझाने लगे। जुहू भी रोने लगी। शम्बर असुर जो ठहरा, कहा 'मैं स्वयं भी उससे बहुत दुःखी हो गई थी। उस समय तो मीठी बातों में फँस गई थी।' देवताओं ने मिलकर उसके एक-एक अंग से किये हुए पापों का निवारण किया। पैरों के पाप को विष्णु ने, चित्त के पाप को चन्द्र ने और इसी प्रकार अन्य देवताओं ने अन्य अंगों से हुए पापों को ग्रहण कर लिया। जुहू शुद्ध हो गई। देवता उसे लेकर ब्रह्मा जी के

पास पहुँचे। ऋग्वेद का मंत्र है 'पुनर्वैदेवा अदधुःपुनर्मनुष्या उत राजानः सत्यम् कृण्वाना ब्रह्मजायां जुहूर्दधुः' ब्रह्मा की पत्नी को वापिस ब्रह्मा जी को दिया गया। देवताओं ने उसके सारे पापों को हटा दिया। मनुष्यों ने राजा की सहायता की। चढ़ाई करने वाले तो राजा थे, इसलिये श्रुति ने राजा के लिये विशेष विशेषण दिया है। राजा यदि शम्बरासुर को जीतते तो मनुष्य और देवता क्या करते? सबने मिलकर उस ब्रह्मजाया जुहू को पवित्र किया। तब ब्रह्मा जी ने उसे पुनः ग्रहण किया और यज्ञ आरंभ किया जिससे देवताओं को आहुति मिली और मनुष्यों को अन्न मिलने लगा। राज-कार्य चलने लगा।

सायणाचार्य भाष्य लिखते हुए कहते हैं कि 'जुहूरिति वाचा' वाणी को ही ब्रह्मा की जाया समझो। परमात्मा की पत्नी बुद्धि (अद्वैत ज्ञान) ही है। वेदवाणी ही उसे ग्रहण करेगी। ब्रह्मा जी ने एक दिव्य यज्ञ किया जिसे १२ हजार दिव्य वर्षों तक चलना है। १२ हजार दिव्य वर्षों में महाप्रलय होती है। सृष्टिरूप सत्र आरंभ हुआ। शम्बरासुर तम का प्रतीक है 'शम्बर इति तमः।' तम अविद्या या तिरोधान शक्ति ही है। उस बुद्धि को अविद्या ने ग्रहण कर लिया तो यज्ञ बन्द हो गया। सृष्टि की थी अपनी महिमा के आनंद को लेने के लिये, अनंत शक्ति के आनंद को लेने के लिये। अज्ञान ने बुद्धि का ही हरण कर लिया तो सत्र बंद हो गया। इन्द्रियों को ज्ञान ठीक से नहीं हो रहा है। उसका असर देवताओं पर और मनुष्यों पर भी पड़ा। मन अब ठीक नहीं रहा। मन की गड़बड़ से राजा अर्थात् क्रिया में गड़बड़ हो गई। अतः सबके सब रो रहे हैं। सृष्टि बनाई तो थी आनंद को लेने के लिये, अब सृष्टि का रूप हो गया 'दुःखालयमशाश्वतम्' वह दुःख का घर बन गई। सारे ही लोग कष्ट में पड़े। जब तक बुद्धि ठीक नहीं होगी, काम कैसे बनेगा! बुद्धि को अज्ञान ने दबा रखा है। राजा ने मनुष्यों को साथ लेकर अर्थात् मन के साथ कर्मेन्द्रियों ने मिलकर अज्ञान पर चढ़ाई कर दी अर्थात् अज्ञान से होने वाले द्वैत की तरफ नहीं जायेंगे। इस प्रकार अज्ञान को दबा दिया और बुद्धि को वहाँ से हटाया। कर्म-शुद्धि से बुद्धि में भी शुद्धि आ गई।

दिल्ली में लाखों लोग रहते हैं वेदान्त की लाखों किताबें भी छपती हैं, फिर ज्ञान की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती? क्योंकि कर्म-शुद्धि किये बिना अंतःकरण की शुद्धि हो नहीं सकती। उल्टे लोग कहेंगे, 'तुम वेदान्तियों ने तो बेड़ा गर्क किया है,

अब हम ठीक करेंगे।' बीस साल से तो ठीक कर ही रहे हैं! दोष उनका नहीं है, यह ध्यान रखना, जब बुद्धि ही शुद्ध नहीं है तो असर हो कहाँ से! कर्म की अशुद्धि इतनी बढ़ गई है कि कोई सीमा नहीं। एक दुअन्नी के लिये करोड़पति झूठ बोल देते हैं ऐसा हम रोज देखते हैं। एक बार हम किसी के साथ काशी से इलाहबाद जा रहे थे। हमारे साथ जो व्यक्ति थे वे छह मिलों के स्वामी थे। काशी से इलाहबाद आते हुए आठ आने टोल-टैक्स देना पड़ता है, वहाँ से लहरिया सराय को जो सड़क जा रही है, उसके लिये टोल-टैक्स नहीं देना पड़ता। वहाँ के अधिकारियों ने पूछा तो सेठजी ने आठ आने के लिये झूठ बोल दिया और कहा कि हम तो लहरिया जा रहे हैं। हमने कहा 'यह क्या गजब कर दिया! आठ आने तुम्हारे लिये क्या हैं? आठ आने के तो तुम पान ही खा जाते होगे।' सेठ जी कहने लगे, 'यह तो आदत हो गई है, ऐसे ही कह दिया।' कर्म इतना खराब हो गया है कि बुद्धि में कोई बात टिकती ही नहीं।

मन की सहायता से उसपर चढ़ाई कर दी। बिना मन के कार्य करोगे तो पूरा फल नहीं हो सकता। मन से सोचकर काम करो, पुलिस के भय से नहीं। पुलिस पकड़ लेगी, इसलिये चोरी न करें ऐसा नहीं, बल्कि मन से ही यह सोचें कि चोरी नहीं करनी है। जब कर्म शुद्ध हुए तो अज्ञान दब गया। शम्बर जेल में डाल दिया गया। तब देवताओं ने अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों ने मिलकर विचार किया कि बुद्धि की प्रवृत्ति फिर से परमात्मा में कराई जाये। उन्होंने बुद्धि के दोषों को हरण कर लिया। आवरण दोष विचार से और विक्षेप दोष उपासना से दूर हो गया। बुद्धि शुद्ध हुई तो उसे पुनः ब्रह्म के सामने ले आये 'ब्रह्मजायाम् पुनर्दधुः' फिर सत्र आरंभ हुआ तो विश्व आनन्द का स्थल बन गया। इस देव-रहस्य को जानकर ही आगे बढ़ेंगे। किन्तु जानेंगे तभी जब स्कम्भ-दृष्टि बनेगी।

प्रवचन-२३
देवगण
३१-७-६८

भगवती श्रुति परमात्म-तत्त्व का स्वरूप-वर्णन कर रही है और साधक-दृष्टि का भी प्रतिपादन कर रही है। उत्तरण और अवतरण (ऊपर की ओर जाना और नीचे की ओर आना)दोनों का रूप यहाँ बता दिया। जिन सीढ़ियों से उतरे हैं, उन्हीं के द्वारा ऊपर उठना है। अत: उत्तरण और अवतरण की सीढ़ियाँ एक ही हैं। साधक की दृष्टि से उत्तरण है और सृष्टिप्रक्रिया की दृष्टि से वही अवतरण है। ब्रह्म की तरफ जाना और ब्रह्म से दूर हटने का प्रयत्न करना; दूसरे शब्दों में, सृष्टि से दूर हटने का प्रयत्न और ब्रह्म से दूर हटने का प्रयत्न करना; ये भाव इन शब्दों में निहित हैं। ध्यान देना, ब्रह्म या सृष्टि से 'दूर हटना' ऐसा नहीं कह रहे, बल्कि हटने का 'प्रयत्न करना' कह रहे हैं। ऐसा इसलिये क्योंकि ब्रह्म से दूर होना असम्भव है। वह तो स्वरूप है। जो जिसका स्वरूप है, वह कभी उससे अलग नहीं हो सकता। बाकी सब चीजों से तो हट जाओ किन्तु स्वरूप से नहीं हट सकते हो। सब जगह से तो गिर सकते हो किन्तु जब जमीन पर ही बैठे हो तो कैसे गिरोगे? स्वरूप से प्रच्युति सम्भव नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म से दूर होना तो असम्भव है, केवल दूर हटने का प्रयत्न किया जा सकता है। स्वरूप को भूलने की कोशिश कर सकते हो, ब्रह्म से दूर होने का प्रयत्न करना, यही सृष्टि कही गयी है। जैसे घर में कोई विपत्ति आ गई, कोई मर गया, लड़का नालायक निकल गया तो उससे मनुष्य के दिमाग में कुछ खलल पड़ जाती है, मन निरन्तर परेशानी अनुभव करता है। चिकित्सक के पास जाते हैं तो वह कहता है कि दिन में कुछ काम किया करो। दूसरे काम में दिल लगेगा तभी उस पहली बात से दिल हटेगा। चुपचाप रहने से वही बात बार-बार याद आती

रहेगी। यहाँ 'स्वरूप' या स्थिति तो यह है कि नुकसान हो गया। चाहे जितना काम करो, नुकसान तो रहेगा ही। जब तक दूसरी तरफ या दूसरे काम में लगे रहोगे, तब तक वह याद नहीं रहेगा। उस काम में भी जब-जब मन पूरी तरह नहीं लगेगा, तब-तब फिर वही बात याद आने .लगेगी। उससे दूर हटने का प्रयत्न तो करेंगे लेकिन नुकसान यथावत् ही रहेगा। धीरे-धीरे और कामों का संस्कार बढ़ेगा तो पहले दुःख का संस्कार नहीं-जैसा हो जायेगा।

इसी प्रकार, ब्रह्म का जो अपना स्वरूप है, उसे भूलने का प्रयत्न करेंगे तो मन दूसरी चीजों में लगेगा। आत्मा को भूलने का प्रयत्न तभी करोगे जब अनात्मा का चिंतन करोगे। दिल को पहले अनात्मा में ले जाते हो किन्तु फिर आत्मा में ले आते हो। शुद्धाशुद्ध अध्वा में यही स्थिति है। अशुद्धाध्वा में बतायेंगे कि वहाँ अनात्म-चिंतन में इतना भूले कि पता ही नहीं लगता कि आत्मा है। वहाँ आत्म-स्मृति ही नहीं-जैसी होगी। अनात्म-स्मृति का संवर्द्धन भारी बहादुरी का काम है, इसीलिये परमेश्वर की सब शक्तियों में सृष्टि-शक्ति को सब याद करते हैं, उसकी महिमा गाते हैं क्योंकि उसने बड़ा परिश्रम, बड़े वीर्य का काम किया कि नित्य स्वरूप को भूल कर अनित्य अनात्मा में लगा! जितना कठिन चित्त का नित्य रहने वाले आत्मा से हटकर अनात्मा में लगना है, अनात्मा से आत्मा में लगना उतना कठिन नहीं है। यद्यपि लोग अनात्मा से आत्मा की तरफ लगना भी कठिन मानते हैं, किन्तु नित्य सुख, नित्य ज्ञानस्वरूप को भूलकर नित्य दुःखस्वरूप जगत् में लग सकना तो बहुत बड़ा काम है। पुनः स्वरूप को जान लेना तो उससे लाख गुना सरल है। यहाँ श्रुति उसका यश बता कर कह रही है कि यह सृष्टि हमारी महिमा का प्रतिपादन करती है। इसका मतलब यह है कि हमारा स्वरूप नित्य-सुख है, उसको दबाकर हम ठीक उल्टा काम कर रहे हैं। दुःख की चीज को छोड़ना सरल है किन्तु सुख को छोड़ना बड़ा कठिन है। यदि घर में बिच्छू आ गया तो उसे उठाकर फैंकना सरल है किन्तु घर में जो मोहरें पड़ी हैं उन्हें उठाकर फैंकना बड़ा कठिन काम है! जो मोहरें भी उठाकर फैंक सकता है वह यदि बिच्छू फैंक दे तो क्या कहना! जो अपने स्वरूप में स्थित आनंद जो छोड़ दे उसके लिये संसार के पदार्थों को छोड़ना बहुत सरल है। जो नित्य ज्ञान को छोड़ सकता है, उसके लिये अनित्य को छोड़ देना बहुत सरल काम है। इसीलिये, सृष्टि का काम बड़ा कठिन है, वापिस पहुँचना अपेक्षाकृत बहुत सरल है।

अथर्ववेद का मंत्र कहता है 'अग्नीषोमौ प्रथमौ वीर्येण वसून् रुद्रान् आदित्यान् इह जन्वतम्।' इसमें सृष्टि का क्रम बताते हैं। अग्नि और सोम आद्य (शुद्धाध्वा) हैं अथवा शिव और शक्ति आद्य हैं। अग्नि और सोम शब्दों के प्रयोग में यहाँ संस्कृत के अनुसार द्वंद्व समास है अर्थात् जहाँ एक प्रधान और दूसरा गौण न हो। दो तरह से दो आदमी एक-साथ रह सकते हैं, एक बड़ा हो और दूसरा छोटा, या दोनों बराबर हों। इसी को संस्कृत में समास से कह सकते हैं। अग्नि (शक्ति) और सोम (शिव) किस सम्बन्ध से रहते हैं? द्वंद्व समास से बताया कि वे समान रूप से ही रह रहे हैं। एक की स्थिति दूसरे के बिना नहीं। शक्ति यदि परिणत होती है तो शिव-प्रकाश की जरूरत है। यदि शिव प्रकाश करते हैं तो शक्ति प्रकाश्य की जरूरत है। आगे कहा 'वीर्येण' उसने बड़ा भारी परिश्रम किया और उससे वसु, रुद्र और आदित्यों को उत्पन्न किया। अथर्ववेद का यह मंत्र इनका स्वरूप बता रहा है। यही वस्तुतः सारी सृष्टि-प्रक्रिया को चलाने वाले देवगण हैं।

आगे इंद्र और प्रजापति के समावेश से इनकी ३३ संख्या होगी। महाराजा जनक की सभा में शाकल्य ने महर्षि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किये थे कि कितने देवता हैं? महर्षि याज्ञवल्क्य ने पहले ३३०६ और फिर क्रमशः ३३, ६, ३, २, डेढ़ और अंत में कहा कि केवल एक ही देवता है। यहाँ तक तो शाकल्य स्वीकार करते गये। अगला प्रश्न किया कि ३३ देवता कौन-कौन से हैं? याज्ञवल्क्य जी गिनाते हैं कि ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इन्द्र और प्रजापति ये ३३ देवता ही सारी सृष्टि-प्रक्रिया को चलाने वाले हैं। आगे शाकल्य उनके नाम पूछते हैं तो महर्षि देवताओं का नाम बताते हुए केवल उनकी उपाधियों का ही नाम लेंगे। पहले बता आये हैं कि उपाधि जड है, उपाधियों को नियंत्रण करने वाला चेतन है उपाधियाँ अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्र हैं। संसार के छोटे-छोटे ज्ञान पैदा करने वाली कामनायें और कर्म; अर्थात् पंच-महाभूत, अविद्या, कामना और कर्म, ये आठ वसु हैं जो सारे प्रमेय हैं।

परमात्म तत्त्व पहले तीन प्रकार से ही बढ़ेगा। प्रमेय, प्रमाण और प्रमेय-प्रमाण का सम्बन्ध अर्थात् प्रमिति। प्रमेय, जिसे जाना जायेगा; प्रमाण, जिसके द्वारा जानेगा; प्रमिति, जिसमें दोनों का सम्बन्ध है। सारे जगत् और जगत् के पदार्थों को दार्शनिक दृष्टि से तीन भागों से ही जाना जायेगा, जैसे घट-ज्ञान में घट (प्रमेय), आँख (प्रमाण) और दोनों के सम्बन्ध से घट-ज्ञान (प्रमिति) हो जाता है। पहले 'वसून्'

प्रमेय की सृष्टि की। पंचमहाभूतों का ज्ञान होता है, उन ज्ञानों को बनाने वाले अविद्या, कामना और कर्म हैं। जल के लिये अंतरिक्ष शब्द का प्रयोग किया गया है, अंतरिक्ष का अर्थ होता है पृथ्वी और आसमान के बीच की जगह। हम लोगों के जल का स्रोत वह अंतरिक्ष (बीच की जगह) ही है। आकाश ऊपर है इसलिये उसे द्युलोक कहा जाता है। अविद्या को सूर्य नाम से कह दिया। वास्तव में अविद्या क्या है? छोटे-छोटे ज्ञानों का नाम ही अज्ञान या अविद्या है। कहीं-कहीं ज्ञान ही अज्ञान का लक्षण किया गया है, शिवसूत्र भी है 'ज्ञानं बन्धः' ज्ञान बन्ध है। यहाँ ज्ञान का मतलब वृत्तिज्ञान है । चन्द्रमा मन का स्वरूप है और कामना भी मन का स्वरूप है। कर्म को नक्षत्र शब्द से कह दिया है, जैसे नक्षत्र अनेक हैं वैसे ही कर्म भी अनंत हैं। श्रुति (बृ.३.९.३) कह रही है 'एतेषु हि इदं सर्वं हितम् इति तस्माद् वसवः।' महर्षि याज्ञवल्क्य वसु शब्द का निर्वचन स्वयं ही कर देते हैं कि ये आठ वह समझना जिसमें सारी चीजें रहती हैं। चूंकि सब कुछ उपादान कारण में रहा करता है, इसलिये ये आठ वसु जगत् के उपादान कारण हो गये। हिन्दी में वसु शब्द का अर्थ 'बसना' समझ लो, जिसमें सब कुछ बसता है, वही वसु है। ये प्रमेय-प्रधान हुए।

इन्हीं के द्वारा आगे और चीजें बनती हैं। जब तक पंचमहाभूत नहीं, सृष्टि नहीं। और पंचमहाभूत तब तक नहीं जब तक अविद्या, कामना और कर्म नहीं। इनके बिना पृथ्वी आदि असंभव हैं, फल देने में असमर्थ हैं। कर्म का उत्थापन करने वाली कामना और कामना का उत्थापन करने वाली अविद्या है। कामना को अविद्या से उत्पन्न कहा, अविद्या का सीधा अर्थ हुआ अज्ञान। जिसका सर्वथा अज्ञान होगा उसकी तो कामना नहीं हो सकती। जिसे कभी जाना नहीं, उसमें कामना की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? जिसने न्यूयार्क के वेलडार्फ एस्टोरिया के बारे में कभी बात ही नहीं सुनी, वह उसके बारे में बिना जाने कैसे कामना कर सकता है? कामना के प्रति कारण पदार्थ का यत्किंचित् ज्ञान है। तभी कामना हो सकती है और तभी अविद्या से कामना को उत्पन्न हुआ मान सकते हैं। शास्त्र में अल्प-ज्ञान, परिच्छिन्न के ज्ञान को ही अविद्या कहते हैं। परिच्छिन्नता के ज्ञान को अज्ञान कहेंगे। जब अल्पज्ञान होगा तभी कामना होगी। यदि व्यापक ज्ञान है तो कामना नष्ट हो जायेगी; अव्यापक ज्ञान में ही कामना बनेगी।

मान लो तुम्हारी दो दूकानें हैं। किसी ग्राहक ने चिट्ठी लिखी कि जो माल तुम १३ रूपये ८ आने में बेच रहे थे, उसी के लिये किसी ने १३ रूपये ७ आने का भाव बता दिया है। सेठ जी मुनीम जी से कहते हैं 'लिख दो कि हम १३ रूपये साढ़े छह आने में देंगे।' किंतु तभी पता चले कि सात आना भाव दूसरी दूकान से कहा गया तो सेठ कह देता है 'अपना भाव आठ आना ही रखो, उधर से बिकने दो।' जब साढ़े छह आना कहा तब अव्यापकता का भाव था। दूसरी दूकान में भी अपनापन, व्यापकता पता चली तो फौरन कामना नहीं रही। व्यापकभाव बढ़ने पर अव्यापकभाव की दृष्टि में परिवर्तन हो जाता है। अविद्या का अर्थ है अल्प ज्ञान; ज्ञान तो वह भी है इसीलिये 'ज्ञानं बंधः' में बताया कि वृत्ति-ज्ञान से ही बंधन होता है। इसी सूत्र पर भाषा के कई कवियों ने सूत्ररहस्य न समझकर कविता भी लिखी है कि अधिक ज्ञान ठीक नहीं, अधिक जानने वाला बद्ध होता है, इसलिये मूर्ख (न जानने वाला या कम जानने वाला) ही अच्छा है। उन्होंने ज्ञान को बंधन मान लिया, क्योंकि ज्ञान का मतलब नहीं लगा पाये इसलिये कह दिया कि न जानना ही अच्छा है। वस्तुतस्तु व्यापक ज्ञान मोक्ष है और वृत्ति-ज्ञान बंधन है जिस के द्वारा कामना उत्पन्न होती है।

वृत्ति ज्ञान चाहे प्रमाण से उत्पन्न हो या संस्कार से, कामना का उत्थापक वृत्तिज्ञान ही है। संस्कार भी वृत्ति ज्ञान से ही उत्पन्न हुआ है। कामना होने पर उसी के अनुसार कर्म बनते हैं। जहाँ कामना ही नहीं वहाँ कर्म फल देने में असमर्थ हैं। कामना द्वारा ही कर्म से बन्धन होता है। तुम दिन-भर में अस्सी सेर पानी उठाकर साठ कोस तक चलते हो तो थकावट नहीं होती! तुम्हारे शरीर का खून एक मिनट में हृदय से चलकर सिर और पैर में घूमकर पुनः हृदय में पहुँच जाता है। यह किसकी ताकत से? वहाँ कोई यंत्र नहीं लगा है, और न कोई नौकर है, उसे कौन लेकर गया? तुम खुद ही ले कर गये। खून आठों पहर चक्कर लगाता रहता है। यदि कहीं दो पल के लिये बन्द हो जाये तो निगमबोध घाट पर जाने का मौका आ जाये! किंतु यदि तुम्हारे हाथ में एक कमण्डलु पानी दें और पाँच मील तक चलना हो तो कभी दायें से बायें हाथ में और कभी बायें से दायें हाथ में लोगे। हृदय के खून में तो कामना काम नहीं कर रही है। वहाँ कर्म कामना से रहित है अतः थकावट नहीं। किन्तु कमण्डलु ले जाने में कामना आ गई, ले जाने वाला अभिमान वाला हो गया

कि 'मैं ले जा रहा हूँ,' इसलिये थकावट हो जाती है। कामना के अभाव में कर्म बन्धन का कारण नहीं। कर्म सृष्टि में बहुत हैं, किन्तु जिनमें कामना का सम्बन्ध किया, वे ही बंधन का कारण बनेंगे। तुम दुकान में थोड़ा-सा काम करते हो। दुकान में सात मुनीम तीन पल्लीदार और एक चौकीदार है। तुमने तो सिर्फ पाँच पल ग्राहक से बात कर ली; बाकी सारा काम तो उन लोगों ने किया किन्तु फिर भी सारा नफा-नुकसान, कर्म तुम्हारे सिर है, क्योंकि कामना तुम्हारे अन्दर है। भगवान् भाष्यकार ने अविद्या-काम-कर्म इसी क्रम से इन्हें रखा है। परिच्छिन्न पदार्थ-ज्ञान, परिच्छिन्न कामना और उसी से प्रवृत्ति होकर परिच्छिन्न कर्म बने। अविद्या से कामना और कर्म उत्पन्न हो गये तो फल देने के लिये पंचमहाभूतों की जरूरत पड़ेगी। तुम्हारे अन्दर पहला ज्ञान यह है कि पिताजी दो लाख रुपये दे गये हैं। रुपये कोषा (बैंक) में पड़े हैं। तुमने सुना कि अमुक व्यक्ति ने कारखाना खोला और एक लाख से दस लाख रुपया कमा लिया, यह वृत्तिज्ञान हुआ। अब तुम्हें कामना हो गई कि मैं भी कारखाना खोलूँ तो बीस लाख रुपये बना सकता हूँ, मेरे पास तो दो लाख रुपये हैं। तब कोषा का रुपया प्रमेय बना और यंत्ररूप में बदल गया। इसी प्रकार समग्र पदार्थों के वृत्तिज्ञान, उनके फलस्वरूप कामना और जीवों के कर्मफलस्वरूप पंचमहाभूत बने।

इसी क्रम को बताते हुए वराह पुराण में एक कथा आती है। अंधकासुर बड़ा भयंकर हो गया था और उसे कोई मार नहीं सका। देवता लोग भगवान् शंकर के पास पहुँचे और कहा अब आप ही उसका अंत करो। भगवान् शंकर अंधकासुर को मारने चले। अंधकासुर ने विचार किया 'ये तो मुझे मार डालेंगे। इसलिये पहले ही अपना प्रबन्ध कर लूँ।' उसने नील नामक असुर से कहा 'भगवान् शंकर के आने से पहले ही तुम उनपर चढ़ाई कर दो।' नील को यह वरदान था कि वह कभी मरेगा नहीं। अंधकासुर का भाव था कि इसे तो मरना न हुआ। जब तक यह नहीं मरेगा, शंकर यहाँ पहुँच नहीं सकते, इसलिये मैं बचा रहूँगा। नील ने सोचा कि शंकर को कैसे रोका जाये। उसने बड़े भारी हाथी का रूप ले लिया और रास्ता रोककर खड़ा हो गया। सोचा, अब शिव कुछ नहीं कर सकते। वह शंकर की तरफ आने लगा। भगवान् शंकर अपनी मस्ती में जा रहे थे, गजासुर आक्रमण करने आ रहा है -उन्हें इसका पता ही नहीं चला! रास्ते में अनेक पशु-पक्षी आते हैं, शंकर सबका वध

थोड़े ही करते हैं, ऐसे ही यह गज भी होगा। वे तो पशुपति हैं। भगवान् के साथ वीरभद्र थे। उन्होंने कहा 'यह तो लड़ने के ढंग से आ रहा है।' वह पहुँचा तो भगवान् शंकर ने उससे कहा 'तू क्यों बीच में आ गया, मुझे तो अंधकासुर को मारना है।' गजासुर ने इतने में बड़े जोर से सिर मारा और उसके दोनों दाँत भगवान् शंकर की पसली में गड़ गये। भगवान् वहाँ हँसते हुए खड़े रहे और उसके दोनों दाँत टूट गये। कहा 'मैं तो अंधकासुर को मारने वाला हूँ। अब तू चला जा।' वहा हटा नहीं। वीरभद्र उसे पहचान गया और भगवान् के कान में कहा 'यह मरने वाला नहीं है।' भगवान् शंकर ने भी दो-चार बार त्रिशूल मारा, वह गिरा लेकिन फिर खड़ा हो गया, रबड़ की गैंद की तरह। भगवान् ने भी सोचा कि यह मरेगा नहीं। तब उन्होंने अपना कालाग्नि रुद्र रूप (आठ भुजा वाला बड़ा भयंकर रूप) बनाया और गजासुर का पेट फाड़कर एक भुजा से त्रिशुल से उसे ऊँचा उठा लिया। उसका खून बहने लगा। मरना तो उसे है नहीं। एक ही भुजा में उसे उठाये भगवान् आगे चले और अंधकासुर से युद्ध किया। किन्तु उनका वह हाथ तो खाली होना ही नहीं था, और गजासुर अभी तक रो ही रहा था कि अंधकासुर युद्ध में मारा गया। भगवान् शंकर वापिस आये। भगवती पार्वती जी ने कहा, 'इस भद्दी खाल को फैंक दो, अंधकासुर को तो मार दिया।' भगवान् ने कहा, 'इसने मरना नहीं है और अगर इसे छोड़ा तो यह फिर खड़ा हो जायेगा। इसलिये अब तो इसके लिये लम्बा ऊँचा मकान बनायेंगे।' गजासुर ने देख ही लिया था कि अंधकासुर तो मारा गया और उसका काम बना नहीं। भगवती को भी उस पर दया आ गई। जैसे ही उन्होंने उसपर करुण-दृष्टि से देखा, गजासुर शंकर-पार्वती की स्तुति करने लगा कि 'मैंने अब समझ लिया है कि आपके विरुद्ध किसी का जोर नहीं चल सकता, आपसे जीतना असम्भव है।' भगवान् शंकर को भी दया आई कहा, 'छोड़ देते हैं, जाओ।' गजासुर कहने लगा 'आपके त्रिशूल से भी चिपका रहूँगा तो दर्शन होता रहेगा। स्तुति करता रहूँ यह आशीर्वाद दें, किन्तु जाने को कहेंगे तो फिर खड़ा हो जाऊँगा।' भगवती ने कहा, 'झगड़ा करके क्यों रहता है! तेरा खून निकल गया तो गंदगी निकल गई। लो तुम्हें शंकर का कटिवस्त्र बना देती हूँ।' भगवती ने उसे बीच से फाड़कर उसकी खाल भगवान् को पहना दी। इसीलिये भगवान् गज-चर्म धारण किये रहते हैं। उसका मुख हमेशा वासुकि नाग से बंद रहता है। इसलिये भगवान् शंकर का एक नाम कृत्तिवासा

भी है अर्थात् जो गज-चर्म धारण करने वाले हैं। यह वराह पुराण की कथा है। इसमें अविद्या कामना और कर्म का बड़ा सुन्दर निरूपण किया गया है।

अंधक वह अविद्या है जो अपरिच्छिन्न कर दे। परिच्छिन्न ज्ञान अपरिच्छिन्न को ढाँकता है। विद्या ने किसी कारण सोचा कि अविद्या ने अनर्थ किया है, सबको गुलाम बना रखा है और सारे देवता मेरे विरोधी हो गये हैं। सारे शास्त्र अविद्या को मारने के लिये ही हैं। किन्तु फिर भी अविद्या मरी नहीं। अब शंकररूप आत्मा से कहा 'तू ही इसे मार सकता है। तुम्हारे सिवाय अज्ञान को मारने वाला है कौन?' और कोई भी देवी-देवता बंधन से नहीं छुड़ा सकते। तुम खुद ही अपने को बंधन से छुड़ा सकते हो। इसलिये भगवान् ने भी गीता में कहा 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः।' अनादि काल से आज तक भगवान् भी रहे, तुम भी प्रार्थना करते रहे, किन्तु उद्धार फिर भी नहीं हुआ। कारण कि तुमने भगवान् की तरफ मुँह नहीं किया। उलटा न समझ लेना कि भगवान् ने तुम्हारी ओर मुँह नहीं किया; वह तो तुम्हारा स्वरूप ही है। आत्मा ही तुम्हारा बन्धु है और आत्मा ही तुम्हारा शत्रु है। जब तुमने उद्धार के लिये परम-शिव स्वस्वरूप की तरफ दृष्टि नहीं की तो परम शिव बैठे हुए भी तुम्हारा उद्धार नहीं करते। जीव को यह बता दिया तो जीव साधना करने लगा।

अब अविद्या (अंधक) ने सोचा कि यह तो सफल हो जायेगा! उसने नील नामक गज से कहा कि तुम कुछ करो। हल्के अंधेरे को नीला कहते हैं और गहरे अंधेरे को अंधकार कहते हैं। हाथी कामी होता है। कामेच्छा जाग्रत् होने पर ही अंत में उसी कामना में मारा जाता है। हाथी को कैसे मारते हैं? एक हाथिनी को छोड़ देते हैं और उसी में कामांध होकर वह मारा जाता है। इस प्रकार नील गज काम का प्रतीक है। अविद्या ने सोचा 'मुझे तो आत्मा झट मार देगा' इसलिये बचने के लिये बीच में कामना को खड़ा कर दिया। शुद्धाशुद्ध अवस्था में वह आगे बढ़ा। अविद्या को बाद में मारोगे किन्तु कामना (गजासुर) को कैसे मारोगे? जीवरूप चेतन ने कामना को मारा पर वह फिर खड़ी हो गई। एक कामना को खत्म किया, दूसरी खड़ी हो गई। देरी नहीं लगती। वेद (वीरभद्र) कहता है कि कामना मरने वाली नहीं है। वह अमर है इसका रहस्य वेद ने समझ लिया है कि कामना को मारने की भी तो एक कामना ही है; प्रवृत्ति की कामना नहीं तो निवृत्ति की कामना होगी। यों

कामना खतम नहीं होगी। जब तक कामना नहीं मरे, अविद्या नष्ट नहीं होगी। कामना को मारकर आगे चलें तो ब्रह्माकार वृत्ति बने। तब जीवरूप शंकर ने सोचा कि इसे तो मरना न रहा, इसलिये उसे एक शूल पर ही टाँग दिया अर्थात् एक ही कामना, मोक्ष की, ब्रह्म की ही कामना पर सारी कामनाओं को लटका दिया। अब कामना से खून बह गया, कामना में दुःख देने की शक्ति खत्म हो गई। भाष्यकार कहते हैं 'आप्तकामस्त्वाप्तकामः' यही उसका खून बहना है। एक परमात्मा की ही कामना को लेकर अविद्या को मार सकते हैं। मोक्षकी कामना जो बची रही उसे शूल पर रखने की क्या जरूरत है? बुद्धिरूप पार्वती कहती है कि यह कामना तो अब सहयोगी हो गई, इसलिये मोक्षकामना को शरीर पर धारण करो, यह तो तुम्हारा वस्त्र हो गई, मोक्ष अपना स्वरूप हो गया। अभी तक तो कामना थी कि 'मैं मुक्त होऊँ' और अब यह कामना है कि सारा संसार ही मुक्त हो जाये। प्रसिद्ध प्रार्थना है कि दुर्जन सज्जन हो जायें, सज्जन शांत हो जायें, शान्त बंधन से मुक्त हो जायें और मुक्त दूसरों को मुक्त करता चले। यों कृत्तिवासा होकर शिव रहते हैं।

उल्टी तरफ से कामनाओं को एकाग्र बनाने पर अविद्या (अंधकासुर) को मार सकोगे। एक-एक कामना तो नष्ट हो नहीं सकती। सवेरे रसगुल्ला खाने की कामना, शाम को दही-भल्ला खाने की कामना, इस तरह सवेरे से शाम तक कामनायें खत्म होने वाली नहीं। इसलिये समग्र कामनाओं को एकाग्र करके एक मोक्ष की ही कामना को रखो तो वह कामना आत्मस्वरूप की प्राप्ति में सहायक होगी।

इस प्रकार प्रमेय-बहुलता का विचार करने पर प्रमा उत्पन्न होती है, यह बता दिया।

प्रवचन-२४
प्रजापति
१-८-६८

उपनिषत् का सिद्धान्त गुणोपसंहार-न्याय से पता लगता है। एक जगह कही हुई बात को संदर्भ के अनुसार दूसरी जगह भी ले आना पड़ता है, इसी को गुणोपसंहार कहते हैं। जैसे सामवेद में आकाश-वायु तत्त्वों की उत्पत्ति नहीं बताई। युजर्वेद में बताया है कि आत्मा से ही आकाशादि उत्पन्न हुए। सामवेद में 'तत्तेजोऽसृजत' उसने अग्नि की सृष्टि कर दी, यह सीधे ही कहा। केवल सामवेद की उपनिषद् पढ़ने वाला समझेगा कि आकाश, वायु आदि की सृष्टि वेद ने नहीं बताई; किन्तु उसे यजुर्वेद से संग्रह करना पड़ेगा। उसी प्रकार यजुर्वेद में सृष्टि-प्रकरण में अविद्या, कामना और कर्म की व्यवस्था नहीं बताई है पर ऋग्वेद में बताई है अतः वहाँ से लेनी पड़ेगी। 'तम आसीत् तमसा गूढम्' इसे भी सामवेद में समझ लेना पड़ेगा। तभी सम्पूर्ण औपनिषद प्रक्रिया बनेगी। अविद्या, कामना, कर्म और पंच महाभूतरूप आठ वसु प्रमेय हुए। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और इन सबके अधिष्ठाता देवता सबका ठीक प्रकार से संचालन करने वाले हैं। जगत् में पार्थिवांश पर पृथ्वी का नियंत्रण है। जैसे तुम्हारे शरीर में भोजन को पचाने का नियंत्रण करने वाला यकृत् है। हाथ, नाक, कान सब ठीक से मौजूद हैं किन्तु यदि यकृत् काम न करे तो भोजन नहीं पचेगा। यकृत् पुष्ट हो लेकिन हाथ में लकवा मार गया तो ढाई सेर खाने पर भी वजन नहीं उठा सकते। अलग-अलग तत्त्वों का नियामक भी अलग-अलग है। पृथ्वी आदि भूत अविद्या, कामना और कर्म इन सभी तत्त्वों को नियंत्रण करने वाले समष्टि देव हुए, एक व्यष्टि शरीर उसके थोड़े हिस्से का नियंत्रण करता है।

यथा भारत में कितना कपड़ा बनाने से फायदा होगा, इसका निर्णय करने वाले उद्योग-मंत्री हुए, लेकिन तुम्हारी जुलाही में कितना कपड़ा तैयार हो, इसके निर्णायक तुम स्वतंत्र हो। मंत्री ने तो सामान्य नियम बना दिया, किन्तु तुम्हारी जुलाही में कितना अतिसमय निकालकर काम हो, इसका निर्णय तुम करोगे। कत्थे वालों के लिये सरकार ने यह निर्णय किया कि दो करोड़ पेड़ों के जंगल बेचने हैं। तुम अपने लिये कितने जंगल खरीदो, यह तुम स्वयं निर्णय करने में स्वतंत्र हो। कितनी एकड़ जमीन में गेहूँ या अन्य अनाज पैदा होना चाहिये, यह निर्णय तो केन्द्र की ओर से हुआ किन्तु तुम अपने खेत के आधे या चौथाई हिस्से में क्या बोओ, इसके लिये तुम स्वतंत्र हो। सामान्य नियम तो समष्टि का निर्णय है, तुम उससे कितना फायदा उठाओ, यह तुम्हारा निर्णय है। समष्टि निर्णय के बिना तुम निर्णय नहीं कर सकते। सरकार ने निर्णय किया कि अफीम नहीं बोना है, यदि तुम अफीम बोओगे तो पकड़े जाओगे। पृथ्वी तत्त्व के अभिमानी देव समष्टि नियम बनाने वाले हैं और व्यष्टि में उस पार्थिवांश का कितना उपयोग करते हो, यह तुम्हारा निर्णय होगा।

अब, प्रश्न उठता है, समष्टि किसके आधार पर निर्णय करता है? पार्थिवांश के कर्मों के आधार पर पृथ्वी तत्त्व निर्णय करता है; जैसे-जैसे व्यष्टि के कर्म होंगे, वैसे-वैसे समष्टि के नियम बनेंगे। समष्टि-अभिमानी होने से यह मिला हुआ रूप है जिसमें समग्र दृष्टि से निर्णय होता है। लोक में भी व्यष्टि-दृष्टि और समष्टि-दृष्टि का निर्णय देखने में आता है। तुम्हारी आँख कितना काम करेगी, यह समष्टि चक्षु के अभिमानी का निर्णय है किन्तु देखने के प्रकार में तुम स्वतंत्र हो। आँख कितने रूपों को किस प्रकार देखे, यह तुम्हारा निर्णय होगा। अंधा बनाने का निर्णय समष्टि का है। तुम्हारी आँख काम करती है, तुम चाहे गीता पढ़ो या कोई घासलेटी साहित्य, यह तुम्हारे हाथ में है। अंधा होने पर भी सबसे झगड़ा करते रहो, या यह सोचकर कि 'देखने का टंटा तो खतम हुआ, अब भजन ही करो', इसमें तुम स्वतंत्र हो।

कर्मों की एक-दूसरे के प्रति फलोन्मुखता होती है। हमारे शरीर का पार्थिवांश अन्न खाने पर बढ़ता है, अतः हमारे अंदर पार्थिवांश की सीमा अन्न पर निर्भर है। अन्न का भी 'प्रारब्ध' होता है, जो जीव अन्नाकार बन रहे हैं, उनकी आवश्यकता है। 'स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्'। जीव ही पापों के द्वारा वनस्पतिरूप में अन्नाकार बनेगा। तुम्हारी आम खाने की इच्छा है, जिस समय तुम्हारा आम खाने

का प्रारब्ध उत्पन्न होगा, उसके अनुकूल कुछ जीव आम बनेंगे और कोई आम पहुँचाने वाला भी बनेगा। जैसे सरकार ने निर्णय किया कि इस वस्तु की इतनी माँग बढ़ेगी क्योंकि लोग बढ़ गये हैं, इतना उत्पादन होगा तो दाम नहीं गिरेगा। यदि हिसाब की प्रणाली में ही गलती हो और गड़बड़ हो जाये, तो दूसरा विषय है। सिद्धान्त यह हुआ कि समष्टि को देखकर जितनी आवश्यकता हो, उतनी पूर्ति हो। यह समष्टि-अभिमानी में संभव है कि कितने आम खाने वाले हैं, उतने आम बनने वाले हों और उसके अनुसार आम पहुँचाने वाले भी हों। इसीलिये पंचमहाभूतों का नियंत्रण प्रमेय-तत्त्व के अन्तर्गत आता है। अब पंचमहाभूतों को अलग-अलग रूपों में बाँटा गया। ज्ञान के अंश को लेकर मनुष्य का मन, अंतःकरण, ज्ञानेन्द्रियाँ बनाई गयीं। क्रिया अंश को लेकर कर्मेन्द्रियाँ और प्राण बनाये। पृथ्वी को नाक से जानेगा और जलरूप रसना जल को जानेगी। तेज को जानने के लिये आँख की जरूरत है। इसी प्रकार प्रमेय में जब ये सारे आ गये, ज्ञानांश से ज्ञानेन्द्रियाँ और क्रियांश से कर्मेन्द्रियाँ बन गयीं तो क्रिया सम्भव हो गई। केवल प्रमेयों को जानते ही रहते तो आगे कुछ नहीं होता। अतः तुम में प्रमेय में परिवर्तन करने की शक्ति होनी चाहिये। केवल जानने से काम नहीं चलेगा, क्रिया की भी आवश्यकता पड़ेगी पर बिना ज्ञान हुए क्रिया सम्भव नहीं।

केवल जानना निष्फल है। एक सेठ जी अपनी पत्नी के साथ मकान में सो रहे थे। गुजरात के सेठ थे, पंजाब के नहीं। पंजाब के सेठ तो बहुत होशियार होते हैं! रात में दरवाजा खुलने की आवाज हुई तो उनकी पत्नी ने कहा कि 'दरवाजा खुला लग रहा है।' सेठ ने कहा 'हाँ हाँ, मैं जानता हूँ दरवाजा खुल रहा है।' फिर थोड़ी देर बाद फुसफुसाकर कहा 'लगता है तिजोरी का ताला टूट रहा है।' सेठ जी कहने लगे, 'मुझे पता है।' फिर कहा 'अब तो तिजोरी टूट रही है।' सेठ जी कहने लगे, 'मुझे भी आवाज सुनाई दे रही।' थोड़ी देर बाद चोर जाने लगे तो पत्नी ने कहा 'सारे गहने ले जा रहे हैं।' उसने कहा, 'मैं जानता हूँ।' सब भाग गये तो उनकी पत्नी को बहुत गुस्सा आया, कहा 'भाड़ में जाये तुम्हारा यह जानना।' इस तरह क्रिया के बिना केवल जानने से कोई भी फल सम्भव नहीं। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जानकर प्रयोजनानुकूल क्रिया करे, इसके लिये क्रियांश से कर्मेन्द्रियाँ बनीं। दूसरे शब्दों में कह दो कि सत्त्वांश से ज्ञानेन्द्रियाँ और रजोगुण-अंश से कर्मेन्द्रियाँ बनीं। प्रमेय से

कुछ हिस्सों को निकालकर इंद्रियाँ बनीं। जिस महाभूत का जो गुण है, उसी के अनुरूप इंद्रियाँ बनीं।

इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक अंतःकरण (मन) ये ग्यारह रुद्र हो गये। अष्ट वसु – अविद्या, कामना, कर्म और पंचमहाभूत समष्टिरूप से पहले से हैं। जीव की उत्पत्ति के साथ आगे बतायेंगे कि वह हमारे अन्दर समष्ट्यभिमानी नियंता है और हम नियम्य हैं। अशुद्धाध्वा में इसका विचार आयेगा। जैसे जेल के अन्दर जेल का सिपाही और जेल में डाला गया अपराधी दोनों बंद हैं, किन्तु वहाँ एक स्वतंत्र है और दूसरा परतंत्र, इसी प्रकार पार्थिवांश से दो हुये जिनमें स्वतंत्र देवता प्रेरक है और हम प्रेरित हैं। इनको रुद्र क्यों कहा? इसकी उत्पत्ति महर्षि याज्ञवल्क्य ने स्वयं बताई है। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं 'दश इमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः'। (बृ० ३.९.४) दस इंद्रियाँ और एक मन (अंतःकरण) इन्हें आत्मा-शब्द से अनेक जगह कहा है।

इन ग्यारह को रुद्र क्यों कहते हैं? जैसे वसु का अर्थ बताया था जिसमें सब बसें, वैसे अब रुद्र की परिभाषा है, जो रुलाता है। जिस काल में मरने वाले शरीर को ये ११ छोड़कर चलते हैं, तब रुलाते हैं। सूक्ष्म शरीर में ये ११ ही हैं। रुलाने वाले होने से इन्हें रुद्र कहा जाता है। प्रमेय अष्ट वसु जिन्हें जाना जाये और प्रमाण ११ रुद्र जिनके द्वारा जाना जाये; यों प्रमाण-प्रमेय दोनों बन गये। ये प्रमाण और प्रमेय किसी जगह और किसी काल में एक होंगे तभी प्रमिति होगी। तेजरूप में अग्नि सर्वव्यापक है। चक्षु प्रमाण है। जिसे चक्षु से जाना जाये ऐसा कोई होना चाहिये। उसके लिये देश, काल भी चाहिये। देश और काल के बिना प्रमाण और प्रमेय की क्रिया कहाँ-कब होगी? बिना देश-काल के प्रमाण-प्रमेय का सम्बन्ध नहीं बनता। इसलिये दिशा और काल की सृष्टि भी सम्भव हुई। इसके लिये बारह आदित्य बने हैं जो दस दिशायें व सूर्य और चंद्र हैं। चार महादिशायें उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम और चार अन्तर्दिशायें नैऋत्य, ईशान, वायव्य और आग्नेय। यदि कोने की अन्तर्दिशायें न हों तो ठीक-ठीक नहीं बता सकते कि तुम्हारा घर कहाँ है। केवल पूर्व दिशा में कह देने से तो काम नहीं चलेगा, क्योंकि पूर्व दिशा में औरों के भी घर हो सकते हैं। कोने की दिशाओं से पता लगता है कि थोड़ा उत्तर-पूर्व को मुड़ा हुआ है आदि। महादिशायें और अंतर्दिशायें आठ एवं एक ऊपर और एक नीचे, सब मिलकर दस दिशायें हो गयीं। केवल आठ से भी काम नहीं चलता, ऊपर के तल्ले

को ऊपर से बतायेंगे और नीचे के तल्ले को नीचे-शब्द से। जब लम्बा पूजन करते हो तो दस दिक्पालों का पूजन भी होता है। ये सारे आदित्य हैं। देश के साथ काल भी होना चाहिये, खाली दिशा से काम नहीं बनता। कार्य किसी देश में, किसी काल में ही होगा। बिना काल के कोई परिवर्तन नहीं हो सकता जैसे बिना दिशा के भी कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। मान लो तुम्हारे हाथ में सेब है। अब दो क्रियायें सम्भव हैं; या तो दो क्षण तक रखे रहो या दो देशों में रख दो। काल के निर्णायक हुए सूर्य और चन्द्र। भगवान् की कालमूर्ति का वर्णन कविकुलगुरु कालिदास ने भी 'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री ये द्वे कालं विधत्तः' आदि से किया है। ये आदित्य प्रमेय-प्रमाण सबको लेकर चलते हैं। अतः आदान करने से आदित्य कहे जाते हैं। आदित्य की व्युत्पति है, सबको लेकर चलने वाला। ये आदित्य देश-काल को कैसे बताते हैं? आगे आदित्य की उत्पत्ति कहेंगे; जो उत्पन्न हुआ, वह आदित्य है। 'तम् जायमाना घोषा उलूलवन्ते' जब यह आदित्य पैदा होते हैं तब सारे संसार में अत्यंत, जोर से शब्द होने लगता है, बड़ा हल्ला मच जाता है। इससे पूर्व प्रमाण-प्रमेय सब रखे हुए हैं किन्तु कुछ कर नहीं पा रहे हैं। पैदा हुए भी वे बिना देश-काल के कुछ कर नहीं सकते क्योंकि क्रिया किसी देश और किसी काल में ही सम्भव है। आदित्य के उत्पन्न होने से प्रमाण और प्रमेय सारे उछल पड़ते हैं, काम कर सकते हैं। लोक में आज भी यही होता है। सूर्य को आदित्य कहते हैं। सूर्योदय के साथ ही सारे पशु-पक्षी-मनुष्य घोष करने लगते हैं। बाह्य सूर्य भी दिक् और काल को बताने वाले हैं। इसलिये कहते हैं 'सर्वाणि च भूतानि अनूदतिष्ठन्'। जितने भी भूत हैं, सारे वसु (प्रमेय) उठ गये, सारी कामनायें भी खड़ी हो गयीं। देश-काल उत्पन्न होते ही प्रमाण-प्रमेय दोनों जाग्रत् हो गये।

घोष-शब्द पर भगवान् भाष्यकार अपने भाष्य में कहते हैं कि ये दिक्पाल परमेश्वर के प्रथम पुत्र हुए। शुद्ध तत्त्व की अंतिम सीमा शुद्धाध्वा और शुद्धाशुद्धाध्वा के बीच की कड़ी ईश्वर-तत्त्व है। ईश्वर में सर्वज्ञता और क्रियाप्रधानता है। क्रियापधान होने से ईश्वर को प्रसन्नता तभी होगी जब सृष्टि भी क्रिया करे। इससे पूर्व तो उनमें क्रिया नहीं हो रही थी, इसीलिये आगे क्रिया को करने वाले दिक् और काल उत्पन्न हुए। पिता को बेटा वही प्रसन्न करता है जो अपने अनुसार क्रिया करे। बेटा पैदा होता है तो कितनी खुशी होती है, थालियाँ बजाते हैं। कामना होने पर वह पूर्ण हुई तो विषय बने। इसीलिये 'काम्यन्त इति कामा विषयाः' ऐसा व्याख्यान है।

प्रमाण और प्रमेयों में हल्ला मचने लगा कि 'काम बन गया,' सब क्रिया में तत्पर हो गये। ज्ञानेंद्रियाँ देखने लगीं, मन संकल्प करने लगा, कर्मेन्द्रियाँ कर्म में प्रवृत्त हो गयीं। प्रमाण और प्रमेय अब सफल हो गये, अन्यथा क्रिया के बिना फालतू ही थे।

प्रमाण-प्रमेय, दिशा, काल सब बन गये। किन्तु सबका करें क्या, यह इन्हें बताने वाला भी तो चाहिये। कोई तरीका बतायेगा तभी तो क्रिया सफल होगी। कोई बतायेगा कि आटे में पानी मिलाकर, पिण्डी बनाकर, बेलकर तवे पर डालोगे तो रोटी बनती है। सब कुछ मौजूद है, आटा, पानी, बेलन, तवा सब है, किन्तु यदि रोटी बनाने का तरीका नहीं आता तो सब बेकार हैं। इसी प्रकार जितने भी कर्म हैं उनमें कोई तत्त्व नहीं जब तक तरीका न आये। कोई कहे कि पहले आटे में पानी मिलाकर पिण्डी बनायें और फिर उसे तवे पर सुखाकर ही खाना है तो आटा ही क्यों न खा लें! एक जाट था। उसने भैंस ली। पहले जाट ही भैंस रखते थे, अब तो ब्राह्मण भी रखने लगे हैं। भैंस बीमार हो गई तो वैद्य के पास ले गया। वैद्य ने एक पुड़िया दी और कहा 'इसे असली घी में अच्छी तरह से मिलाकर भैंस को चटा देना, ठीक हो जायेगी।' तीन दिन तक वह दवाई देता रहा किन्तु कुछ फर्क नहीं पड़ा। वापिस आया और कहा कि पुड़िया से तो कोई फायदा नहीं हुआ। वैद्य ने फिर से परीक्षा की, देखा कि बीमारी तो वही है जिसके लिये पुड़िया दी थी। पूछा 'दवाई दोनों समय बराबर दी थी?' जाट ने कहा, 'हाँ, बराबर दी थी।' फिर पूछा 'घी में अच्छी तरह से फेंट कर दी थी न?' जाट कहने लगा, 'घी में फेंट कर नहीं दी थी। मैंने सोचा कि घी भैंस के पेट से ही निकलता है तो घी उसे अन्दर से मिल जायेगा, इसलिये फालतू घी मिलाने से क्या फायदा!' वैद्य ने कहा, 'भैया जाट! पहले अपनी बुद्धि को खूंटी पर टाँगो, तब भैंस ठीक होगी। भैंस के पेट वाला घी दवाई के काम का नहीं, इसलिये घी की बचत के लोभ को छोड़ो और घी में मिलाकर दो तो भैंस ठीक हो जायेगी।'

इसी प्रकार क्रिया में जब तक ठीक ढंग न बताया जाये तब तक रहस्य पता नहीं लगता। इसलिये 'कैसे बनायें' यह तरीका जानना भी जरूरी है। बताने वाले इन्द्र हुए। भयंकर गर्जना वाला इंद्र है। वेद ही भयंकर गर्जना करता है। संसार के सारे पदार्थों का ज्ञान वेद से होता है। परमेश्वर भी सृष्टि वेदानुकूल ही करते हैं। वेद एक तरह का सूचीपत्र है जिसमें सब चीज़ें एक के बाद एक लिखी हुई हैं। जैसे पंसारी का सूचीपत्र देखकर तुम सारी चीज़ें आसानी से खरीद लेते हो। उस सूची को देखकर जिन कई

चीजों का नाम नहीं आता, वे भी खरीद लेते हो। नाद से ही वेद की उत्पत्ति हुई है। नाद गर्जना को ही कहते हैं। यह नाद बताने वाली ही इन्द्र की सृष्टि है। सारे प्रमेय और प्रमाण पहले से ही विद्यमान हैं किन्तु इन्द्र ने या वेद ने पहले-पहल इसका उपदेश इन प्रमाण वालों को दिया कि क्या बनाना है। शिव के दिमाग में तो पहले से ही है, अब दिमाग से निकालकर बाहर प्राकट्य हुआ है। इसी प्राकट्य को बताने वाले इन्द्र हुए। यदि यह पता न हो कि इनसे क्या करना है तो काम नहीं बनेगा। इसका पता इन्द्र ने बता दिया। वेद को ही इन्द्र कहा गया। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर इस पर भाष्य लिखते हुए कहते हैं 'य:प्राणिनः प्रमापयति स इन्द्रः' अर्थात् जो सारे प्राणियों को ज्ञान कराता है, वह इन्द्र है। वेद ही सबका ज्ञान कराने वाला है।

अब अगला प्रश्न होता है कि ये सब कौन करे? प्रमेय, प्रमाण, देश, काल, और, वेद सब तैयार हो गये। पर करे कौन? बिना उसके भी काम नहीं बनता। महर्षि याज्ञवल्क्य ने बताया कि प्रजापति ही करने वाला है। विदग्ध शाकल्य पूछता है कि प्रजापति है कौन? 'पशव इति'। प्रमाण-प्रमेयों में बँधने वाला जीव ही प्रजापति नाम से कहा गया। पहले बता चुके हैं कि पशु से अर्थ केवल घोड़ा-बैल आदि पशु से ही नहीं है, बल्कि मनुष्य को भी पशु की संज्ञा दी गई है। इसलिए यहाँ पशु शब्द का ही प्रयोग हुआ है। आगे कहते हैं 'यज्ञः प्रजापतिः'। यज्ञ को ही प्रजापति क्यों कहा? क्योंकि यज्ञ सारी क्रियाओं को अपने में बाँध लेता है। यज्ञ का स्वरूप बताते हैं 'यज्ञस्य अरूपत्वात्'। यज्ञ अरूप है। फिर कहते हैं, 'पशुसाधनत्वाच्च' अर्थात् पशु (जीवरूप पशु) से ही सारा यज्ञ पूरा होता है। शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध तत्त्व के बीच की कड़ी प्रजापति, जीव ही है, जिस प्रकार शुद्ध और शुद्धाशुद्ध के बीच में ईश्वर तत्त्व है। शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध तत्त्व के बीच की स्थिति पर विचार करो तो जीव समझ आ जाता है। अशुद्ध तत्त्व का विचार आगे करेंगे।

अब ज़रा साधन-प्रक्रिया भी समझ लो। जब जीव ढंग से जीवतत्त्व का शोध न करेगा और उस में स्थिति हो जायेगी तब अशुद्धता की निवृत्ति होगी। जब ईश्वर तत्त्व में पहुँचेगा तब जीव-भाव की भी निवृत्ति हो जायेगी। जब ईश्वर तत्त्व से भी उठकर पूर्ण अनुत्तर अवस्था में पहुँचेगा तब ईश्वर-तत्त्व की भी निवृत्ति हो जायेगी अतः केवल अनुत्तर ही है। यही अंतिम स्थिति है। जीव सृष्टि किस प्रकार करता है? इसपर आगे विचार करेगे।

प्रवचन-२५

स्तुति

२-८-६८

वेद ने कहा 'स्तोमम् मे वोच:।' स्तुति का अर्थ प्रशंसा किया जाता है। झूठी और सच्ची प्रशंसा में अन्तर है। सच्ची प्रशंसा वाला कभी अपने किसी मतलब से प्रशंसा नहीं करता। किसी स्वार्थ या लाभ की दृष्टि से की हुई स्तुति या प्रशंसा झूठी होती है। किसी से लाभ हो अथवा नहीं हो, वस्तुत: वह स्तुत्य है, प्रशंसनीय है, इसीलिये जो उसकी प्रशंसा करते हैं वह सच्ची है। एक सफल व्यापारी को देखकर तुम्हारे मन में उसके प्रति सच्ची प्रशंसा आती है कि यह बड़ा श्रेष्ठ व्यापारी है, बड़े ढंग से व्यापार करने वाला है, मुझ से अधिक चतुर है। इसी प्रकार किसी विद्वान् की प्रशंसा इस दृष्टि से नहीं की जाती कि वह तुम्हे पढ़ाता है या नहीं वरन् वास्तव में वह विद्वान् है, उसकी इस अच्छाई से जो खुशी होती है उससे सच्ची प्रशंसा होती है। यहाँ ईश्वर की सत्य-प्रशंसा को ही 'स्तोम' शब्द से समझना चाहिये। ईश्वर की झूठी चापलूसी तो बहुत करते हैं! जिस बात को हम नहीं मानते वह भी कह देते हैं। बात ज़रा कड़वी है, किन्तु है सच्ची; लोग ऐसी स्तुति करते हैं जिसे वे स्वयं जानते हैं कि यह झूठी खुशामद है। कभी मन्दिर में जाओ तो पुजारी कहते हैं, 'सेठ जी, आज तो भगवान् को भोग नहीं लगा, भगवान् भूखे हैं, इसलिये २५ रुपये का भोग लगवा दो तो भगवान् खुश हो जायेंगे और तुम्हारा कल्याण होगा।' यहाँ दो विचारधारायें काम कर रही हैं। एक तो यह कि भगवान् के पास २५ रुपये नहीं हैं और वे भूखे बैठे हुए हैं; दूसरी यह कि भगवान् सर्वज्ञ हैं, सर्वव्यापक हैं, मेरा मुकदमा जिता देंगे। यदि भगवान् सर्वज्ञ-सर्वव्यापक हैं तो तुम्हारे २५ रुपये के लिये भूखे नहीं बैठेंगे और यदि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् नहीं हैं तो तुम्हें क्या देंगे? जो स्वयं

के लिये पच्चीस रुपये नहीं रख सकता उससे अपने काम के लिये 'सर्वज्ञ सर्वशक्ति' कहना झूठी प्रशंसा है! हमारी दृष्टि तो यह होनी चाहिये कि जो कुछ हमारे पास है, वही भगवान् के अर्पण है, हमें जो चाहिये, वह माँगते हैं, दें या न दें यह उनकी इच्छा है। भगवान् से माँगना नहीं चाहिये ऐसा नहीं कह रहे हैं, लेकिन सौदेबाजी से काम नहीं लेना चाहिये। भगवान् यदि स्वयं भूखे हैं तो वह हमारी क्या मदद करेंगे! यदि वे सारे संसार के मालिक हैं तो उन्हें तुम्हारी किसी भी चीज़ की ज़रूरत नहीं है। लोग एक कदम और आगे चलकर कहते हैं, 'भगवान् को २०० रुपये का भोग भी लगाया लेकिन काम बना ही नहीं!' मानो वे नौकर हों, दो सौ रुपये दिये तो काम करना ही पड़ेगा। इसका नाम झूठी खुशामद है। सच्ची खुशामद तो यह है कि जो कुछ मेरे पास है, चाहे सूखा बेल का पत्ता है या हीरे से जड़ा सोने का बेल-पत्र है, मेरे पास तो यही है, मैंने दे दिया, अब मुझे जिस चीज़ की ज़रूरत है, मैं माँगता हूँ, वह दे या न दे, यह उसकी इच्छा है। दे देता है तो उसकी प्रसन्नता (कृपा) है कि मुझे मेरा इच्छित पदार्थ दे दिया। तुम अपनी माँग को पूर्ण करने के लिये देते हो, यह ठीक नहीं है। भाव ही शिव ग्रहण करते हैं, घूस नहीं। जैसे घर में ८-१० साल का लड़का है, वह पहाड़ पर जाना चाहता है। तुमने कहा 'हम काम में व्यस्त हैं, जा नहीं सकते, तुम चले जाओ।' तुमने उसे कुल्लू भेजा, सारा खर्च भी दे दिया। जब वह वापिस घर आता है तो कोई छोटा-सा तोहफा, कुल्लू की एक टोपी ले आता है, कहता है 'पिता जी, आपके लिये लाया हूँ।' पिता के कहने पर ही पहाड़ पर गया, पिता ने ही सारा पैसा दिया था, किन्तु इस भाव से कि 'आपके लिये लाया हूँ', पिता प्रसन्न हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार तुम हीरे से जडित सोने का बेल-पत्र या एक सूखा बिल्वपत्र ही भगवान् को दो, उसका ईश्वर के सामने कोई महत्त्व नहीं, किन्तु इस भाव से दो कि 'जो मेरे पास सबसे अच्छी चीज़ है वही अर्पण करता हूँ;', इसी भाव से ईश्वर प्रसन्न होंगे। यदि दो दिनों बाद पुत्र कहे 'जी, मैंने आपको परसों टोपी लाकर दी थी, आप मुझे सूट क्यों नहीं सिलवा देते?' तो उसे सूट मिल जायेगा क्या? न मिलने की ही सम्भावना है। इसी प्रकार परमात्मा से जब कुछ माँगना है, तब प्रार्थना करो। हाथ-पैर जोड़ो तो शायद मिल भी जाये। यदि सौदेबाजी दिखाई कि 'मैंने सोने की बेल-पत्री चढ़ाई थी, आप आज मुकदमा जिता दो' तो इस भावना से लाभ होने वाला नहीं। सच्ची स्तुति में परमेश्वर के वास्तविक

गुणों का वर्णन है। वस्तुतः यह अनुभव होना चाहिये कि परमेश्वर सर्वज्ञ-सर्वव्यापक हैं, मैं जो माँगता हूँ, वह उचित होगा तो कृपा करके अवश्य देंगे। माँगना उनसे ही है, उनसे नहीं माँगेंगे तो और किससे माँगेंगे? 'स्तोम' के प्रयोग में सच्ची स्तुतिवाचकता समझनी चाहिये। उस वास्तविक प्रसन्नता को शब्द, क्रिया या और किसी भी प्रकार से प्रकट करो तो सच्ची प्रशंसा, सच्ची स्तुति होगी।

आभास का स्वरूप भी बता देते हैं, वही बीच का दरवाज़ा है। ईश्वर स्वरूप से तो शुद्ध है किन्तु क्रिया के प्रयोजन से उसे मिश्र-तत्त्व से मिला दिया। मिश्र-तत्त्व क्या है? भगवान् सर्वज्ञात्म महामुनि लिखते (सं.शा. १.१५९) हैं

'प्रत्यग्भावस्तावदेकोऽस्ति बुद्धौ प्रत्यग्भावः कश्चिदन्यःप्रतीचि।।
प्रत्यग्भावस्तत्कृतस्तत्र चान्यो व्युत्पन्नोऽयं तत्र चात्मेति शब्दः।।'

जो सब को जानने वाला है, जानने के लिये जिसे अन्य की ज़रूरत नहीं है, ऐसी बुद्धि को प्रत्यग् आत्मा समझना बुद्धि में प्रत्यग्भाव है। प्रत्यग् का अर्थ अपना 'आपा' ही समझ लेना। सामान्य पुरुष प्रत्यग् अर्थात्, अपने आपे को कहता है तो सामान्यतः बुद्धि को ही अपना स्वरूप समझ लेता है, कि जो बुद्धि संसार की सब चीजों को जानती है, वही मेरा स्वरूप है। अपने अन्दर के विचारों को भी मैं ही जानता हूँ, यही अपना आपा है। आदमी कहता है, 'ध्यान करने बैठे लेकिन ध्यान नहीं लगा।' इसे भी हम जानते हैं। जिसे शास्त्र अपना आपा कहता है, वह कुछ और ही है। वेद, उपनिषद् जिसे अपना आपा कहते हैं, इससे वह भिन्न है। प्रश्न होता है कि उसे कैसे जाना जाये? एक अपना आपा है जिसको जानने वाला समझता है, दूसरा हुआ वेदादिक सच्छास्त्र जिसे कहता है कि वह इससे रहित है, इससे भिन्न है। वह मिले कहाँ? वेदादि शास्त्रों में प्रतिपादित अपना भाव जब बुद्धि में आया तब जिसे तुमने अपना आपा समझा था वहीं शुद्ध आत्मा का पता चलता है। इस प्रकार यहाँ आकर दोनों मिल गये। प्रत्यक् पद की व्युत्पत्ति (समझ) बुद्धि में आत्मा द्वारा होती है। जो दर्पण में भीतर लिया जाता है उसी का नाम आभास है। यह समझ लेना कि वह बुद्धि में आया नहीं बल्कि बुद्धि जो शिव की शक्ति से उसके जैसा अपने भीतर बनाती है, वह आभास है। फर्क क्या हुआ? जिसे वेद आत्मा शब्द से कहता है, वहाँ बोध बिना किसी निमित्त के है। आत्मा में ज्ञान किसी कारण अथवा निमित्त से नहीं है। बुद्धि में जो है, वह उस आत्मा के निमित्त से आता है। अग्नि तुम्हें

जलाती है, इसमें संदेह नहीं; और गरम कढ़ी भी जलाती है। किसी ने गरम कढ़ी परोस दी और साथ में एक चम्मच रख दिया। बढ़िया दही का भल्ला भी रखा है। एक चम्मच कढ़ी को मुँह में डाला और हाय-हाय करने लगा, आँखों में से पानी निकलने लगा। कोई पूछे, 'क्या बात है?' तो कुछ नहीं बता सकता। थोड़ी देर बाद कहता है 'गरम कढ़ी से मुँह जल गया।' आग भी जलाती है, कढ़ी भी, लेकिन फर्क यह है कि आग बिना कारण के जलाती है किन्तु कढ़ी का जब आग से स्पर्श होगा, तब जलायेगी। वही कढ़ी पाँच-सात पलों के बाद सुखकर हो जाती है। यदि कहीं माघ का महीना हो तो थोड़ी देर बाद ही फिर गरम करने को कहते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि थोड़ी देर बाद आग जलाये नहीं! जलाना आग के लिये निर्निमित्त है, अन्य पदार्थों में आग के निमित्त से है। आग कभी ठंडी नहीं हो सकती क्योंकि निर्निमित्त है। कोयला-लकड़ी आदि तो ठंडे हो जाते हैं।

इन सबको जानने के लिये बुद्धि की जरूरत है। राग-द्वेष अन्दर की चीज़ें हैं और घट-पट-मठ आदि बाहर की चीज़ें हैं, ये बुद्धि द्वारा प्रकाशित होती हैं। जब यह कुछ नहीं, तब क्या है? वहाँ ज्ञान नहीं है यह तो कह नहीं सकते हैं। कहते हैं 'मैं रात को ऐसा सोया कि कुछ पता ही नहीं चला,' यहाँ भी पता नहीं चलने का पता तो है ही! तुम जिसे अपना आपा मान रहे हो, वह मिला-जुला है। बुद्धि के धर्मों में प्रतिबिम्बित अपने आपे की प्रतीति हो रही है। बुद्धि-वृत्ति का समुदाय जिसके द्वारा प्रकाशित हो रहा है, वह आभास है। कढ़ी से जलने वाला 'आग से जला' नहीं समझता लेकिन जिस शक्ति द्वारा कढ़ी जलाने वाली बनी, वह वास्तविक अग्नि ही है। अतः एक बुद्धि को आत्मा मानता है, एक वेद-शास्त्र-प्रतिपादित तत्त्व को आत्मा मानता है, और एक दोनों को मिलाता है। स्वरूप को आगे चलाने वाले ईश्वर-तत्त्व खुद मिश्र-अध्वा में पहुँचे, क्योंकि उस तत्त्व को बुद्धि से आगे चलाना है।

शतपथ ब्राह्मण में इस स्तोम को प्रजापति नाम से कहा है। सारे यज्ञों (विश्व-यज्ञ) को करने वाले यही प्रजापति हैं और ३३ देवता इनके पुरोहित हैं जो यज्ञ के संचालक हैं। लेकिन इस सृष्टि-यज्ञ का यजमान कौन है जो इस यज्ञ को चालू कर रहा है? कौन है वह जिसे इस यज्ञ का फल मिलेगा? यह सृष्टि-ब्रह्माण्ड उसका यज्ञ ही है और इसे कराने वाला यही आभास (स्तोम) है। यदि यह नहीं

होगा तो यज्ञ बंद हो जायेगा। जीव ही नहीं हो तो देवता क्या करेंगे? इस सारे विश्व-यज्ञ का फल जीव को ही मिलना है। यह सारा यज्ञ किस लिये है? जीव को सम्राट् बनाने के लिये ही है। राजसूय यज्ञ करने के लिये राजा बैठता है। पुरोहित भी जानते हैं कि यह सम्राट् बनेगा और बाद में हमें इसे सलामी देनी पड़ेगी। पुरोहित तो दक्षिणा, वह भी सवा रुपया लेकर ही प्रसन्न है! पण्डित की दक्षिणा केवल सवा रुपया और तुम लखपति बन गये! पंडित को इसी में प्रसन्नता है कि 'मेरा अनुष्ठान सफल हो गया, मेरा यजमान लखपति बन गया'। इसी प्रकार सारे देवता पुरोहित हैं और यजमान (जीव) मुक्ति को प्राप्त हो जायेगा; उन्हें कुछ नहीं मिला, फिर भी उन्हें बड़ी प्रसन्नता है कि 'मेरा यजमान सफल होकर सम्राट् बन गया है, अपने स्वरूप में स्थित हो गया है'। सारे सृष्टि-यज्ञ का यजमान जीव ही है। राजसूय में वही बैठेगा जो क्षत्रिय है 'राजा रासूयेन यजेत्'। आत्म-प्राप्ति करने वाला इसका यजमान आत्मा ही बन सकता है। स्वरूप से तो तुम, वेद ने जैसा बताया, आत्मा हो, पर उस स्वरूप की प्रतीति नहीं है। इसीलिये यह सारा यज्ञानुष्ठान हो रहा है ताकि तुम्हारी स्वरूप में स्थिति हो सके।

यज्ञ किया जाता है तो स्थूल सामग्री की जरूरत पड़ती है, इसलिये पहले पंच महाभूतों की सृष्टि हुई। जिस प्रकार यज्ञ में पाँच चीज़ों की ज़रूरत पड़ती है- तिल, चावल, जौ, शक्कर और घी। इनके मिलाने का भी ठीक-ठीक हिसाब होता है, एक खास अनुपात से ही इन्हें मिलाया जाता है और तब आहुति दी जाती है, अलग-अलग करके नहीं। जैसे तिल का आधा चावल, चावल का आधा जौ और जौ का आधा, शक्कर आदि। वैसे दार्ष्टान्त में भी पहले शुद्ध आत्म-तत्त्व ही है, उसमें पाँच महाभूतों को मिलाना है। इन पंचमहाभूतों को भी खास हिसाब से मिलाते हैं। प्रत्येक महाभूत के अठन्नी तोल में दुअन्नी दूसरे चार महाभूतों को मिलाना पड़ता है। यदि सभी महाभूत मिले हुए हैं तो फिर सृष्टि में दीखने वाले आकाश-तत्त्व में आकाश की प्रधानता क्या? बहुभागधारी (जिसके पास 'शेयर' अधिक है) कारखाने का मालिक ही कहा जाता है। हिन्दुस्तान मोटर लिमिटेड के पूर्णतः मालिक बिड़ला नहीं हैं, किन्तु उसकी अधिकतम भागीदारी वाले होने से उन्हें मालिक कहा जाता है। आकाश का हिस्सा आठ आने और अन्य चारों का दो-दो आने है अतः स्थूल को आकाश कहा जाता है। पृथ्वी का हिस्सा आठ आने मिलेगा,

अन्य चारों का दो-दो आने मिलकर एक रुपया पूरा हो जायेगा तो भी पृथ्वी 'मालिक' होगी। इसी प्रकार अन्य भूतों में समझ लेना। पंचीकृत पंचमहाभूत ही स्थूल कहलाते हैं। व्यष्टि स्थूल शरीर में महाभूतों का स्थूलभाव आ गया। व्यष्टिसम्बन्ध से देश और काल भी 'स्थूल' हो जाते हैं। काल का स्थूलभाव दिन-रात, पक्ष, मास, उत्तरायण, दक्षिणायन फिर साल आदि के रूप में है। वैसे तो काल नित्य अखंड है। पहले साठ घड़ी का दिन मानते थे, अब २४ घंटों का दिन मानते हैं, यदि कभी दशमलव प्रणाली हो गई तो १० घंटे का दिन भी हो सकता है। जिस प्रकार पंचमहाभूत, मन, प्राणादिके स्थूल व्यष्टिभाव बने, स्थूल देश और काल बने, उसी प्रकार स्थूल धर्म और अधर्म भी बने। वेद-प्रतिपाद्य सर्वव्यापक धर्म, कृत धर्म, फल देने वाला है, सुखद है और अधर्म दुःख देने वाला है। सूक्ष्म धर्माधर्म तो नित्य हैं किन्तु तुम्हारे द्वारा किये जाने पर धर्माधर्म स्थूल होंगे, फल देने वाले हो जायेंगे। पोथियों में लिखा हुआ ज्ञान धर्म नहीं है वरन् किया जाने पर धर्म है। बाँच लिया कि भगवान् राम ने पिता की आज्ञा मानकर राज्य छोड़ दिया। जैसे उन्होंने छोड़ा, वैसे ही यदि तुम भी पिता की आज्ञा का पालन करते हो तो वह फल देने वाला होगा, किन्तु लोग प्रायः बाँचकर ही समझते हैं कि धर्म हो गया! उन्हें अनुकरण के लिये प्रेरित करने पर कहते हैं 'वे तो भगवान् थे, कर गये, हम कैसे कर सकते हैं!' फिर बाँचने से भी क्या मिलेगा? धर्म कृत होता है। नित्य धर्माधर्म तो नियमरूप है किन्तु उसका कृतरूप ही सफल होगा। इसीलिये धर्माधर्म भी स्थूलभाव को प्राप्त करता चला जाता है। जैसे-जैसे स्थूलभाव की प्राप्ति हुई वैसे प्रपंच अशुद्धभाव से बुद्धि, मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, स्थूल शरीर, पुत्र, सम्बन्धी आदि सबसे युक्त होता चला गया।

दक्षिण भारत में पिल्लैआर नाम के एक शिवभक्त रहते थे। पूर्व जन्म में भी वे निरंतर महान् शिव-भक्त थे। उनके पिता साधारण दुकान करते थे। जब वे पाँच वर्ष के हुए तो पिता ने कहा कि पहाड़े याद करो। पिल्लैआर ने सोचा कि पहाड़ों में क्या रखा है, एकांत में 'ॐ नमः शिवाय' मंत्र का निरंतर जप करते थे, शंकर का ध्यान करते रहते थे। जब १०-१२ वर्ष के हो गये तब पिता ने बहुत समझाया कि कुछ काम ही करें किन्तु उन्हें बात जँची नहीं। ध्यान आदि करने में ही लगे रहते थे; थोड़ी देर के लिए घर आयें, रोटी खाकर फिर चले जायें। खेलना आदि भी नहीं, बाल-सुलभ चपलता का लवलेश भी उनमें नहीं था। २१-२२ वर्ष के ही थे कि

पिता का देहान्त हो गया। माँ रोने लगी 'तू काम नहीं करता, गुजारा कैसे होगा।' कहने लगे 'मैं काम करूँगा।' शंकर से प्रार्थना की 'माँ को कष्ट न हो, और आप थोड़े ही समय में ऐसा कर दीजिये ताकि फिर यह सारा जीवन आपकी आराधना में लग जाये।' पहले तो छोटी-सी दुकान थी, अब दो ही महीने में दुगनी-चौगुनी हुई, तीन साल में वह नगरसेठ बन गये, विदेशों से व्यापार होने लगा। नीतिकारों का कथन है 'लाभात् लोभः प्रवर्द्धते'। जैसे-जैसे चीज़ें मिलती हैं, लोभ बढ़ता जाता है। पिल्लैआर भी सोचने लगे, अभी तो नगरसेठ बने हैं, राज्य-सेठ होना चाहिये। माँ भी खुश थीं। अब शिव-आराधना का समय कम होने लगा। लेकिन शिव की एक बड़ी विशेषता है कि वे एक बार जिसे देख लेते हैं, उसे फिर कभी छोड़ते नहीं। उनकी इस आदत का एक कारण है : आखिर अनंतकोटि जीवों में उनकी ओर देखने वाले हैं ही कितने! अगर कोई उनको देखने लगा तो वे उसे कैसे छोड़ दें? सब्जी-मण्डी में अगर सब्जी वाले की दूकान से कोई आलू लेने वाला ग्राहक आगे दूसरी दूकान को निकल गया तो कोई बात नहीं, क्योंकि आलू लेने वाले और कई ग्राहक हैं, किन्तु हीरे-जवाहरात की दूकान में आकर हीरे का ग्राहक आगे निकल रहा हो तो क्या कभी जाने दोगे? एक जगह हम जाते थे, उनका हीरे-जवाहरात का काम था। वहाँ एक विचित्र पद्धति देखी। जो टैक्सी वाला उनकी दुकान में ग्राहक लेकर आता, उसको वे दस रुपये का नोट तो पहले ही पकड़ा देते थे। बाकी कमीशन यदि ग्राहक पट जाये तो दो प्रतिशत अलग रहा। वह केवल ग्राहक लेकर आया, इसी के उसे दस रुपये मिल गये। हमने पूछा तो कहने लगे 'यह हमारी दुकान पर ले तो आया, अगर दूसरी जगह ही ले जाता तो हम क्या करते!' परमेश्वर का मामला भी ऐसा है। परमेश्वर के बहुत ग्राहक तो हैं नहीं, इसलिये तुमने एक बार उधर नजर कर ली तो परमेश्व्वर को भी तुम्हें छोड़ना नहीं है। मुक्ति मिलेगी ही। ईश्वर ने सोचा 'गजब हो गया, मेरा भक्त (पिल्लैआर) संसार-जाल में फँसने लगा!'

एक बार पिल्लैआर ने सुइयों का ढाई करोड़ रुपये का एक जहाज खरीद लिया। प्रदोष-काल में शंकर-पूजन कर रहे थे। इतने में मुनीम ने आकर खबर दी कि वह ढाई करोड़ की सुइयों वाला जहाज डूब गया है, ऐसी खबर मिली है। उन्होंने पूजन वहीं छोड़ दिया और पत्नी से कहा, 'बाकी का अभिषेक तुम करना'। जैसे ही दरवाजे पर पहुँचे, एक अतिवृद्ध महात्मा वहाँ खड़े थे, कहने लगे, 'कुछ खाने को मिले।' उन्होंने गरज कर कहा 'जाओ-जाओ, देखते नहीं कैसा समय है। जब

देखो तब माँगने चले आते हैं।' जहाज ढूँढने में लगे रहे, किन्तु कहीं पता नहीं चला। खाना-पीना छोड़ दिया। उस समय ढाई करोड़ बहुत होता था। उसकी यही तो पूंजी थी। नीची नज़र किये, बड़े दुःखी होकर घर आये। जैसे ही घर पहुँचे, चौकीदार ने एक लिफाफा दिया। बोला 'वही महात्मा दे गये थे। भोजन तो हमने उन्हें करा दिया था, जाते वक्त वे लिफाफा दे गये थे और कहा कि इसमें खास खबर है, जब सेठ आये तो दे देना।' लिफाफा खोला तो उसमें एक टूटी हुई सुई पड़ी थी और साथ ही लिखा था, 'तू जो अभिषेक छोड़कर चला गया, क्या इतना भी तेरे पास बचा!' सेठ ने विचार किया 'मैं क्या था और क्या हो गया! यहाँ तक पतन हो गया कि पूजन में बैठा हुआ भी उसे अधूरा छोड़कर चला गया। क्या धन इसीलिये एकत्रित किया था? कहता था नित्य-निरन्तर भजन करूँगा और अब पूजन बीच में ही छोड़कर चला गया!' झट वहाँ से गया और शिवलिंग से लिपट गया, क्षमा माँगने लगा कि अब ऐसी भूल नहीं होगी, रातभर रोता रहा। प्रातःकाल पूजन-सामग्री लेकर भगवान् शंकर के पूजन के लिये जा रहा था। इतने में मुनीम ने आकर खबर दी कि वह जहाज कहीं तूफान में खो गया था और अब बंदरगाह पर लग गया है। मुनीम से कहने लगे, 'अब तुम जानो, तुम्हारा काम, मुझे कुछ नहीं करना है।'

इस कथा का रहस्य यह है कि मनुष्य बहिर्मुखी हुआ तो कहाँ तक जायेगा, इसका पता ही नहीं लगता। आभास के लिये ही कार्य आरम्भ किया था, उसी को भूल गया; इसलिये टूटी सुई भी नहीं बची। किन्तु जिस कार्य के लिये आये थे, वह यदि पूरा हो जाये तो प्रतिक्षण आनंद लेता है। इसीलिये इस स्तोम-आभास का नित्य-निरंतर विचार करना चाहिये ताकि जो यज्ञ आरंभ किया है, वह पूरा हो सके। तभी उसका फल मिलेगा।

प्रवचन २६
शरीर देवालय
३-८-६८

सामवेद ने कहा 'भर्गो मे वोच:' सारे पापों को जला डालने के कारण ही शंकर भर्ग नाम से कहे गये। समग्र ब्रह्माण्ड उस भर्ग का स्वरूप समझने के लिए ही है, उसकी महिमा का विकास है। सारी सृष्टि का प्रयोजन परमेश्वर की अनंत स्वतंत्रता को प्रकट कर देना है। जब इस यश को देखा जाये तभी उसकी अनंत स्वतंत्रता ज्ञात होती है। तुम में इतनी शक्ति हो सकती है कि तुम साढ़े सात टन वजन को छाती पर चढ़ा लो। प्राणायाम के अभ्यास से योगी ऐसा कर सकते हैं, हाथी को अपनी छाती पर चढ़ा लेते हैं। लेकिन जब तक चढ़ा नहीं लो, यह शक्ति सिद्ध होने वाली नहीं है। इसी प्रकार उस अनंत स्वातंत्र्य को प्रकट करना ही इस यश का प्रयोजन है। दो शक्तियाँ हैं, एक यश:स्वरूप और दूसरी उसकी ख्याति को प्रकट करना। जब वह परमात्म-तत्त्व समष्टिरूप से पृथ्वी, जल, तेज वायु, आकाश, अविद्या, कामना और कर्म का संचालन करने लगता है तब उसकी ख्याति प्रकट होती है। कैसी विचित्र महिमा है उसकी कि ऐसे असंभव कार्य को भी संभव कर देता है। आकाश का स्पर्श से कोई सम्बन्ध नहीं लेकिन आकाश का कार्य है स्पर्शरूप वायु। अरूप वायु ने रूपवाली अग्नि बना ली। वायु निराकार पर अग्नि साकार हो गई। अग्नि से जल बना। अग्नि में रस व शीतता नहीं, अग्नि में हाथ जल जाता है और जल के स्पर्श से ही ठिठुर जाता है। जिसने अग्नि से जल बना लिया उस परमात्मा की कल्पनातीत महिमा कितनी अपूर्व है! इतना ही नहीं, सर्वथा जड शरीर को कैसा चेतन बना कर दिखाया। शरीर के अन्दर एक छोटा-सा छेद करके उसी में से देखने लगा, कैसी विचित्रता है। आँख एक छोटा-सा छिद्र ही तो है

लेकिन देखे जा रहा है। फिर थोड़ा खोदकर दूसरा एक गोल छेद किया तो सुनने लगे। ऐसी-ऐसी असम्भव कार्य-शक्ति से उसका अनंत स्वातंत्र्य प्रकट हो रहा है।

किन्तु जीवभाव से जब वह अशुद्धि में बढ़ा तो इसके विपरीत ही करने लगा। है तो इसमें भी स्वतंत्र ही, किन्तु वह स्वातंत्र्य यश देने वाला नहीं, उल्टा अपयशप्रद ही है। अशुद्ध में प्रवेश करके क्या करता है? जैसा शास्त्र में बताया उससे विरुद्ध आचरण करता है। वेद ने बताया कि तुम ब्रह्मरूप, आनन्द-स्वरूप हो, लेकिन यह है कि रोये जा रहा है, दुःखी हो रहा है। है तो यह भी यश ही किन्तु विपरीत प्रभाव वाला है। राम का यश है तो रावण का भी यश है। हिटलर का यश है तो चर्चिल का यश भी कम नहीं है। जीव ज्ञानस्वरूप होते हुए भी अपने को अज्ञानी, परतंत्र मानता है। स्वरूप से ठीक विपरीत होकर भी अपनी स्वतंत्रता दिखा रहा है। जन्म-मरण से रहित होकर भी अपने को जन्म-मरण वाला मानकर रोता-हँसता है। यह अपकीर्ति वाली स्वतंत्रता है। वेद ने कहा 'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' सत्यस्वरूप वाला होकर भी झूठ बोलता है तो अपयश होता है। इसीलिये श्रुति ने यश से अलग कर उसे 'स्तोम' से कहा। यदि जीव परमशिव की स्तुति में लगे तो वह भी यश वाला ही बनता है। परमशिव भी सोचते हैं कि जिसकी मैंने सृष्टि की, वही मेरी स्तुति कर रहा है, मेरा ही यश गा रहा है। जीव-भाव से भी मैं उस आनंद को ले सकता हूँ।

किन्तु प्रपंच में आकर हमने और बहुत-से घर बना लिये। इसका मूल कारण यह है कि हमने अपने स्वरूप को समझने की चेष्टा नहीं की, हमने सारी दुनिया को समझने की चेष्टा की। यह प्रश्न कभी नहीं उठा कि आखिर हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है। हमने सोने की परीक्षा के लिये कसौटी बनाई, कानून बना दिया कि जो ठगी करेगा, पकड़ा जायेगा। इसी प्रकार जमीन की परीक्षा करने वाले भूशास्त्री, जानवरों की परीक्षा करने वाले पशुशास्त्री, पेड़-पौधों की परीक्षा करने वाले वनस्पतिशास्त्री, रसायनशास्त्री, भौतिकीशास्त्री आदि अनेक वैज्ञानिक बन गये जिन्होंने उस-उस शास्त्र की परीक्षा के नियम बनाये, सबके लिए विस्तार, विचार किया यह सब अच्छा है, करना भी चाहिये, किन्तु क्या यह विचार कहीं किया कि हमें जानने वाली भी तो कोई शास्त्रशाखा है, हमारे स्वरूप को बताने वाली भी तो कोई शक्ति है? यदि स्वयं अपने स्वरूप का विचार करें तो आश्चर्यचकित रह जाते हैं! ऐसी विचित्र सृष्टि की है क्योंकि मैं ईश्वर ही जीवभाव में आ रहा हूँ, मैं ही

इस बड़ी से बड़ी सृष्टि का मालिक हूँ। इसलिये हमारा शरीर ऐसा ही विलक्षण है। राष्ट्रपति का भवन ऐसे बनाया जाता है जहाँ हर राज्य का थोड़ा-थोड़ा नमूना हो क्योंकि वह भवन सारे राष्ट्र का प्रतीक होता है। जैसे अमरीका के राष्ट्रपति भवन मे १३ राज्यों (प्रांतों) का प्रतिनिधित्व करने वाले १३ कमरे हैं और प्रत्येक कमरे की सजावट तत्सम्बन्धी राज्य ही करेगा। अपने यहाँ भी राष्ट्रपति भवन में प्रवेश करो तो घंटे मिलेंगे जो हिन्दू राष्ट्र का चिह्न है, मीनारें मिलेंगी जो इस्लामी राष्ट्र के चिह्न हैं। यह सब अंग्रेजों के जमाने में ही था, जब भारत धर्म-निरपेक्ष नहीं बन पाया था। वहाँ विशेष चिह्न हाथी भी बना है, बंगाल का शेर भी बना है। लोग विश्व से अनेक तोहफे लाते हैं पर अपने देश का उन्हें कुछ पता नहीं है। ऐसा केवल भारत में ही होता है, अन्यत्र नहीं। हम विश्व-साहित्य पढ़ने में जितना समय और जोर लगाते हैं, उतना समय हमारे पास प्रान्तीय अर्थात् अपनी मातृभाषा के लिये नहीं है। उचित मानव-दृष्टि यह नहीं है। जैसे राष्ट्रपतिभवन का निर्माण ऐसा होता है कि सारे देश का प्रतिनिधित्व करता हो, इसी प्रकार जब परब्रह्म परमात्मा जीवात्मारूप में आ रहे हैं तो उसमें सारे ब्रह्माण्ड के नमूने रखते हैं। यदि अपने शरीर के स्वरूप का विचार करें तो इन सारे ब्रह्माण्डों का रहस्य खुलता चला जायेगा। प्राचीन ग्रंथों को देखने पर आश्चर्य होता है कि उस युग में उन्होंने वैज्ञानिक तथ्यों का पता कैसे लगाया होगा। आधुनिक लोग कहते हैं कि उस युग में भी आज-जैसे वैज्ञानिक रहे होंगे; लेकिन ऐसा नहीं है। आज जिन तत्त्वों का बाहर पता लगाते हैं, ऋषियों ने उन्हें शरीर में ही ढूंढ लिया था। 'यो वै तां ब्रह्मणो वेद अमृतेनावृतां पुरम्। तस्मै ब्रह्म च ब्रह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः' (अथर्ववेद १०.२) यह अथर्ववेद का मंत्र बताता है कि जिसने ब्रह्मपुरी मानव देह को ठीक-ठीक जान लिया है उसने सब जान लिया। 'अमृतेनावृताम्' वह ब्रह्मपुर चारों तरफ से अमृत से भरा हुआ है, प्रतिक्षण वहाँ अमृतस्राव हो रहा है। यदि ऐसा न होता तो यह जड शरीर इतना कार्य कैसे कर लेता! तुम कहते हो कि आज हम चन्द्रमा में पहुँच रहे हैं। वैदिक पूछता है कि किस ताकत से पहुँच रहे हो। तुम्हारे दिमाग में शक्ति आई तभी पहुँच रहे हो। डा० पावले एक बहुत बड़े वैज्ञानिक हुए हैं। किसी ने उनसे कहा कि यह ब्रह्माण्ड कितना बड़ा है, इसके अंत का पता ही नहीं चलता। उन्होंने कहा, 'इसके अंत का पता नहीं चलता, यह अनंत है, पर इसे जानने वाले हम कितने बड़े हैं यह क्या अधिक

महत्त्वपूर्ण बात नहीं है!' हमारी ही ताकत तो इस सारी सृष्टि का रूप है। हममें विचारशक्ति संभव हुई तभी उस तक पहुँच रहे हैं। इसीलिये कहा 'अमृतेनावृताम् पुरम्' शरीर को चारों तरफ से अमृत से भर दिया गया है।

हाथ की कितनी शक्ति है? इसका पता ही नहीं चलता। हाथ केवल बोझा उठाने के लिए ही नहीं है। एक व्यक्ति कलम लेकर कविता करता है और उसी पर सारा राष्ट्र विप्लव कर उठता है। हाथ की शक्ति अनंत है। कान की शक्ति का भी पता नहीं लगता। सारा ब्रह्माण्ड इन्द्रियों से दीख रहा है। सारे ब्रह्माण्ड का अनुभव करने वाले हम हैं। लेकिन कोई कान में आकर फूँक मारता है 'नेह नानास्ति किंचन' यह जगत् किसी काल में है नहीं। हम झट जग पड़ते हैं और विचार करने लगते हैं कि वास्तव में जगत् है कहाँ, दीख ही तो रहा था। लेकिन 'क्व गतं केन वा नीतम्, कुत्र लीनमिदं जगत्, अधुनैव मया दृष्टम्' सुनते ही कहाँ गया, कौन ले गया, कहाँ लीन हो गया? उसकी शक्तियों का पता ही नहीं चल सकता। अनंत शक्तियों का यहाँ संचय हुआ है, इसीलिये श्रुति ने कहा कि इसको चारों ओर से अमृत से भर दिया गया है। हम उस अमृत को न जानकर अनंत शक्ति के आवास, अनंत सामर्थ्य वाले होने पर भी, परम स्वतंत्र होकर भी परतंत्र हो रहे हैं। जब तक अपनी शक्ति को जानोगे नहीं, तब तक कुछ करोगे कैसे? श्रुति कहती है कि जो उस शक्ति को जानता है उसे परब्रह्म और उसकी सारी शक्तियाँ काम देती हैं। ज्ञानशक्ति (चक्षु), क्रियाशक्ति और सारी प्रजा की सृष्टि की शक्ति उसमें आ जाती है। 'चक्षुः प्राणम् प्रजां ददुः।' यहाँ चक्षु से ज्ञानशक्ति और प्राण से क्रियाशक्ति समझना। इसलिये मानव-देह को इतना महत्त्ववान् बताया। इसके अंग-अंग में रहने वाले देवताओं और उनकी शक्ति को कुछ जानो तो पता लगता है कि इसका कितना महत्त्व है। शास्त्र ने बता दिया कि सूर्य दक्षिण में रहे तो दक्षिणायन और उत्तर में रहे तो उत्तरायण होता है। शरीर में भी वे ही दक्षिणायन और उत्तरायण विद्यमान हैं। इडा और पिंगला नाडियाँ हैं। इडा नाडी में सूर्य का और पिंगला में चंद्र का अधि वास है। प्राण जब दक्षिण से वाम की ओर जाये तब उत्तरायण और वाम से दक्षिण को जाये तब दक्षिणायन होता है। लोग पूछते हैं कि ज्योतिष के ग्रह हमारे ऊपर असर कैसे करते हैं; उस सबका सिद्धान्त भी यहीं से निकला है। तुम्हारी नाडी के उत्तरायण और दक्षिणायन का पता तुम्हें है क्योंकि वह तुम्हारे अन्दर है। ज्योतिषी

उसे बाहर से देख सकते हैं और उसके बारे में बातें बता सकते हैं। उसका छोटा रूप तो तुम ही हो, केवल वहाँ का पता तुम्हें नहीं है। अपने अन्दर के पृथ्वी तत्त्व के अधिपति तुम और बाहर के पृथ्वी तत्त्व के अधिपति ब्रह्मा हैं। बाहर जल-तत्त्व के अधिपति विष्णु हैं और तुम्हारे अन्दर विष्णु जलरूप में मौजूद हैं। इसी प्रकार कान में दिक् देवता, वाणी में अग्नि देवता, त्वक्-इन्द्रिय में वायु देवता और आँख के अन्दर अर्क (सूर्य) देवता बैठे हैं। जैसे ये देवता बाहर हैं, वैसे अंदर भी विद्यमान हैं। बाहर की क्रिया कराने वाले सूर्य और अन्दर की क्रिया कराने वाले प्राण हैं। शरीर की प्राण-शक्ति से ही सारी क्रिया होती है, यह न हो तो बाकी सारी इन्द्रियाँ कुछ काम नहीं कर सकतीं।

इसी से सम्बन्धित एक सुन्दर कथा छांदोग्य उपनिषद् में आती है। श्रुति में ये कथायें प्रायः तत्त्व को बताती हैं और पुराणों मे उसे ही बाहर की तरह दिखाया गया है। एक बार शरीर में दैव व आसुर वृत्तियों में झगड़ा हो गया। पुराणों में यही बात देवता और दानवों के झगड़े के द्वारा बताई गई है। स्त्री शूद्र मूर्ख द्विजों को रहस्य समझाने के लिये अन्दर के तत्त्व को बाहर दिखा दिया तो यही पुराण का कथानक हो गया। झगड़ा शुरू हुआ तो असुरों ने विचार किया कि देवताओं को कैसे जीतें। उन्होंने निर्णय किया 'जो काम देवता करते हैं, हम भी करें।' देवताओं ने पहले आँख को आगे बढ़ाया तो दानवों ने भी आँख से सम्बन्ध कर लिया जिससे आँख उनकी बातें भी मान गई। इसलिये आँख से अच्छा-बुरा दोनों ही देखते हैं। शास्त्रविहित चीजों को भी देखते हैं जैसे सूर्य, अग्नि आदि और शास्त्रनिषिद्ध भी जैसे नग्न स्त्री आदि। देवताओं ने कान को बढ़ाया तो असुर वहाँ भी पहुँच गये, इसलिये कान अच्छी-बुरी दोनों बातें सुनते हैं, वेद-वाक्य भी सुनतें हैं और दूसरे की निंदा भी सुनते हैं। किसमें ज्यादा रस आता है यह तो तुम जानो! जब देवताओं ने नासिका को आगे बढाया तो वहाँ भी असुर पहुँच गये। नाक अच्छी केसर-कस्तूरी आदि की सुगन्ध भी लेता है और सुरा-प्याज आदि भी सूंघता है। देवताओं ने सोचा, यहाँ भी काम नहीं बना तो वे जीभ में पहुँचे। दानव भी वहाँ पहुँच गये, उन्होंने जीभ को भी बींध दिया। उसने उनकी बात मान ली। जीभ अच्छी से अच्छी चीज दूध, खीर आदि भी खाती है और वही जीभ अंडा और मांस भी खाती है क्योंकि दानवों ने उसे बींध रखा है। इसी प्रकार देवता त्वक्-इन्द्रिय में पहुँचे तो उसे भी दानवों ने बींध दिया।

इसलिये हाथ भगवान् शंकर पर पुष्प अक्षत आदि लगाकर अच्छा स्पर्श भी करता है और विष्ठा आदि घृणित पदार्थों का स्पर्श भी करता है। देवताओं ने सोचा कि ज्ञानेन्द्रियों से तो काम नहीं चला, अब कर्मेन्द्रियों का सहारा लिया। हाथ से सम्बन्ध किया, दानव वहाँ भी पहुँचे। हाथ से दान भी करते हो और उसी हाथ से दीन को थप्पड़ भी मारते हो। पैर में पहुँचे। दानवों ने वहाँ भी अपना काम बनाया, इसलिये पैर सत्संग की ओर भी चलते हैं और वे ही पैर वेश्या की ओर भी ले जाते हैं। असुरों ने इन्हें भी बींध रखा है। देवता वाणी में चले तो दानव भी घुसे, जीभ मंत्र-जप भी करती है और वही जीभ सामने आने वाले को देखकर तीन पीढ़ी तक की गालियाँ भी देती है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों को भी समझना जिनसे शास्त्रविहित और शास्त्रविरुद्ध दोनों कार्य होते हैं। देवता मन में पहुँचे तो दानव भी मन में घुस गये, अतः मन अच्छी बात भी सोचता है कि बढ़िया-सुन्दर मन्दिर बनवायें और मन ही बुरे संकल्प भी करता है कि पड़ौसी का दीवाला कैसे निकालें। मन कहा है पर मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सब समझना। बुद्धि अच्छा-बुरा निश्चय करती है, चित्त भी अच्छे-बुरे संस्कारों से भरा है। अहंकार में मैं शंकर-स्वरूप हूँ यह शुद्ध अभिमान भी है और अशुद्ध अभिमान भी आ जाता है कि मैं मरने-जीनेवाला हूँ, मैं धनवाला हूँ आदि। जब सब तरफ से बींधे गये तब देवताओं ने प्राणों में प्रवेश किया। श्रुति आगे कहती है कि दानवों ने जैसे ही प्राणों में प्रवेश करने की तैयारी की, तो वे ऐसे टूटकर गिर पड़े जैसे मिट्टी के ढेले को पत्थर पर मारो तो चूर-चूर हो जाता है।

इस प्रकार दानव नष्ट हो गये क्योंकि प्राणों पर उनकी सामर्थ्य नहीं चली। प्राण कभी बुरा कर्म नहीं करते। इसीलिये प्राणों को सूत्रात्मा कहा है। यदि सूत्रात्मा को देखना है तो प्राणों को देखो। श्रुति कहती है, हिरण्यगर्भ भगवान् के दर्शन करने हैं तो अपने अन्दर प्राण को ही देखो। भूत-प्रेत भी शरीर में ही रहते हैं, शरीर की हडिड्यों में भूत-प्रेत रहते हैं, इसलिये मरने के बाद हड्डियाँ ले जाकर जल में छोड़ते हैं। हमारे स्नायु में पिशाच और राक्षस रहते हैं इसलिये स्नायु-मण्डल द्वारा उत्तेजित होकर दुष्कर्मों में प्रवृत्ति होती है। इस रहस्य को न जानने के कारण आजकल चिकित्सक औषधि आदि देते समय स्नायुमंडल पर इनके प्रभाव का विचार नहीं करते और ऐसी औषधि देते हैं जिससे स्नायु उत्तेजित होता है और हानि हो जाती है। मज्जा में पितर और गंधर्व रहते हैं। उन सभी के बीच में सूक्ष्म रूप से

जीव-तत्त्व रहता है। सरस्वती ही वेद-वाणी है जो जीभ के अग्रभाग में रहती है। जीभ के अन्य भागों से कुछ भी कर लो किन्तु अग्रभाग से कुछ नहीं कर सकते, केवल वेद-वाणी का ही उच्चारण कर सकते हो। इस प्रकार शास्त्रों में सारी सृष्टि का एक खाका मानव शरीर में बता दिया कि वह इसमें ही विद्यमान है। शास्त्रकार कहते हैं 'न मनुष्यात् परं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते' इस मनुष्य शरीर से परे तीनों लोकों में उत्तम और कोई भी शरीर नहीं है क्योंकि इसमें स्वयं परमात्मा को स्वानन्द के लिये रहना है। जैसे राष्ट्रपति-भवन में राष्ट्रपति के सामने सारे देश का एक खाका प्रस्तुत किया जाता है वैसे देहस्थ आत्मदेव के पास देहरूप खाका सारे ब्रह्माण्ड को उपस्थित करता है।

जब परमात्मा ने इस मानव देह की सृष्टि की तो उसे इसमें पूर्णतः खुद रहना था, इसीलिये सबसे उत्तम रचना की। परमात्मा ने तो सारी सुन्दर रचना कर दी और हमने सारी की सारी भुला दी। भुला देने के कारण ही इस रचना को कह सकते हैं कि सुप्त हो गई। यद्यपि है तो अब भी विद्यमान किन्तु सुप्त है। क्यों सुप्त है? 'वर्तन्ते न प्रकाशन्ते द्विजेन्द्राः शुद्ध्यभावतः।' सारे देवगण इस सृष्टि में विद्यमान हैं, उनके नियामक परब्रह्म परमात्मा भी विद्यमान हैं किन्तु प्रकाशित नहीं हैं क्योंकि शुद्धि का वहाँ अभाव है। प्रकाश अशुद्धि में हो कहाँ से? जितनी भी साधनायें हैं वस्तुतः केवल अपने को शुद्ध करने के लिये ही हैं, और कोई नई चीज प्राप्त करने के लिये नहीं हैं। जैसे कमल में सुगंधि, जब तक पंखुड़ी बंद है, प्रकट नहीं होती या जैसे हीरे को चमक लगानी नहीं है, उसकी मन्दता को निकाल-भर देना है, इसी प्रकार केवल शुद्धि द्वारा आत्मा प्रकाशित करना है। जिन शास्त्रों में यह बात कही गई, हम उन्हें सर्वथा भूल गये। उलटा हमने शरीर को अत्यंत घृणित समझ लिया। हमने ही उसे घृणित बनाया, यह बात दूसरी है। लेकिन इससे उत्तम और कुछ नहीं है; यह तो साक्षात् ब्रह्म-पुर है जहाँ ब्रह्म का निवास है। यह जीव साक्षात् ब्रह्मरूप ही है। हमने ही इसे पीप का गोला बनाया, फिर इससे दूर होते-होते आत्म-तत्त्व से अत्यंत दूर चले गये। एक बढ़िया मन्दिर में देवता की प्रतिष्ठा की। यदि उसके चारों ओर गीदड़ बसने लगें, चमगादड़ लटकने लगें, उल्लू रहने लगें, सफाई कभी करें ही नहीं तो देवता उसमें रहेंगे ही नहीं। इसलिये कहा कि 'वर्तन्ते न प्रकाशन्ते' देवता वहाँ रहते हुए भी प्रकाशते नहीं। मनौती मानने पर भी फल नहीं देते। मन्दिर की

सफाई करो, देव-पूजन नियम से आरंभ करो तो वही देवमूर्ति तेजस्वी और सारी इच्छाओं को पूर्ण करने वाली होती है। लेकिन हमारी आदत क्या है? उस मन्दिर की तो चिन्ता ही नहीं, एक नया मन्दिर बना लिया। यही हमारे यहाँ सब ग्रंथों में होता रहा। यहाँ तक कि वेदों को भी भूल गये और अन्य-अन्य ग्रन्थों को बनाने में लगे रहे। वेद, उपनिषद्, महाभारत को पढ़ने के लिये हमारे पास समय ही नहीं है। पुराने ग्रंथों, पुराने मन्दिरों को छोड़ते चले गये और नये-नये ग्रंथों और नये मन्दिरों का निर्माण करने लगे। अत्यंत प्राचीन ग्रंथ होने पर भी सारे आध्यात्मिक रहस्यों का पता लगाना वेद से ही संभव है। सबसे पुराना मन्दिर यह शरीर ही है, अन्य मन्दिर तो बाहर के हैं। इससे सुन्दर मन्दिर बनने वाला नहीं है। इसकी समानतावाला तीनों लोकों में और कोई सुन्दर है ही नहीं। इसलिये कहा कि 'न मनुष्यात् परं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते' तुम अन्य जगह देवताओं को, ईश्वर तत्त्व को ढूंढते हो, इसलिये शुद्ध रूप प्रकट नहीं हो पाता। सूत-संहिता में भगवान् शंकर बताते हैं 'रहस्यं सर्वशास्त्राणाम् मया प्रोक्तम् समासतः शरीरं देवतारूपम् भजध्वं यूयमास्तिकाः' सारे शास्त्रों का रहस्य बताता हूँ कि यह शरीर साक्षात् देवता का रूप है। तुम आस्तिक लोग इसकी सेवा, इसकी पूजा करो। देव-मन्दिर की तरह जब इसकी सफाई करोगे तभी आत्मदेव प्रकाशित होंगे।

एक लड़की बचपन से पूजा-पाठ में निरंतर लगी रहती थी। नियमपूर्वक उसे पूजा-पाठ बताया गया और वह नियम से ही करती रही। उसका चित्त एकाग्र हो गया। बचपन में अंतःकरण शुद्ध होता है। बड़े होने पर राग-द्वेष मोह-माया में फँसते हैं। वह ११ वर्ष की ही थी जब उसे भगवान् शंकर के साक्षात् दर्शन हुए। जब भी वह ध्यान करती तो उसे हृदय में साक्षात् शंकर के दर्शन होते। १८-२० साल की हुई तो उसका ब्याह हो गया। सुन्दर थी ही, परमेश्वर की कृपा भी थी। पति आदि सब उसकी बात मानने लगे, कहने लगे, 'बड़ी बुद्धिमान् है, अच्छा स्वभाव है, काम भी अच्छा करती है।' स्वभावतः सबका उसके प्रति प्रेम हो गया। धीरे-धीरे उसकी ही बात घर में चलने लगी। अपने भी दो-चार बच्चे हो गये। औरों का ख्याल कम करने लगी और अपने बच्चों का ख्याल दूसरे के बच्चों से अधिक करने लगी। यह भी स्वाभाविक ही है। फिर धीरे-धीरे बड़ों का अपमान भी करने लगी। एक दिन बच्चे को नहला रही थी, उधर से एक शिवयोगी आये और बाहर से ही भिक्षा के

लिये आवाज लगाई। वह नहला रही थी और बिना हाथ धोये ही रोटी उठा कर दे दी। महात्मा रोटी देखते ही समझ गये और वापिस उसी हाथ में दे दी और कहा 'ऐसी रोटी तुम खा लो।' अब उसे गुस्सा आया और कहा 'एक तो भीख माँगते हो और ऊपर से रुबाब दिखाते हो!' शिवयोगी तो हँसकर चल दिये। उसने भी नियम बना दिया कि किसी को कुछ देना ही नहीं! मनुष्य का स्वभाव बड़ा ही विचित्र है। घरवालों के साथ भी यही व्यवहार था और अतिथि का भी सत्कार नहीं करती थी। सास-ससुर से भी व्यवहार बुरा हो गया। कभी वे कहें 'साग और रोटी सूखे हैं, हमारे दाँत टूटे हुए हैं, नहीं खा सकते' तो कहे 'पानी में मिलाकर खा लो।' एक दिन ध्यान करने बैठी तो ईश्वर की मूर्ति का दर्शन नहीं हुआ। धीरे-धीरे प्रकाश मंद होता जा रहा था। शिवरात्रि का दिन आया। मन में उस दिन भी दर्शन नहीं हुए। सारे दिन की भूखी थी, रातभर पूजा भी की, ध्यान किया किन्तु दर्शन नहीं हुए। छटपटाने लगी कि 'आज भी दर्शन नहीं होंगे, यह कैसे हो सकता है!' प्रातःकाल पूजन के समय किसी ने पीछे से आवाज लगाई। पीछे देखा कि एक रोशनी मंद पड़ती जा रही है और दूर से दूर होती जा रही है। पूछा कि दर्शन क्यों नहीं हो रहे। आवाज आई, 'यदि तुझे मैं सोने की सांकल पहना दूँ और तेरे बच्चों को थप्पड़ मारूँ तो तू खुश होगी कि नाराज?' उसने कहा 'यह तो दुःख की बात होगी।' पुनः आवाज आई 'तेरे विवाह को २५ साल हुए, तूने अपने बच्चों का ही ख्याल किया लेकिन मेरे बच्चों का क्या हुआ? घरवाले, पड़ोसी, अतिथि, ये सब कौन हैं? इन सबके दिल में कौन बैठा हुआ है? खाली मेरी बाहरी पूजा से ही मुझे प्रसन्नता नहीं होती, जो मेरा चेतनरूप है, जो सबसे सुन्दर रूप है, उसका अपमान करके मुझे केवल बाह्य रूप वाला ही समझती है! तुझे अनेक बार सावधान किया, तेरा प्रकाश धुँधला होता गया, तुझे मेरे दर्शन नहीं हुए क्योंकि तू मेरे स्वरूप को समझी ही नहीं। अब मैं किस मुँह से तेरे पास आऊँ? कल मेरे बच्चे मुझसे पूछेंगे कि वहाँ कैसे गये तो मैं उन्हें क्या जवाब दूँगा? जो देहरूप मन्दिर के देवता का अपमान करता है उसके पास मैं कैसे जाऊँ? वह जैसा तेरी देह में है, वैसा ही अन्य देहों में भी है।'

अतः इस शरीर को ही साक्षात् देव-रूप समझकर इसका ही भजन करो। विशेष प्रकाश कहाँ है? 'सम्यग्ज्ञानवतां देहे प्रत्यगात्मा प्रकाशते।' जो ठीक प्रकार से आत्मतत्त्व को समझने वाला है, जिसने अपनी साधना से देवताओं का मुख खोल

दिया है, उन्हें जाग्रत् कर दिया है, उसकी सर्वव्यापकता को समझ लिया है, उसी में देवता प्रत्यक्ष प्रकाशित है। उस व्यक्ति को सारे देवता आत्मरूप ही लगते हैं और दूसरे भी उसे देखते हैं तो उसमें उन्हें साक्षात् देवत्व का ही भान होता है। वहाँ पूर्ण प्रकाश होता है इसीलिये अथर्ववेद कहता है 'तस्माद् आत्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः' आत्मज्ञानी की अर्चना से सारे देवता जाग्रत् हो जाते हैं, इसीलिये उसकी पूजा सर्वत्र होती है। देवता तो अन्य शरीरों में भी विद्यमान हैं किन्तु सोये हैं।

आवाज आयी 'मैंने परीक्षा के लिये ही शिवयोगी भेजे लेकिन फिर भी तूने पहचाना नहीं। अब तू ही बता कि तुझे दर्शन कैसे दूँ?' वह रोने लगी। कहा 'पिता, भूल हो गई, क्षमा करो, अब कभी ऐसी भूल नहीं होगी।'

अपने शरीर में ही परब्रह्म परमात्मा का निवास है। इसके एक-एक अंग में देवता रहते हैं। जैसे बाहर के देवता से व्यवहार करते हो वैसे ही अन्दर के देवताओं से भी शुद्ध और सच्चा व्यवहार रखो। लोग कहते हैं 'चलचित्र देख लिया तो क्या दोष हो गया?' तुमने देखा पर इसमें सूर्य देवता का कितना अपमान हुआ? ऐसे ही कानों से परनिन्दा सुनी तो दिक्-देवता का अपमान कर रहे हो। शुद्ध दृष्टि से ही सारे देवताओं का इस शरीर में निवास है। अशुद्ध दृष्टि को निकालना है। इसे साफ और शुद्ध रखना है तभी देवाधिदेव महादेव में स्थिति होगी। जैसे वे अपने अन्दर स्थित हैं वैसे ही अन्य देहों और अन्य जगह भी विद्यमान हैं किन्तु पहले अपने ही अन्दर उस देव के दर्शन करने हैं। आस्तिक लोग अपने शरीर को देवालयरूप में मानते हैं और सर्वत्र उस देवता के दर्शन करते हैं। यही उसका स्तोमरूप है।

प्रवचन-२७
भुक्ति
४-८-६८

परमात्मा के स्वरूप की अपरिच्छिन्नता बताने के बाद भर्ग का स्वरूप, फिर उससे विस्तृत होने वाली उसकी स्वतंत्रता का उल्लास और उससे जीव-भाव को (परिच्छिन्न भाव को) प्राप्त कर बंधनमयी सृष्टि, यह सब बता दिया। अब श्रुति बताती है कि इस सृष्टि के उल्लास का प्रयोजन क्या है:

'भुक्तिम् मे वोचः' इस सबका उद्देश्य तो है भुक्ति। स्वयं अपने-आपे का अपने-आप द्वारा रसास्वादन करने के लिये ही सारा विस्तार है। 'भुक्ति' का सीधा अर्थ भोग होता है। भोग वह है जहाँ स्वयं अपना ही अपने द्वारा रसास्वादन किया जाता है। यही इस विश्व-प्रपंच का प्रयोजन है। पहला प्रश्न था, यह सृष्टि कैसे बनी? दूसरा प्रश्न है, इस सारी सृष्टि का प्रयोजन क्या है? लोग कहते हैं कि यह कल्पित है, माया अथवा अज्ञान से बनी है अतः प्रयोजन को स्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु प्रश्न तो रहता ही है कि इसका प्रयोजन क्या है और नहीं तो भी क्यों नहीं? 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' न्यायशास्त्री कहते हैं कि प्रयोजन सामने रखे बिना मन्द-बुद्धि भी कुछ नहीं करता। अतः इस अनंत कोटि ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने में कोई प्रयोजन अवश्य रहा होगा। प्रायः वेदान्त मीमांसा में आधुनिक विचारक इस प्रयोजन-दृष्टि को भूल जाते हैं या छोड़ देते हैं। जो वेदान्तज्ञानशून्य हैं उन दार्शनिकों ने अलग ही प्रयोजन मान रखा है। प्रयोजनों का विचार दार्शनिक मीमांसा का अभिन्न अंग है। सृष्टि का प्रयोजन केवल मनुष्य या पार्थिव प्राणियों का कर्मफल उपभोग तो संभव नहीं माना जा सकता। कितनी छोटी-सी सृष्टि से हमारा काम चल जाता है! हमारी अपेक्षाओं से अत्यधिक प्रभूत सृष्टिज्ञान हमें है। अपने

ही जीवन में सृष्टि का कितना अंश है जिसके साथ जीवन में सम्बन्ध जुड़ता ही नहीं। दूसरे ग्रह में पहुँचकर ही सोचते हैं, न जाने कितनी बड़ी भारी फतह कर ली! मानव-समाज के प्रयोजन में आनेवाली कितनी-सी सृष्टि है, उसे कितनी बातों का परिज्ञान ही हो पाता है! अनंत कोटि ब्रह्माण्ड में कितने तारे, कितने नक्षत्र हैं, इनका क्या प्रयोजन है? इन सारे नक्षत्रों का क्या यही प्रयोजन है कि रात्रि में वितान या शृंगार का ही काम कर देवें?

वेदान्त को छोड़कर अन्य सब दर्शन मनुष्य को केन्द्र मानकर चलते हैं, किन्तु वेदान्त मनुष्य को केन्द्र न मानकर सृष्टि को देवतात्मा (deocentric) कहता है। केन्द्र और शिखर में फर्क है। नींव की दृष्टि केन्द्र-दृष्टि है; और शिखर उसपर आधारित है। शिखर की प्रशंसा की जाती है, किन्तु सारे मन्दिर का निर्माण शिखर रखने को नहीं, बल्कि सारे मन्दिर की महत्ता को बताने के लिये किया जाता है। अतः मानवीय महत्ता स्वीकारते हुये भी वैदिक विश्व का प्रयोजन मानव का विलास नहीं स्वीकारता। फिर इस ब्रह्माण्ड का प्रयोजन क्या है? इसपर भगवान् गौडपाद ने विचार किया है। कई इस विचार को छोड़ देते हैं, किन्तु उन्होंने नहीं छोड़ा। 'भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे' कुछ मानते हैं कि जीव के कर्मों का फल-भोग देने के लिये सृष्टि बनती है। लेकिन अगला प्रश्न होता है कि यह कर्म-भोग का चक्कर भी क्यों? इस सारी व्यवस्था का कारण भी क्या? प्रथम सृष्टि, तब कर्म और कर्म, तब सृष्टि, ऐसा मानने से अन्योन्याश्रय दोष है। अतः कुछ लोगों ने कहा, भगवान् को खेलने के लिये कुछ चाहिये था, सृष्टि का प्रयोजन तो भगवान् की लीला है। पर इससे भगवान् पर दो दोष आवेंगे : या तो उसे सृष्टि करना न आया जो खेल के लिये ऐसी सृष्टि बनाई कि अधिकतर दुःख ही बन गया। क्या वह क्रूरहृदय है जो हमें दुःखी करके आनंद लेता है? इधर हम मरे जा रहे हैं और भगवान् की लीला हो रही है! किसी भाषा के कवि ने कहा है 'वे रस डोलत आपने और उनके फाटत अंग।' लीलावाद में परमात्मा पर अत्यंत दोषारोपण हो जाता है। उसी प्रकार अनेक पक्षों में कमी बताते हुए वेदान्तप्राण गौडपाद कहते हैं 'देवस्यैष स्वभावोऽयं ह्याप्तकामस्य का स्पृहा' सृष्टिरूप में अपने आपको प्रकट करते रहना परमात्मा का स्वभाव है। जैसे मनुष्य का स्वभाव है कि खुशी की बात होने पर हँस पड़ता है और दुःख की बात सुनने पर रो पड़ता है। आगे कोई पूछे इस रोने-हँसने

का प्रयोजन क्या? तो कहोगे कि स्वभाव है। इसी प्रकार उस परब्रह्म परमात्मतत्त्व का अनंत-कोटि सृष्टिरूप में प्रकट होना स्वभाव है। शेष सबका खण्डन करते हुए कहते हैं 'आप्तकामस्य का स्पृहा?' वह तो आप्तकाम है, तब स्पृहा बनेगी कैसे? उसके अन्दर आनन्दघनता है। थोड़ी हँसी की बात सुनते ही तुम्हारे ३२ दाँत दीखने लगते हैं, तब उस परम आनंदघन के अंदर कितनी हँसी है! यदि उस परमेश्वर की आनंदघनता में ३२ करोड़ सृष्टियाँ हो जायें तो भी आश्चर्य नहीं। वही आनंदघनता स्फुट होकर निकलती है। यदि परमात्मा से भिन्न जीव होता तो सृष्टि में दोष आता। स्वयं ही बनने वाले को क्रूरता, पक्षपात आदिका दोष नहीं दिया जा सकता। हँसने का मज़ा हँसने वाले को खूब आता है। भावुक तो एक बार की हँसी को एक सेर दूध का काम करने वाली बताते हैं! जैसे हँसने वाले को खुद पूर्ण आनंद आता है वैसे ही इस ब्रह्म-सृष्टि में सिवाय आनन्द के कुछ है ही नहीं।

किसका आनन्द? 'भुक्तिम्' अपना ही आनंद है। जैसे रसगुल्ले का आनन्द अपना है, खुद ले रहे हैं, ठीक इसी प्रकार सृष्टि की आनंदघनता उसका रसास्वाद खुद ले रही है। भोग का अर्थ सामान्य पदार्थों का भोग न समझना। यह भोग क्या है? जब रसगुल्ले का आनंद लेते हो, तब रसगुल्ले की उपाधि वाला ब्रह्म और जीभरूप उपाधि वाला ब्रह्म अपनी एकता का आनंद ले रहा है। दोनों उपाधियों को छोड़ दो, तो ब्रह्म ही है जो आनंद ले रहा है। 'नीला कपड़ा' कहने से कपड़ा और नील-वर्ण भिन्न नहीं माने जाते। इसी प्रकार यहाँ भी ब्रह्म ही स्वतः अपना स्वाद ले रहा है। मनुष्य यदि इस सृष्टि-प्रयोजन को समझ ले तो प्रत्येक क्षण उसे आनन्द ही है, सिवाय आनन्द के वह कुछ करता ही नहीं। वह व्यक्ति कैसा है? भगवती की स्तुति करते हुए आचार्य नीलकण्ठ कहते हैं

'त्वत्प्रेरणेन मिषतःश्वसतोपि मातः, प्रामादिकेऽपि सति कर्मणि मे न दोषः।
मात्रैव दत्तमशनं ग्रसतस्सुतस्य को नाम वक्ष्यति शिशोरतिभुक्तिदोषम्।।'

जब श्वास बाहर-भीतर जाता है तो लगता है कि तुम्हीं मेरी साँस को धक्का देकर बाहर निकाल रही और अन्दर खींच रही हो। कौन-सा ऐसा पंखा लगा रखा है जो श्वास बाहर-अन्दर आ-जा रहा है? कहो कि अपने-आप चलता होगा; यदि अपने-आप चलता तो कभी मरण ही न होता। इसलिये जब तक चलाने वाला चलाता है, तभी तक चलता है। जब नहीं चलाता तब श्मशान जाना पड़ता है। अतः जब श्वास-प्रश्वास आता है तो उसी की अनुभूति हो रही है। श्वास-प्रश्वास में भी

बड़ा आनंद है पर लोग इन्हें ऐसे ही खराब कर देते हैं! वस्तुतः सुलभता सुन्दरता की कीमत को नहीं आँकने देती। एक बड़े सुन्दर चित्र को खरीदने के लिये लाख रुपये देने के लिये लोग तैयार हो जाते हैं। कभी आकाश की तरफ भी देखा है: वहाँ पाँच-पाँच मिनट में १०-१० लाख के चित्र बन रहे हैं, लेकिन उस आनंद को लेने की किसी को फुर्सत ही नहीं है। ऐसा आनंद संसार की किसी भी खाने-पीने की चीज में नहीं है। पाँच पल के लिये साँस लेना बंद करके देखो तो क्या होता है; जब फिर श्वास लेते हो तो कितना आनन्द आता है। कहते हैं 'प्राण बचे तो लाखों पाये।' दो लाख रुपये तिजोरी में रखे हों और किसी दूसरे ने नाक-मुँह बंद करके रखा हो तो केवल इसी आनंद के लिये ही झट चाबी निकालकर दे देते हो। आगे नीलकण्ठ कहते हैं, मेरे कर्मों में कुछ प्रमाद हो गया हो तो इसमें मेरा कोई दोष नहीं। डेढ़ साल का छोटा बच्चा माँ की गोद में बैठा है, माँ उसे खिला रही है, जो देगी वही खाता है। उसका पेट खराब हो गया तो किसका दोष? बच्चे ने निगला है, किन्तु फिर भी बच्चे का दोष नहीं, दोष माँ का ही है कि उसे पता ही नहीं कि बच्चे को कितना क्या खिलाना है। ठीक ऐसे ही प्रतिक्षण भगवती जो कर रही है वही हो रहा है। मेरा इसमें कोई दोष नहीं। ऐसी दृढानुभूति वाला ही भक्ति का आनंद लेता है। जैसे बच्चे के सिर पर कोई बोझा नहीं होता। वह गिर भी जाये तो माँ ही उसे उठा लेगी। जब सर्वत्र आत्म-दृष्टि है, श्वास-प्रश्वास आदि प्रत्येक क्रिया में सिवाय उसके स्पंदन के कुछ भी नहीं, तब दिमाग का सारा बोझ हट जाता है। फिर स्वतः उसे जैसा करना है, वैसा करती रहे।

इस अवस्था में दो भेद हैं, भक्ति की दृष्टि से तो जैसा भगवती सोचती है, करती है; और ज्ञान की दृष्टि से जैसी मेरी इच्छा वैसे मैं कर रहा हूँ। एक में 'मैं' है और एक में 'तू' है। स्थिति दोनों में एक ही है। ऐसी स्थिति में पहुँचा व्यक्ति कृतार्थ हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के लिये भगवान् भाष्यकार शंकर कहते हैं कि उसे सारी भुक्तियों का आनंद यहीं होता है। सारी सृष्टि का एकमात्र प्रयोजन नित्यानंद ही है और खुद ही हम उस आनंद को लेने वाले हैं। इस अपने आनंद को लेने के लिये वेद में चार प्रकार बताये गये हैं : अपने रूप में रहे, अपने पास में रहे, अपनी नज़र में रहे और अपने साथ एक हो कर रहे। यथा पत्नी के साथ भी चार प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं, उसे देखता रहे, उसके साथ स्पर्श हो, उसके अत्यन्त पास हो और उसके साथ सर्वथा युक्त होकर रहे। इसी प्रकार रसगुल्ला देखा, यह पहला

आनंद है। उसकी सुगंध ली, दूसरा आनंद हुआ। जीभ पर रखा, यह तीसरा आनन्द है; और तब मिठास के साथ एक हो गये यह चौथा आनंद है। संसार में जितने भी आनंद हैं उनके प्रकार चार ही हैं। हम जब अपना आनन्द लेते हैं तो भी चारों प्रकार से लेते हैं। बाकी जगह अलग-अलग मिलने वाले हैं पर आत्ममिलन में चारों साथ संभव हैं। इन्हीं चार प्रकारों को वेद में चार मुक्तियों के नाम से कह दिया : सारूप्य, सामीप्य, सालोक्य, और सायुज्य। सर्वज्ञ शंकर भगवान् कहते हैं, जब मै अपने आपका भोग करना चाहता हूँ, रस में परिपूर्ण होकर आनंद ले रहा हूँ, तब

'सारूप्यं तव पूजने शिव महादेवेति संकीर्त्तने
सामीप्यं शिवभक्तिधुर्यजनतासांगत्यसंभाषणे।
सालोक्यं च चराचरात्मकतनुध्याने भवानीपते
सायुज्यम् मम सिद्धमत्र भवति स्वामिन् कृतार्थोस्म्यहम्।'

चारों मुक्तियाँ यहीं मुझे सिद्ध हो रही हैं। यही चार मुक्तियाँ सृष्टि का प्रयोजन हैं। यहाँ इस रसास्वादन का तरीका बताया है : जब पूजन करता हूँ, तब तुम्हारा-मेरा स्वरूप एक हो जाता है। पूजन करते हैं तो सबसे पहले उस देव का आह्वान करते हैं। बड़ी पूजा में न्यास होता है, एक-एक अंगदेवता का आह्वान किया जाता है। श्रुति कहती है 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्'। जिसका पूजन कर रहे हो, उसके साथ एक रूप वाले बन रहे हो, यही सारूप्यमुक्ति है। तभी पूजन की सफलता और पूजन का आनंद भी आता है। पूजन सफल न होने का कारण ही यह है कि उस देव के साथ सरूपता नहीं आती। हम स्वयं तो पानी से घबरा कर नहाते नहीं, और ईश्वर पर पानी चढ़ा देते हैं! हमें केला पसंद नहीं पर उन पर केला ही चढ़ाते हैं। सरूपता न आने के कारण दिल खिलता नहीं। ज़रा सोचो कि उसकी जगह मैं वहाँ बैठा हूँ। अब अपने साथ क्या करना चाहोगे? कड़ी शक्कर से कभी भी अपने-आप को रगड़वाना नहीं चाहोगे। यह समझ लिया तो पूजा के लिये शक्कर का बूरा बनाकर लाओगे। ये चीजें समझाई कहाँ तक जायें! पूजन ऐसा हो कि जैसा मैं अपने साथ करूं क्योंकि उसका आनंद लेना चाहता हूँ। यही वैदिक पूजापद्धति का रहस्य है। शतपथ ब्राह्मण में इस रहस्य का प्रतिपादन है। एक बार हम लम्बी यात्रा पर गये थे। साथ वालों ने कहा कि पैर दबा दें। वे कहीं दबावें और दर्द कहीं था। थोड़ी देर बाद हमने उन्हें भी आराम करने के लिये कहा और अपना पैर स्वयं दबाने लगे। जहाँ दर्द था,

वहीं दबाया और जितना था, उतना ही दबाया। इसलिये कहते हैं कि यदि अपनी सेवा करना चाहते हो तो खुद करनी पड़ेगी। दूसरा कोई हमारे दिल को नहीं समझता। इसी प्रकार परमात्मा से सरूप हो जाओ और सोचो कि मैं वहाँ बैठा हूँ, तभी पूजा का आनंद आयेगा। ऐसे व्यक्ति को ही सारूप्य का ध्यान रहता है। वह पूजन चाहे लिंग में करे या जड-चेतन जगत् में करे, उसके सामने व्यक्ति मूर्त्ति का महत्त्व नहीं रहता। सारूप्य हो गया तो वह अपने आपको ही उस मूर्त्ति में समझता है। वहीं स्वयं उस शरीर में बैठा अनुभव कर रहा है, ऐसी अनुभूति है। जब अपनी पूजा इस प्रकार करोगे तब जीवन का आनंद लोगे।

शिव का कीर्तन करता हूँ तो सामीप्य का अनुभव हो रहा है। शिव, महादेव, नाम ले रहा हूँ तो नाम-उपाधि से वह मेरे पास है। वस्तुतः मेरे उर में ही है। इसमें इतनी समीपता का अनुभव है मानो मैं अपने-आपको अपने पास खींचकर ला रहा हूँ। जब परमेश्वर का नामस्मरण, संकीर्तन आदि साधन करता हूँ तब घनिष्ठ स्पर्श का अनुभव हो रहा है। बाकी सारे स्पर्श बाहिर होते हैं, यह स्पर्श भीतर है अतः कितना अधिक आनंद देता है!

तीसरा रूप है जब परमेश्वर-भक्तों के साथ सेवा आदि करता हूँ, बात करता हूँ, तब परमेश्वर के लोक वाला हो जाता हूँ जहाँ जो मैं देख रहा हूँ, वही वह देख रहा है। यही सालोक्य है कि परमेश्वर के लोक को ही देख रहा हूँ। मैं उसमें अपने को और वह मुझमें अपने को देख रहा है। कभी साथी की आँख में देखो तो एक कहेगा 'तेरी आँखों में मैं अपने को देख रहा हूँ' और दूसरा कहेगा 'तेरी आँखों में मैं अपने को देख रहा हूँ।' दो परमात्म-निष्ठा वाले साथ हों तो एक-दूसरे में अपना स्वरूप देखते हैं कि वह उसमें निष्ठा वाला है। यही सालोक्य है।

आगे सायुज्य का स्वरूप बताते हैं : जब मैं देखता हूँ तब लगता है कि ये जड और चेतन उस अखण्ड चिन्मात्र का देह ही है, सूर्य और चन्द्र ये सब उसी का रूप है। मेरा शरीर भी उसके साथ एक हो गया है। जब मेरा मन अनंत हिरण्यगर्भ का अंग है तो उससे एक को उससे अलग कोई नहीं कर सकता। किसी भक्त ने भगवान् का हाथ पकड़ा, भगवान् हाथ छुड़ाकर चले गये। भक्त कहता है कि हाथ छुड़ाकर तो चले गये लेकिन मन से तो नहीं जा सकते! वैदिक को लगता है कि कच्चा भक्त था! कहता, हाथ भी छुड़ाकर कहाँ जाओगे, तुम तो मेरे हाथ में ही बैठे

हो, छोड़कर जाओगे कहाँ! इस तरह मन और शरीर के साथ एक है और आत्मा के साथ तो एक है ही। यही सायुज्य है। ऐसा जीवन्मुक्त शंकर को चुनौती देता है कि तुम मुझ से अपने को अलग करो तो जानूँ! कहो कि माया, अविद्या के जाल में डालकर अलग कर देगा, तो वह अविद्या क्या शिव से भिन्न कोई दूसरी चीज है? अगर दूसरी चीज है तो ब्रह्म शब्द सार्थक नहीं रहेगा क्योंकि कुछ भी दूसरा होने से व्यापकता खतम होगी। भगवान् सुरेश्वर लिखते हैं 'ब्रह्मार्थो दुर्लभो यस्माद् द्वितीये सति वस्तुनि'। दूसरी चीज हुई तो ब्रह्म शब्द सार्थक नहीं रहेगा। अतः अविद्या भी तुम ही हो तो अविद्याविशिष्ट भी तुम ही रहोगे। यदि किसी प्रकार अविद्या मान भी लें तो उसमें एक खीसे से निकालकर दूसरे खीसे में ही डाल रहे हो! हे स्वामी! मैं कृतार्थ हो गया। जिस उद्देश्य से सृष्टि की थी कि उसे आनंदमय देखूँ, वह मुझे यहीं सिद्ध हो गया, अतः प्रयोजन पूर्ण हो गया।

ऐसी पूर्णता की दृष्टि को यहाँ 'भुक्तिम् मे वोचः' से कह दिया। जब यह दृष्टि बन गई तब 'सर्वम् मे वोचः' कोई चीज़ ऐसी नहीं जो बिना आनंद की हो। कब? जब उस आनन्द को तुम ले लो। दृश्य का आनंद चाहो तो आँख बनना पड़ेगा, संगीत के आनंद के लिये कान बनना पड़ेगा। बहरे को संगीत का आनंद नहीं आ सकता। रसगुल्ले के स्वाद के लिये जीभ बनना पड़ेगा। अर्थात् आनंद के अनुरूप ही अपने को बनाना पड़ेगा। इस सृष्टि में सब कुछ ही आनंद वाला है। तुम जिसे अत्यंत घृणित समझते हो, उस मल में भी कीट कितना आनंद लेता है!

पुराणों में इसी को बताने के लिये एक कथा आती है। भगवान् विष्णु ने वराह (सूअर) का अवतार भूमि के उद्धार के लिये लिया। अवतार-कार्य पूर्ण हुआ। भूमि को समुद्र से बाहिर निकालकर विष्णु वराही के साथ रहने लगे। बच्चे भी हो गये। देवताओं ने आकर कहा, 'भगवन् अब चलो;' तो कहने लगे 'बड़े आनंद में हैं।' देवताओं ने बहुत समझाया 'यह तो शोभा नहीं देता, इसमें हमारी बदनामी हो रही है,' पर विष्णु कहने लगे 'काम हो तो बताना, अभी कोई काम है नहीं, इसलिये यहीं आनंद ले रहे हैं।' संसार में प्रसिद्ध हो गया कि विष्णु वराहरूप में रह रहे हैं। भगवान् वैकुंठ जाने को माने नहीं। देवताओं को बहुत बुरा लगा और वे सर्वदेवाधि देव महादेव के पास पहुँचे। महादेव आये और विष्णु से कहा 'चलो, इस वराही में क्या आनंद है?' विष्णु कहने लगे 'ज़रा बच्चे बड़े हो जायें तब देखेंगे।' भगवान्

शंकर को आया गुस्सा, लिया त्रिशुल और वहीं मार दिया! विष्णु हँसते हुए उठे और कहा 'जब मैं ही फँस गया तो दूसरे सामान्य-जन की क्या दशा होती होगी!' इसके द्वारा पुराण बताता है कि वह परम पुरुष ही तुम्हारे शरीर में आकर कहता है कि मुझे यहीं रहना है। आनंद के लिये तद्रूप बनना पड़ता है। विषय और विषयी की एकता के बिना आनन्द नहीं। स्वरूप की एकता तो हमेशा है, उपाधि की भी एकता हो तब आनन्दमयता पूर्णतः प्रकट होती है। ब्रह्म बनने पर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति सम्भव है, थोड़ा भी कम बने तो रुकावट आ जायेगी। इसीलिये कहा 'सर्वं मे वोचः' अर्थात् मेरा स्वरूप ही सर्वानन्द है। प्रत्येक आनंद में मैं ही स्फुरित हूँ। आनंद का रसास्वाद करने वाला और आनंद देने वाला दोनों मैं ही हूँ। जैसे कोई पूछे, खुजली का आनंद लेने और देने वाला कौन है? तो कहोगे, मैं ही हूँ। अतः यहाँ यह प्रत्यक्षसिद्ध है कि मैं ही आनंद ले रहा हूँ और मैं ही आनंद दे रहा हूँ। जैसे अहम् में ज्ञान की प्रत्यक्ष सिद्धि है ऐसे ही आनंद भी अहम् में प्रत्यक्ष है। मैं स्वयं ही अपना आनंद अनंत रूपों में बनकर ले रहा हूँ।

इस आनंद को किस प्रकार प्रस्फुटित करें? इसपर एक कथा आती है : दारुक नाम के एक राक्षक ने तपस्या से ऐसी शक्ति प्राप्त कर ली कि कोई भी उसे जीतने में समर्थ नहीं हुआ। अन्त में दारुक ने देवताओं पर भी चढ़ाई कर दी। भयंकर युद्ध हुआ। इंद्र ने अपना वज्र अनेक बार चला लिया किन्तु दारुक पर न चला तो न ही चला; और अंत में इंद्र को मैदान छोड़कर भागना पड़ा। भगवान् विष्णु ने भी बड़े-बड़े शस्त्रों से युद्ध किया किन्तु दारुक वश में न आया। गरुड को ऐसी मार मारी कि वह भी विष्णु को लेकर भागा। विष्णु भी सोचने लगे 'लक्ष्मी जी को क्या मुख दिखाऊँगा?' विष्णु भी भाग गये तो सब देवताओं ने मिलकर गुरु बृहस्पति को नियुक्त किया कि युक्ति से काम लें। जहाँ शस्त्र-विद्या काम नहीं करती वहाँ बुद्धि से काम चलाना पड़ता है। बृहस्पति जी ब्राह्मण का रूप लेकर दानवों में रहने लगे। सोचा 'पहले इनके घरों का भेद पता लगे, फिर इनमें आपस में झगड़ा करवा दूँ।' लेकिन दानवों में ऐसी एकता थी कि कोई भी बात हो, वह झट एक-दूसरे से कह देते, छिपाते कुछ भी नहीं थे। बड़े-बड़े राष्ट्रों में झगड़े का कारण भी यही है कि वे कोई बात छिपाकर रखते हैं बात साफ हो जाये तो झगड़े का प्रश्न ही नहीं उठे। थोड़े ही दिन में गुरु बृहस्पति की पोल खुल गई और उन्हें वहाँ से यह कह कर भगा दिया कि 'अब की बार तो छोड़ दिया है किन्तु फिर कभी ऐसा किया तो नहीं

छोड़ेंगे'। बृहस्पति जी वापस पहुँचे तो कहा, 'वहाँ बड़ा टेढ़ा मामला है। वे तो अंगुली रखने को भी जगह नहीं देते।' सब ब्रह्मा जी के पास गये। पूछा 'कैसा दारुक पैदा कर दिया है!' ब्रह्मा जी ने कहा 'यह तभी वश में आवे जब शंकर इसके नाश के लिये प्रवृत्त हों।' सारे भगवान् शंकर के पास पहुँचे। भगवती पार्वती जी भी उनके साथ बैठी थी। निवेदन सुन कहने लगी 'हमने इसीलिये तो कार्तिक को पैदा करके तुम्हारा सेनापति बना दिया था। उसे ले जाओ, काम हो जायगा।' कार्तिकेय लड़ने गये। युद्ध में दारुक ने उनके शरीर को भी जगह-जगह घायल कर दिया। वापस आकर कहने लगे 'मैं भी मार खाकर आया हूँ वहाँ मेरा जोर नहीं चला।' अपने पुत्र के आघात देखे तो पार्वती भोलेनाथ से कहने लगी 'अब तो कुछ करो, घर पर ही आपत्ति आ गई है।' पहले पार्वती ने सोचा था कि बेटा युद्ध करता रहेगा और स्वयम् आनंद में रहेंगे। जब पुत्र को आहत देखा तो स्वयं भगवान् से कहा कि कुछ करना पड़ेगा। ब्रह्मा जी ने भी कहा 'आप ठीक कहती हो, यही मारेंगे, तभी काम बनेगा।'

भगवान् शंकर ने कहा 'मैं निर्निमित्त तो किसी को मारता नहीं। झगड़ा उसने तुम देवताओं से किया, मारूँ मैं, यह नहीं हो सकता। लेकिन उपाय बताते हैं। तुम शतरुद्र यज्ञ करो ''श्रावणे पौर्णमास्यायां गुरुवासरसंयुते। श्रवणर्क्षेऽपि संप्राप्ते शतरुद्रेण यो यजेत्। सर्वबाधाविनिर्मुक्तः सर्वत्र विजयी भवेत्।' गुरुवार को श्रावणी पूर्णिमा हो तथा श्रवण नक्षत्र भी मिलता हो, उसमें तुम शतरुद्र से आहुति देना, उसके फलस्वरूप मैं तुम्हें शक्ति दूँगा। तब काम बनेगा। पार्वती ने पहले तो मुझसे नहीं कहा था, अब यही कह रही है तो इसे ही शक्तिरूप में भेजूँगा।' देवताओं ने वैसा ही किया। उक्त सब योगों के साथ श्रावण मास में शतरुद्र यज्ञ किया। देवताओं के जिन पापों के कारण ऐसा हुआ था, वे पाप नष्ट हो गये, फिर शुद्ध भावना पैदा हुई। 'स्वकर्मपाशैः सुदृढैः बद्धं कृत्स्नमिदम् जगत्' यह सारा जगत् अपने-अपने सुदृढ कर्म-पाशों से बाँध रखा गया है। केवल तीन ही ऐसे हैं जो बंधन में नहीं हैं। शंकर-पार्वती तथा जिन्होंने शिवोहम्-भावना कर शिवशक्ति को पा लिया है। इनमें प्रथम दो नित्य ही मुक्त हैं। अन्तिम उन दोनों की कृपा से मुक्त है। शिवशक्ति की कृपा के बिना मुक्ति असंभव है।

जब यज्ञ सफल हुआ तब शक्ति का स्थापन किया। उस शक्ति में ईश्वर ने स्वयं अपनी आत्मा को ही बिठा दिया 'आत्मशक्तिं तत्र मुक्त्वा।' कहा 'जल्दी नाश करो' जब शस्त्र लेकर वहाँ पार्वती गई तो एक गर्जनामात्र से राक्षस मारा गया। शक्ति को तो जोश चढ़ा हुआ था। वह महाशिक्त थी, रवमात्र से राक्षस मारा गया तो दूसरों को मारना शुरू किया। देवता घबराकर त्राहि त्राहि करने लगे। उन्होंने उसी समय छोटे-छोटे बच्चों को पैदा किया जो क्षेत्रपाल कहलाये। वे उस महाशक्ति का स्तनपान करने लगे। माँ को कितना ही गुस्सा हो, बच्चा जब दूध पीने लगे तो शांत हो जाती है, उसे सहलाने लगती है। शक्ति ने भी ऐसा ही किया। क्षेत्रपालों की सृष्टि की कथा पुराणों में आती है। कृष्ण ने भी गीता में क्षेत्रपालों का वर्णन किया है 'क्षेत्रज्ञं चापि माम् विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।' दारुक अज्ञान है। दारुक लकड़ी को भी कहते हैं। लकड़ी से चाहे जैसी मूर्त्ति काट-छाँटकर बना लो। ऐसे ही अज्ञान से भी चाहे जैसा बनाना चाहो बना सकते हो। अज्ञान ने देवताओं को तंग कर रखा था। विश्व या जीव ही देवतात्मा है। इसे मारने में इंद्र, इंद्रियों का राजा मन, भी असमर्थ रहता है। मन से उसे नहीं हटा सके तब विष्णु ने युद्ध किया। विष्णु चरणाभिमानी देवता कर्म के प्रतीक हैं। 'यज्ञो वै विष्णुः।' कर्म के द्वारा भी ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' आदि श्रुतियों ने निषेध कर दिया है कर्म से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं।

बुद्धि से काम लिया, गुरु बृहस्पति को भेजा। बुद्धि ने जोर लगाया कि आत्मा और अनात्मा दोनों अलग-अलग सिद्ध होंगे तो दोनों भिड़ेंगे। यह द्वैत कपिल, कणाद एवं वैष्णवों ने स्वीकारा। किन्तु वह चेतन शक्ति कहती है कि आत्मा-अनात्मा को भी मैं जानती हूँ, अनात्मा की सत्ता भी भिन्न नहीं। उस संवित् में भेद करना भी नहीं चलता। अंततोगत्वा अज्ञान में किसी तरह का भेद अर्थात् अज्ञान को ज्ञान से भिन्न बुद्धि न कर सकी; और न कर्म द्वारा ही वह विजय किया गया। ब्रह्मा, वेद-पुरुष के पास गये। वेद ने कहा कि बिना अर्द्धनारीश्वर के अर्थात् शिव-शक्ति को एक किये बिना अज्ञान मरेगा नहीं। कब मरेगा? शंकर ने नियम कर दिया कि श्रावण मास में, अर्थात् जिस मास में वेदांत का श्रवण ही हो। पूर्णिमा, अर्थात् जब मन पूर्णिमाचन्द्रवत् वेद-वाणी से पूर्ण हो जायेगा। गुरुवासर हो अर्थात् गुरु के द्वारा जब श्रवण होगा, स्वयं नहीं। इसके द्वारा चित्त-वृत्ति को एकाग्र कर जब शतरुद्र याग

(हवन) करोगे; जब सारी सृष्टि की आहुति देने को तैयार हो जाओगे; इतना ही नहीं, 'प्राणा रुद्राः' जब प्राणों की आहुति देने को भी तैयार हो जाओगे तब वह भगवती ब्रह्माकार वृत्ति को बनायेगी; उसमें आत्मा का प्रकाश शिव निक्षेप करेंगे। जहाँ शिव-शक्ति दोनों ही आ गये वहाँ अज्ञान नजर ही नहीं आयेगा। घोष-मात्र, तत्त्वमस्यादि महावाक्यों के रवमात्र से ही अज्ञान खतम हो जायेगा। जब यह ब्रह्माकार वृत्ति सब कुछ नष्ट करने को तैयार हो गई तब आशुतोष शंकर क्षेत्र-पालों को भेजते हैं। सारी सृष्टि के ये जीव क्या हैं? सारी सृष्टि में जीवरूप में प्रतिभासित सारे मेरा ही स्तन पीकर जी रहे हैं। जब वे बच्चे होकर पास आते हैं तब यह विश्व नष्ट करने लायक नहीं, प्यार करने लायक हो जाता है। अब इसको पुष्ट करो। समाधि के डंडे से जगत् को खतम करने में देरी नहीं लगती। जब क्षेत्रपालों को देखा तो उन्हें पुष्ट करने में सारा जीवन, जितना प्रारब्ध शेष था, लगा दिया। यही अपना पालन है। यही अपनी भुक्ति है, यही अपना रक्षण है, इससे भिन्न कुछ भी नहीं।

प्रवचन-२९
संवाद
६-८-६८

[दिनांक ५.८.६८ का सम्पूर्ण एवं ६.८.६८ के प्रारम्भिक तीन पृष्ठ अनुपलब्ध हैं। इस प्रवचन में निम्नलिखित मन्त्र की व्याख्या चल रही है–

'देवो देवमेतु सोमः सोममेत्वृतस्य पथा ॥२॥'

अर्थात् सोम देव दानादिगुण-युक्त इन्द्रादिको ऋत अर्थात् यज्ञ के मार्ग से प्राप्त हो।]

अपने जैसी संतान उत्पन्न कर देने की सामर्थ्य जीव जैसी और किसी में नहीं है। संतान उत्पन्न होने पर नहीं कह सकते कि लड़का किस एक का है। लड़का एक-साथ, एक-जैसा दोनों का ही है। इससे भी स्पष्ट है कि सर्वोत्तम सृष्टि तभी होती है जब संवाद हो। इसके द्वारा ईश्वर ने एक नमूना रखा कि जीवन में कैसे रहना चाहिये। ठीक इसी प्रकार शास्त्रों में कहा है कि सच्चा मालिक वही है जिसके घर में नौकर नहीं, केवल पुत्र रहें। नौकर भी ऐसे रहता है जैसे मालिक के अन्तर्गत नहीं बल्कि पिता के घर में रह रहा हो। यह 'संवाद' की दृष्टि है। वादी-प्रतिवादी की दृष्टि तो है कि एक-दूसरे को खसोट लें! 'संवादी' की दृष्टि है- 'सह वीर्यं करवावहै' दोनों मिलकर एक नवीन चीज़ पैदा करें। नौकर सोचे 'मालिक का अधिक से अधिक फायदा हो तभी मेरी भी वृद्धि होगी, यदि लूटता ही रहा तो कमाया हुआ धन समाप्त हो जायेगा, दोनों को ही भूखे रहना पड़ेगा।' मालिक सोचे 'केवल अपना ही फायदा न कमाऊँ, कर्मचारी प्रसन्नता-पूर्वक स्थिर होकर कुशलतर होते रहें क्योंकि अच्छा, स्थिर काम करने वाला ही नहीं मिलेगा तो कमाई कहाँ से होगी?' वादी-प्रतिवादी की दृष्टि से इस लोक में ही शांति नहीं, परलोक में शांति की बात तो जाने दो। व्यापार में भी वाद-प्रतिवाद की दृष्टि से सामंजस्य

नहीं हो पाता है। व्यापारी सोचता है कि कम से कम देकर ग्राहक से पैसा खींच लें, और ग्राहक सोचता है कि कम से कम दाम देकर ज्यादा माल ले लें। दोनों दृष्टियाँ व्यापार को नष्ट करने वाली हैं। यदि ग्राहक की सामर्थ्य समझे बिना दाम बढ़ाओगे तो लोगों को जबरदस्ती वैरागी बना दोगे! जो पहले चार धोती खरीदता था, दाम ज्यादा होने पर वह तीन से ज्यादा नहीं खरीदेगा। व्यापारी वादी की दृष्टि से ही सोचे, प्रतिवादी की दृष्टि से नहीं तो खरीदने वाला नहीं रहने से लाभ कैसे होगा! ग्राहक कभी नहीं सोचता कि यदि कम दाम ही देता रहा तो एक दिन घाटा होने पर दुकानदार और माल बनाने वाले दोनों ही दीवालिये हो जायेंगे, फिर चीज़ें मिलेंगी ही नहीं। संवाद की दृष्टि तो यह है कि दोनों मिलकर कार्य संपन्न करें। प्रतिवादी सोचे कि व्यापार बढ़ता रहे और वादी सोचे कि ग्राहक को अच्छा से अच्छा माल ठीक दामों पर मिले।

आज से चालीस साल पहले तक लोग अर्थशास्त्री न बने हों किन्तु उनकी दृष्टि संवाद की रहती थी। जिस आदमी ने लाखों का सौदा व्यापारी से खरीदा और आज वह इस स्थिति में नहीं है कि खरीद सके तो दुकानदार उसे उधार देने को तैयार रहता था। वह मानता था कि जिससे लाखों कमाये हैं, उसे 'ना' नहीं कर सकते; जब उसके दिन सुधरेंगे तब पैसे आ भी जायेंगे। यह संवाद की दृष्टि थी। आज इसके विपरीत, किसी को पचास लाख का फायदा भी करा दो पर पच्चीस रुपये के लिये मुकर जाता है! कारण यही कि संवाद के बजाये वादी-प्रतिवादी की दृष्टि बढती जा रही है।

पहले घरों में पति-पत्नी में प्रेम होता था। मालिक नौकर में प्रेम रहता था। पाकिस्तान बनने पर बहुत लोग जो लाहौर से आये तो नौकरों को भी साथ लाये। यहाँ आकर उनसे कहा 'अपनी नौकरी ढूँढो, हमारा तो कोई काम-धंधा है नहीं।' नौकरों ने कहा 'बीस साल तक आपका दिया खाया है, अब छोड़ कैसे दें? जैसे आप रहेंगे, वैसे ही हम भी रह जायेंगे।' धीरे-धीरे समय-परिवर्तन हुआ और फिर उनकी तनख्वाह बाँध दी गयी। यह मालिक और नौकर की संवादी दृष्टि थी। चाहे उन्होंने वेद न पढ़े हों, किन्तु वेद की दृष्टि उनमें पनपी थी। आज हमारे घर में, हमारी जनता में, हमारे समाज में वह दृष्टि नहीं रही। इसलिये वाद-प्रतिवाद की नवीन दृष्टि बन गई। 'यह मैंने कहा', 'यह तूने कहा' की भावना है, 'हमने कहा' की भावना नहीं है।

इसी संवाददृष्टि को वेद में बताया है। वेद की शैली है कि परम तत्त्व के निर्णय के लिये अत्यंत विरुद्ध भिन्न-भिन्न बातें कह देते हैं। संवाद की दृष्टि को न समझकर आधुनिक लोग वेद का अध्ययन करने पर वाद-प्रतिवाद की दृष्टि में ही उलझे रहते हैं। उन्हें ईशावास्योपनिषद् का एक मंत्र मिला

'अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।'

जो वाद-प्रतिवाद की दृष्टि से बाँचेंगे वे कहेंगे कि लगता है ऋषिका दिमाग खराब था, इसलिये ऐसा श्लोक बना दिया। कितनी विरुद्ध बातें भर दी हैं : आत्मतत्त्व हिलता नहीं। मान भी लें कि ऐसा ही होगा। प्लेटो ने भी ईश्वर के लिये कहा है कि वह अचल चालक है। आगे ऋषि कहते हैं 'मनसो जवीयः' मन से भी ज्यादा तेज दौड़ने वाला है! यह बात भी किसी तरह समझ में आ सकती है क्योंकि उन सब नक्षत्रों में गति पाई जा रही है जो एक जगह तारे जैसे टिमटिमा रहे हैं। फिर भी एक ही साँस में कह रहे हैं कि आत्मतत्त्व हिलता नहीं और मन से भी तेज गति से दौड़ता है, अतः प्रश्न होता है कि यह कैसे हो सकता है। 'तद्धावतः अन्यान् अत्येति तिष्ठत्' वह आत्म-तत्त्व खड़ा ही रहता है तब भी अन्य दौड़ने वालों से आगे चला जाता है! इस प्रकार की अभिव्यक्ति तत्त्व की विलक्षणता के अनुरूप है फिर भी सामान्य व्यक्ति के लिये समझना कठिन है क्योंकि श्रुति में वाद-प्रतिवाद की दृष्टि है नहीं, संवाद की ही दृष्टि है। जो वादी-दृष्टि से बाँच रहे हैं उन्हें गलत लगेगा ही। श्रुति के प्रतिपादन का ढंग ही ऐसा है कि उस का यह रहस्य संवाद की दृष्टि वाला ही जानेगा। एक ही व्यक्ति का परिचय बेटा भी दिया जा सकता है, बाप भी दिया जा सकता है, दोनों सापेक्ष धर्म हैं, विभिन्न अपेक्षाओं से युगपत् संभव हैं। संवाद दृष्टि यह समन्वय ढूँढ पाती है, वाद-दृष्टि से यह मिलता नहीं। यजुर्वेद ने कहा 'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः' अर्थात् एक ही रुद्र है, दूसरा नहीं। वही यजुर्वेद कहता है 'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्' इस भूमि को अधिकृत करके रहने वाले हजारों रुद्र हैं। श्रुति तो कह रही है कि अनंत हजार हैं! भूमिपर ही नहीं, द्यु-लोक, अंतरिक्ष के रुद्रों को भी अलग से हजारों में गिना दिया है। यहाँ दार्शनिक विभिन्न संभावनाओं की रुकावट के लिये वेद में जगह-जगह इस ढंग से कहा कि सर्वत्र समान दार्शनिक व्यवस्था घटाना संभव नहीं! ऋग्वेद में कह

दिया 'रुद्रं रुद्रेषु, रुद्रियं हवामहे' हम एक ही रुद्र को अनेक रुद्रों में रुद्रिय के द्वारा आहुति देते हैं। 'रुद्रो रुद्रेभिर्मृडयाति नः' एक रुद्र अनेक रुद्रों के द्वारा हमें सुखी करता है। यहाँ एकवचन, बहुवचन और प्रथमा तथा तृतीया का प्रयोग है। सोपाधिक-निरुपाधिक के अनुसार व्यवस्था में 'रुद्र' यह समान श्रुति विरुद्ध होगी अर्थात् एक ही प्रसंग में एक ही शब्द के अर्थ विभिन्न मानना अनुपयुक्त होगा। सोपाधिक में भेद मानने का अर्थ होगा कि उपाधियों में ही भेद है, तो श्रुति रुद्र शब्द से उपाधिको कहती हुई माननी पड़ेगी। साथ ही निरुपाधिक को अभिन्न मानेंगे तो रुद्र शब्द से ही श्रुति उपाधि से स्वतंत्र को कहती माननी पड़ेगी। ऐसा परस्पर विरुद्ध तात्पर्य से एक ही शब्द का प्रयोग वेद करे यही अनुचित है। वादी-प्रातिवादी को तो वेद का यह कथन असंगत ही लगेगा, किन्तु संवाद की दृष्टि वाले को रहस्य समझ में आ जायेगा। संवाद की दृष्टि के लिये श्रुति ने रुद्र को ऋग्वेद में इस तरह भी बताया

'अज्येष्ठासः अकनिष्ठास एते सम्भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुख्यः।।' (५.६०.५)

बहुत से रुद्रों का वर्णन है, किन्तु 'अज्येष्ठासः' उनमें पहले-पीछे का क्रम न जोड़ना। ऐसा मत मानो कि कोई बड़ा या छोटा है। एक-साथ ही भाईयों की तरह हैं। पहले निर्गुण, फिर सगुण ईश्वर, ऐसा क्रम नहीं बनता। जितनी भी कल्पनायें हैं, शिवतत्त्व में वे एक-साथ ही पूर्ण हैं। दो भाई एक-साथ हो सकते हैं, किन्तु उनका पिता तो बड़ा होगा। कोई तत्त्व तो ऐसा होगा जिससे ये सारी कल्पनायें प्रसूत हैं? श्रुति ने इसके उत्तरमें कहा कि 'युवा पिता' पिता को भी जवान ही समझना! यहाँ पिता भी जवान बेटे के बराबर है। बाप-बेटे एक ही उमर के हैं, उनमें भी बड़ा-छोटा मत मानना। इस प्रकार भेद-दृष्टि हटने पर ही मनुष्य की तत्त्वदृष्टि बनती है। इसी प्रकार यहाँ भी 'देवः देवम् एतु' और 'सोमः सोमम् एतु' में न कोई क्रम है और न ही एक-दूसरे के बाद की स्थिति है, सब एक ही साथ है।

ऋग्वेद में इस तत्त्व को एक कथा द्वारा समझाया है। महर्षि वामदेव अपने पूर्व जन्म में अपने पिता द्वारा अनुशिष्ट हुए। पिता वृद्ध थे। उनके अन्य शिष्य भी थे। वामदेव अन्य विद्यार्थियों से अधिक प्रतिभाशाली थे। पिता ने अपने अन्य शिष्यों से कहा 'तुम वामदेव से ही पढ़ लिया करो, कोई विशेष बात पूछनी हो तो मुझसे पूछ

लिया करो।' वामदेव ने कहा 'मैं इतने विद्यार्थियों को कैसे पढ़ा सकता हूँ! खुद ही जो पढ़ता हूँ उसे दृढ करने का समय नहीं मिलता।' पिता ने कहा 'तुम प्रतिदिन 'ॐ नमः शिवाय' मंत्र का जप किया करो और भगवान् का नित्य अभिषेक भी किया करो। 'विद्यामिच्छेद् महेश्वरात्, ज्ञानमिच्छिेद् महेश्वरात्।' आदि इसमें प्रमाण हैं कि शिवकृपा से विद्यालाभ होता है। तुम्हारी भी ज्ञान-वृद्धि होती रहेगी।' वामदेव पढ़ाते रहे और उनका ज्ञान प्रवृद्ध होता गया। कुछ काल में पिता का शरीर छूटा। जब माता का भी शरीर छूट गया तब वामदेव ने सोचा कि पढ़ाने का कार्य छोड़कर जंगल में जाना चाहिये। उनकी उमर भी काफी हो गई थी। जंगल में कुछ समय साधना करने के उपरांत उनका शरीर छूट गया। पुण्य-पापों का फल मिलता ही है। अगले जन्म में वे वामदेव बने। साधना करते हुए ही उनका पूर्व शरीर छूटा था। माता के गर्भ में आने के साथ ही उन्हें तत्त्व-निष्ठा प्राप्त हो गई। गर्भ में एकांत मिला। तत्त्व-चिंतन अजस्र चलने के कारण ही गर्भ में उन्हें ज्ञान हो गया। वहीं से बोले 'गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदम् अहं देवानां जनिमानि विश्वा' मैंने गर्भ में रहते हुए ही तत्त्व को जान लिया है कि मैं ही सारी सृष्टि के देवताओं को पैदा करने वाला हूँ, मैं ही वह शुद्ध आत्म-तत्त्व हूँ।' लोग शंका करते हैं कि साक्षात्कार उसने अब कर लिया लेकिन देवता तो पहले से ही थे, उन्हें कैसे पैदा किया? अर्जुन ने भी भगवान् कृष्ण से यही शंका की 'आप कहते हैं कि मैंने सूर्य को उपदेश किया, परंतु आप अभी तो पैदा हुए हैं।' भगवान् कृष्ण ने कहा 'तू मुझे देवकी के पेट से पैदा हुआ समझता है, मेरे स्वरूप को नहीं जानता।' इसी तरह स्वरूप-दृष्टि से वामदेव ने कहा था। वे आगे बोले 'शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जरसा निरदीयम्' 'सारे देवताओं को पैदा करने वाला तो मैं ही हूँ लेकिन उन सबने मिलकर मुझ से धोखा किया! उन सबने लोहे के सौ पुर (किले) बनाकर मुझे उन में बंद कर दिया था। इसीलिये मैं गर्भ में आया। मैंने बहुत सोचा कि उन लोहे के फाटकों से कैसे निकलूँ। कोई रास्ता समझ में नहीं आया। फिर मैं बाजपक्षी बना। इससे पहले कि उन सबको पता लगे, पहले ही उड़कर ऊपर चला गया।'

जीव को भी सैकड़ों दीवारों में बैठा दिया गया है। पत्नी का बंधन, दुकान, बच्चों का बंधन, शरीर, मन, कर्म, धर्माधर्म, समाज, राष्ट्र आदि के अनंत बंधन बने हैं जिनमें जीव फँसा हुआ है। 'शतम्' का अर्थ अनंत ही समझना। इन सारे बंधनों

को बनाने वाला मैं (जीव) स्वयं हूँ। लोग कहते हैं कि कर्तव्य का पालन तो करना ही चाहिये। विचार करो, जब जाने लगोगे तब क्या कर्तव्य का पालन कर पाओगे? लेकिन उन्होंने फँसा ही लिया है। इन बंधनों को तोड़कर तो नहीं निकल सकते। इसलिये पक्षी बन कर उड़ो तभी निकल सकते हो। वामदेव भी यही कहते हैं कि पिता ने और माता ने पढ़ाने का बंधन डाला, फिर शरीर का बन्धन था अब पक्षी बनकर उड़कर निकल गया। वे सारे बंधन मेरे ही बनाये हुए थे। अब मैं खुद ही कह रहा हूँ कि निकल आया।

किस प्रकार इन बंधनों को छोड़कर निकलता है? 'देवः देवम्' को कैसे प्राप्त होता है? इसपर आगे विचार करेंगे। अभी तो बताया कि वाद-प्रतिवाद में से संवाद को निकालना पड़ता है। दो अनुभव हैं : प्रथम कि मैं चारों तरफ बंद हूँ। और द्वितीय कि मैं ही इन सबको बनाने वाला हूँ। संवादी कहता है कि जिनको मैंने बनाया, उन्होंने ही मुझे बाँध रखा है, इसलिये उन पर मेरा आधिपत्य हटता नहीं।

प्रवचन-३०

जीवन्मुक्ति

७-८-६८

भगवती श्रुति ने परमात्मा के ज्ञान की दृढता की स्थिति बताते हुए वाद-प्रतिवाद का संवाद बताया। वह संवाद किस प्रकार का है इस पर विचार कर रहे थे। यह सिद्धान्त बता चुके हैं कि वाद और प्रतिवाद में समानता और विषमता को निकालने से संवाद बनता है। यह तर्क का एक विलक्षण प्रकार है। संसार में अधिकतर विचार वाद-प्रतिवाद तक ही सीमित रहकर संवाद को नहीं समझ पाते क्योंकि वे एक पक्ष को अपनाते हैं, दोनों को अपना नहीं पाते। यह मेरा पक्ष, यह तेरा पक्ष, किन्तु हमारा पक्ष कहीं बनता नहीं। जब तक पक्ष पहले ही निर्णीत होता है तब तक सही तत्त्व का पता नहीं लग पाता। अदालत में वकील सत्य का निर्णय नहीं कर पाता क्योंकि वह पहले से ही एक पक्ष की तरफ हो गया है, इस में उसका दोष नहीं है। इसी को आंग्ल-भाषा में 'कमिटेड' शब्द से कहा है। कमिट शब्द में कम का अर्थ साथ है और मिट् का अर्थ भी साथ ही है अर्थात् जिसने पहले ही साथी का साथ पकड़ लिया, वह सच्चाई का पता नहीं लगा सकता। दो लड़कों में झगड़ा हो जाये तो पिता को कभी पता नहीं लगता कि कसूर किसका है, क्योंकि प्रत्येक पिता समझता है कि मेरा लड़का तो दूसरे के साथ से बिगड़ा है, खुद नहीं। अगर कहीं लड़के ने झगड़ा भी किया तो कहता है कि उसने मेरे लड़के को छेड़ा होगा। इसलिये जहाँ पूर्वाग्रह होता है, वहाँ तत्त्व का विचार नहीं हो पाता।

संसार के वादी आत्म-भेद मानते हैं कि प्रलयकाल तक, यहाँ तक कि माया में भी हम और तुम अलग-अलग रहेंगे। इसलिये तुम्हारी मान्यता और मेरी मान्यता में फर्क है। यही भावना आत्मज्ञानी के लिये सर्वाधिक कष्टप्रद है। कभी

भूल से भी मुँह से निकल जाये कि हमारा मत नहीं मिल सकता तो उसे चोट लगती है कि यह द्वैत मत है क्योंकि एक ही आत्मा होने पर हमारा मत हो सकता है, अलग-अलग मत नहीं हो सकते हैं। इसलिये भगवान् गौडपाद लिखते हैं कि 'तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुद्ध्यते' (मा. का. ३.१८) अपने-अपने मत की व्यवस्था चलाने में द्वैती जुटे रहते हैं लेकिन वेदान्ती कहता है कि द्वैत या विरोध हो नहीं सकता। मिलके एक निर्णय करना, यही संवाद की दृष्टि है। यहाँ तक तो मीमांसा का सिद्धान्त हो गया। प्रकृत प्रकरण पर विचार करते हुए आत्मज्ञानी के अनुभव में इसे लगाया जाय : एक अनुभव तो यह है कि निर्विकल्प अखण्ड चैतन्य की दृष्टि से जगत् की कोई सत्ता ही नहीं है, दूसरा यह है कि श्रुतियाँ कहती हैं कि वह सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान् परमात्मा 'यक्षन् क्रीडन् रममाणः।' क्रीडा करते हुए भी पूर्ण आत्मनिष्ठा में बना रहता है। इसे 'देवो देवमेतु सोमाः सोममेतु' शब्दों से बता दिया। औडुलोमि और जैमिनि का मत वाद और प्रतिवाद का है और भगवान् बादरायण ने कहा कि इनमें विरोध नहीं हो सकता, यही संवाद का मत है। कैसे? तो इसका जवाब भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर देते हैं कि पारमार्थिक दृष्टि से विचार करने पर कभी परिवर्तन न होने वाली दृष्टि से तो वह चैतन्यमात्र ही है। जैसे धूप-बत्ती को लेकर ज़ोर से घुमाओ तो चक्र दीखेगा। व्यावहारिक दृष्टि से वहाँ धूप-बत्ती या अग्नि का एक बिन्दुमात्र है लेकिन प्रातिभासिक दृष्टि से वही चक्र दीख रहा है, बिन्दु नहीं। इसी प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से अखण्ड चैतन्यमात्र ही है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसका ऐश्वर्यवान् रूप है। इसलिये औडुलोमि का मत ठीक है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ईश्वर-रूपता का भी विरोध नहीं है। जो स्वरूप से ब्रह्म है, वही व्यवहारकाल में ईश्वर है। व्यवहार की दृष्टि से जीव का अनुभव भी ऐसा है - स्वयं को चेतन जानता है लेकिन अपना व्यावहारिक रूप देहादि उपाधि से युक्त पाता है, दूसरे उसके औपाधिक रूप से ही परिचित भी रहते हैं। अज्ञानदृष्टि के नष्ट हो जाने पर तो केवल चिन्मात्र की दृष्टि बनती है। अतः व्यवहार-दृष्टि से ईश्वररूपता और पारमार्थिक दृष्टि से चिन्मात्ररूपता का संवाद है। जब तक प्रतीति है तभी तक ईश्वर-रूपता रहेगी। जीवस्तर पर सुषुप्तिकाल में केवल चिन्मात्र-स्थिति है क्योंकि वहाँ कार्यभूत उपाधि की प्रतीति नहीं है। निर्विकल्प समाधि की स्थिति में केवल चिन्मात्र, आनन्दमात्र रह जायेगा। अतः समाधि से पूर्व और बाद की स्थिति ईश्वर-रूपता की, जबकि समाधिकाल में

केवल चिन्मात्रस्वरूपता की रहती है। इस तरह चिन्मात्र का कहीं विरोध अथवा बाध नहीं है। दूसरे जीवों की दृष्टि में है, स्वकीय दृष्टि में नहीं। भगवान् सर्वज्ञात्मा लिखते हैं–

'जीवन्मुक्तिस्तावदस्ति प्रतीतेः द्वैतच्छाया तत्र चास्ति प्रतीतेः।
द्वैतच्छायारक्षणायास्ति लेशः तस्मिन्नर्थे स्वानुभूतिः प्रमाणम्।।'

जब तक द्वैतप्रतीति है तब तक जीवन्मुक्ति है। वेदान्त-सिद्धांत में शरीर रहे, न रहे, इसका कोई महत्त्व नहीं। स्थूल-सूक्ष्म शरीर सुषुप्ति में ही नहीं रहते। शरीर रहने-न रहने से जीवन्मुक्ति समझाने की बात बालकों के लिये है, विचारक के लिये नहीं। प्रतीति होने के कारण ही द्वैत की छाया माननी पड़ती है। सच्चा द्वैत नहीं है, हो ही नहीं सकता। अज्ञान की छाया केवल दूसरे की प्रतीति को लेकर है। द्वैतच्छाया को मानो तो अविद्या-लेश भी मानना पड़ेगा। परंतु अविद्या-लेश अविद्या की तरह बंधन करने में समर्थ नहीं। तर्क या मुक्ति के आधार पर जीवन्-मुक्ति का निर्णय नहीं हो सकता, संवाद दृष्टि से ही संभव है। दार्शनिक दृष्ट्या यदि कोई जीवन्मुक्ति न भी माने तो कोई हर्ज नहीं। यदि यह माने कि ज्ञान के उत्तर-क्षण में प्रतीति नष्ट हो जाती है तो आपत्ति नहीं। जिसे अनुभव हो 'मेरा ईश्वरभाव अप्रत्याहत है, द्वैतछाया मेरे स्वामित्व में है', उसकी अनुभूति को भी अन्यथा नहीं कर सकते। जब तक द्वैत से बन्धन है, तब तक अविद्या है। जब स्वातन्त्र्य-उन्मेष हो गया तब द्वैत की छाया है। इस विषय में स्वानुभूति ही 'प्रमाण' है।

शंका हो सकती है कि यदि द्वैतच्छाया के लिये अविद्या-लेश रहता है तो जैसे अविद्या का काम बाँधना है, वैसे अविद्यालेश बाँधेगा या नहीं? चाहे थोड़ा ही सही, बाँधे यही संभव प्रतीत होता है।

यही बात महर्षि वशिष्ठ जी ने जीवन्मुक्ति की स्थिति का निरूपण करते हुए भगवान् रामचन्द्र को समझाया तो उन्होंने भी पूछी थी। वह ऐसी अनुभूति है कि अद्वैत का भान होते हुए भी व्यवहारदृष्टि में द्वैत का अभान नहीं होता। एकता का भान होते हुए ही दोपने की प्रतीति रह जाती है। निश्चित पता लग भी जाये कि अद्वैत है तब भी द्वैत की प्रतीति रहती है किन्तु वह अद्वैत का बाध नहीं करती, अद्वैतानुभव में परिवर्तन नहीं लाती। रामजी ने पुनः प्रश्न किया तो क्योंकि महर्षि वशिष्ठ महायोगी भी थे अतः कहा 'तुम्हें एक तमाशा दिखायें : मैं तो सच्चे आत्मा, ब्रह्म की एकता में दो बता रहा हूँ लेकिन तुम्हें वह स्थल दिखाता हूँ जहाँ संसार में

एक में दो और दो में एक प्रतीति होती है।' वे योगमार्ग से एक जंगल पहुँचे। वहाँ भगवान् राम ने चारों तरफ दृष्टिपात करने पर देखा कि पेड़ और लतायें एक-दूसरे से लिपटकर झूम रहे हैं, फूल और भँवरे भी प्रेम से झूम रहे हैं और जितने भी अन्य पशु-पक्षी हैं, वे सब एकभाव में मग्न हैं। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। पूछने पर वशिष्ठ जी ने जवाब दिया कि यहाँ दो व्यक्ति ऐसे रहते हैं जिनका प्रेम अकृत्रिम है। संसार में प्रेम तो कृत्रिम होता है। कृत्रिमता का अर्थ है बाहरी चीजों पर आधारित होना। यदि कोई कहे कि उसे किसी लड़की से प्रेम है तो पूछने पर कहेगा कि रंग गोरा, नाम सुन्दर, आँखें बढ़िया हैं अतः प्रेम है। यहाँ प्रेम कन्या से नहीं उसके शरीर से है। यह कृत्रिम प्रेम है। या लड़की बड़े घर की है, तो धन से प्रेम है। बुद्धिमान् है तो उसकी बुद्धि से प्रेम है। अतः कृत्रिम प्रेम है। पर वशिष्ठ ने राम को दिखाया कि अकृत्रिम प्रेम से दोनों का हृदय बिंधा हुआ है इसीलिये वृक्ष भी प्रेम से झूम रहे हैं। जैसा वातावरण होगा, उसका प्रभाव पड़ेगा ही। चूंकि उनका प्रेम सांसारिक है, इसलिये ये वृक्षादि भी श्रृंगार-चेष्टा से आकुलित हो रहे हैं। भगवान् राम ने सोचा कि कोई दो बड़े महात्मा होंगे। जाकर देखा तो वशिष्ठ जी ने हरिण और हरिणी को दिखाया! भगवान् राम को बड़ा आश्चर्य हुआ, कहा 'यह तो कोई माया होगी।' किन्तु महर्षि कहते हैं कि यही सच्ची बात है, तुम्हें इनका जीवन बताते हैं:

मगध देश में इंद्रद्युम्न नाम का एक राजा था। उस राजा की अहिल्या नाम की पत्नी इतनी सुन्दर थी मानों चन्द्रमा का टुकड़ा टूटकर आ गया हो। वह राजा को इतनी प्रिय थी जैसे चन्द्रमा को रोहिणी प्रिय होती है। कुछ दिन बाद अहिल्या ने सुना कि वहाँ इंद्र नाम का एक विप्रकुमार रहता है जो बड़ा बुद्धिमान् है। नाम सुननेमात्र से ही अहिल्या को उससे अनुराग हो गया! यह अकृत्रिम प्रेम का नमूना है विप्रकुमार का पता ही नहीं, वह जानती ही नहीं और अनुरागिणी बन गई। अनुराग इतना तीव्र हो गया कि खाना-पीना सब छोड़ दिया। राजा ने पूछा तो कहा कि तबियत ठीक नहीं है। वैद्य आये, इलाज हुआ किन्तु फायदा कुछ नहीं हुआ। अंततोगत्वा सखियों ने पूछा तो उससे नहीं रहा गया, सारी लज्जा छोड़कर कहा 'इंद्र नाम के विप्रकुमार का पता लगाओ।' पता लगाने पर सखियों ने उससे कहा 'रानी तुमसे मिलना चाहती है।' यह सुनकर कि उसके प्रति रानी अहिल्या के हृदय में प्रेम है उसमें भी हार्दिक प्रीति पैदा हो गई। इतना सुननेमात्र से इंद्र कुमार के हृदय में भी प्रेम उत्पन्न हो गया।

वह पहुँचा तो दोनों ने एक-दूसरे को देखा। दोनों का हृदय सर्वथा एक हो गया, पूर्ण एकता हो गई। उसमें अनुरक्त होकर रानी को इन्द्र के सिवाय कुछ नज़र नहीं आता था। थोड़े दिन बाद राजा को पता लगा तो बड़ा गुस्सा आया। बुलाकर तरह-तरह से दण्ड दिया। हाथी के पैरों के नीचे कुचलवाया, भट्टी में डाला। बेंतों से पिटवाया। लेकिन इस सब पर भी वह इंद्रकुमार हँसता ही रहा। अंत में राजा के पूछने पर कि 'इतना दुःख देने पर भी तुम क्यों हँसते रहते हो', इन्द्रकुमार ने जवाब दिया 'हे राजन्, आप जितना भी दुःख दें, मुझे तो उसकी मुख-कान्ति ही नज़र आती है। चाहे टुकड़े भी करें तो दुःख नहीं होगा।' जब इष्ट को भूले ही नहीं तो दुख कैसे हो? जैसे रसगुल्ले से प्रेम है तो रसगुल्ले की याद आते ही प्रसन्नता आ जाती है। राजा ने विचार किया कि दोनों को राज्य के अलग-अलग कोनों में बंद कर दिया जाये तो दोनों तड़पेंगे। किन्तु इस पर भी वे हँसते ही रहे। कारण पूछने पर इन्द्रकुमार ने कहा, 'आपने अभी कुछ समझा ही नहीं। 'मनोमात्रमहम् राजन् मनो हि पुरुषःस्मृतः'। हे राजन्! तुमने हमें शरीर से दूर किया है किन्तु हमारा सम्बन्ध तो मन से है। मन का नाम पुरुष है। मैं तो मन-मात्र हूँ, इसके अतिरिक्त मेरी सत्ता ही नहीं है। केवल देहाध्यासमात्र है। 'ममेयमसितापांगी मनः-कोषे प्रतिष्ठिता' वह सुन्दरी मेरे मनःकोष में बैठी है, इसलिये मुझे कुछ फर्क नहीं पड़ता। जहाँ कहीं भी गिराते हो या कोयलों में डालते हो, चाहे जहाँ रखो किन्तु वह मन से दूर नहीं होती, मुझे बिना मन के कोई चीज ग्रहण नहीं होती। इसलिये अहिल्या के सिवाय मुझे कोई अनुभव नहीं है।'

इस पर राजा को बड़ा गुस्सा आया और वे अपने गुरु भरत मुनि के पास पहुँचे। भरत जी ने कहा कि वे यदि नहीं मानते तो जाने दो। किन्तु राजा ने कहा कि राज्य-नीति में यदि दण्डयोग्य को दण्ड न दिया जाये और दण्ड-अयोग्य को दण्ड दिया जाये, तो दोनों ही पाप समान हैं। इसलिये दण्ड का कोई तरीका आवश्यक है। यदि कोई तरीका नहीं हो तो शाप से ही दण्ड दिया जाये।' भरत मुनि ने उनके पास पहुँच कर कहा 'राजा की बात मान जाओ।' वे कहने लगे 'हम तो मानते हैं, सींखचे तोड़कर तो भागे नहीं हैं।' इस पर भरत मुनि ने शाप दिया 'मनुष्य योनि से गिरकर कौवे बन जाओ।'

वहाँ भी वे दोनों साथ रहे क्योंकि मनोमात्र ही शरीर है। उस योनि में भी जीवन साथ बिताया। इसके प्रभाव से अगले जन्म में जब दोनों ब्राह्मण पैदा हुए तब

भी दम्पती रहे। वशिष्ठ जी ने कहा कि उसके बाद तपस्या के फलस्वरूप दोनों ने इच्छित संचरण-शक्ति प्राप्त कर ली, तरह-तरह के शरीरों में रहने की शक्ति उनमें आ गई। अंत में वे यहाँ हरिण-हरिणी के रूप में पहुँचे। ये वस्तुतः ऋषि-लोग हैं। इस शरीर में तो उनका मोहरूप प्रेम है अतः जहाँ-कहीं ये जाते हैं पति-पत्नी होकर रहते हैं।'

मोह-संस्कार का ऐसा फल है कि अतिदीर्घ काल होने पर भी उनमें आपस में एकता की भावना नहीं हटती। फिर, तुम्हारा वास्तविक स्वरूप जब परमात्मा ही है, तब उससे कैसे हट सकते हो! च्युति सम्भव नहीं है। दृष्टांत में दोनों को अनेकता का भान होने पर भी एकता खण्डित नहीं होती। यह केवल संस्कार की दृढता के कारण होता है। सामान्य लोगों में जब सम्भव है तो परमात्मा, जो अपना स्वरूप है, उससे प्रेम हो जाये तो उस सच्चे प्रेम के फल का क्या कहना है! वशिष्ठ जी ने समझाया कि अद्वैत का अनुभव करके भी द्वैत का अनुसंधान कैसे रख सकेगा। जहाँ यह सम्बन्ध मोह-हेतुज है, वहीं यदि सम्भव है, तो जहाँ विद्या या ज्ञान से है, वहाँ हटे ही यह कैसे माना जा सकता है? पारमार्थिक दृष्टि से अद्वैतानुभूति होने पर द्वैत-दृष्टि बनने पर भी अद्वैतनिष्ठा में परिवर्तन नहीं होता। यही दृढ संस्कार रहता है कि 'ब्रह्म और मैं एक हूँ, मेरा और ब्रह्म का दृढ तादात्म्य है'। फिर जन्म-मृत्यु में जाने पर भी, सब कुछ बदलने पर भी वह संस्कार अखण्ड रहता है। द्वैत-प्रतीति जन्म-मृत्यु की जगह है। यही अनुभूति जीवन्मुक्ति है। संसार से व्यवहार करने पर अद्वैतवादी खुश होता है क्योंकि उसका अनुभव है- 'अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनः' यह सब कुछ मुझ जनार्दन से अतिरिक्त नहीं। अद्वैत-अनुभव वाला और प्रतीति वाला भी मैं ही हूँ। मैं अद्वैत को हाथ में रखे बेल की तरह स्पष्ट देख रहा हूँ, यह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है, इसमें संदेह की सम्भावना नहीं। इस शरीर को तो मैं ऐसे देखता हूँ जैसे साँप केंचुली को देखता है। जब तक शरीर का प्रयोजन है, तब तक शरीर दीख रहा है। जब समाधि की पूर्णता हुई तब केंचुली की तरह शरीर को अलग रखकर केवल वास्तविक स्वरूप को देखता है। वहाँ भी आनंद ही भरा है। मैं ही दूसरों को प्रतिभासित हो रहा हूँ, यही मेरा जीवन है। शरीर का प्रयोजन तो समाधि -लीन होने में था, वह पूरा हो गया। लेकिन मैं अपनी दृष्टि से निःश्रेयस की पदवी में प्रतिष्ठित हूँ। अर्थात् दूसरों की दृष्टि से जीवन है और स्वकीय दृष्टि से मोक्ष है। यही जीवन्मुक्ति है। मैं सारे शरीरों में जी रहा हूँ। इस दृष्टि से देखने पर पूर्णता का

आभास हो जाता है। भगवान् राम ने खुद भी देखा था कि पेड़-लतायें मिलकर एक हो रहे थे। इसी प्रकार, जीवन्मुक्त स्वभाववशात् सन्निकट वालों को आनंद ही देगा। उन पेड़-लताओं पर भगवान् राम ने भी स्पष्ट प्रभाव देखा। वृक्ष और लतायें तो जड हैं, शृंगार कर नहीं सकतीं, किन्तु शृंगार-चेष्टा के लिये आकुलित थे। इसी प्रकार जीवन्मुक्त की सन्निधि में शुद्ध-अशुद्ध कैसे ही जीव जायें, वे सब अद्वैत-निष्ठा को प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं। इसीलिये भगवान् शंकर के पास भूत-प्रेतादि अनेक जीव रहते हैं। जीवन्मुक्त की सन्निधि में आकर जीव परमात्म-भाव में प्रतिष्ठित भले ही न हो, किन्तु उस भाव में प्रतिष्ठित होने के लिये आकुलित अवश्य रहते हैं। शिवनिष्ठा प्राप्त न कर पायें तो भी उसके लिए सचेष्ट निरन्तर रहते हैं। यही जीवन्मुक्तिका प्रयोजन है।

प्रवचन-३१

रुद्र

८-८-६८

सामवेद की कौथुमी शाखा के छन्दोग ब्राह्मण के प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड के द्वितीय मंत्र पर विचार चल रहा है। श्रुति ने आत्मज्ञानी की अनुभूतियों को सोपानक्रम से समझाते हुए प्रथम मंत्र में साधनों का वर्णन किया। उस स्थिति को प्राप्त करके जो स्थिति बनती है उसका वर्णन द्वितीय मंत्र से श्रुति कर रही है। आत्मज्ञान के दो मार्ग हैं। एक विहंगम मार्ग जो शुक का था, द्वितीय पिपीलिका मार्ग जो वामदेव का था। श्रावण मास भगवान् शंकर को अतिप्रिय है। पौर्णमासी के दिन रुद्राष्टाध्यायी के मंत्रों से शतरुद्र हवन का बड़ा महत्त्व है। अतः विहंगम दृष्टि से इस रुद्राध्याय पर विचार करेंगे।

आचार्य अप्पयदीक्षितेन्द्र लिखते हैं कि सारे वेदों का रहस्य यह रुद्राष्टाध्यायी ही है। भगवती श्रुति तो यहाँ तक कहती है कि ब्रह्महत्या, सुरापान जैसे महापाप भी इस शतरुद्रिय के जप से दूर हो जाते हैं। इससे बड़ा और कोई प्रायश्चित्त भी नहीं है। इसीलिये इन मंत्रों से भगवान् शंकर का अभिषेक किया जाता है। ये मंत्र वेद के भिन्न-भिन्न स्थलों से संगृहीत किये गये हैं। सायणाचार्य कहते हैं कि यह बड़ा विलक्षण ग्रंथ है। समग्र कर्म, उपासना और ज्ञान का रहस्य इसमें बताया। रुद्राध्याय का ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों में विनियोग है। शास्त्रों में प्रतिपादित इससे भिन्न और कुछ नहीं। इस क्रम में दस अध्याय भी माने हैं। ब्राह्मणों में इसके ११वें अध्याय को अनुत्तर कहा है। अनाहत-स्वर, आत्म-निष्ठा की पूर्णता की स्थिति को ११वें अव्यक्त अध्याय में कहा है। दस अध्यायों में प्रथम आठ अध्याय साधक के काम के हैं और शेष दो अध्याय केवल सिद्ध के काम के हैं। आठ अध्यायों में साधनों

का वर्णन होने से इन्हें रुद्राष्टाध्यायी कहते हैं। ऋषियों ने इस रुद्राष्टाध्यायी में साधना-क्रम का बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया है।

प्रथम अध्याय में संकल्प-शुद्धि अथवा इच्छा-शुद्धि को बताया है। सारे साधनों और जीवन की जड़ इच्छा ही है। यदि इच्छा में ही ढिलाई हो जाये तो उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। संकल्प-शुद्धि बताने के लिये दस मंत्र हैं। छह में तो स्पष्टतः यही कहा है 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।' अर्थात् मेरा मन शिव-संकल्प से भरा रहे, मेरी इच्छा प्रतिक्षण सिवाय चित्-शक्ति को विषय करने के और कुछ भी न हो। भूत, वर्तमान और भविष्यत् में जो कुछ भी हो रहा है, जिसने सारे रूपों को लिया है उस ब्रह्म की इच्छा रहे। सब रूप पंच महाभूतों से बने हैं ऐसा नहीं, बल्कि अमृत-तत्त्व, उस चित् शक्ति ने ही ये सारे रूप लिये हैं ऐसी मेरी भावना हो। 'येन यज्ञः तायते सप्तहोता' यह पुरुष यज्ञरूप है। इसमें सात होता (हवन-कर्ता) हैं: दो कान, दो आँखें, दो हाथ और एक मुँह। इनके द्वारा ही सारा यज्ञ-कार्य हो रहा है। सप्त होता या समग्र प्राणों वाला जो समग्र सृष्टि में है उसकी इच्छा मेरी इच्छा बने। शिव मेरे अन्दर सात प्राणों द्वारा प्रवृत्ति करने वाले हों। समग्र सृष्टि को संकल्प से चलाने वाले शिव का संकल्प मुझ में हो। उसकी इच्छा मेरी इच्छा बने, क्योंकि अपनी इच्छा जब तक बनाये रखोगे तब तक शान्ति नहीं, उसकी इच्छानुसार चलने से ही आनन्द और शांति होती है। यह है इच्छा की शुद्धि।

दूसरे अध्याय में ज्ञान का वर्णन है। इच्छा-शुद्धि के अनन्तर परमात्म-ज्ञान की प्राप्ति का साधन इस अध्याय में बताया है। पहले अध्याय में ध्वनि-मात्र थी कि सब कुछ करने वाला परमेश्वर ही बना है। दूसरे में विस्तार से विचार किया कि कैसे बना है। जीव, जगत् और ईश्वर सब एक ही तत्त्व है। इसी ज्ञान का वर्णन इसमें किया गया है। 'पुरुष एवेदं सर्वम्, ब्रह्मैवेदं सर्वम्, आत्मैवेदं सर्वम्' सारे वेदों का सार यही है। उसकी प्राप्ति का साधन श्रुति बताती है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।' यज्ञ के द्वारा यज्ञ-रूप परमेश्वर की आराधना की गई। आराध्य और आराधक, साधन और साध्य दोनों ही आनंदस्वरूप हैं अतः एक होकर रहते हैं। वही प्रथम, उत्तम धर्म है। जब साधन और साध्य साधक से एक होकर रहते हैं तभी परमात्म-स्वरूप में स्थिति हो पाती है। वह सर्वव्यापक परमात्म-तत्त्व ही साधन, साध्य और साधक सब कुछ है। इस स्थिति में 'न अकं (नाकं)'

सुखस्वरूपता है। प्रश्न उठ सकता है कि साधन और साध्य परमात्मा ही है तो क्या साधक कोई और है? इसे स्पष्ट करने के लिये श्रुति जीव-भाव का वर्णन करती है। 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।' वही सब का प्रजापति, मालिक है और वही जन्म-रहित अनेक योनियों में जन्म ले रहा है! विचार करें तो आनन्द कभी उत्पन्न होने वाला नहीं, पर वह उत्पन्न होता-सा दीखता है, प्रकट होता-सा दीखता है। रसगुल्ला खाया तो जो आनन्द स्फुट हो गया वह वास्तव में अन्दर ही है। इसी 'बहुधा विजायते' को सप्तशती में 'बहुधा श्रूयते पुरा' कहा। यद्यपि वह अजन्मा है, फिर भी उसकी उत्पत्ति शास्त्रों में आनन्दरूप से कही गई है। यहाँ भी यही कहा कि जीव प्रजापति ब्रह्म है। वह अपने को जानता क्यों नहीं? ऋषि ने कहा 'वेदाहम् एतं पुरुषम् महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'। उसे मैंने जान लिया है! 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यते अयनाय' जिसने उस प्रजापति को जाना है, वही संसारचक्र से पार जाता है। यह ऋषि अपने अनुभव से कह रहा है कि ज्ञानमार्ग के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। उसको जानने से क्या होगा इसे अंतिम मंत्र में स्पष्ट कह रहे हैं 'यस्त्वेवं ब्राह्मणो विद्यात् तस्य देवा असन् वशे' जो कोई भी ब्रह्म को जान लेता है, देवता हमेशा उसके वश में रहते हैं। समग्र सृष्टि का वह मालिक बन जाता है। व्यष्टि शरीर के देवताओं का मालिक ही नहीं, वह समष्टि का भी मालिक हो जाता है! इस प्रकार ज्ञान का प्रतिपादन यहाँ दूसरे अध्याय में विस्तार से किया गया है। इच्छा की शुद्धि हो गई तभी ज्ञान-प्राप्ति होगी।

ज्ञान उत्पन्न होने पर ज्ञानानुसार बल होना चाहिये। श्रुति ने स्पष्ट निषेध कर दिया है कि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। इसलिये तीसरे अध्याय में परमात्मा की बल देने वाली इन्द्र-शक्ति की प्रार्थना की गई है कि हमारे अन्दर पूर्ण बल आवे। इच्छा और ज्ञान हो पर ताकत न हो तो कुछ सार्थक संपन्न नहीं हो सकता। भोजन की इच्छा भी है, बनाना भी जानते हैं, किन्तु हाथ में लकवा मार गया; पैसा कमाने की इच्छा और ज्ञान है किन्तु पेचिश से ग्रस्त रहते हो तो कुछ नहीं हो सकता। इसलिये बल-प्राप्ति के लिये इन्द्र से प्रार्थना की।

'यज्ञः पुर एतु सोमः' 'इन्द्र आसाम् नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा' हमारी इन्द्रियों के इन्द्र नेता बनें। हमारी इन्द्रियाँ पुष्ट हों और बुरे कर्मों में प्रवृत्ति न हो, इसलिये

बृहस्पति अर्थात् वेदों के द्वारा परिष्कृत बुद्धि हमारे दाहिने बाजू में रहे। वेद-प्रतिष्ठित बुद्धि ही उत्तम मार्ग को बताती है कि कब, क्या और कैसे करना है। इस बल-प्रयोग का उद्देश्य यह कि वह सोम, उमा सहित भगवान् शंकर हमेशा हमारे सामने बने रहें। 'अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु' ये सारी इन्द्रियाँ बलवाली और हमेशा उत्-तर श्रेष्ठतर होती जायें। 'अस्मान् नु देवाः अवत आहवेषु' संसार ही युद्धभूमि बने और हम इसमें जीतें। संसार शिथिल हो, ऐसा वैदिक कभी नहीं मानता । संसार शिथिल होगा तो युद्ध में क्या मज़ा? अपनी शक्ति का ज्ञान तो तभी होगा जब विरोधी अत्यधिक शक्तिशाली हो। प्रतिद्वन्द्वी जितना शक्तिशाली होगा, पछाड़ने वाले का नाम भी उतना अधिक होगा। इस बल की प्राप्ति कैसे हो? जब तक प्राणों का अच्छी तरह संयमन नहीं होगा, तब तक बल प्राप्त नहीं होगा। श्रुति स्पष्ट कह रही है- 'असौ या सेना मरुतः परेषाम् अभ्यैति न ओजसा स्पर्द्धमाना।' ४९ प्रकार के वायु द्वारा ब्रह्माण्ड चल रहा है, किन्तु वे दूसरों के बंधन में हैं। मरुत् अर्थात् प्राण वायु ही सेना है जो 'परेषाम् अभ्यैति' दूसरों की बन गई है। 'ओजसा स्पर्धमाना इव' असुरों के साथ बल-प्रयोग के लिये तड़पते जा रहे हैं। 'तं गूहत तमसापव्रतेन।' उसे छिपाओ, क्षय होने से रोको, क्योंकि चित्त के विक्षेप से बल शिथिल हो जाता है। इसका उपाय बताया कि व्रत द्वारा ही उसे नियंत्रण में लाये। जिन असुरों ने प्राणों को दबा रखा है, उन्हें पता न लगे कि हम प्राण कौन हैं। फिर सर्वथा एकाग्रवृत्ति बनेगी और तब कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् होगी। तब कहा- 'मर्माणि ते छादयामि' कि इस प्रकार तुम्हारे सारे मर्म-स्थलों को हम छिपा देंगे। इस प्रकार क्रिया-शक्ति प्राप्त होने का विस्तार बताया।

चतुर्थ अध्याय में कहा कि क्रिया-शक्ति प्राप्त होने पर कहीं ऐसा न समझ ले कि यह मेरी ही शक्ति है, परमेश्वर कुछ और है। ऐसा समझने वाला सिद्धियों के चक्कर में पड़ जाता है। वह शक्ति का प्रयोग समष्टि के लिये न कर, अपने लिये ही करता रहता है। इसलिये कहा कि तुम्हारी शक्ति नहीं। 'आ न इडाभिः' इडा-पिंगला नाडियाँ बताकर कहा कि इनमें चलने वाली शक्ति मेरी नहीं बल्कि नाडी की शक्ति सूर्य की है- 'तत् सूर्यस्य देवत्वम्।' अतः आगे कई मंत्रों में कहा कि परमेश्वर महान् है। 'तू महान् है, तेरी शक्ति से ही सब कुछ हो रहा है, मैं भी तेरी निगरानी में सब कर्म कर रहा हूँ।' अतः अन्तिम मंत्र में कह दिया 'हिरण्ययेन

सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन्।' स्वर्ण-रथ पर बैठकर सविता देव सब कुछ देख रहे हैं, ज्ञानशक्ति से वृत्तिमात्र को प्रकाशित करते जा रहे हैं। इस प्रकार परमात्म-तत्त्व का प्रदर्शन किया कि वही सारी वृत्तियों का प्रकाशक है। सबसे छिपोगे पर उससे कहाँ छिपोगे – यही स्मरण करना है।

जब समष्टिरूप सविता का दर्शन हो गया कि सारी वृत्तियों का दर्शन करने वाला आत्मतत्त्व ही है, तब पञ्चम अध्याय में परमेश्वर के विश्वरूप का वर्णन करते हुए सारे रूपों को नमस्कार किया है। ओषधि देने वाले, सलाह देने वाले, व्यापार करने वाले, चिल्लाने वाले आदि सब को नमस्कार किया। यहाँ तक कि चोरी करने वालों, और ठगी करने वालों को भी नमस्कार किया गया है 'वंचते नमः परिवंचते नमः!' लूटने वालों को भी नमस्कार है। तुम्हारे धन को लूटने वाला भी वही है, उससे भिन्न कुछ नहीं। 'जिघांसद्भ्यो नमः' जान से मारने वाले को भी नमस्कार है। सभा और सभापति दोनों को नमस्कार है। व्रात्य अर्थात् सारे वैध कर्मों को छोड़ने वाले को नमस्कार, कुत्ते और चाण्डाल को भी नमस्कार है! जड-जगत् में बालू के ढेरों को, नदीरूप में बहने वाले को, सूखे और हरों को भी नमस्कार है। इस प्रकार परमात्मा का सर्वरूप-वर्णन ऋषियों ने बड़े सुन्दर ढंग से किया। घोर ही नहीं, अन्य रूपों की भी प्रार्थना है 'या ते रुद्र शिवा तनू रघोरापापकाशिनी' हे शिव जो तेरे कल्याण वाले रूप हैं उन्हीं को हमें दिखाओ। अपने हँसने वाले और अच्छे रूपों को दिखाओ। शिव सारे रोगों की एकमात्र दवाई है, उसके मंगलमय रूप से ही सारा हमारा जीवन चल रहा है। अन्तिम तीन मंत्रों में कहा 'नमोस्तु रुद्रेभ्यः' आदि। आप ही द्यु-लोक में बारिश के रूप में और आप ही भूमि में अन्नरूप में प्रकट होकर मंगल कर रहे हैं। अन्त में भी उन्हीं को नमस्कार है। इस प्रकार पाँचवें अध्याय में विस्तार से विश्व-रूप का वर्णन किया।

अब छठे अध्याय में अपने-आप को समर्पण करने की दीक्षा बताई- 'वयं सोम व्रते तव मनः' अर्थात् तुमने जो व्रत इस 'सोम' सृष्टिचक्र को बनाकर उसे चलाने का किया था, हम अपने मन को उसमें लगावें। शिव ने जिस सृष्टि का प्रारम्भ किया और उसमें अपना मन लगाया, उसमें मेरा भी मन लगे। जिसे अविद्या कहा था, वह शरीर आदि भी तो शिव का ही भाग है। जबरदस्ती ही मैंने इन्हें अपना मान रखा है। 'एष ते रुद्र भागः'। इन सारी शक्तियों को मैं तुम्हें देता हूँ। उन सबका तुम ही भोग करो। इसी क्रम में यह मंत्र आता है-

'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिम् पुष्टिवर्द्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीयमा मृतात्।।'

सातवें अध्याय में कहा कि जो-जो भी कष्ट आयेंगे उन सबके लिये मैं अपने देह और उसके अंगों को तुम्हारे अर्पण करता हूँ। अपने शरीर का ज़र्रा-ज़र्रा तुम्हें अर्पण करने में जो तप इत्यादि परिश्रम होगा वह सब आपको समर्पण है। 'लोमभ्य: स्वाहा' आदि से कहा कि अस्थि, चमड़े आदि सबको मैं अर्पण करता हूँ। 'आयासाय स्वाहा;' सारा आयास, तप भी समर्पण करता हूँ। प्रश्न उठेगा कि जब सब कुछ आपको अर्पण कर दिया तो मेरा क्या बनेगा? अत: आठवें अध्याय में, जिसे चमकाध्याय भी कहते हैं, बताया कि जो शिव देंगे, वही मेरा बनेगा, अत: सब कुछ ही मुझे दें। दरिद्रों की तरह से खाली गुजारे लायक चीज क्या माँगना! इसलिये कहा कि मुझे आधिपत्य, श्रद्धा, क्रीडा आदि सब देना। मैं उसका अधिपति बनूँ, सत्य, श्रद्धा, सारा जगत् मेरा बने। मैं क्रीडा करूँ, मोद करूँ। खूब डट कर माँगा और इसका कारण बताया- 'प्रजापते: प्रजा अभूम' क्योंकि मैं तेरा पुत्र हूँ, तेरी ही प्रजा बना रहूँगा, इसलिये कहा 'स्वाहा'। मुझे सब कुछ देना- 'सर्वं च मे'। इससे उसका भी संग्रह हो गया जो कुछ नामत: नहीं माँगा। सब कुछ मिल जाये तो भी मैं काम करने में कहीं भूल न कर जाऊँ, इसलिये कहा 'आप माफ कर देना।' जैसे यज्ञ में मंत्रोच्चारण में कहीं भूल हो जाये तो आचार्य उसे सुधार देते हैं, इसी प्रकार भगवान् सृष्टियज्ञ के आचार्य हैं; इसलिये कहीं भूल हो जाये, जैसा करना चाहिये वैसा न कर पायें तो उस भूल को माफ कर देना। फिर नवम अध्याय में जीवन्मुक्ति (सिद्धावस्था) की प्राप्ति का वर्णन है। 'यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वा' बुद्धि के अधिष्ठातृदेव बृहस्पति से प्रार्थना है कि सारा काम वही संभालें इसलिये उनकी शरण ले रहा हूँ। आँख या हृदय से कुछ भूल-चूक हो जाय या मन में अतितृष्णा हो जाय तो बुद्धि से उसे सम्हाल लेना। मैं अपने लिये कर्म नहीं करूँ। अपना कोई स्वार्थ नहीं हो तो गलती भी शिव के प्रति प्रेम के कारण होगी, तभी 'शन्नो वात:' मेरा कर्म वायु, सूर्य आदि सबको आनंद दे। दिन-रात सब अच्छे बीतें। इसलिये हमें अभय बनाये रखना। फिर कहा कि जल्दी ही यहाँ से न चले जायें, 'पश्येम शरद: शतम्, शृणुयाम शरद:शतम् भूयश्च शरद:शतात्।' यों तो वेदों में सौ साल तक का ही जीवन लिखा है पर उससे अधिक जितनी इच्छा हो, उतना अधिक जीवन शिव दे सकते हैं। अन्त में बताया कि परमात्मभाव में स्थिति पूर्ण होने पर अग्नि, वायु

आदि में भी उसी देव का दर्शन होगा। दसवें अध्याय में 'द्यौः शान्तिः अन्तरिक्षं शान्तिः....... सा मा शान्तिरेधि' से बताया कि पूर्ण स्थिति को प्राप्त करके सब कुछ शांत हो जाता है। अर्थात् जहाँ भी मैं रहूँ, सब शांत ही बने, वहाँ कभी अशान्ति नहीं रहे। यही प्रार्थना है।

इस प्रकार इस रुद्राष्टाध्यायी में सारा सार है। इसका पाठ, मनन सभी पापों को दूर कर शिवयोगी को जीवन्मुक्ति से भी परे अनुत्तर सामरस्य में स्थित कर देता है।

प्रवचन-३२
ब्रह्मपुर
९-८-६८

भगवती श्रुति जीवन्मुक्ति के स्वरूप का निर्देश कर रही है। जीवन्मुक्ति के स्वरूप की उपलब्धि, अनुभूति, साधन, साधक और साध्य सभी का और जहाँ से सब समाप्त होते हैं ऐसी सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन प्रसंगवशात् रुद्राष्टाध्यायी में बता दिया है। जीवन्मुक्ति के स्वरूप में दो दृष्टियाँ हैं; एक दृष्टि वास्तविक, अपरिवर्तित स्वरूप की है जबकि दूसरी दृष्टि उसकी है जिस रूप में सब कुछ प्रतीत होता है। जीवन्मुक्ति में ये दोनों दृष्टियाँ एक-साथ रहती हैं। यह सारा जगत् उस समय कैसे दीखता है? यदि बाहर दीखे तो द्वैत-भाव बन जायेगा, यदि बाहर नहीं तो कैसे दीखे? इस प्रश्न का उत्तर छंदोग-ब्राह्मण के अंतिम भाग छांदोग्योपनिषद् में दिया कि जितना बड़ा आकाश बाहर दीखता है, उतना ही बड़ा आकाश हृदय में है 'यावान्वा अयमाकाशः तावान् एषोऽन्तर्हृदय आकाशः'। अनंत कोटि ब्रह्माण्ड में जितना बड़ा आकाश है उतना ही बड़ा आकाश हृदय-देश में है। यह भूल जाने के कारण हम समझते हैं कि अन्दर हृदयाकाश की अनुभूति बिन्दु की तरह अत्यल्प होती होगी! श्रुति ने इस छोटे-पन को दूसरे दृष्टांत से अन्यत्र बताया है। मान लो तुम्हारे पास एक हजार एकड़ ज़मीन है। तुमने उस के बीचों-बीच २५ फुट ऊँची दीवार खड़ी कर दी और उन दो हिस्सों का दोनों लड़कों में बँटवारा कर दिया। उन्हें यह तो पता रहा कि हजार एकड़ जमीन में दीवार खड़ी की गई है लेकिन बँटवारे के बाद दोनों में से किसी को यह पता नहीं कि दीवार के पीछे क्या है! फिर पोतों की पीढ़ी आ गई। एक बार खेलते हुए उन बच्चों ने दीवार में एक छोटा सा छेद देखा, जिज्ञासा हुई कि देखा जाये इस दीवार के पीछे क्या है। वे एक-दूसरे के कंधे पर चढ़े और

जब अंतिम लड़का ऊपर पहुँचा तो कहा 'जैसा इधर है, वैसा ही उधर भी है।' छोटे-से छिद्र से दूसरी तरफ का सारा दृश्य देखा जा सकता है। दूसरा ऊपर चढ़ा तो उसने भी यही बात कही। जब उन सबने जाकर माँ से कहा 'पड़ोस वाली जगह भी वैसी है, जैसी अपनी है।' माँ गुस्सा हुई, कहा 'तुम्हें मना किया था कि उस तरफ मत जाना।' बच्चों ने कहा 'हम उधर नहीं गये थे बल्कि एक छेद से ही उधर का सब कुछ दिखाई देता है, उसी से हमने देखा है।' माँ को आश्चर्य हुआ कि इतनी बड़ी ज़मीन को एक छेद से कैसे देखा जा सकता है!

ठीक ऐसी घटना वस्तुतः यहाँ भी है। एक अखण्ड चिन्मात्र है जिसमें कोई भेद नहीं। उसी के बीच में एक दीवार खड़ी कर दी गई है जिससे एक को अंदर का जगत् और दूसरे को बाहर का जगत् कह दिया गया। हृदय ही वह दीवार है। जो अनुभव हृदय में हुआ उसे अपना और जो हृदय से बाहर हुआ उसे बाहर का मानते हैं। हृदयरूप उपाधि होने के बाद हम उसके मानो पोते बन गये। शिव की पत्नी शक्ति और उस का परिणाम अंतःकरण है। मन, सूक्ष्म शरीर, पुर्यष्टक माया का ही स्वरूप है। अंतःकरण के बेटे हम आभास हैं। अंतःकरण बाहर देखेगा, इसलिये बाहर तो देख ही रहे हैं, किन्तु फिर भी इतना पता है कि हृदय के अंदर परमेश्वर है; पर यह पता नहीं कि वह कैसा है। कभी किसी काल में भगवती श्रुति की कृपा से इसका पता लगाने के लिये इस छोटे से छिद्र से देखने के लिये तुम यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि के कंधों पर चढ़े और आँख गड़ाकर देखा तो पाया कि जैसा बाहर है, वैसा ही अंदर है! जैसे बाहर वाले का अंत नहीं, उसी प्रकार अन्दर वाले का भी अंत कहीं नज़र नहीं आता।

अध्यात्म जगत् का भी कोई अंत नहीं, वास्तव में बाहर का जगत् तो अंदर के आकाश की छाया है। विलक्षण-बुद्धि वाले तो यहाँ तक कहते हैं कि अंदर का जगत् अधिक सुन्दर है। अत्यल्प हृदय होने पर भी उसमें अनंत आध्यात्मिक जगत् दिखाई देता है। उसी को श्रुति ने कहा 'एतद् सत्यम् ब्रह्मपुरम्'। दो पुर हैं। बाहर वाले जगत् का नाम अज्ञानपुर है और अन्दर वाले का नाम ब्रह्मपुर है। दोनों नगर हैं किन्तु दोनों के अन्दर रहने वालों में कुछ फर्क है। ब्रह्मपुर में एक विशेषता है। अज्ञानपुर में रहने वालों का पल्ला पाप कभी नहीं छोड़ते और ब्रह्मपुर में सत्य-कामता और सत्यसंकल्पता है जिसे श्रुति ने कहा 'एष आत्मा अपहतपाप्मा सत्यकामः सत्यसंकल्पः'।

छांदोग्य भाष्य में भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि अज्ञानपुर में कैसे लोग रहते हैं; 'अपूता हि ते' इसमें अपवित्र लोग ही रहते हैं। जिस अज्ञानरूप वृक्ष का बीज ही अपवित्र है, उसके फल-फूलों की अपवित्रता में तो संदेह नहीं हो सकता। ब्रह्मपुर की विशेषता यह कि उसमें पाप का स्पर्श ही नहीं, पाप उसमें घुस ही नहीं सकता, फिर भी है ब्रह्मपुर उतना ही बड़ा। इसके बारे में कहा 'अस्मिन् कामाः समाहिताः'। ब्रह्मपुर में सम्पूर्ण कामनायें समाहित रहती हैं जबकि अज्ञानपुर में कामनाओं में संघर्ष होता रहता है। विभिन्न धन मानो अज्ञान के भगवान् हैं। धन ने ही सारा टंटा खड़ा किया है। दृष्टांत से समझो : हलवाई ने मिठाई इसलिये बनाई कि कोई खाये; हमें भूख लगी कि हम खायें। हमारे पास भूखरूप माल है, हलवाई के पास मिठाईरूप माल है; अब दोनों की कामना पूरी होने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये। किन्तु इस अज्ञानपुर ने बीच में यह 'नोट' का अड़ंगा लगा दिया! हलवाई कहता है कि खिलाना तो ज़रूर है लेकिन पैसा लेकर, और खाने वाला कहता है कि भूख तो है किन्तु पैसा नहीं है; पैसा ही होता तो दो-तीन दिन से भूखे क्यों रहते! यही संघर्ष का बीज है। इसीलिये अज्ञानपुर में कामनाओं में हमेशा झगड़ा बना रहता है। दूसरे दृष्टांत से समझ लो। ब्याह-शादी की बात तो लोग हमसे खुद ही आकर कहते हैं कि लड़का सुशील, सुन्दर, पढ़ा-लिखा, योग्य आदि सब गुणों से युक्त है, हमारी तबियत भी है कि उससे लड़की का ब्याह कर दें। लेकिन वह कमाता नहीं! वही नोटों का टंटा यहाँ भी है। दूसरी तरफ, लड़के वाला साफ तो नहीं कहता किन्तु लड़की उसे भी पसंद है पर दहेज पसंद नहीं है। तुम्हें लड़की चाहिये और उन्हें लड़की देनी है पर बीच में कामनाओं का अड़ंगा खड़ा है इसलिये सुख नहीं मिलता। इसलिये श्रुति ने कहा कि ब्रह्मपुर में कामनायें अच्छी प्रकार समाहित हैं अर्थात् कामनाओं में परस्पर संघर्ष नहीं है। अज्ञानपुर में कामनाओं में परस्पर संघर्ष होने के साथ-साथ वे तुमसे भी झगड़ती हैं। तुम जा रहे हो, एक कमीज़ तुम्हें पसन्द आ गई, एक कामना हुई कि खरीद लें; दूसरी कामना झट खड़ी हो गई कि जेब से ४५ रुपये निकल जायेंगे, महीने का खर्च कम पड़ जायेगा, इसलिये न ही खरीदें। अपनी कामनाओं में ही समाहितता नहीं, परस्पर संघर्ष चलता रहता है। एक कामना हुई कि पहाड़ पर चलें, दूसरी कामना खड़ी हो गई कि २५ जुलाई को बम्बई से एक बड़ा व्यापारी आने वाला है, कैसे चले जायें। इस प्रकार अन्दर-बाहर कामनाओं में परस्पर संघर्ष बना रहता है।

ब्रह्मपुर में ऐसा नहीं होता। ब्रह्मपुर के लोग सत्यकामना वाले होते हैं, इसलिये उनकी कामनायें पूर्ण होती हैं। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद इस पर भाष्य करते हुए कहते हैं– 'वितथा हि संसारिणां कामा:' संसारी लोग कामनायें पैदा तो कर लेते हैं किन्तु पूरी नहीं कर पाते। इसी पर महाराजा भर्तृहरि कहते हैं कि हम मनरूपी रथ पर बैठे हुए कामनायें करते रहते हैं कि बढ़िया महल बनायेंगे, उसमें सुन्दर बावड़ी बनायेंगे, तैरने के लिये बड़ा तालाब बनायेंगे, उसमें खेलने के लिये गोल्फ कोर्स आदि न जाने क्या-क्या बनायेंगे, बढ़िया सुन्दर बगीचा होगा जिसमें बढ़िया पेड़ लगे होंगे, वहाँ खूब जी भरकर खेलेंगे। ऐसा सोचते-सोचते आयु क्षीण हो रही है पर अज्ञानपुर की कल्पना पूरी नहीं होती। ईश्वर अथवा ब्रह्मपुर वालों की कामना ठीक विपरीत है। इसका कारण बताते हैं कि वहाँ उपाधि इतनी शुद्ध है कि झूठी बात आ ही नहीं सकती अत: उसकी कामना कभी अपूर्ण नहीं रह सकती। यदि अपूर्ण होनी होती तो वह कामना उठती ही नहीं। इसलिये वहाँ संघर्ष नहीं है। जीवन्मुक्ति में भी शुद्ध कामनायें ही उठती हैं जो 'अपनी' नहीं हैं। अविद्यापुर में तुम खुद ही शुद्ध उपाधि को छोड़कर कामनायें उठाते हो, इसलिये उनमें संघर्ष चलता रहता है। जीवन्मुक्त स्वरूप से अपने को सर्वकामनारहित जानने के कारण प्रवृत्ति ही नहीं करेंगे, क्योंकि वहाँ कार्य-कारणता का सर्वथा अभाव है। प्रारब्धोदय के अनुकूल कामना उदय होने पर अपूर्ण नहीं रह सकती। इस प्रकार बता दिया कि अज्ञानपुर के बराबर बड़ा ही ब्रह्मपुर है। फर्क इतना है कि अज्ञानपुर में पाप किये बिना नहीं रह सकते और ब्रह्मपुर में पाप के साथ नहीं रह सकते। अज्ञानपुर में कामनाओं का संघर्ष कभी मिटता नहीं और ब्रह्मपुर में संघर्ष होता ही नहीं।

ब्रह्मपुर के वर्णन से लोगों के मुँह में पानी आ जाता है कि किसी भी तरह वहाँ चलें। अत: वहाँ पहुँचने के लिये जिन-जिन चीज़ों की आवश्यकता है उन्हें भगवान् भाष्यकार स्वयं बताते हैं– 'इहलोक आत्मानम् शास्त्राचार्योपदेशमनुविद्य व्रजन्ति एषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति'। दृष्टांत से समझो: यदि तुम अमरीका जाना चाहते हो तो पहले भारतसरकार को अर्जी भेजनी पड़ती है, यद्यपि अमरीका में भारत का राज्य नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्मपुर में भी प्रवेश के लिये पहले अज्ञानपुर में अर्जी देनी पड़ेगी, चाहे वहाँ अज्ञान का राज्य नहीं है। किसी भी कर्म का वहाँ प्रवेश नहीं है और अज्ञानपुर में केवल कर्म ही है, पर कर्म की ही पहले अर्जी भेजनी पड़ेगी। श्रुति ने स्पष्ट निषेध कर दिया कि वहाँ किसी भी कर्म का प्रवेश नहीं– 'न कर्मणा, न

प्रजया, न धनेन', 'नास्ति अकृतः कृतेन'। ब्रह्मपुर में न मन का कर्म उपासना है और न कोई शरीर का कर्म है। ब्रह्मपुर में कर्म-राज्य का प्रवेश बिलकुल नहीं है। वेद में कर्म और उपासना का विस्तृत वर्णन है। प्रश्न होता है कि फिर कर्म और उपासना क्यों करें? इसका कारण बताया कि अज्ञानपुर से बाहर निकलने के लिये कर्म और उपासना की अर्जी देनी पड़ेगी अर्थात् कर्म-उपासना आदि से ही निकलने की इज़ाज़त लेनी होगी। इसीलिये प्रतिदिन सब देवताओं से प्रार्थना हम सुबह-शाम करते हैं कि देवता खुश हो जायेंगे तो रुकावट नहीं डालेंगे। यदि भारत-सरकार ने ही रुकावट डाल दी तो अमरीका नहीं पहुँच पायेंगे। यदि देवताओं ने ही रुकावट डाल दी तो ब्रह्मपुर नहीं पहुँच पायेंगे। जैसे अफसर से मुलाकात के लिये चपरासी को प्रसन्न, अनुकूल करना पड़ता है ठीक इस प्रकार ब्रह्मपुर का राजा तुम्हारा बड़ा प्रेमी है। उसे पता-भर लग जाये कि तुम उससे मिलना चाहते हो तो बुलाना तो दूर, वह स्वयं झट मिलने के लिये आयेगा। लेकिन जब तक उनकी खुशामद नहीं करोगे, देवता मिलने नहीं देंगे। इंद्रियाँ ही देवता हैं। कभी संशय उठायेंगे, कभी कोई कामना ही उठा देंगे, केवल चक्षु को ही विषय में लगा देंगे। सत्संग से उठकर निर्णय किया घर पहुँचने तक 'ॐ नमः शिवाभ्याम्' का जप करते जायेंगे। यहाँ से उठकर मोड़ पर पहुँचे तो सिनेमा का एक गाना सुनने को मिल गया, वह गीत सुना, उसकी एक-एक कड़ी याद आ गई, जिसने गाया था, उसकी याद और फिर 'प्लेबैक' की याद आ गई। इस सब से मंत्र का जप वहीं रह गया! इसीलिये रोज प्रार्थना करते हैं 'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः' इत्यादि ताकि देवता हमारे मार्ग में रुकावट न डाल सकें।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि इहलोक अर्थात् अज्ञानपुर के कर्म करो लेकिन केवल इह लोक से ही काम नहीं चलेगा। जैसे अमरीका जाने के लिये केवल भारत सरकार से पारपत्र लेने से ही काम नहीं चलेगा बल्कि यहाँ नियुक्त अमरीका के राजदूत से वीज़ा भी लेना पड़ेगा कि अमुक व्यक्ति के अमरीका जाने में कोई आपत्ति नहीं है। हैं तो ये राजदूत अमरीका के ही किन्तु उनकी नियुक्ति भारत में है। इसी प्रकार यहाँ भी इहलोक के कर्म करने के साथ 'शास्त्राचार्योपदेशमनुविद्य' वेद-शास्त्र और ब्रह्मनिष्ठ गुरु राजदूत हैं। ये हैं ब्रह्मपुर के किन्तु रहते हैं अज्ञानपुर में, वहीं उन्होंने मानो आफिस खोल रखा है। उन्हें कहा गया है कि जो ब्रह्मपुर आना

चाहे, उनके पासपोर्ट पर मोहर लगा दो। तात्पर्य यह कि इन्हीं के उपदेश से उसे समझो, बिना समझे काम नहीं बनेगा। केवल शास्त्रोपदेश अथवा केवल गुरु के उपदेश से भी काम नहीं चलेगा। भगवान् भाष्यकार गीता-भाष्य में लिखते हैं कि हमेशा शास्त्र और आचार्य-उपदेश दोनों को मिलाकर चलना चाहिये। शास्त्र स्वयं शब्द-रूप है किन्तु अनुभूति से पुष्ट नहीं है, अनुभव-प्रकाश में ही उसका सही अर्थ लगेगा, वरना अज्ञानी ऊटपटांग अर्थ लगा लेगा। जैसे श्रुति का वाक्य है 'तत्त्वमसि' तू ईश्वर से भिन्न नहीं है। द्वैतवादी ने एकता का अनुभव तो किया नहीं है, इसलिये कह देता है कि यह संभव नहीं है इसलिये इसका उसने षष्ठी कारक लगाकर 'तस्य त्वम् असि' अर्थ लगा लिया कि तू उससे ही निकला है! कोई तो इसका अर्थ 'अतत्त्वमसि' भी लगा लेते हैं! श्रुति के सही अर्थ को लगाने के लिये तो अनुभूति चाहिये। ठीक ऐसे ही यहाँ श्रुति कह रही है कि वह सत्यकाम और सत्यसंकल्प है पर जिसकी कामना पूर्ण नहीं होने वाली है, वह इसको असम्भव समझता है। वह सोचेगा कि किसी की भी कामना पूर्ण नहीं होती होगी। इसलिये द्वैतवादी कहते हैं कि ये सब तो केवल तारीफें हैं। श्रुति ने कहा 'एष सर्वज्ञ एष सर्वेश्वरः', वे कहेंगे, हम ही सर्वज्ञ नहीं बने तो वह कैसे बनेगा? बिना अनुभूति के वेद का सही अर्थ नहीं लगा सकते। आचार्य अनुभूति के जोर से कहेगा कि तुम सर्वज्ञ, सर्वेश्वर हो। इसीलिये आचार्य के उपदेश की आवश्यकता है।

दूसरी तरफ, यदि शास्त्र नहीं होगा तो अनुभूति निराधार रह जायेगी। हर एक अपना-अपना अनुभव बतायेगा अतः निर्णय नहीं हो पायेगा। जैसे किसी रोगी के पास चार तरह के चिकित्सक, वैद्य, हकीम, होमियोपैथ और नैचुरोपैथ बुला लो तो उनमें से कोई भी एक निर्णय पर नहीं पहुँच सकता, क्योंकि सबका कोई एक शास्त्र तो है नहीं। एक ही प्रणाली के चार वैद्यों में मतभेद हो भी जाये तो चरक का प्रमाण देकर एक निर्णय पर पहुँच सकते हैं। बिना शास्त्र के वे एक-दूसरे की निन्दा-स्तुति ही करते रहेंगे। इसी प्रकार, यदि आचार्य भी बिना शास्त्र के उपदेश देंगे तो प्रमाण से विचार नहीं होगा, अनुभूति की कसौटी नहीं रहेगी। इसीलिये भगवान् भाष्यकार दोनों को साथ-साथ रखते हैं। उनसे कर्म-उपासना पर मोहर लगवाकर, अब तुम ब्रह्मपुर में प्रवेश करने के लायक हो गये। जान गये कि मेरा यह शुद्ध स्वरूप है। यदि पता लग जाये कि तुम कम्युनिस्ट पार्टी के सेक्रेटरी हो तो भी अमरीका नहीं

जा सकते! इसी प्रकार जो द्वैतवादी होंगे, उनपर शास्त्राचार्योपदेश की मोहर नहीं लगेगी। भगवान् भाष्यकार ने 'अनुविद्य' शब्द इसलिये रखा है कि उसे अच्छी तरह समझे बिना उसमें प्रवेश संभव नहीं है। जिनपर शास्त्राचार्य के उपदेश की मोहर नहीं लगी, उन्हें स्वर्गादि फल देंगे, अगर मोहर लगवा दी तो वेद अद्वैत-ज्ञान की तरफ ले जाकर मोक्ष पदवी तक दिलायेंगे।

अब सारी कारवाई होने के बाद पी-फार्म लेना पड़ेगा कि इस व्यक्ति ने यहाँ के सब टैक्स आदि का भुगतान कर दिया है। इसी प्रकार तुम कहीं अज्ञान-राज्य का कुछ दबाकर न ले जाओ इसलिये कहा- 'स्वात्मसंवेद्यताम् आपाद्य'। उस अनुभूति को तुम अपने में उतार लो कि तुम्हें इस अज्ञान-राज्य की कोई भी इच्छा नहीं रहे। जितनी भी कामनायें हों, दैहिक-लौकिक जितने भी सुख हों, उन सबका त्याग कर उस शुद्ध-स्वरूप से एकता को प्राप्त कर लो, ताकि अज्ञान-राज्य का कुछ भी तुम्हारे पास शेष न रहे। तब कहा कि तुम यहाँ से चल दोगे और ब्रह्मपुर के वासी हो जाओगे तभी तुम कामचार होगे। जैसे राजा राष्ट्र में चाहे-जहाँ बिना किसी प्रतिबन्ध के जा सकता है वैसे विद्वान् का सर्वत्र स्वातन्त्र्य है। आजकल अपने देश में भी कहीं-कहीं जाने पर प्रतिबन्ध साधारण नागरिक के लिये है किन्तु राष्ट्रपति के लिये नहीं।

यदि राष्ट्रपति आज चाहे कि कच्छ का मुआयना करना है तो उसे कोई नहीं रोक सकता। भाष्यकार ने केवल 'राजा' नहीं कहा बल्कि सार्वभौम राजा शब्द का प्रयोग किया है। राजा के लिये तो फिर भी कुछ प्रतिबंध हो सकता है क्योंकि राजा सामान्य ज़मींदार को भी कह देते हैं। जैसे कुछ दिन पहले यू॰पी॰ के कुछ मिनिस्टर, जो अपने को राज्य के राजा मानते हैं, दिल्ली चले आये तो उन्हें जेल में बंद कर दिया गया! क्योंकि वे सार्वभौम नहीं हैं। सार्वभौम को तो कहीं कोई नहीं रोक सकता। इसी प्रकार ब्रह्मपुर में जाने वाला सार्वभौम हो जाता है इसलिये उसके लिये अब कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता। इस प्रकार भाष्यकार ने संक्षेप में निष्ठा प्राप्त करने का जैसा तरीका बता दिया वैसा यहाँ 'देवो देवमेतु सोमः सोममेतु' से बताया कि चिन्मात्रस्वरूप होते हुए भी सर्वज्ञ-सर्वव्यापक दृष्टि से युक्त हो जाओगे। इसमें प्रवेश के तरीके क्या हैं, शास्त्राचार्य क्यों उपदेश देते हैं, इसपर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन-३३
इन्द्रियजय
१०-८-६८

'देवो देवमेतु सोमः सोममेतु ऋतस्य पथा' इस मंत्र में भगवती श्रुति दो प्रकार से जीवन्मुक्ति की स्थिति बताती है - स्व-दृष्टि और पर दृष्टि से, अथवा जीवदृष्टि और ब्रह्म-दृष्टि से। अविचार से ये दो बातें विरोधी प्रतीत होती हैं किन्तु विचार से इन दोनों का समन्वित और वास्तविक अर्थ पता चलता है। श्रुति का तात्पर्य विरुद्ध धर्मों द्वारा विरोधों से रहित समन्वित तत्त्व के प्रतिपादन में है। विचार से विरुद्ध दोनों धर्मों को छोड़कर धर्मी का ज्ञान होता है। अविचार से विरुद्ध धर्म रहने पर भी धर्मी उन से रहित होता है। वादी-प्रतिवादी दोनों के वादों में आंशिक सत्यता-असत्यता रहती है। जिन धर्मों से, विशेषताओं से युक्त जिसे उन धर्मों वाला समझ रहे हैं, वे ही धर्म उसी में नहीं हैं। जैसे, रस्सी में तीन कल्पनायें भ्रान्ति या अविचार से होती हैं - सर्प की कल्पना, माला की कल्पना और बैल के मूत्र या जलरेखा की कल्पना। वस्तु वहाँ रस्सी है। न ये तीनों कल्पनायें वहाँ हैं और न इन तीनों का धर्म सर्पत्व, मालात्व, मूत्रत्व ही है। इन धर्मों से रहित होते हुए भी रस्सी ही इन धर्मों से युक्त प्रतीत हो रही है। इसी प्रकार आत्मा का धर्म क्या है? आत्मा में ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि की कल्पनायें तथा इन चारों के धर्म हैं, किंतु वहीं आत्मा इन चारों विरुद्ध धर्मों से युक्त प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः ये चारों ही आत्मा में नहीं हैं! आजकल लोग ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि धर्मों को नहीं मानते, कहते हैं, 'ये हिन्दुओं के यहाँ ही प्रचलित हैं, अन्यत्र कहीं नहीं हैं।' इसलिये वे तो एक ही धर्म, मानव-धर्म मानते हैं। मनुष्य जाति के धर्म ही अपने मानते हैं। फिर, घोड़ा आदि पशुओं को भी अलग क्यों मानें? वहाँ भी एक ही पशु-जाति कह सकते हैं। कोई चार पैर वाला,

कोई दो पैर वाला, हैं तो सब पशु ही। मनुष्य-जाति में ही अभिमान क्यों? विभिन्न निमित्तों से कोई न कोई आग्रह बना रहता है। ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि धर्म नहीं मानते लेकिन मनुष्य, पुरुष, भारतीय आदि धर्म मानते हैं। पेट में यह है कि जो व्यवहार अनुकूल हो वह 'धर्म' नाम से मानते हैं और जो प्रतिकूल पड़े उन्हें स्वीकार नहीं करते! यों तो विश्व-बन्धुत्व की भावना कहते हैं किन्तु चीन-पाकिस्तान मिलकर अपने देश पर आक्रमण करता है तो फौरन रक्षा के लिये कहते हैं, वहाँ मानव-धर्म ढीला पड़ जाता है! सुविधा की बात हो तो धर्म और जहाँ तप या कठिनाई की बात आये तो कहें 'हम ऐसा धर्म नहीं मानते'; यह ढंग स्वयं को धोखा देने का है। एक ही आत्मा को मानकर तप से बचना चाहते हैं, यह रहस्य है। वास्तव में विरुद्धधर्माक्रान्तता से आत्मा को सर्वधर्म-रहित बताना है। श्रुति का तात्पर्य दोनों दशाओं से रहित को बताना है। उस स्थिति को कैसे प्राप्त करें? जितना बड़ा मायापुर है, उतना ही बड़ा ब्रह्मपुर है। एक में संकल्प पूर्ण है और दूसरे में खण्डित है। ब्रह्मपुर में कब प्रवेश कर पायेंगे? कठोपनिषद् में यमराज नचिकेता से कहते हैं-

'यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्'।।

धर्म-अधर्म के बारे में उपदेश सुनने के बाद नचिकेता कहता है कि धर्म-अधर्म से रहित जो आत्म-तत्त्व है, उसे बतायें।

'अन्यत्र धर्माद् अन्यत्र अधर्माद् अन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद।।'

कार्य-कारण, धर्म-अधर्म से रहित का उपदेश मिला तो अब उसमें स्थित कब हो सकोगे? जैसे बर्फ के ऊपर पैर बार-बार फिसल जाता है, ऐसे ही यहाँ भी स्थिर नहीं हो पाते। एक बार हम वसुधारा जा रहे थे। दक्षिण के एक महात्मा भी साथ थे। वहाँ बर्फ पर चलना पड़ता है। महात्मा कहने लगे कि पैर बार-बार फिसल कर पीछे सरक जाते हैं, पहुँचेंगे कैसे! हमने उनसे कहा, 'इस समय बात मत करो, पैर फिसलने दो और तुम उन्हें चलाते जाओ।' थोड़ी देर में हम समतल जगह पर आकर खड़े हो गये। महात्मा ने पूछा 'पैर तो पीछे जा रहे थे, यहाँ तक पहुँच कैसे गये?' हमने कहा, छै इंच आगे पैर रखते थे, चार इंच पैर रपट जाते थे, दो इंच तो फिर भी आगे बढ़ते ही थे! ठीक यही मामला जीवन में आत्म-तत्त्व की तरफ चलने का है। दृढ निश्चय है कि चिन्मात्र के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, किन्तु फिर भी

मायापुर में पैर फिसल जाते हैं, पदार्थों को अपने में मानने लगते हैं। अभी-अभी विचार तो कर रहे थे वेदान्त का 'सर्वम् खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत, अयमात्मा ब्रह्म, अशीर्यो न हि शीर्यते' आत्म-तत्त्व कभी कम नहीं हो सकता, उसे काटा भी नहीं जा सकता आदि; इतने में ही एक मच्छर ने डंक मारा और हाथ झट वहाँ पहुँच गया! विचार तो कर रहे थे कि आत्म-तत्त्व का शब्द-स्पर्शादि विषयों से कोई सम्बन्ध नहीं 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्', जैसे ही शब्द सुना कि सेठ जी आये हैं, झट उठ बैठे। यही प्रश्न नचिकेता ने किया कि कैसे उस तत्त्व में स्थिर होकर बैठेंगे। यमराज ने कहा कि तुम उधर पैर बढ़ाते चले जाओ और जब पैर टिक जायें, समतल जगह आ जाये, स्थिर हो जाओ तो समझ लो कि सहारा मिल गया!

'यदा पंचावतिष्ठन्ते' जब पाँचों इंद्रियाँ अवस्थित हो जाती हैं, तब तुम मालिक बन जाते हो अर्थात् हम जब कान को कहें तब वह सुने। घट भी हमारी सत्ता से ही प्रकाशित है तो शरीर का फोड़ा किसकी सत्ता से प्रकाशित है! वह भी मेरी ही सत्ता से है। जब अपनी दी हुई सत्ता को वहाँ से उठा देते हैं तो फोड़ा है ही नहीं। किन्तु फिर भी अभी मेरा उसपर खुद अधिकार नहीं। जैसे तुमने रुपये बैंक में जमा करा दिये तो उन रुपयों का भोग बैंक का मालिक ही भोग रहा है, तुम्हें तो ६ प्रतिशत ब्याज या भागीदारों को २० प्रतिशत लाभांश देता है। उसका असली मालिक कितने प्रतिशत उठाता है, इसका तो हिसाब ही नहीं है! पैसा तो तुम्हारा ही है, फिर ऐसा क्यों होता है? शनिवार का दिन है, तुम्हें १२ बजे रुपयों की सख्त जरूरत पड़ी। बैंक वाले कहते हैं कि अब १२ बजकर १ मिनट हो गया। रुपया तुम्हारा होने पर भी सोमवार प्रातः १० बजे तक तुम्हें नहीं मिलता। इसी प्रकार यद्यपि घट-पट-मठ आदि पदार्थों को सत्ता देने वाले तुम हो तथापि वही बैंक वाला मामला है। तुमने ही अपनी सत्ता मन, बुद्धि आदि सबको ऐसी दी ताकि मन जो मर्जी संकल्प करे, कान की जो मर्जी सुने, आँख की जो मर्जी देखे। लेकिन आँख से यदि कहो भी कि आधा घण्टा कहीं मत जाना तो वह मानती नहीं। ऐसे ही कान आदि कोई नहीं मानते। ये चाहे ज्ञानेन्द्रियाँ हों या कर्मेन्द्रियाँ, तुम्हारी ही सत्ता से सत्तान्वित हैं, फिर भी तुम्हीं पर हावी हैं, तुम्हारी सत्ता से ही बात मुँह से निकल सकती है किन्तु कहना पड़ता है कि निकल ही गई। यदि अपने रुपये से फायदा उठाना चाहते हो तो व्यापार से पैसा कमाकर लाओ और तिजोरी में बंद रखो। अपनी गाँठ का धन और कंठ की विद्या ही काम आती है।

आत्म-तत्त्व से ही सब सत्तान्वित हैं किन्तु अपने नियंत्रण में नहीं हैं। 'ज्ञानानि मनसा सह' जब ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ सर्वथा तुम्हारे अधिकार में हो गयीं, तब जब तक तुम उन्हें सत्ता नहीं दोगे, वे बढ़ेंगी नहीं। मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को नियंत्रण में कर भी ले तो मनीराम बात नहीं सुनता! चाहे नाक में पट्‌टी बाँध दो, कान में रूई ठूँस दो, आँखों पर भी पट्‌टी लगा लो, मन फिर भी काम करता रहता है। सपने में तो यह सब बिना किये ही इन्द्रियाँ बंद हो जाती हैं किन्तु मन वहाँ भी काम करता रहता है। यदि इन्द्रियों को नियंत्रण में कर भी लिया लेकिन मन नियंत्रण में नहीं हुआ तो तुम्हें कुलाची अवश्य मरवायेगा। मन को भी सर्वथा नियंत्रण में करना पड़ेगा। 'बुद्धिश्च न विचेष्टते' यहाँ बुद्धि को 'न अवतिष्ठते' नहीं कहा। ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और मन तो अवस्थित हो जाते हैं पर बुद्धि चेष्टा करती रहती है। बुद्धि इन सबपर नियंत्रण करने वाली है, शुद्ध आत्मा तो इन सबका नियंत्रण करता नहीं। आत्मा कैसा है? दूसरे दृष्टांत में इसी श्रुति ने सारा रूपक बताया-

'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च'।।

आत्मा रथ में चढ़ने वाले रथी की जगह है। मोटर में चढ़ने वाले आदमी ने ड्राइवर या सारथि से कह दिया कि पार्लियामेण्ट पहुँचना है। सारथि को हुक्म देकर रथी बैठा रहता है। रथी ने ही उसे सारथि बनाया है। ऐसे ही शरीर-रथ में बैठकर आत्मा-रथी ने बुद्धि-सारथि को आज्ञा दे दी तो बुद्धि सब काम बराबर करती रहती है। कुछ लोग समझते हैं कि सारथि तो जड है। अगर तुम्हें यह पता है कि सारथि को कुछ पता नहीं चलता तो उसे निकाल दो। घर की सारथि पत्नी है। तुमने उसे दो हजार रुपया महीना लाकर दिया और कहा कि इसमें ही घरखर्च चलाना है। अब तुम आनंद से बैठ जाओ। जब तक दो हजार से अधिक की माँग न आये, धैर्य रखो। एक निर्णय करो, या उसे सारथि मानो या न मानो। बहुत-से आदमी सारथि बनाकर भी सिर-दर्द लिये बैठेंगे। रोटी खाने बैठे तो पूछेंगे कि बैंगन क्या भाव आये! दिनभर तो दुकान में भाव-मोल ही करते रहे, अब रात को भी वही भाव-मोल की ही बातें करते हैं। अतः आत्मा-रथी ने शरीर-रथ में बैठकर बुद्धि सारथि से केवल कह-भर

देना है कि तुम कर्म करो। इसमें मन लगाम की जगह है। जब बुद्धि सर्वथा संकल्प-रहित है, मन भी नियंत्रण में है, अब आराम से बैठकर दम ले सकते हैं।

कोई शंका करे कि यदि बुद्धि की विचेष्टा न करना ही तात्पर्य है तो मन आदि को नियंत्रित करने की क्या जरूरत है? इसका उत्तर यह है कि यदि श्रुति केवल कहती कि बुद्धि काम नहीं करती, वहीं स्थित है, तो गहरी नींद (सुषुप्ति) में भी बुद्धि और मन काम नहीं करते, उस समय उनमें गति नहीं होती। अतः यहाँ कहा कि मन आदि के नियंत्रणपूर्वक बुद्धि जाग तो रही है। जैसे ही मोटर के ड्राइवर से मोटर रोकने के लिये कहो तो वह रोक देता है। ऐसा नहीं कि ड्राइवर सो ही जाये। ऐसे ही यहाँ भी बुद्धि सोई नहीं। यह नहीं कि समाधि में ही रह जाये, वहाँ भी बुद्धि जाग्रत् है, केवल उसमें क्रिया नहीं, किन्तु जैसे ही आज्ञा मिली कि तैयार है। 'तामाहुः परमां गतिम्' तभी परम गति की प्राप्ति होती है।

अतः तरीका केवल यही है कि पहले सब कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि का नियंत्रण हो, तभी उस आत्मस्थिति में प्रवेश होगा। जिसने सर्वथा ऐसा नियंत्रण कर लिया है, वही परम-गति को प्राप्त करता है। जीवन्मुक्त की इन्द्रियाँ उसकी आज्ञा पर चलती हैं, यह भी केवल कहना-भर है। वह इनसे इतना दूर रहता है कि उनसे बात तक नहीं करता, केवल बुद्धि-सारथि से कह देता है कि 'इन्हें ठीक से चलाओ', फिर वह अपने आप मन और इन्द्रियों का नियंत्रण कर लेती है। उद्योगपति अपने मुख्य कार्यकर्त्ता से ही बात करते हैं, मजदूर आदि से नहीं, इसी प्रकार आत्मा महाराजाधिराज है, वह मन आदि से तो बात ही नहीं करता, केवल उन सबके सारथि बुद्धि से कह देता है। उसने काम-चलाऊ सत्ता बुद्धि को दे दी, वह स्वयं ही सबको नियंत्रण में रखती है। जो ऐसा सम्राट् है उसी की स्थिति आत्म-तत्त्व में होती है। श्रीमद्भागवत में कहा है कि ऐसे व्यक्ति को भगवान् भी पूज्य मानते हैं। 'निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शिनम्' जिसे किसी चीज की अपेक्षा नहीं, वही उस परम गति को प्राप्त कर सकता है। कैसी निरपेक्षता चाहिये, इस पर एक कथा आती है-

एक भक्त रोज़ नित्य-नियम से पूजन, ध्यान करता था। यह स्वाभाविक है कि जिसका ध्यान करोगे, उससे एकरूपता हो जाती है। ऐसे ही पति के साथ एकता की अनुभूति पत्नी को होती है। पंत की लड़की का पाण्डेय के साथ ब्याह हो गया तो

स्वयं को पाण्डेय समझती है। यदि लड़की का पीहर अतिनिकट हो तो वहाँ का संपर्क टूट न पाने से इस एकता-प्राप्ति में कठिनाई आती ही है। वस्तुतः हम लोगों की भी आत्म-निष्ठा बनती नहीं क्योंकि हम मायापुर से ब्रह्मपुर में जाना नहीं चाहते। सोचते हैं, यहीं दोनों बने रहें। हमारी व्यवहार और परमार्थ दोनों दृष्टियाँ बनती रहती हैं। उस भक्त ने भक्ति से देहादि के सम्बन्धों को छोड़ दिया, स्वयं अपने को भगवत्स्वरूप ही समझता था। भगवान् ने उसे दर्शन देकर कहा 'कुछ माँग लो'। भक्त कहने लगा 'महाराज! आपके पास कौन-सी चीज ऐसी है जो मेरी नहीं है जिसे मैं माँगूँ? जो कुछ भी आपके पास है, वह सब मेरा ही तो है तो माँगूँ कैसे?' भगवान् ने भी सोचा कि इसकी महत्ता का पता लोगों को लगना चाहिये। एक दिन वह मन्दिर में भगवान् के दर्शन के लिये गया तो भगवान् ने अपना मुँह मोड़ लिया, दर्शन नहीं दिये। भक्त को बड़ा दुख हुआ कि आज भगवान् मुझसे रूठ गये हैं। उसने विचार किया कि जिन आँखों को भगवान् के दर्शन नहीं हुए, ऐसे शरीर और आँखों को रखने का क्या फायदा, इसलिये इस शरीर को ही खत्म कर देना चाहिये। सीधा गंगा-घाट पर पहुँचा। सीढ़ियाँ उतरने लगा कि एक आदमी ने आकर उसका पैर पकड़ा। देखा कि एक गलित-कुष्ठी है। उससे अपना पैर छोड़ने को कहा, लेकिन वह नहीं माना, कहने लगा, 'मुझे भगवान् ने आपके पास भेजा है और कहा है कि आप ही मेरा कुष्ठ ठीक कर सकते हो।' इतने में ही बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई। भक्त ने भी सोचा कि ये मुझे मरने नहीं देंगे, कोढ़ी भी पीछे पड़ा है। भक्त ने कहा, 'अगर तू मेरे ही कहने से ठीक हो सकता है तो जा, ठीक हो जा।' वह उसी समय ठीक हो गया! अब लोगों ने भक्त को घेर लिया। कहा, 'यह तो कोई सिद्ध महापुरुष है।' भक्त ने उन्हें बड़ा समझाया, 'यह किसी तरह पीछा नहीं छोड़ता था तो मैंने ऐसे ही कह दिया था, ठीक तो इसे भगवान् ने ही किया है, मैंने नहीं।' वहाँ से सीधा मन्दिर पहुँचा, देखा वहाँ भगवान् हँसते हुए बैठे थे। पूछा, 'सवेरे तो आप रूठ गये थे और अब हँस रहे हैं, यह बात क्या है?' भगवान् कहने लगे, 'तूने मुझ से कुछ माँगा नहीं था, तुझे कुछ अपेक्षा नहीं थी। लेकिन मुझे शरम आ गई कि मैं तेरे लिये क्या करूँ! इसीलिये मैंने ऐसा किया। आज ज़रा मन हल्का हो गया है कि मेरे भक्त के कहने से ही कोढ़ी का कोढ़ दूर हो गया, मुझे इसी में प्रसन्नता हो गई।' मान लो तुम्हारा एक दोस्त बम्बई में रहता है। तुम जब भी वहाँ जाते हो, उसी के

यहाँ ठहरते हो और उसे हमेशा दिल्ली आने का निमंत्रण भी देते हो। उसे कभी फुर्सत होती थी नहीं इसलिये वह दिल्ली आ नहीं सकता था। तुमने तो साल में २५ चक्कर बम्बई के लगाने हैं। अतः तुम्हारा मन कुछ संकुचित होता है कि वह कभी हमारे यहाँ नहीं आता। अगर कभी वह सौ आदमियों के सहित तुम्हारे यहाँ आ जाये तो उसके लिये बढ़िया इंतजाम करोगे, तुम्हारा जी कुछ हल्का होगा। तुमने उसे कुछ दिया नहीं फिर भी तुम्हें प्रसन्नता होती है। ऐसे ही भगवान् ने कहा 'तू रोज मेरे दर्शन करने आता है, और आज तक तूने कुछ माँगा नहीं। आज तेरे मुँह से जो बात निकली, वह सच्ची हो गई, इसलिये मेरा जी कुछ हल्का हो गया।' भक्त ने कहा 'जैसा आप चाहो करो। आपकी लीला को तो आप ही जानो।'

निरपेक्ष को कभी किसी कर्म की अपेक्षा नहीं। भगवान् कहते हैं कि ऐसा निरपेक्ष और मुनि तो निरंतर मेरा ही मनन करता है। वह हमेशा शांत बना रहता है। यदि सारा संसार भी इधर से उधर हो जाये, उसे कभी अशांति नहीं होती। हम लोग तो अशांत ही रहते हैं। एक-दूसरे को किसी ने गाली दी, किसी ने पत्थर मारा तो अशांत हो जाते हैं। कुछ तो ऐसे अशांतिप्रिय हैं कि सालभर बाद भी अशांति का निमित्त सुनें तो अशांत हो जाते हैं। लेकिन जो निरपेक्ष और मुनि होगा, वह सदैव शांत बना रहेगा। ऐसे व्यक्ति को कभी किसी से वैर भी नहीं होता। वैर में तो हमेशा द्वैत-भाव ही छिपा होता है। तुम्हें कोई छुरा घोंप दे तो वैर होता है, लेकिन रात के समय मच्छर के काटे हुए स्थान पर कई बार अपने ही नख चुभ जाते हैं, बिछौने पर खून भी बह जाता है। किसने मारा? हाथ ने ही तो मारा! लेकिन हाथ को काटते नहीं, क्योंकि वहाँ द्वैतभाव नहीं हैं इसलिये वैर नहीं होता है। आत्म-दृष्टि है तो कोई छुरा भी घोंप दे तो कुछ विकार नहीं होता और जहाँ यह दृष्टि नहीं है, वहाँ यदि थोड़ा-सा धक्का भी लगे तो आँखें तरेरते हो। ऐसी आत्म-दृष्टि वाला निरपेक्ष, निर्वैर और शांत व्यक्ति ही ब्रह्म-दर्शन करता है। ब्रह्म का लक्षण भी किया है- 'निर्दोषं हि समम् ब्रह्म'। भगवान् कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति के पीछे मैं हमेशा चलता हूँ। केवल रक्षा के लिये ही नहीं बल्कि 'अनुव्रजाम्यहं तेषां पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः' 'उनके चलने से जो धूल उड़ती है, उस धूल के कण यदि मेरे ऊपर भी पड़ जायें तो मैं भी शुद्ध हो जाता हूँ।' सृष्टि के संदर्भ में भगवान् के कार्य बड़े विचित्र होते हैं। कंस उनका सगा मामा था, उसे मार डाला; रावण ब्राह्मण था, उसे भी मार डाला;

ताड़का को भी मार डाला यद्यपि स्त्री-हत्या का बड़ा दोष होता है; पूतना को माँ बनाकर भी मार डाला; शूर्पणखा की नाक ही काट ली! फिर भी कैसे परम पवित्र बने हैं? भगवान् स्वयं कहते हैं कि ऐसे मुनि की चरण-धूल से ही मैं पवित्र हो जाता हूँ।

अतः शास्त्र ने बताया कि व्यक्ति ऐसी स्थिति में पहुँचता है तो चारों तरफ पवित्रता ही फैलाता है। शास्त्रकारों ने कहा है कि 'तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः' अनुभव-पर्यन्त जिसकी बुद्धि तत्त्व में लगी रहती है ऐसे व्यक्ति के पास आकर जो भी उसकी आँख का विषय बन जाता है, वह सारे पापों से विमुक्त हो जाता है।

'यस्य गेहं समुद्दिश्य ज्ञानी गच्छति सुव्रतः।
तस्य क्रीडन्ति पितरः यास्यामः परमां गतिम्।।'

ऐसा ज्ञानी जिस घर की ओर चलता है, उस घर के सारे पितर प्रसन्न हो जाते हैं कि हमें ब्रह्मलोक की प्राप्ति होगी। यहाँ बता रहे हैं कि ज्ञानी स्वस्वरूप से रहता है। जहाँ भी उसकी चरणरज पड़े, जो पीछे चलने वालों की दृष्टि में भी आती है, उन्हें भी पवित्र करती जा रही है। उसकी नज़र पड़ने-मात्र से ही दूसरा स्वतः शुद्ध हो जायेगा। ऐसे ज्ञानी को भिक्षा करने तो कहीं न कहीं जाना ही है, पितर-उद्धार के लिये तो वह नहीं गया था, पर उसके भिक्षा करने जाने के फलस्वरूप पितरों का उद्धार अपने-आप होगा। स्वरूप से वह चिन्मात्र ही है। दूसरे की दृष्टि में वह पवित्र करने वाला ईश्वर हो गया। स्वयं तो वह स्वभाव से गति कर रहा है, इसलिये नहीं कि दूसरे मुक्त हों, पर वे मुक्त होते जा रहे हैं, यह उसका प्रभाव है।

प्रवचन-३४

ऋत

११-८-६८

भगवती श्रुति पहले परमात्म-तत्त्व को बताकर, फिर जीवन्मुक्त का निरूपण करने के बाद ऋत के पथ का निर्देश कर रही है। वैदिक साहित्य में 'ऋत' शब्द का व्यापक अर्थ होता है कि जिसके द्वारा यह सारा विश्व ब्रह्माण्ड चलता है। ऋ धातु का अर्थ 'चलना' होता है, इसलिये ऋत का मतलब हुआ जो चला। दूसरे शब्दों में, वे नियम जो नित्य-निरंतर इस संसार को प्रवाहित करते हैं, ऋत कहलाते हैं।

ऋत और सत्य में कुछ भेद होता है। सत्य उसे कहते हैं जो चलने का आधार हो। जो अधिष्ठान है, अपरिवर्तनशील है, वह सत्य है। जो उस पर बदलता रहता है उसे ऋत नाम से कहा है। इसीलिये वैदिक साहित्य में ऋत की दृष्टि व्यापक है। यहाँ ऋत शब्द से बताया कि श्रुति ने जिन नियमों का निर्देश किया, उन्हीं के अनुसार जीवन्मुक्त रहता है। अतः तदनुकूल ही ऋत का प्रतिपादन यहाँ इष्ट है। कौन से ऋत को लेकर उसे रहना है? श्रुति कहती है- 'जीवमीश्वरभावेन विद्यात् सोऽहम् इति ध्रुवम्'। जीव को हमेशा ईश्वरभाव से युक्त होकर रहना चाहिये। इसी नियम का पालन करने से जीवन्मुक्ति की प्राप्ति सम्भव है। ऐसा दृढ निश्चय करके स्थिर रहे। सारे ऋत का फल यह है कि जीव-भाव को छोड़कर ईश्वरभाव की प्राप्ति कर लो। जैसे कोई व्यक्ति सारे शास्त्रों का अध्ययन कर ले तो उसका फल होगा कि वह स्वयं अध्यापक बनेगा। अध्यापक तभी बनेगा जब सारे ज्ञान को आत्मसात् कर लेगा। ऐसे ही सारे ऋतों का अंतिम फल जीव-भाव हटकर ईश्वर-भाव है। जीवन्मुक्तावस्था में कौन-सा नियम साथ रहेगा? चूंकि इस अवस्था में छोटे-छोटे नियमों का पालन तो असम्भव है, इसलिये एक ही ऋत श्रुति ने बता

दिया कि 'जीवमीश्वरभावेन' अर्थात् वह सर्वदा ईश्वर-भाव से युक्त रहता है। इसका नतीजा यह होता है कि वह ईश्वर से भिन्न न तो कुछ सोचता है, न करता है और न ही ईश्वर से कुछ भिन्न देखता है। जैसे ईश्वर देखते, सोचते और करते हैं, वैसे ही उसका देखना, सोचना और करना होता है।

ईश्वर-भाव की स्थिति कैसे होती है? 'एषा बुद्धिश्च विद्वखिः समाधिः परिकीर्तितः' विद्वान् लोगों ने दृढबुद्धि को ही ईश्वरभाव में स्थित होना कहा है, इसी को समाधि भी कहा है। अविद्वान् लोगों ने (जिन्हें आत्म-निष्ठा प्राप्त नहीं) समाधि किसी और को कहा है। वे मानते हैं कि चित्त नियंत्रित कर बैठने पर समाधि है और बाकी समय व्यवहार होता है। अतः समाधि का मतलब इन्द्रियों को रोककर बैठना है, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और मन का नियंत्रण में रहना है। इस पर कल विचार किया था। वास्तव में जीवभाव का प्रतिक्षण ईश्वरभाव में रहना ही समाधि है। यदि इन्द्रियों को रोककर, आँख-कान आदि को बन्द कर के बैठना समाधि होती तो सुषुप्ति में इन्द्रियाँ रोज़ ही रुक जाती हैं! सुषुप्ति में तो इन्द्रियाँ थोड़ी ही देर रुकी रहती हैं, किन्तु महाप्रलय जो अरबों सालों तक चलती है, उसमें भी इंद्रियाँ रुकी रहती हैं, तब भी आज तक जन्म-मरण का चक्र नहीं छूटा, तो १०-१५ साल की समाधि से क्या होगा? उपयोगिता तो समाधि की तत्त्व को समझने के लिये है। विद्वानों की दृष्टि में इन्द्रियों को रोककर बैठना असली समाधि नहीं है, बल्कि प्रतिक्षण जो इस दृढ ईश्वर-बुद्धि से रहता है, उसे ही समाधि कहते हैं।

ऐसे व्यक्ति की अनुभूति क्या है? अथवा इसका मतलब क्या है कि जीव ईश्वर-भाव से रहता है? इसका उत्तर दिया कि 'तस्माद् मत्तः पृथङ्नास्ति जगन्मायेति सर्वदा'। ऐसे व्यक्ति का यह अनुभव होता है कि जगत्, माया आदि कोई भी पदार्थ मुझसे भिन्न नहीं है, बल्कि मेरे अंदर ही स्पन्दित होकर ये सब प्रतीत हो रहे हैं। कल्पना-मात्र से ही प्रतीति है, तदतिरिक्त कोई सत्ता है ही नहीं। जगत् कार्य और माया कारण है। जगत् के सारे पदार्थ या कार्य माया के ही हैं। कार्य-कारण दोनों वस्तुतः मुझ से अपृथक् हैं, उनकी वास्तविक सत्ता है ही नहीं। जब यह दृष्टि दृढ होती है तब सारे भूतों को स्वात्मवत् ही देखता है। 'यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येवाभिपश्यति'। ऐसे व्यक्ति का यह अनुभव होता है कि जीव या घट-पटादि पदार्थ अनित्य और कल्पित हैं। यहाँ 'भूत' का प्रयोग किया है। चेतन और जड दोनों

को ही भूत कहते हैं। ईश्वरभाव से युक्त व्यक्ति जड-चेतन दोनों को स्व-आत्मा में ही देखता है। यही ब्रह्मपुर और मायापुर के दर्शन में फर्क है। मायापुर में तो बाहर भीतर का अंतर है पर ब्रह्मपुर में सब अंदर दीखता है, आकाश, भूमि सब कुछ उसके अंतर्हित है। यही फर्क है कि वहाँ भेद का नाम-निशान नहीं रहता।

'सर्वभूतेषु चात्मानम् ब्रह्म सम्पद्यते तदा'। वह सब भूतों को अपने में और अपने को सब में देखता है। यदि केवल सबको अपने में देखे तो मलतब होगा कि दो हैं। जैसे मैं कमरे में हूँ, इसमें कमरा एक और मैं दूसरा। यदि केवल देखे कि मैं ही सबमें रहता हूँ तो भी लोग समझें कि दो अलग-अलग हैं। जैसे घड़े में पानी, इसमें घड़ा अलग और पानी अलग है। अतः यहाँ कहा कि उसका अनुभव है कि सबमें अपने को और अपने में ही सबको देखता है। तभी ब्रह्म-सम्पत्ति हो गई, पदार्थ भिन्न नहीं रहे। जैसे 'सोने में गहना' कहने पर स्पष्ट है कि सोना गहने में और गहना सोने में है, ऐसे ही कपड़ा धागे में और धागा कपड़े में, दो भिन्न नहीं। धागे में ही कपड़े की प्रतीति है, वस्तुतः दो नहीं। उसी प्रकार यहाँ दृढ अनुभव है कि दो नाम की कोई चीज़ नहीं। जहाँ ऐसा निश्चय है, उसे ही विद्वानों की समाधि कहा है।

मनुष्य इस तत्त्व को सुन लेता है। जब यह ध्रुव होता है तभी समाधि की स्थिति होती है। जब तक यह नहीं तब तक युक्ति से उस स्थिति को समझाना असम्भव है। युक्ति और अनुभव में फर्क है। जैसे, किसी आदमी ने देखा कि कोई दूसरे का गला काट रहा है। चश्मदीद गवाह भी पहुँचा, वकील ने बहस शुरू की। गवाह से पूछा 'तुम उस समय कितनी दूर खड़े थे, लगभग २५ फुट दूर तो खड़े ही होगे।' गवाह ने हामी भर दी। फिर वकील ने पूछा 'अच्छा, आपके पैर तो ठीक हैं, आप दौड़ भी लेते हैं, यह बताइये कि अपराधी ने किस चीज से मारा।' गवाह ने कहा, 'एक गंडासा वहाँ जमीन पर पड़ा था, उसी से मारा। मैं दौड़ा भी था लेकिन वहाँ तक पहुँचा नहीं।' वकील ने फासले को पकड़ा तो गवाह ने कहा, '२५ फुट तो नहीं, लगभग आधा फर्लांग दूर खड़ा होऊँगा।' वह वकील हाकिम से कहता है 'यह चश्मदीद गवाह है पर इन्हें २५ फुट और आधा फर्लांग में फर्क ही नहीं मालूम होता!' हाकिम भी कहेगा 'हाँ, बात जँचती तो नहीं।' युक्ति से सच्ची बात भी सिद्ध नहीं हो सकती। किन्तु अनुभव से पूछो तो बात सच्ची ही है।

युक्ति से चाहे जो समझा दो, जब तक बात अनुभव में नहीं उतरेगी, तब तक बुद्धि ध्रुव नहीं हो सकती। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद लिखते हैं-

'घटो वा मृत्पिण्डोऽप्यणुरपि च धूमोग्निरचलः
पटो वा तन्तुर्वा परिहरति किं घोरशमनम्।
वृथा कण्ठक्षोभं वहसि तरसा तर्कवचसा
पदाम्भोजं शंभोर्भज परमसौख्यं व्रज सुधीः।।'

किसी ने पूछा, 'यह जो सामने रखा है, वह क्या है?' एक ने कहा, कि घड़ा है और दूसरे ने कहा कि मिट्टी है। दोनों वाचा का ही प्रयोग हैं 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम्'। मिट्टी के सिवाय वहाँ कुछ नहीं है। तीसरा कहता है कि मिट्टी भी नहीं बल्कि परमाणु ही इकट्ठे होकर पहले मिट्टी और फिर घटरूप में परिणत हुए। अनादि काल से ही तीनों का शास्त्रार्थ हो रहा है। मिट्टी सत्य मानने वाला कहता है कि यदि मिट्टी से अतिरिक्त कुछ घड़ा नाम की चीज हो तो मिट्टी निकाल दें, फिर घड़ा दिखाओ! घड़े को सत्य मानने वाला कहता है कि नहीं दिखा सकते लेकिन मुट्ठीभर मिट्टी में ज़रा पानी तो भर लाओ! इसी प्रकार एक कहता है कि जहाँ धुआँ है, वहाँ आग है। दूसरा कहता है कि नियमतः नहीं होती है! आजकल नवीन दृष्टांत से समझ लो। रेल चली जा रही है, धुआँ दीख रहा है, तुम अनुमान कर रहे हो कि वहाँ आग होगी। पहुँचने पर आग नहीं मिलती। तब कहोगे कि भूतपूर्वगत्या है अर्थात् जहाँ धुआँ है, वहाँ आग अवश्य कभी न कभी रही है। अपनी बात में यह परिष्कार किया। हम इससे एक कदम और आगे कहते हैं, जहाँ-जहाँ जमीन है, वहाँ कभी न कभी आग रही थी! ऐसे अनुमानों का कहीं अन्त नहीं। अतः अनुमान करते रहने पर कभी सत्य का निर्णय होने वाला नहीं। ऐसे ही कपड़ा-धागे के दृष्टांत में हैः मान लो एक कपड़े में सौ धागे हैं। उनमें से एक या दो धागे निकाल दिये, तो कपड़ा रहा। यदि ९९ धागे निकाल दिये तो कपड़ा रहा या नहीं? नहीं रहा। ऐसा क्यों? धागा निकालने पर भी कपड़ा बना रहा, न निकालने पर भी रहा, दोनों बातें मुश्किल हैं। बाज़ार में तुमने ५ गज कपड़ा खरीदा, उसमें से धागा निकलने पर भी उसे कपड़ा मानो तो मुश्किल और न मानो तो मुश्किल। चाहे जितना युक्तिवाद लड़ा लो किन्तु दृढ निश्चय न होने तक समाधि की प्राप्ति नहीं हो सकती।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि यह घोर संसार कभी युक्ति से शांत होने वाला नहीं। किसी ने पूछा कि फिर ये सब दार्शनिक लोग नई-नई युक्तियों से शास्त्रार्थ

जीतने के पीछे क्यों लगे रहते हैं? आचार्य कहते हैं कि शास्त्रार्थ जीतने वाले को एक फायदा होता है कि उसका गला वृथा ही सूख जाता है! यदि तू बुद्धिमान् है तो परब्रह्म परमात्मा के चरणों में ध्यान कर, इससे तू परम सौख्य, परम आनंद को प्राप्त कर लेगा। यहाँ 'चरण' शब्द के प्रयोग का विशेष अर्थ है। चरण का अर्थ होता है जिससे चला जाये। शास्त्र-कल्पना है कि भगवान् शंकर वृषभ पर चढ़कर चले जा रहे हैं। वृषभ के चार पैर हैं। यदि भगवान् शंकर के दो चरणों को प्राप्त करना चाहते हो तो पहले वृषभ के चार पैर प्राप्त करने होंगे। वृषभ के द्वारा चलने के कारण पहले चरण, फिर भगवान् शंकर के स्वयं के दो चरण, तो ६ चरण हुए, उसके बाद ही भगवान् शंकर की प्राप्ति होगी। पहले चार चरणों को बता दें। महर्षि वशिष्ठ धर्म-वृषभ के चार चरण इस प्रकार बताते हैं-

'संतोषः साधुसंगश्च विचारश्च शमस्तथा।
एत एव भवाम्भोधेरुपायास्तरणे नृणाम्।।'

इस संसार समुद्र से पार जाने के लिये चार उपाय हैं। 'एव' पद से बता दिया कि केवल ये ही चार उपाय हैं। इनके द्वारा ही धर्म-वृषभ से भगवान् के दो चरणों में पहुँचना है, तभी ब्रह्मपुर तक पहुँचने की शक्ति आयेगी। सर्वप्रथम संतोष है। उसके बिना काम नहीं बनता। संतोष कोई दिल बहलाने वाली भावना नहीं कि जब कुछ न मिले, तब मन मारकर बैठ जाओ। यह संतोष नहीं है। 'अप्राप्तवांछामुत्सृज्य सम्प्राप्ते समतां गतः।' संतोष का स्वरूप यह है कि जो चीज़ नहीं है, उसकी वांछा ही पैदा न हो और जो प्राप्त है उसके प्रति समता से स्थित रहकर प्रसन्नता आदि कुछ नहीं होना। ऐसी स्थिति में व्यक्ति कभी समता को खोता नहीं, उसे सुख-दुख, हर्ष-उद्वेग दोनों नहीं होते, सम्प्राप्त पदार्थों में समभाव से रहता है। ऐसी स्थिति को ही संतोष कहा है। वस्तुतः संतुष्ट प्राणी के चेहरे पर एक ऐसी रौनक, ऐसी श्री, प्रभा होती है जो किसी चक्रवर्ती सम्राट् के चहरे पर भी नहीं होती। संतोषजन्य आनन्द को रोकना संभव नहीं, वह तो स्वतः फूट पड़ता है। सारे चेहरे की श्री को हरने वाला असंतोष ही है। बढ़िया भोजन सामने रखा है। एक आदमी पर संतोष की झलक नहीं, सब कुछ होने पर भी यदि एक आम का अचार नहीं तो वह संतुष्ट नहीं। संतोष से चेहरे पर एक अद्भुत शोभा झलकती है। पशु-पक्षी के चेहरे को देखकर भी पता चल जाता है कि उसे संतोष है या नहीं। ज्येष्ठ-आषाढ के महीने में चाहे जितनी धूल उड़ी हो लेकिन बरसात होने पर धूल का एक कण भी नहीं

रहता, ठीक वैसे ही संतोष से पहले चाहे जितने दु:ख-अशांति रहे हों, संतोष आने पर सारे दु:ख-अशांति समाप्त हो जाते हैं। संतोष और सुख ही शांति के आधार हैं। संतोष से ही मन का फुदकना सर्वथा बन्द हो जाता है और मन परम शांत हो जाता है। सन्तुष्ट व्यक्ति तृष्णा को ध्रुव-बुद्धि से हटाता रहता है। अन्य पदार्थों की वांछा और आकर्षण के कारण ही मन स्पन्दित होता है और तभी हम स्वरूप से खिसकते हैं। अतः प्राप्त की तृष्णा नहीं और अप्राप्त का क्षोभ नहीं तो स्वतः मन शांत रहता है। जैसे रात्रि में स्थिर रहने वाला व्यक्ति कभी ठोकर नहीं खाता, बल्कि इधर-उधर घूमने वाला ठोकरें खाता रहता है। अपने घर में तो रात्रि में भी ठोकर नहीं लगेगी। इसी प्रकार अज्ञान की घोर रात्रि में ठोकर खिलाने वाली चीज मन में तृष्णा द्वारा भटकना है, यदि मन शांत बैठा है तो उसे ठोकरें नहीं लगतीं। तृष्णा और आशा के वश में आया हुआ प्राणी हमेशा संतोष से दूर रहता है और जो संतोष के वश में आ गया, वह अज्ञान-काल में भी कभी तृष्णा द्वारा प्रताड़ित ही नहीं होता, उसके अंत:करण में संसार के राग-द्वेष की कालिख कभी नहीं लगती।

मनरूप बिल से ही तृष्णारूप चूहे निकलते हैं। जैसे कमरे में एक बढ़िया अल्मारी में कपड़े रखे हों और बिल में से चूहा निकलकर उसमें आ जाये तो कपड़े कभी सुरक्षित नहीं रह सकते। ऐसे ही यदि मन में तृष्णा आती रहेगी तो चाहे जितनी तीव्र बुद्धि लगा लो, तृष्णारूप चुहिया उसे काटती ही रहेगी। जैसे तुम सवेरे सुन्दर श्रृंगार करके जाओ और पीछे चूहे तुम्हारे कपड़ों को कुतरते रहें तो रात को तुम आकर देखोगे कि सब कपड़े नष्ट हो गये हैं, ऐसे ही यदि मन में तृष्णा लगी रही तो बुद्धि और विचार कुछ काम नहीं कर सकते, सारा परिश्रम व्यर्थ चला जाता है।

यह तृष्णा अमृत से भी मीठी लगती है किन्तु है महान् विषयुक्त। दूसरी तरफ, संतोष जहरवत् कड़वा लगता है किन्तु है अमृत से भी मीठा। आजकल संतोष की तो बात ही नहीं है। अंग्रेजों ने हमें एक पाठ पढ़ाया था प्रतियोगितावादी समाज का अर्थात् झगड़ालू जीवन का! वे कहते हैं कि उन्नति झगड़ों से ही होती है। उनसे प्रभावित होकर कई व्यक्ति बड़े-बड़े पदों पर भी झगड़ा करते रहते हैं। भारत में तरह-तरह के झगड़े हो रहे हैं। उनसे प्रभावित होकर विद्यार्थी, मजदूर इत्यादि सब लोग झगड़ा करते हैं। यदि किसी से कहो कि इतनी अशांति हो रही है तो कहते हैं कि जागृति आ रही है मानो अब तक सब सोये पड़े थे। झगड़े से उन्नति का उपदेश हमें अंग्रेजों ने ही दिया। इसीलिये आज के जन-जीवन में संतोष के नाम से

लोग घबराते हैं, संतोष को जहरवत् समझकर उससे दूर ही रहते हैं और तृष्णा को उन्नति का साधन समझते हैं।

तृष्णा उन्नति का साधन नहीं। उन्नति के प्रति कारण तो मेहनत ही है। हमारी उन्नति न होने का कारण प्रमाद या आलस्य था। जिसमें बिलकुल तृष्णा नहीं वह भी मेहनत करता रहे तो उन्नति को कोई रोक नहीं सकता। बिना तृष्णा के मेहनत करने को ही संतोष कहा है। शास्त्रकारों ने इस बात को समझ रखा था। तृष्णा दो प्रकार की है, व्यष्टि-निष्ठ और समष्टि-निष्ठ। पहले लोग बड़ा परिश्रम करके धन कमाते थे तो केवल खीमखाब के कपड़े पहनने के लिये नहीं बल्कि समझते थे कि परिश्रम से कमाये धन से धर्मशाला, कुआँ या कोई अस्पताल बनवायें, इसी उद्देश्य से धन एकत्रित करते थे। समष्टि-दृष्टि से कार्य करोगे तो भी उन्नति होगी, किन्तु बिना तृष्णा के ही। इसे न समझकर यदि तृष्णारूप कुटिला के हाथ में पड़ गये तो ऐसा व्यवहार हो जाता है कि बड़े से बड़ा राजा हो तो भी उसके मुख पर शांति नहीं रहती। राजा भी अपने को तिनके की तरह गया-बीता समझता है कि 'मैं सम्राट् नहीं'। सम्राट् सोचता है कि सार्वभौम नहीं। इसी तृष्णा-विषूचिका के कारण कभी सुख नहीं मिलता।

एक ब्राह्मणकुमार ने ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त किया और स्नातक बनकर घर चला। सोचा विवाहादि करके गृहस्थी चलायेंगे। स्नातक-संस्कार के समय उसके गुरु ने उससे कहा 'तुम्हारे पिता तो रहे नहीं, इसलिये तुम अमुक राजा के पास चले जाना, वह मेरा शिष्य भी है। कुछ धनादि की व्यवस्था करके, फिर विवाहादि द्वारा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना।' ब्राह्मण राजा के यहाँ पहुँचा, अपना परिचय दिया कि अमुक गुरुकुल का स्नातक हूँ, गुरुजी ने भेजा है। गुरु का नाम सुनकर राजा तुरन्त बाहर आया, आदरपूर्वक नमस्कार, अभ्यर्थना की, अंदर ले गया। भोजनादि करके राजा ने आने का कारण पूछा। ब्राह्मणकुमार ने कहा, 'मेरा स्नातक-संस्कार हो गया है, पिता नहीं रहे, गुरु जी ने कहा है कि पहले आपके पास रहकर सारी व्यवस्था करके फिर विवाह करूँ।' राजा ने कहा- 'जो-जो आपकी इच्छा हो, वह सब प्रसन्नतापूर्वक मुझसे ले लो।' ब्रह्मचारी ने कहा, 'मैं तो इतने साल वेद रटता रहा, मुझे सांसारिक पदार्थों का ज्ञान नहीं, आप जो चाहें, मुझे दे दें। फिर भी आप कहते हैं तो मैं सोचकर बताऊँगा।' अब वह ब्रह्मचारी लिस्ट बनाने लगा। पहले तो खान-पान की सामग्री, कपड़े, बर्तन, आदि जिस चीज की भी जरूरत पड़ेगी, सब

उस लिस्ट पर लिख लिया। फिर सोचा खेत आदि का प्रबन्ध भी हो तो ठीक है। कम से कम २५ एकड़ जमीन हो तो गुजारा चल जायेगा; फिर उसके लिये नौकर आदि का खर्च भी चाहिये, इसलिये ५० एकड़ ही ठीक रहेगी, २५ एकड़ से तो उनकी तनख्वाह वगैरह निकल आयेगी और शेष २५ से अपना काम चलेगा। फिर याद आया कि मनु-स्मृति में लिखा है कि ३ साल में एक साल तो अकाल भी पड़ता है इसलिये एक गाँव हो तो गुज़ारा हो जायेगा; फिर इन सबकी रक्षा के लिये पुलिस वगैरह का भी इंतजाम होना चाहिये। अंत में उसने निर्णय किया कि एक राज्य मिल जाये तो गुज़ारा हो जायेगा। प्रातःकाल ही राजा के पास पहुँचा। राजा ने पूछा तो कहा 'राजन्, मैं रात भर नहीं सोया। आपने मुँह-माँगी चीज़ देने को कहा है तो मैंने यही निर्णय किया है कि तुम अपना राज्य ही मुझे दे दो, तो काम चले।' यह सुनते ही राजा के चित्त में प्रसन्नता छा गई, कहा- 'स्नातक! तूने आज मेरा उद्धार कर दिया, मैं तो अज्ञान-रात्रि में फँसा था।

'हार्दान्धिकारशर्वर्या तृष्णयेह दुरन्तया।
स्फुरन्ति चेतनाकाशे दोषकौशिकपंक्तयः।।' (यो.वा. १.१७.१)

राज्य कार्य में तो एक न एक तृष्णा लगी ही रहती है, इस रात्री में उल्लू बोलते रहते हैं। राजा स्वयं कहता है-

'यां याम् अहमतीवास्थां संश्रयामि गुणश्रियम्।
तां तां कृन्तति मे तृष्णा तन्त्रीमिव कुमूषिका।।'

जिस चीज का दृढ निश्चय करता हूँ, यह तृष्णा कुमूषिका आकर उसे काट देती है जैसे चुहिया बढ़िया वाद्य को कुतर देती है।

'अनावर्जितचित्तापि सर्वमेवानुधावति।
न चाप्नोति फलं किंचित् तृष्णा जीर्णेव कामिनी।।'

राजा तृष्णा का रूप बताता है कि इसे बार-बार कहते हैं कि दूर रहना, किन्तु फिर भी बिना फल-प्राप्ति के भी उधर ही ले जाती है। मैं ऐसी तृष्णा-रात्रि में फँसा था। आज तुमने मेरा उद्धार कर दिया। तुमने मेरा बड़ा उपकार किया। मैं तुम्हें ही राजा बना देता हूँ।'

स्नातक पढ़ा हुआ था ही, कहने लगा, 'अभी ठहरो, मुझे एक बार फिर सोचने दो कि कुछ और तो नहीं चाहिये।' राजा ने कहा 'राज्य तो अभी ले लो, बाकी बाद में सोचते रहना।' वह बोला 'मैं अभी तो नहीं लेने वाला हूँ, एक बार फिर सोचकर

ही लूँगा।' राजा भी मान गया। अब स्नातक फिर विचार करने लगा कि जिस कीचड़ से राजा निकलना चाहता है, मैं उसमें फँसने वाला नहीं!

'अपि मेरुसमम् प्राज्ञम् अपि शूरम् अपि स्थिरम्।
तृणीकरोति तृष्णैका निमेषेण नरोत्तमम्।।'

उसने भी निर्णय किया कि इस कीचड़ में नहीं फँसूँगा। जो मेरु के समान महान् बुद्धि (प्रज्ञा) वाला, बहादुर और स्थिर-निश्चय वाला है, उसे भी यह तृष्णा तिनके जैसा बना देती है। पदार्थ की कामना होने पर मनुष्य झुक जाता है। इसमें एक निमेष ही लगता है। जैसे ही तृष्णा पैदा हुई कि फिर गिरने में देरी नहीं। आगे अपना अनुभव कहा कि यह विषवत् डसने वाली है।

'कुटिला कोमलस्पर्शा विषवैषम्यशंसिनी।
दशत्यपि मनाक्स्पृष्टा तृष्णा कृष्णेव भोगिनी।।'

तृष्णा ऐसी कुटिल है कि कभी ऐसा नहीं कहेगी कि इतना ही चाहिये। जितना मिले, फिर भी कहेगी थोड़ा और; वह थोड़ा मिले तो थोड़ा और! एक रुपया कमाने वाला कहता है, दस रुपया चाहिये, दस वाला सौ और सौ वाला करोड़ का सपना देखता है। तृष्णारूप काली साँपिन मन में कोमल-स्पर्श वाली लगती है किन्तु है विष के समान। इसे थोड़ा भी छू लो तो डस लेगी जैसे काली साँपिन कुटिल और कोमल-स्पर्शा है, किन्तु है विषयुक्त, थोड़ा भी छू लोगे तो डस लेगी।

वह ब्रह्मचारी राजा से बोला 'राजन्, मैं तो चला, मुझे निश्चय हो गया, अब मुझे कुछ नहीं चाहिये।' सीधा गुरु जी के पास पहुँचा। गुरु ने पूछा 'राजा ने कुछ नहीं दिया?' ब्रह्मचारी ने कहा 'वह तो सब कुछ देने को तैयार था। लेकिन मैंने स्वयं अपने को भट्टी में नहीं झोंका। मैंने राज्य माँगा तो वह भी देने को तैयार था। मैंने ही अपना विचार बदल दिया।' गुरु ने उसे प्रेम से छाती से लगाया। गुरु जानते थे कि वह राजा बड़ा विचारशील है। शिष्य कहीं दूसरी जगह जाता तो भ्रष्ट हो जाता। विचारशील ही इस बात को समझा भी सकता है।

संतोष का स्वरूप बताया कि जो प्राप्त नहीं उसकी कामना सर्वथा नहीं, और प्राप्ति में पूर्ण समता। जैसे राजा की सम-दृष्टि थी या जैसे स्नातक की दृष्टि बनी कि नहीं मिला तो न मिलना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार संतोष को प्राप्त करके ही आगे अन्य तीनों चरणों की प्राप्ति का मार्ग बनता है।

प्रवचन-३५

साधुसंग

१२-८-६८

ऋत के स्वरूप पर विचार करते हुए चार साधन बताये। सदाशिव भगवान् शंकर के स्वरूप की प्राप्तिहेतु सर्वप्रथम उनके वृषभ के चार पादों से चार साधन कहे

'संतोषः साधुसंगश्च विचारश्च शमस्तथा।
एतएव भवाम्भोधेः उपायास्तरणे नृणाम्।।' (मुमुक्षु. १६.१८)

प्रथम साधन संतोष पर कुछ विचार किया। दूसरा साधन है- साधु-संग। मनुष्य जो कुछ बनता है वह संग से ही। केवल शरीर से संग नहीं होता, वस्तुतः संग का मतलब मन से किसके साथ रहते हो। बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जो अब नहीं हैं, पर उनके साथ संग किया जा सकता है। जब गीता आदि ग्रंथों को पढ़ते हो तो भगवान् कृष्ण का संग होने लगता है। इसलिये कई बार अनुभव में आता है कि आज हजार-दो हजार वर्ष पहले के व्यक्ति का हमारे ऊपर ज्यादा प्रभाव पड़ता है, अपेक्षाकृत आज के अनेक लोगों के, क्योंकि उनका सम्बन्ध मन के साथ है, भले ही काल-भेद है। एक ही काल में यहाँ बैठे जब हम अन्य देश के दार्शनिकों के ग्रंथों को देखते हैं तो पाते हैं कि जापान और कनाडा के अद्वैतवादी ग्रन्थ लिखने वाले हमारे ज्यादा नजदीक आ जाते हैं, अपेक्षाकृत यहाँ के अनेक लेखकों के। जैसे काल-भेद संग में बाधक नहीं, वैसे ही देश-भेद भी संग में बाधक नहीं। चाहे उसे हमने न भी देखा हो, चाहे वह व्यक्ति किसी भी देश का हो, फिर भी उसके साथ संग बन जाता है। सम्भवतः इतना सम्बन्ध चौबीसों घंटे साथ रहने वाले अपने घरवालों के साथ भी नहीं बन पाता यदि मन उनके साथ न हो। अतः साधु के साथ संग मन से ही करना पड़ेगा। अनेक व्यक्ति पाते हैं कि साधु-संग की इतनी महिमा

है, उन्होंने १५-२० साल से सत्संग किया है, किन्तु कुछ फल नहीं हुआ; फिर कैसे कहते हैं कि साधुसंग एक क्षण का भी किया जाये तो फल पैदा करता है? उन्हें यह समझना पड़ेगा कि मन से संग न करके शरीर से संग किया है। प्रभावी संग तो मन का होता है। तुम रेल में बनारस जा रहे हो, बनारस पहुँचने पर लोग पूछते हैं कि क्या संग कोई भी नहीं आया; तुम कह देते हो कि कोई नहीं आया, अकेले ही आये। कोई कह सकता है कि पूछने वाला अन्धा और बोलने वाला झूठा है क्योंकि रेल में तुम्हारे साथ कम से कम ५०० यात्री और थे, तुम अकेले नहीं आये हो। यह पूछने वाला भी देख रहा है और बोलने वाला भी जानता है। अत: कहना पड़ेगा कि मन के साथ उनका सम्बन्ध नहीं था, केवल शरीर के साथ ही सम्बन्ध था, चाहे एक ही डिब्बे में दूसरे व्यक्तियों के साथ हाथ से हाथ मिलाकर ही क्यों न बैठे थे। इसी प्रकार सत्संग का फल न होने का कारण यह कि मन से संग किया ही नहीं।

भक्ति-सूत्रों में देवर्षि नारद कहते हैं कि साधुसंग कैसा है? 'दुर्लभ: अगम्य: अमोघश्च'। साधुसंग मिलना ही दुर्लभ है। इस दुर्लभता के तीन कारण हैं। प्रथम तो सत्पुरुष होना ही कठिन है। सत्पुरुष का क्या अर्थ होता है इस पर आगे विचार करेंगे। दूसरा, हमारा उसे पहचानना कठिन है। तीसरा, उसके स्तर तक अपने मन के स्तर को ले जाना कठिन है, अर्थात् उतनी योग्यता प्राप्त करना कठिन है।

संसार का बड़े से बड़ा वैज्ञानिक यदि किसी साधारण स्कूल के लड़कों को प्रवचन दे तो उससे कोई लाभ नहीं। चूंकि अध्यापक ने कह रखा है कि वे बहुत बड़े वैज्ञानिक हैं, उन्हें नोबल-प्राइज़ मिला है, इसलिये लड़के सोचते हैं कि जरूर बड़े वैज्ञानिक होंगे किन्तु उसकी बातें लड़कों की समझ में नहीं आती। कम से कम बी. एस.सी., एम.एस.सी. के स्तर तक पहुँचें तो उनकी बात समझ पायेंगे। पहले ऐसा वैज्ञानिक होना ही मुश्किल है। आज से ३०० साल पहले न्यूटन हुए और उनके बाद आइन्स्टाइन हुए। इसी तरह जल्दी-जल्दी सर्वत्र साधु होना ही कठिन है, हो भी जाये तो उन तक पहुँचना कठिन है; उन तक पहुँच भी गये पर यदि योग्यता नहीं तो लाभ उठाना कठिन है। इन्हीं तीनों दृष्टियों से देवर्षि बता रहे हैं कि दुर्लभ है।

दूसरा विशेषण दिया - अगम्य। इसका अर्थ है, जो बात किसी तरह पता नहीं लग सकती उसका भी वहाँ पता लग जाता है। विचार-दृष्टि से परमात्मतत्त्व का पता

लगाना असंभव घटना है किन्तु साधु-संग से ज्ञान हो ज़रूर जाता है। महर्षि वशिष्ठ कहते हैं जिस प्रकार कछुए के कान में पानी जाना असंभव है, उसी प्रकार आत्मज्ञान होना भी असंभव है। 'विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्' अर्थात् जो सबको ही ज़ानने वाला है, उसे किस से जानोगे? किन्तु साधु-संग से जाना जरूर जाता है।

भगवान् सुरेश्वराचार्य लिखते हैं कि आत्मज्ञान कैसे होता है, यह तो हम नहीं बता सकते। शब्द से वह नहीं होता क्योंकि वह शब्द का विषय ही नहीं है। साधारण दृष्टि से कह तो देते हैं कि जहत्-अजहत्-लक्षणा से ज्ञान हो जाता है, किन्तु लक्षणा से भी परमात्म-ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि लक्षणा का अर्थ है- 'शक्यसम्बन्धो हि लक्षणा' अर्थात् शब्द के वाच्यार्थ के साथ सम्बन्ध लक्षणा है जिससे लक्ष्य अर्थ ग्रहण होता है। जैसे गंगा पद से गंगा का किनारा यह लक्ष्यार्थ ग्रहण होता है। यहाँ तो अधिष्ठान ब्रह्म के साथ अध्यस्त जीव-जगत् का कोई सम्बन्ध बनता ही नहीं। गाय-भैंस, आकाश-पृथ्वी आदि का सम्बन्ध हो भी जाये क्योंकि इनमें पदार्थत्व जाति है किन्तु ब्रह्म और जीव में कौन-सी एक जाति भी मानोगे? 'विद्मस्तं मोहहानतः।' बस इसीलिये जानते हैं कि हमारा अज्ञान नष्ट होता जरूर है, किन्तु कोई संबंध सिद्ध नहीं कर सकते। जो किसी तरह से न जानी जा सके ऐसी चीज को भी साधु-संग बता देता है, इसलिये उसे अगम्य कहा है।

अगम्य कहने का एक और कारण भी है। साधु कैसा है? जिसके बारे में यह न कह सकें कि वह कहाँ का है, वही साधु है। दीखता तो है वह अज्ञान में, क्योंकि ज्ञान में वह दीखेगा नहीं, तब तो वह हमारा स्वरूप हो जायेगा; फिर भी रहता है ज्ञान में ही! दीखे कहीं, और रहे कहीं, इसलिये उसे अगम्य कह दिया। साधु-संग करेगा अज्ञानी ही किन्तु साधु अज्ञान में नहीं है। विषय-दृष्टि और स्वयं-दृष्टि में भी दोनों का अधिकरण एक नहीं।

कोई कह सकता है कि साधु-संग इतना कठिन मामला है तो इस सबसे फायदा क्या? इसलिये तीसरा विशेषण दिया 'अमोघश्च'। यदि साधु-संग हो गया तो व्यर्थ नहीं जा सकता, वह अपना फल उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकता। यदि अपने मन को उसके साथ मिला दिया तो फिर मन अपना रह ही नहीं सकता। वह एक ऐसी आग है जिसकी ओर चले तो गर्मी, नज़दीक पहुँचे तो प्रकाश और बिलकुल पास हो गये तो अग्नि-रूप ही बना देगी। इसलिये जो सत्पुरुष के साथ

कुछ दूरी से भी रहता है, उसके चित्त में शांति होती है, यदि नज़दीक पहुँच जाये, तो शांत होने के साथ-साथ मल और विक्षेप भी नष्ट हो जाते हैं, और यदि उसे मन से पकड़ ले तो जलकर राख हो जाता है, केवल ब्रह्म ही रहता है। इसलिये देवर्षि कहते हैं 'दुर्लभः अगम्यः अमोघश्च'। महर्षि वशिष्ठ तो यहाँ तक कहते हैं-

'नीरागाश्छिन्नसंदेहाः गलितग्रंथयोऽनघाः।
साधवो यदि विद्यन्ते किं तपस्तीर्थसंग्रहैः।।' (मुमुक्षु. १६.११)

यहाँ यदि-शब्द का प्रयोग दुर्लभता का द्योतक है। महर्षि तीन विशेषण देते हैं। पहला, नीराग अर्थात् जिसे कोई राग नहीं। राग-शून्य अंतःकरण में ही ज्ञान की आभा चमकती है। बिजली सब जगह चमकती नहीं है। तार में भी उतनी ही बिजली है जितनी लट्टू में है किन्तु एक में रोशनी होती है, दूसरे में नहीं। इसका कारण है कि तार में बिजली होने पर भी प्रतिरोधन इतना नहीं है कि उसमें रोशनी प्रकट हो। लट्टू में जब बिजली निकलती है तो पतले तार से ही किन्तु वहाँ उसका प्रतिरोध न बढ़ जाता है। तार की चौड़ाई जितनी कम हो जाती है तो प्रतिरोध उतना ही अधि क होगा, उतनी ही आभा ज़्यादा प्रकट होगी। ठीक इसी प्रकार आत्म-तत्त्व सर्वत्र एक-जैसा विद्यमान होने पर भी, श्रवण करने पर एक-जैसी वृत्ति बनने पर भी जिसके अंतःकरण में संसार के पदार्थों के कारण 'चौड़ाई' है उसमें आभा नहीं आती और जिसने यह चौड़ाई कम कर दी है, जिसमें नीरागता आ गई, उसमें यह आभा प्रकट होती है। जितनी अधिक नीरागता होगी, उतनी ही अधिक आभा प्रकट होगी। केवल नीरागता से भी काम नहीं चलता। जैसे तार केवल कम चौड़ा ही न हो बल्कि बीच में टूटा भी नहीं होना चाहिये वैसे यह आवश्यक है कि मन में संदेह भी नहीं होने चाहिये। जैन-बौद्ध और योगाभ्यासी आदि मत नीरागता पर तो ज़ोर देते हैं लेकिन मन के संदेहों को छुड़ाने पर ज़ोर नहीं देते, मनन से कोई फायदा नहीं मानते। इस पर लोगों ने तो दोहे भी लिख दिये- 'पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।' इन मतों में श्रद्धा या स्वानुभूति से काम हो जायेगा, युक्ति की अनुकूलता की जरूरत नहीं - ऐसा मानते हैं। ऐसी नीरागता या रागरहितता तो पत्थर में भी बहुत है! नीरागता का अर्थ वैराग्य नहीं है, दोनों में कुछ अंतर है। राग-रहित होना नीरागता है। पत्थर छिन्न-संशय नहीं हो सकता। छिन्न-संशयता से रहित नीरागता से लाभ नहीं। तीसरा विशेषण दिया 'गलितग्रन्थयः'। अर्थात् संशयों को काटते-काटते जिनके

हृदय की गाँठ गल गई है। महर्षि ने 'गलित' शब्द बड़ा सोचकर रखा है, 'खुलना' शब्द उन्हें पसंद नहीं आया, क्योंकि गाँठ खुलने पर फिर बँधने की संभावना रहती है। यदि गाँठ गल गई तो फिर बँधने की संभावना ही नहीं रहेगी। हृदय-ग्रन्थि अर्थात् आत्मा-अनात्मा का अध्यास गल गया है। कई लोगों के संशय तो कट गये हैं किन्तु अध्यास बनाये ही रखते हैं क्योंकि चाहते हैं कि व्यवहार करना है, प्रारब्ध भोगना है। किन्तु महर्षि इस अध्यास का भी निषेध करते हैं। प्रारब्धादि के प्रभाव से अवश्य जो भी हो जाये, स्वयं अध्यास बनाये रखें यह निष्प्रयोजन है। यदि ऐसा साधु-पुरुष विद्यमान है तो उनके पास जाने से ही सारे तपों का फल सिद्ध हो जाता है, फिर तीर्थों में जाने से भी क्या फायदा, सारे शुभ कर्मों का संग्रह साधु के पास जाने से ही हो जाता है।

महर्षि वशिष्ठ ने साक्षात् भगवान् शंकर से प्रश्न किया कि साधु का पता कैसे लगे। भगवान् शंकर ने कहा:-

'दैवत्वपरिपूर्णोन्तः अदीनात्माऽवतिष्ठते।
नास्तमेति न चोदेति न तुष्यति न कुप्यति।।' (निर्वा.पू. ३९.२६)

साधु का अंतःकरण पूर्ण देव-भावों से भरा होता है। जिसका अंतःकरण दैवी-सम्पत्ति से भरा हो वह देव है। भगवान् ने गीता में कहा है- 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम् मैत्रः करुण एव च' आदि प्रकार के गुणों से युक्त अंतःकरण जो उच्च-कोटि के साधकों में हो सकते हैं वे देवभाव के लिये उपयोगी हैं। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' से शतपथ ब्राह्मण में शुक्ल-यजुर्वेद श्रुति का आदेश है कि देव बनोगे तभी देव की पूजा कर सकोगे, अर्थात् जब दैवी गुण अंदर आयेंगे तभी देव बनेंगे। जो केवल तिलक, कपड़े आदि धारण करके बाहर से तो देव जैसे बन जाते हैं किन्तु अंतःकरण में उन गुणों को धारण नहीं करते वे देव नहीं बन सकते। उच्च कोटि के साधकों में दैवी-गुण भरे होते हैं। इतना फर्क है कि साधक के अंदर कुछ न कुछ दीनता अवश्य रहेगी किन्तु साधु-पुरुष में अदीनता होती है। उनमें यह दीन-भाव नहीं आता कि मेरी अपेक्षा कोई दूसरा विलक्षण है। यह भाव उसमें नहीं होता। 'न अस्तमेति' अर्थात् बड़ी से बड़ी कठिन परिस्थिति में भी उसकी मुख-श्री अस्त नहीं होती है। यह कभी नहीं लगता कि उसका मुँह कुम्हला-सा गया है। न वह किसी पदार्थ की प्राप्ति पर उछल पड़ता है और न किसी हालत में वह आपे से बाहर ही होता है। कभी क्रोधित नहीं

होता है। ये सारे व्यवहार द्वैत–दृष्टि से ही होते हैं और साधु में द्वैत का भाव ही नहीं। दैवी गुण तो अन्य साधकों में भी होते हैं किन्तु अस्त–उदय का अभाव दूसरों में नहीं होता। आत्मज्ञान को छोड़कर अन्य जितने भी साधन करो उनमें यह अस्त और उदय होते रहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि वृन्दावन में गोपियाँ ज्ञान को प्राप्त कर गई थीं। किन्तु उनसे कोई पूछे कि यदि कृष्ण के जाने के बाद उन्हें सुख–दुःख हुआ तो 'नास्तमेति न चोदेति' यह लक्षण उनपर घटता नहीं। यदि कहो कि भगवान् से मिलने के बाद भी उन्हें प्रसन्नता नहीं हुई तो भक्त डंडा लेकर पीछे पड़ जायेगा कि भगवान् मिले और खुशी नहीं हो यह हो नहीं सकता। यदि खुशी हुई तो ज्ञानी में अस्त–उदय का अभाव रहना चाहिये। उसका लक्षण है– 'न तुष्यति न कुप्यति'। बड़ी से बड़ी परिस्थिति में भी उसे क्रोध नहीं आता।

दूसरी तरफ स्वयं भगवान् कृष्ण का दृष्टांत लें। मथुरा से द्वारिका जाने पर उनकी मुख–श्री कहीं कुम्हलाई नहीं, जैसे वृन्दावन में रहे, वैसे ही मथुरा और द्वारिका में रहे। इतना ही नहीं, अंतिम समय में जब द्वारिका में सारा कुल सर्वथा नष्ट हो गया, तब भी भगवान् कभी दुखी हुए, ऐसा कहीं भी नहीं कहा है। द्वारिका पहुँचने पर जब वहाँ कुछ नहीं था तब सोने की द्वारिका खड़ी कर दी; तो भी यह कहीं नहीं कहा कि हर्ष हो गया। जब वह द्वारका चली गयी तब भी यह नहीं कहा कि बचा लूँ। लोग वसुदेवजी के पास गये तो उन्होंने कहा कि कृष्ण ने शक्तिमान् होने पर भी घरवालों को नहीं बचाया। ज्ञानी की दृष्टि में अस्त–उदय होने वाला नहीं, सदैव एक समभाव ही रहेगा, उसमें परिवर्तन आ ही नहीं सकता। फिर लक्षण करते हैं 'समः समसमाचारः समायासः समाकृतिः'। सब चीजों के प्रति उसकी समता कभी खंडित नहीं होती। समदृष्टि को खंडित किये बिना ही वह सब आचरण कर लेता है। तुम भी सारे शरीर में, आँख, पैर और हाथ में सम–दृष्टि रखकर ही सब आचरण करते हो। आँख से देखते और पैर से चलते हो पर सब कुछ करते हुए भी समदृष्टि एक क्षण को हटती नहीं। आँख ने गड्ढा देखा या ईंट गिरते देखी तो पैर यह कभी नहीं कहता 'मेरा क्या, आँख का ही तो बिगड़ना है', बल्कि आँख की रक्षा के लिये पैर झट दौड़ पड़ते हैं। कंकड़ सामने से आते देखा तो हाथ फौरन आँख पर पहुँच जाते हैं। समायास अर्थात् आयास में आकृति सदैव समान रहती है। 'रंजनामिहिकामुक्तः'। मिहिका का अर्थ है नीहार या कोहरा। उसकी यह

दृष्टि कभी नहीं बनती कि मैं किसी को प्रसन्न करूँ। किसी को प्रसन्न करने की दृष्टि द्वैत-आधार से ही बनती है। कोई कहे कि जब वह दृष्टि ही नहीं बनाता तो किसी का ध्यान भी नहीं रखता होगा अतः इसका निषेध किया 'अन्तराकाशविशदः बहिः प्रकृतकार्यकृत्'। उसके अन्दर चिदाकाश पूर्णरूप से है पर बाहर के कार्य को सम्यग्रूपेण निभाता है। महर्षि वशिष्ठ के द्वारा पूछे जाने पर भगवान् शंकर स्वयं ही सब बता रहे हैं। जब महर्षि वशिष्ठ स्वयं भगवान् रामको उपदेश करेंगे तो इन्हीं शब्दों को बदलकर कहेंगे-

'अन्तः सर्वपरित्यागी बहिस्सर्वं समाचरन्।
न तृप्तिम् न क्षुधाम् याति नाभिवांछति नोज्झति।।'

अन्दर से सबका परित्याग करके भी बाहर से सम्यक् आचरण करता है। वह पेट को ठस करने के लिये खाना नहीं खाया करता और न भूखा बैठा रहता है। उसे अधिक तृप्ति का लोभ नहीं है और सर्वथा खाने का त्याग भी नहीं करता। कभी किसी चीज की इच्छा भी नहीं करता। वह जानता है कि कौन-सी चीज ऐसी है जो मेरी नहीं है, इसलिये क्या इच्छा करे! न किसी चीज को धक्का देकर दूर करता है। सोचता है, ऐसी कौन-सी चीज है जो मेरा स्वरूप नहीं जिसे मैं अलग करूँ। भगवान् शंकर कहते हैं-

'देशकालकरणक्रमोदितैः सर्ववस्तुसुखदुःखविभ्रमैः।
नित्यमर्चय शरीरनायकं तिष्ठ शांतसकलेहया धिया।।'

पदार्थों से होने वाले सुख-दुख तो विभ्रम हैं (कल्पनामात्र हैं), देश, काल और इंद्रियों के द्वारा आने-जाने वाले हैं। जो भी चीज आती है, वह हमारे आत्मतत्त्व की पूजा कर रही है। रसगुल्ला भी कहता है कि मुझे तुमने सत्ता दी, और मुझे ही आनंद का स्पर्श देकर कृतार्थ करो। बनाया तो सत्ता दी, जब तुमने मुझे जाना तो ज्ञान दिया, अब आनंद का स्पर्श करा दो जिससे मैं समाप्त हो जाऊँ। इसी प्रकार संसार के जितने भी पदार्थ हैं, सभी इसी दृष्टि से सदाशिव की अर्चना ही कर रहे हैं। ऐसा समझकर शांत रहो। शरीर में पड़े कीड़े भी उसी की सत्ता से आनंदित हैं। अतः जितनी भी इच्छायें हैं, उन्हें छोड़कर स्थित रहो। यह साधु का स्वरूप बताया जिसमें वह नित्य रहता है। इसीलिये उसकी वृत्ति बाहर सब कुछ करती प्रतीत होने पर भी अंदर ही लीन रहती है। यही फर्क है साधु और उच्च कोटि के साधक में।

किसी की परीक्षा तभी हो सकती है। जब उसकी सहज अवस्था देखो। जैसे कोई व्यापारी घर में आया है तो बुद्धिमान् को कभी पूछना नहीं पड़ता कि वह किस चीज़ का व्यापारी है। वह चद्दर को देखता है, गद्दों को ऊपर से नीचे तक देखता है, दायें-बायें भी देखता है, मौका पड़े तो छू भी लेता है; इससे पता लग जाता है कि वह कपड़े का व्यापारी है। यदि किसी की नज़र किसी की अंगूठी के नग पर ही जाती है तो समझ लेते हैं कि वह जवाहरात का व्यापारी है। जो व्यक्ति जिस कार्य को करता है, स्वभाव से उसकी प्रवृत्ति उसी की तरफ होती है। पुलिस या मिलिटरी का आदमी नमस्कार करके खड़ा होता है तो स्पष्ट हो जाता है कि यह पुलिस का ही आदमी है। अर्थात् मनुष्य की सहज अवस्था से उसकी स्थिति का निश्चित पता लग जाता है। इसी प्रकार आत्मज्ञानी की स्वाभाविक स्थिति अन्तर्लीनता है, बाह्याचरण करते हुए भी मानो वहाँ है ही नहीं। उसका असली व्यापार तो आत्म-तत्त्व ही है। वह कहीं भी जाता हो, तुम्हें देखता है तो यही भाँपता है कि मेरा माल, आत्म-तत्त्व की दृष्टि तुम्हारे पास कितनी है। जो जिस काम को करता है, घूम-फिर कर फिर वहीं आ जाता है। व्यापारी अभी-अभी वेदान्त की बात कर रहा था, थोड़ी ही देर बाद कहेगा, टैक्स ज्यादा हो गया है, रिटर्न भरने में बड़ी मुश्किल होती है; दूसरी तरफ सरकारी कर्मचारी कहता है कि दफ्तर बहुत खराब हैं, आजकल मिनिस्टर और अफसर तक बिगड़ गये हैं; फौजी कहता है कि हमें तो राजनीतिज्ञ रोकते हैं वरना अब तक हमने पाकिस्तान को फतह कर लिया होता। परमात्मा के विषय में भी बात करो तो थोड़ी देर में सब अपने-अपने विषय पर लौट आते हैं। इसी प्रकार आत्म-दृष्टि वाला भी घूम-फिरकर वहीं लौटकर आता है।

'नादत्तमप्युपादत्ते गृहीतमपि पाणिना।
अन्तर्मुखतयोदात्तरूपया समयाधिया।
यन्त्रपुत्रकसंचार इतीमं जनताक्रमम्।।' (यो.वा.५.७७.५)

उसने किसी चीज को हाथ में लिया है तो भी वह उसे पकड़े नहीं है। उसकी वृत्ति सर्वथा लीनावस्था की है। वह जिसे भी देखता है उसकी दृष्टि में सब यंत्रवत् है। मानों कठपुतलियों को सूत्रधार राग-द्वेष, मोह, मद आदि धागों से नचा रहा है। उसका कसूर नहीं है, किन्तु दूसरा देखने वाला उसमें कसूर मानता है। साधु की दृष्टि में तो वह भी नित्य शुद्ध आत्म-तत्त्व ही है किन्तु अंतःकरण की वृत्ति से नाच रहा है। उनको देखकर, तथा अन्य पदार्थों को देखकर उसका क्रम भी टूटता नहीं।

'नापेक्षते भविष्यं च वर्तमाने न तिष्ठति।
न संस्मरत्यतीतं च सर्वमेव करोति च।।'

वह भूत, भविष्यत् अथवा वर्तमान के अनुसंधान में नहीं लगता। जैसे स्वप्न के बाद स्वप्न की बातों पर विचार नहीं होता, यह अनुसंधान कभी नहीं करते कि स्वप्न में तिजोरी देखी थी, उसमें ताला लगा था, देखें अब लगा है या नहीं। इसी प्रकार साधु निरंतर ही स्वरूप में स्थित रहता है तो बाहर का आचरण कैसा! वह तो 'भक्ते भक्तसमाचार:शठे शठ इव स्थित:।' भक्तों में भक्त की तरह और शठों में कुटिलता की बात करेगा। इसका मतलब यह नहीं कि वह कुटिलता से किसी को ठग लेता है, बल्कि वह कुटिल की भाषा को समझता है, अत: उसे उसी की भाषा में ही समझायेगा। उसका प्रयास सदैव यही रहता है कि किसी तरह से बात समझी जाये। वकील का काम है कुतर्क करना, यदि कोई सत् तर्क से काम ले तो वह झट काट देगा, अत: उसके साथ कुतर्क करने से ही काम चलेगा। इसी प्रकार आत्म-विद्या भी युक्ति से सिद्ध नहीं होती। यदि कोई कुतर्की आ जाये तो वह चौगुना कुतर्क निकाल लेता है। तब वह कहने लगता है कि युक्ति से तो समझ में आता है। वहाँ भोले बनने से काम नहीं चलेगा। यदि कोई अत्यंत धनकामुक आ जाये तो उसे करोड़पति बनने का अनुष्ठान बता देता है, जब करोड़पति बन गया तो पूछेगा कि इससे बड़ा भी कुछ अनुष्ठान है, तो फिर साधु उसे वह साधन भी बतायेगा जिससे वह आत्म-तत्त्व की प्राप्ति में लग जाये। उलटा अर्थ नहीं लगा लेना कि वह भी ठगने वाला होता है, बल्कि वह तो उसके अनुकूल आचरण करके उसे मार्ग पर ले आता है। आगे कहते हैं-

'बालो बालेषु वृद्धेषु वृद्धो धीरेषु धैर्यवान्।
युवा यौवनवृत्तेषु दु:खितेष्वनुदु:खित:'।।

बालकों में बालकों का-सा और बुड्ढों में बूढ़ों का-सा आचरण करता है क्योंकि उसे कोई आग्रह तो है नहीं कि यह ठीक और यह गलत, उसके लिये सब कल्पित है। बुद्धिमानों में बुद्धिमान् जैसा और जवानों में जवानों का-सा व्यवहार करेगा। दु:खी के साथ दु:खी ही प्रतीत होगा। यह नहीं कि किसी ने आकर कहा कि मेरा लड़का मर गया है और वह कहे कि 'अच्छा हुआ मर गया, टंटा खतम हुआ!', बल्कि वह भी दु:ख मानता ही प्रतीत होगा। 'उदासीनवदासीन: प्रकृत:

क्रमकर्मसु' इस प्रकार सारे व्यवहार करता हुआ भी मन से उदासीन बना रहता है, किसी भी पदार्थ अथवा व्यवहार में उसकी रुचि नहीं होती। ऐसी नित्य-निष्ठा वाले के विषय में कहा गया कि वह नीराग, छिन्नसन्देह, गलितग्रन्थि और अनघ है। उसके सारे संशय छिन्न-भिन्न और सारी ग्रन्थियाँ गलित हो जाती हैं। सर्वथा अध्यास न होने के कारण उसके सारे आग्रह गलित हो गये। ऐसे साधु पुरुष का संग अवश्य ही फल को प्राप्त करायेगा। इससे अगला साधन विचार है, इस पर फिर विचार करेंगे।

प्रवचन-३६
विचार
१३-८-६८

ऋत के स्वरूप पर विचार करते हुए बताया कि चार पैरों द्वारा चलकर ही सदाशिव तत्त्व तक पहुँचना सम्भव है। ये चार पैर हैं- 'संतोष:साधुसंगश्च विचारश्च शमस्तथा'। इनमें प्रथम दो, संतोष और साधु-संग पर कुछ विचार किया। अब तृतीय साधन, विचार का स्वरूप क्या है इस पर विचार करेंगे। यह समझ लेना अनिवार्य है कि प्रथम का फल ही द्वितीय है और द्वितीय साधन के फलस्वरूप ही तीसरे साधन की प्राप्ति सम्भव है। जैसे पहला पैर ठीक रखने से दूसरा पैर चलाने की शक्ति आती है, इसी प्रकार संतोष-प्राप्ति होने पर ही साधुसंग सम्भव है। जब तक संतोष नहीं, सांसारिक प्रवृत्ति कम नहीं होगी। सांसारिक-प्रवृत्ति कम हुए बिना ही यदि जबरदस्ती सत्संग में, साधु-पुरुष के पास आये भी तो शरीर से ही संग होगा, मन से नहीं। ऐसा व्यक्ति साधु के पास जाकर सांसारिक पदार्थों की कामनायें ही करता रहेगा। देखने में आता है कि मन्दिर में जाकर भी लोगों की दृष्टि सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति-हेतु होती है। उसकी कामनायें चाहे पूर्ण हो भी जायें किन्तु वह तीसरे कदम विचार को प्राप्त नहीं कर पायेगा। बाकी कामनाओं की पूर्ति तो प्रकारान्तर से भी संभव है किन्तु विचार-प्राप्ति बिना साधु-संग के नहीं हो सकती। इन चारों साधनों का परस्पर हेतुहेतुमद्भाव भी है। यद्यपि चारों साथ-साथ चलते हैं, फिर भी उनमें क्रम रहता है। संतोषपूर्वक साधु-संग में जायेगा तो वहाँ अपूर्व-चीज 'विचार' को ही पकड़ेगा, अन्य कामनाओं की पूर्ति का उसके लिये कोई महत्त्व नहीं। सत्पुरुष उपदेश करके विचार जाग्रत् करते हों ऐसा नहीं है बल्कि-

'सन्तः सदैव गन्तव्याः यद्यप्युपदिशन्ति न
या हि स्वैरकथास्तेषाम् उपदेशा भवन्ति ताः॥'

संतों की तरफ हमेशा जाये। सत्पुरुष बिना विचार के स्वाभाविक व्यवहार ही करते हैं, उसी से उपदेश-प्राप्ति हो जाती है। उनकी साधारण बातचीत, साधारण व्यवहार में भी किसी न किसी तत्त्व का प्रतिपादन होता है। साधु-संग का ही फल है विचार।

विचार वस्तुतः वह साधन है जिसके द्वारा इहलोक और परलोक दोनों को सुधारा जा सकता है। सारा बंधन विचार-रहित होने का ही है, विचार-प्राप्ति होने से ही सारे बंधन छूट जाते हैं। विचार के अतिरिक्त इहलोक और परलोक की उन्नति का और कोई भी साधन नहीं। विचारवान् सांसारिक उन्नति भी कर लेगा। दुकान का काम भी वही बढ़ा सकेगा जो विचार करेगा, अविचारशील व्यापार में असफल हो जाता है। व्यापार में फेल होने पर कहेगा कि तकदीर खोटी थी, यह कभी नहीं सोचता कि अविचार से काम किया, तभी असफल हुए। इसी प्रकार अविचारशील नौकरी करते हुए भी नुकसान उठायेगा। अविचार के कारण जब जो बात कहनी चाहिये उसे नहीं कह पायेगा।

एक धोबी के पास एक गधा और एक कुत्ता था। कुत्ते को तो बढ़िया दूध-रोटी मिलती थी, और गधे को हाँक दिया जाता था। वह जो मिल जाये उसी को खा लेता था। गधे ने विचार किया 'धोबी का सारा काम तो मैं करता हूँ, कुत्ता केवल रात को भूँक देता है। फिर भी मेरी तो कोई पूछ नहीं होती और कुत्ते की बहुत पूछ होती है। ऐसा ही है तो रात को मैं भी भूंक दिया करूँगा।' गधे को यह तो पता नहीं कि कुत्ता कब क्यों भूंकता है। उसी रात को १२ बजे धोबी और उसके घर वाले खुर्राटे ले रहे थे, गधे ने इतनी ज़ोर से भूंकना शुरू किया कि धोबी उठ बैठा। आकर देखा कि कहीं किसी साँप वगैरह ने न काट दिया हो, लेकिन कुछ दिखाई नहीं दिया। जाकर सो गया। फिर आधे घंटे बाद गधे ने ज़ोर से भूंकना शुरू किया। अब धोबी को बहुत गुस्सा आया। उसने डंडा उठाया और गधे को इतना मारा कि मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। सवेरे गधे ने विचार किया कि 'मैंने भी वही काम किया जो रोज़ कुत्ता करता था, लेकिन मुझे तो डंडे पड़े! इसलिये यह सब तकदीर का ही खेल है।' यह विचार नहीं किया कि यह नासमझ का ही खेल है, तकदीर का नहीं; मेरा कब क्या काम है यह नहीं सोचा।

ऐसे ही व्यापार में भी लोग अविचार से धोखा खाते हैं। कलकत्ता में सोने-चाँदी का बाजार है। वहाँ कभी बिड़ला, बांगड़ आदि बड़े-बड़े साहूकारों ने १०-१५ हजार पासे खरीद लिये तो दूसरे लोग यह सोचकर कि जरूर कोई खबर मिली होगी कि भाव बढ़ने वाला है, स्वयं भी खरीदने लगते हैं, यहाँ तक कि अपनी सामर्थ्य से भी अधिक धन खर्च करके पासे खरीद लेते हैं। पर भाव नहीं बढ़ा तो दूसरे-तीसरे ही दिन सस्ते में बेचना पड़ता है, यहाँ तक कि घर के गहने भी उसी में निकल जाते है। बाद में कहते हैं कि बड़ी बुद्धिमत्ता से काम किया था, तकदीर ही खोटी थी। बिड़ला आदि सेठों ने हजारों रुपये के पासे खरीदकर तिजोरी में बंद कर दिये। दूसरे लोगों ने यह विचार नहीं किया कि तकदीर खोटी नहीं, विचार ही गलत रहा। सेठों के पास तो इतना अधिक रुपया है कि वे लेकर रख लेंगे किन्तु तुम्हारे पास इतने रुपये नहीं इसलिये ज्यादा दिन तक कैसे रख सकोगे! विचार से ही उन्नति संभव है और अंत में आत्म-तत्त्व की प्राप्ति भी हो जाती है। अविचार से बंधन हो जाता है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं

'युक्तिहीनप्रकाशस्य संज्ञा मायेति कथ्यते।
अप्रतीतम् इवाभाति स्वयम् भातमपि द्विजाः'।।

माया का स्वरूप बताते हैं कि युक्तिहीन पदार्थ का ज्ञान ही माया है। दूसरे शब्दों में, अविचार ही माया है। रस्सी में साँप रोशनी के अभाव से ही दीखता है, अन्य किसी कारण से नहीं। उसी प्रकार एक अखण्ड ब्रह्म में जगत् अविचार से ही दीखता है; विचार से तो जगत् का नामोनिशान भी नहीं है। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं-

'आत्मशक्तिसमायोगात् अनाद्यन्ताद् अतर्कितात्।
अविचारितसिद्धेयम् माया वेश्या विलासिनी'।।

विचार करने जाओ तो माया का पता ही नहीं लगता। आत्म-तत्त्व है तो स्वयं प्रकाश-स्वरूप किन्तु लगता ऐसा है मानों उस का ज्ञान ही नहीं है। लोग समझते हैं कि भगवान् न जाने कब मिलेंगे? भगवान् का मिलना क्या है! वह तो नित्य मिला है, लेकिन जब तक नहीं जानोगे, नहीं मिलेगा। अगर भगवान् नित्य नहीं मिला है तो बताओ कि बोल कौन रहा है कि भगवान् कब मिलेंगे! दूसरी तरफ लोग कहते हैं, 'मैं मूर्ख हूँ, मैं कुछ नहीं जानता।' उनसे प्रश्न करो कि माना कि तुम मूर्ख हो, अज्ञानी हो, पर यह जान कर कह रहे हो या बगैर जाने? और जानकर कह रहे हो तो अज्ञानी नहीं हो, बिना जाने कह रहे हो तो भी मूर्ख नहीं रहे। इसी प्रकार अप्रतीत

की तरह भान होने पर भी उस चित्-शक्ति संविद् का स्पष्ट भान नहीं हो रहा है। अविचार से मनुष्य समझता है कि परमेश्वर को कभी कोई नहीं जान सकता है, किन्तु यह नहीं समझता कि रात-दिन उसके अतिरिक्त कुछ जानता ही नहीं है। विचार के बिना बुद्धि में कभी तीक्ष्णता नहीं आती। विचार से ही बुद्धि में ऐसी तीव्रता आती है जिसके आधार पर इहलोक और परलोक दोनों ही बना सकते हो। लोग कहते हैं कि संसार में अनेक चीजें दीखती हैं, आपका वेदान्त भले ही कहता होगा 'नेह नानास्ति किंचन'। उनसे प्रश्न करो कि तुम्हें चीजें दीखती हैं या चीजों की अनेकता दीखती है। अगर अनेकता दीखती है तो किस इन्द्रिय से दीखती है? मान लो आँख-रूप इन्द्रिय से दीखती है। तुम्हारे सामने एक आदमी खड़ा है तो तुम्हें अनेकता दीखती है या नहीं? यदि अनेकता नहीं दीखती, वहाँ एकत्व ही है, तो दो आदमी भी खड़े हों तो उन दोनों में भी एकत्व है। फिर अनेकत्व कहाँ से प्रवेश कर गया? जब हर एक चीज एक-एक दीख रही है तो फिर उन्हें मिलाकर अनेकता कहाँ से आ गई? जिस दिन से गणित वाले अध्यापक ने स्कूल में यह भ्रम पैदा किया, उल्टी पट्टी पढ़ाई, कि एक और एक मिलकर दो होते हैं, तभी से अनेकत्व-दृष्टि बढ़ती गई। यदि कोई कहे कि आदमी और आदमी मिलकर घोड़ा होता है, तो क्या यह कभी हो सकता है! आदमी चाहे जितने बढ़ाओ, रहेगा तो आदमी ही। इसी प्रकार एक से एक को मिलाओगे तो एक ही रहेगा, दो कहाँ से हो जायेगा! लेकिन ऐसा पढ़ा दिया और तुम भी मानने लगे। यह प्रश्न ही नहीं किया कि एकत्व से अनेकत्व कहाँ से आ गया? अब वही भ्रम निकाले नहीं निकल रहा है और विचार के बिना निकलने वाला भी नहीं है।

एक सज्जन हमारे पास एक कपड़ा लाये। उन्होंने कहा कि यह एक ही कपड़ा है। हमने उसे रख लिया। फिर वे कहने लगे- 'महाराज जी, इस में से एक धोती, एक चद्दर, और एक गाती बना लीजिये।' हमने भी अपने स्वामी से कह दिया कि बना लो; उसने बनाया तो पता लगा कि कपड़ा कुछ छोटा है। हमने उन सज्जन से कहा कि अब इसे वापिस कर दो। कहने लगे, दूकानदार अब वापिस नहीं लेगा क्योंकि एक के तीन हो गये हैं। हमने कहा, यह तो अच्छा ही कर दिया कि एक के तीन बना दिये! कहा कि छोटे-छोटे हो गये हैं इसलिये दूकानदार वापिस नहीं लेगा। विचार करो, छोटे हो गये यह तो हम मानते हैं, लेकिन तीन की संख्या कहाँ

से आ गई! एक के तीन हो नहीं सकते। एक में से तीन नहीं निकल सकते, लेकिन मान रहे हैं, इसलिये वैसा ही व्यवहार करते हैं।

एक नौकर था। मालिक ने उससे कहा कि चैक ले जाओ और सौ रुपये का नोट ले आओ। शाम को वह वापिस आ गया और कहा कि सौ रुपये का नोट तो नहीं मिला। मालिक को गुस्सा आया 'यह कभी हो सकता है कि तुम्हें सौ रुपये का नोट नहीं मिला, तुम ठगते हो!' नौकर कहने लगा 'आपका चैक लेकर तो गया था लेकिन बैंक का आदमी कहने लगा कि एक-एक के सौ या दो-दो के पचास अथवा दस-दस के दस तो मिल सकते हैं किन्तु सौ रुपया नहीं है।' मालिक ने कहा 'एक-एक के सौ या दस-दस के दस ही ले आते, बनते तो सौ ही।' वह कहने लगा 'आपने कहा था सौ का नोट लाने को, मैं भोला-भाला हूँ, समझा नहीं, अब समझ गया।' थोड़े दिन बाद ही सेठ जी अपनी लड़की के लिये वर ढूंढ रहे थे। लड़की २० साल की हो गई थी, सोचा लड़का कम से कम तीस साल का तो होना चाहिये। नौकर ने कहा कि ढूंढ देगा और दूसरे ही दिन आकर कहा कि वर तो मिल गया। सेठ ने कहा कि बात पक्की कर दो। जाकर देखा कि ६-६ साल के पाँच बच्चे बैठे हैं। पूछा 'लड़का कहाँ है?' नौकर कहने लगा 'ये पाँच बैठे हैं, पाँचों मिलाकर तीस साल के होते हैं।' सेठ जी ने कहा 'यह क्या मजाक है!' कहने लगा 'आप ही ने तो कहा था कि १-१ के सौ हों या सौ का एक हो तो कोई फर्क नहीं, इसीलिये मैंने सोचा कि छह-छह साल के पाँच हों और तीस साल का एक हो तो क्या फर्क पड़ता है!' सेठ जी सर पीटने लगे कि अच्छा नौकर मिला।

विचार करो, यदि दस-दस को मिलाकर सौ सच्चा होता तो यहाँ भी वही बात घट जाती। ऐसे ही एक ही के तीन टुकड़े माने हुए हैं, किन्तु न समझने के कारण एकत्व में ही इतनी संख्याओं की भ्रांति हो रही है, जबकि एक के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। इसी प्रकार एकत्व में अनेकत्व की प्रतीति कभी है नहीं, केवल भ्रम से ही है और विचार से वह भ्रम दूर हो जाता है। इसीलिये कहते हैं-

'शुक्तिका रजताकारा यथा भाति स्वभावतः।
तथा सर्वतया भाति शिवः सर्वावभासतः।।'

सीप को दूर से देखो तो चाँदीरूप में भासित होती है। सीप चाँदी की तरह स्वभाव से ही चमकती है। इसी प्रकार शिव ही संसार के सारे व्यवहारों में स्वभाव से भात हो रहा है, किन्तु तुम अविचार से उसे कुछ और ही समझ रहे हो। जब घड़ा

है, तो है-(अस्ति) रूप से शिव का ही भान हो रहा है। घड़ा है- इसमें 'घड़ा' और 'है' ये एक हैं या अलग-अलग? यदि अलग हैं तो घड़ा 'है' से भिन्न है अर्थात् (घड़ा) नहीं है। जैसे आदमी से भिन्न घोड़ा है अर्थात् वह आदमी नहीं है। यदि 'है' और 'घड़ा' एक ही है तो फिर 'है' ही कहो, घड़ा क्यों कहते हो? चूंकि वास्तविक सत्ता 'है' की ही है, 'है' के अतिरिक्त तो कुछ भी नहीं है, ऐसे ही घड़ा 'है' और कपड़ा 'है' इस कथन में भी घड़े का 'है' और कपड़े का 'है' एक ही है, 'है'-रूप से वहाँ भी भेद नहीं रहा। दोनों में 'है' एक होने से घड़ा और कपड़ा भी एक है। यदि 'घड़ा नहीं', ऐसा कहो तो भी क्या वह 'है' से अलग है? तब भी 'है'-रूप से 'नहीं' रहा। विचार से न अनेकता है और न ही पदार्थों का भेद मिलता है। विचार-दृष्टि में या तो पदार्थ ही नहीं है या फिर सारे पदार्थ एक ही है। ऐसे ही वह अखण्ड-चिन्मात्र शिव (संविद्) ही सर्वरूपों में भात होता है, जैसे सीप में चाँदी भात है। दीखता तो शिव है, पर अविचार से उसे समझते पदार्थ हैं। सीप को चाँदी हम उससे अलग होकर समझते हैं, लेकिन वहाँ तो ऐसा नहीं है। शिव खुद ही अनेक प्रकार से जानता है। जो जानने वाला है, वही सर्वरूप बनकर जान रहा है। इस विचार से भेद सर्वथा नहीं है। इसलिये कहा- 'युक्तिहीनप्रकाशस्य संज्ञा मायेति कथ्यते'। युक्ति से विचार करें तो संज्ञा और पदार्थ उड़ जाते हैं। वेदान्त कहता है कि विचार ही प्रधान है। विचार से ही सत्य-वस्तु, आत्म-तत्त्व का स्पष्ट पता लग जायेगा। नहीं हुआ भेद भी अविचार से इतना दृढ हो गया है कि हजार विचार करने पर भी नहीं हट रहा है।

एक आदमी के घर में एक तहखाना था। पिता-दादा और परदादा ने उसे बंद कर दिया था। बहुत साल पहले एक बार कभी परदादा ने वहाँ से रुपया निकालने के लिये उसे खोला था, अन्दर गये तो फिर नहीं लौटे। भूत ने उन्हें वहीं मार डाला था। ऐसा भयंकर भूत वहाँ था कि लाश तक नहीं मिली। तभी से उसे बन्द कर दिया गया और एक परम्परा बन गई कि वहाँ भयंकर भूत है। बाद की पीढ़ी ने भी सोचा कि जो पूर्वज धन गाड़ गये थे, वे भूत बन गये हैं। धन गाड़ने वाले भूत बनते हैं, ऐसी मान्यता है। केवल गाड़ने वाले ही नहीं, बैंक में धन जमा रखने वाले भी भूत बनते हैं, क्योंकि तद्वासनावासित रहते हैं। हम तो यह मानते हैं कि जो भूत हैं वही बैंक में रुपया रखते हैं क्योंकि जो हमेशा भविष्य की ही सोचते रहते हैं, वे हमेशा

भूतकाल में ही रहते हैं। जो वर्तमान में न रह कर, वर्तमान को न सोचकर भूतकाल की ही बात सोचे उसे ही भूत कहते हैं। वहाँ भी प्रसिद्ध हो गया कि उनके दादा-परदादा भूत हैं। लड़का बड़ा हो गया, धन की कमी हो गई, कठिनाई आने लगी। लोग कहें कि धन गड़ा है, निकाल क्यों नहीं लेते; वे कहते थे 'जान है तो जहान है। उस तहखाने में हम नहीं जा सकते।' अंत में एक झाड़-फूंक करने वाले को पकड़ा। उसने तहखाना खोला और पाँच मिनट में ही बाहर आ गया; कहा 'वहाँ तो भयंकर भूत है, ऐसा तो आज तक पल्ले नहीं पड़ा था। हमारे मंत्र-जंत्र काम नहीं करते।' फिर पहलवान बुलाये। वे भी लकड़ी को खूब तेल लगाकर लंगोटा कसकर आये, कहा कि २५-२५ हजार लेंगे। घरवाले भी मान गये। पहलवान भी घुसे तो दस मिनट बाद ही हल्ला मचाकर बाहर आ गये, कहने लगे 'बड़ा भयंकर भूत है।' अंत में लोग कहने लगे कि बाहर बैठकर ही जप किया जाये। चावल वगैरह डालने से ही भूत मर जायेगा। अब औरतों के गहने बेचकर भी उन्होंने पूजा-पाठ कराया, चावल फेंके, कहा 'अब अंदर चलो।' पंडित जी भी दो-चार सीढ़ी उतरकर ही वापिस आ गये, कहा कि यहाँ साधारण प्रयोग का काम नहीं। इस प्रकार रहे-सहे चूड़ा-चूड़ी भी हाथ से गये।

कुछ समय बाद एक महात्मा उधर से निकले। वे सिद्ध महापुरुष थे। लोगों ने उनसे कहा कि ऐसा जबरा भूत यहाँ है कि वश में नहीं आता। महात्मा ने कहा कि भूत होगा तो कहीं मसान आदि में होगा। लोगों ने कहा कि एक रईस थे, बाप-दादों ने धन जमीन में गाड़कर वह तहखाना बंद कर दिया था, वहाँ करोड़ों का माल दबा है। लोगों के बहुत आग्रह पर महात्मा वहाँ पहुँचे, देखने पर कहा कि यह तो लम्बा मामला है। घर वालों से कहा कि तुम सब ऊपर रहो, और नीचे वाले कमरों में हम रहेंगे। महात्मा तो जानते थे कि भूत क्या होता है! भूत वही हैं जिन्होंने धन गाड़ दिया था। महात्मा ने वह तहखाना खोल दिया, वहाँ देखा कि हवा आने-जाने की जगह ही नहीं है, इसलिये चारों तरफ के कमरे खोल दिये, वायु का संचार होने लगा, धूप-बत्ती से सुगंधि भी हो गई, दूषित वायु निकल गई। दो-चार दिन बाद उस घर वालों से कह कर एक बड़ी टार्च मंगाई और स्वयं उतरने को तैयार हुए। लोगों ने कहा कि और भी किसी को साथ ले लो तो महात्मा ने कहा 'मैं अकेले ही जाऊँगा।' नीचे उतरकर देखा कि सीढ़ी जर्जर हो गई है, वहीं से आदमी गिरकर मर

गया था और सूख गया था, वही उनके परदादा को खा गया था। फिर देखा कि वहाँ काफी धन पड़ा है। जब वायु सर्वथा शुद्ध हो गई तो लकड़ी की एक नई सीढ़ी मँगाई। लोग सीढ़ी ले आये और महात्मा ने उन्हें वह खजाना दिखा दिया। वे बड़े प्रसन्न हो गये, कहा 'आप तो बड़े सिद्ध हैं, आपने भूत भगा दिया।' महात्मा कहने लगे 'भूत तो मेरा नाम सुनते ही भाग गया था लेकिन तुम्हें फिर तंग न करे, इसलिये यह सारा अनुष्ठान करना पड़ा।'

ठीक इसी प्रकार यहाँ समझो: वस्तुतः परमात्मा ने ही अखण्ड-आनंद को हार्दाकाश (ब्रह्मपुर) में रखा है किन्तु हमने अतिदीर्घ काल से ध्यान ही नहीं दे रखा, इसलिये हमें अंधेरा नजर आता है, भूत नजर आते हैं; लोग कहते हैं कि दस-पंद्रह मिनट के ध्यान में ही जी घबराने लगता है। जी तो घबरायेगा ही क्योंकि वहाँ शुद्ध वायु का संचार है ही नहीं। नई-नई जगह जाना चाहते हो, नयापन हटाने के अनेक साधन करते हो। कोई उसे झाड़-फूंक से हटाना चाहता है। जो उस आत्म-तत्त्व को झाड़-फूंक से ही प्राप्त करना चाहते हैं वे सोचते हैं कि केदारनाथ, बद्रीनाथ में हवा लगने से ही भगवत्-प्राप्ति हो जायेगी या कोई कान में फूंक देगा तो भगवान् मिल जायेंगे। जो पहलवानी से ही उसे प्राप्त करना चाहते हैं वे लकड़ी में खूब तेल लगाते हैं अर्थात् कर्मों को करते हैं, सोचते हैं कि कर्म करने से ही भगवान् मिल जायेंगे। तेल की जगह भक्ति को समझना चाहिये। अर्थात् वे कर्म और उपासना को मिला देते हैं। यहाँ भी भेददृष्टि है कि भगवान् कोई और है जो कर्म और उपासना से मिल जायेंगे। किन्तु थोड़ी देर में घबरा जाते हैं और अंत तक टिकते नहीं। अंत में साधु-संग करते हैं। महात्मा की जगह साधु-संग समझना। सत्पुरुष उपाय बताते हैं कि वायु का संचार नहीं है। बुद्धि में ताजी हवा तो घुसने ही नहीं दी, अनादि काल से अनेकता के ही संस्कार भरे हैं, जब तक ताजे संस्कारों से इन्हें नहीं निकालोगे ये बढ़ते ही जायेंगे। पुराने संस्कारों से, परम्परा से भूत का निश्चय बढ़ता था, वैसे ही भेदवादी की बातें भेद को और मजबूत करती हैं। महात्मा, साधु पुरुष कहते हैं कि नया विचार करो, अभेद की दृष्टि से सोचो तो सही। भगवान् शंकर कहते हैं

'औदार्योदारमर्यादां मतिं गाम्भीर्यसुन्दरीम्।
महतां नावगाहन्ते भुवनानि चतुर्दश।।'

मनुष्य को उदारता-पूर्वक विचार करना चाहिये। जो उदारता का ही आचरण और उदार ही विचार करता है वह नये विचारों से भागता नहीं। भेदवादी तो नये विचार को सुनकर ही भाग जाता है। अब अद्वैत वासनारूप सुगंधि को ही दृढ करना है।

टार्च की जगह वेद-वाक्यरूप प्रकाश से देखा तो पता लगा कि सच क्या है। तब स्पष्ट हुआ कि सीढ़ी जीर्ण हो गई है। ब्रह्मप्रवेश में सीढ़ी-रूप चित्त जीर्ण हो गया है, प्रवेश हो कैसे! चित्त की इसी कमज़ोरी के कारण बार-बार गिर जाते हो। एक बार जब अभेद-दृष्टि बना ली, नयी सीढ़ी मँगाई, नवीन विचार से चित्त मजबूत बना दिया, जब इसके द्वारा ब्रह्मपुर में प्रवेश किया तो वहाँ अखण्ड आनंद ही है। सत्पुरुष कहते हैं कि यही वास्तविक स्वरूप है। मति की गम्भीरता ही इस मति की सुन्दरता है, उसमें छिछलापन नहीं है। अद्वैत-ज्ञान की प्राप्ति पर वह बुद्धि को छिछला नहीं बनाता, मन-माना आचरण कभी नहीं करता। उनकी मति ऐसी दृढ हो गई कि चौदह भुवन उसमें ऐसे गायब हो गये कि पता ही नहीं लगता कि कुछ है भी या नहीं। जैसे डटकर खाने वाले पचास रसगुल्ले खाकर भी डकार नहीं लेते ऐसे ही आत्म-निष्ठ चौदह भुवनों को तो खाकर ही बैठा है और डकार भी नहीं लेता, बाहर पता ही नहीं लगता कि उसने कुछ किया। साधारण आदमी हो तो थोड़ी-सी बात जानकार ही ढिंढोरा पीटता है, क्योंकि उसे उतना ही आता है। मैट्रिक पास लड़का भी घर आकर माँ से विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग कर के जताता है कि मैट्रिक पास हूँ। यह मति-गाम्भीर्य नहीं है। बाद में जब एम.एससी. हो जाये तब पता ही नहीं लगता, उसका स्वभाव हो चुकता है। इसी प्रकार सत्पुरुष की संगति में गया हुआ भी विचार को प्राप्त करके चौदह भुवनों को आत्मसात् कर के ऊपर से शांत-धीर बना रहता है। ऐसे मति-गाम्भीर्य को प्राप्त करने पर ही विचार की दृष्टि होती है।

प्रवचन-३७

शम

१४-८-६८

श्रुति जीवन्मुक्ति की स्थिति का वर्णन करने के साथ-साथ साधना-मार्ग में ऋत के स्वरूप का भी निरूपण करती है। निर्विकल्प अवस्था में चिन्मात्र स्वरूप में स्थिति है, सविकल्प में भी उस स्थिति का विरोध नहीं है, इस स्थिति से भी अंत में स्वरूपमात्र में ही रहता है। इसके लिये साधनों का क्रम भी बताया कि इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये धर्म-वृषभ के चार पैरों से चलना होगा।

इनमें संतोष, साधुसंग और विचार की चर्चा की। शम के रूप पर विचार करना है। चारों साधनों से चलने पर धर्म-वृषभ के चार पाद सिद्ध होते हैं। ये चारों सिद्ध होने पर ही सदाशिव-तत्त्व के सगुण और निर्गुण दो पादों की प्राप्ति सम्भव होती है और अंततोगत्वा अखंडस्वरूप आत्म-तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। इसलिये आगे के दो पैर सगुण-निर्गुण ही हैं; जिसके लिये कहा 'पदाम्भोजम् शम्भोः भज परमसौख्यम्'। सगुण और निर्गुण परब्रह्म परमात्मा के ही ऐसे दो पहलू हैं जो पहले अलग लगते हैं किन्तु धीरे-धीरे पता चलता है कि ये दोनों अभिन्न हैं जैसे पैर शरीर से अभिन्न हैं। वस्तुतः वे दो नहीं, अपितु एक अखण्ड शरीर ही है। जैसे एक अखण्ड शरीर में ही दो पैरों की प्रतीति है, वैसे ही उस एक अखण्ड चिन्मात्र शिव में ही सगुण-निर्गुण दो की प्रतीति होती है। आचार्य शंकर भगवत्पाद लिखते हैं कि परब्रह्म परमात्मा के ही दो रूप हैं- सोपाधिक और निरुपाधिक, या सगुण और निर्गुण; वस्तुतः दो नहीं, केवल दो की-सी प्रतीतिमात्र है। यहाँ 'देवो देवमेतु, सोमः सोममेतु' से जीवन्मुक्त की अवस्था में बताया कि व्यवहारकाल और निर्विकल्प समाधि में दो भिन्न स्थितियाँ नहीं हैं। एक अखण्ड ज्ञानी में दो भावों की प्रतीति जीवान्तरों को भले हो किन्तु अपने में, स्वकीय दृष्टि से तो अभिन्न ही है।

वास्तव में ब्रह्म के ही ये दोनों रूप हैं - एक, ज्ञानी के ज्ञान का विषय है और दूसरा, ध्यानी (उपासक) के ध्यान (उपासना) का विषय बनता है। सोपाधिक ध्येय और निरुपाधिक ज्ञेय है। परब्रह्म तो सोपाधिक-निरुपाधिक दोनों से परे है और उसी में इन दो की प्रतीति हो रही है। यदि प्रमाण-जन्य वृत्ति से देखें तो ज्ञेय की प्रतीति है, भावना-जन्य वृत्ति से देखने पर वही ध्येय है और ध्यानी को सोपाधिक की प्रतीति होती है। ब्रह्म में भेद नहीं, वृत्ति में भी भेद नहीं क्योंकि वृत्तियाँ दोनों में एक ही हैं। जब अंतःकरण की वृत्ति एक अखण्ड को विषय करती है तभी ब्रह्मज्ञान होता है। वृत्ति और विषय - दोनों एक हैं। फिर भेद क्या है? वृत्ति को पैदा करने वाली चीज में फर्क है। यदि वृत्ति भावाधिक्य से बनी तो ध्येय ब्रह्म होने के कारण उसका सोपाधिक रूप हुआ और यदि तत्त्वमस्यादि महावाक्यों से प्रमाणजन्य वृत्ति है तो उसमें ज्ञेयता (निरुपाधिकता) रहेगी। इसी भेद के कारण फल-भेद भी हो जाता है। सोपाधिक भावना-जन्य होने से उपासना में सोपाधिक ब्रह्म की दृष्टि हमेशा बनाये रखनी पड़ती है, क्योंकि भावना टूटने पर वृत्ति भी नहीं रहती। किन्तु प्रमाण-जन्य वृत्ति में यह दृष्टि हमेशा बनाये रखनी नहीं पड़ती क्योंकि उससे अज्ञान नष्ट हुआ है। दोनों के फल और कारण में भेद है, वृत्ति और ब्रह्म में भेद नहीं। ब्रह्म में तो दोनों की (ज्ञानी और ध्यानी की) कल्पना एक-जैसी है, ब्रह्म में ज्ञेय और ध्येय दोनों भाव कल्पित हैं। ब्रह्म न तो ज्ञान का विषय बन सकता है और न ही ध्यान का। इसीलिये श्रुति कहती है - 'यन्मनसा न मनुते' और 'विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्' अथवा 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः' अर्थात् कान जिस शक्ति से सुनते हैं, आँख जिस शक्ति से देखती और मन जिस शक्ति से मनन करता है, उसे कैसे जानोगे! इसलिये कहा कि ब्रह्म में तो सोपाधिक-निरुपाधिक, सगुण-निर्गुण दोनों कल्पित हैं। अखण्ड चिन्मात्र को प्रमाण-वृत्ति से जाना तो ज्ञेय कहा और उसी को यदि भावना-जन्य वृत्ति से जाना तो ध्येय अथवा सोपाधिक कह दिया। दोनों ही एक अखण्ड ब्रह्म में कल्पित हैं, वस्तुतः दोनों ही अखण्ड चिन्मात्र में ही ले जाते हैं, जहाँ भेद की गंध भी नहीं है।

ऊपर बताये चार साधन ज्ञेय के अतिरिक्त ध्येय के भी हैं। इन चारों के द्वारा यदि भावना उत्पन्न हो तो भावना-जन्य ज्ञान सोपाधिक होगा और यदि इन चारों साधनों से ज्ञान उत्पन्न हो तो प्रमाणजन्य होने से निरुपाधिक होगा। फल-भेद यह है कि सोपाधिक में भावना न टूटे, यह ध्यान रखना होगा और ज्ञान प्रमाण-जन्य होने

से उसमें प्रमाणों के टूटने की संभावना नहीं है। दोनों का गन्तव्य एक है, चित्त-वृत्ति एकाग्र होने पर ब्रह्मानुभूति एक ही है। संदेह हो सकता है कि ये दो फर्क क्यों हैं? महर्षि वशिष्ठ कहते हैं कि ब्रह्म-स्वरूप की प्राप्ति दो प्रकार से सम्भव है 'असाध्यः कस्यचिद् योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः।' कोई ध्यान नहीं कर पाता है और किसी के द्वारा ज्ञान नहीं सधता है। ध्यान में प्रमाणों का विचार नहीं होता, ज्ञान में होता है। स्वभाव से दो प्रकार के लोग देखने में आते हैं, एक भावना-प्रधान और दूसरे विचार-प्रधान। भावना-प्रधान ध्यान कर लेता है पर उससे विचार नहीं होता। विचार उसे शुष्क लगता है। दूसरे, कुछ लोग ऐसे भी होते हैं कि बुद्धि से चाहे जितना विचार करा लो, किन्तु ध्यान द्वारा वे चित्त एकाग्र नहीं कर सकते। दोनों में समानता तो चित्त-वृत्ति की एकाग्रता ही है।

भावनामात्र या विचारमात्र न कहकर भावना-प्रधान और विचार-प्रधान कहा है। इसी को ठीक न समझकर साधक घबरा जाता है। केवल विचार से ज्ञान नहीं हो सकता है या केवल भावना से ही ध्यान नहीं हो सकता। इसलिये यह तो ठीक है कि भावना-प्रधान भी विचारक होते हैं। लौकिक दृष्टि में भी कहते हैं कि किसी का दिल चलता है और किसी का दिमाग, लेकिन दोनों एक-दूसरे के अपेक्षित रहकर चलते हैं।

ध्यान करेंगे तो पहले विचार करना पड़ेगा कि जिसका ध्यान करते हैं, वह कौन, क्या और कैसा है और यदि विचार करेंगे तो अनात्मा से ध्यान हटाना पड़ेगा। विचारमें एकाग्रता के लिये भावना की जरूरत है। ध्यान करते ही तादात्म्य नहीं हुआ तो न चित्तवृत्ति की एकाग्रता होती है और न ही विषय की प्राप्ति होती है। जब विचार की एकाग्रता प्रबल हो जाये, सारे विचार नष्ट हो जायें तभी फल की प्राप्ति होती है। यह भी न समझ लेना कि ज्ञान में भावना की जरूरत ही नहीं, ज्ञानी में भी बिना भावना के एकाग्रता नहीं आने वाली, फर्क इतना है कि ज्ञानी ने विचार द्वारा जिस तत्त्व का निश्चय कर लिया, जान लिया, उसी में भावना करता है, या कह सकते हैं कि वह भावना करता नहीं, भावना हो जाती है।

पड़ोस के कमरे में हीरे का हार पड़ा है, यदि दूसरे कमरे में चोर है और तब भी तुम खर्राटे लेते हुए सो रहे हो तो निश्चित है कि या तो वह चोर नहीं है और यदि चोर है तो निश्चित है कि उसे हार का पता नहीं है। ठीक इसी प्रकार यदि हम

चिन्मात्रस्वरूप को जानते हैं, फिर भी दुःखमय जगत् का व्यवहार करते हैं तो दो बातें संभव हैं - या तो हम उसे जानते नहीं हैं, यदि जानते हैं तो निश्चित है कि हमें उस पर विश्वास नहीं है। वह परब्रह्म, नित्य आनंद-स्वरूप परमात्मा प्रतिक्षण हृदय में स्फुरण कर रहा है, और फिर भी तुम संसार के विषयों, अनेक पदार्थों की तरफ प्रवृत्ति करते हो तो निश्चित है कि तुम्हें उस अन्दर स्फुरित आनंद का ज्ञान नहीं है। विचार-प्रधानता होने पर उसे अपनी आनन्द-रूपता का निश्चय है तो फिर दूसरी तरफ से सारी वृत्तियाँ स्वतः हट जाती हैं। दूसरी ओर, भावना-प्रधान शास्त्र आदि द्वारा उसमें विश्वास करके उसी का ध्यान करने में चित्त लगाता है। इसी विचार-प्रधानता या भावना-प्रधानता का दोनों में भेद है।

एक ही काम करने के लिये साधन-भेद हो जाते हैं। जैसे दाल पकेगी अग्नि से ही, यह निश्चित है किन्तु आग के भेद से दाल पकने में भी भेद हो जाता है। पत्थर के कोयले, लकड़ी या बिजली की आग से दाल बनाओ तो दाल में अलग-अलग स्वाद हो जाता है। पत्थर के कोयले की आग से दाल पकाओ तो दाल में धुआँ भर जाने से दाल में एक बदबू आने लगती है, बिजली के चूल्हे से बनाओ तो दाल फीकी लगती है, और लकड़ी की आग जलाकर दाल बनाने पर लकड़ी की सुगंध भी दाल में मिलकर स्वादिष्ट बना देती है। इस प्रकार लकड़ी आदि के भेद से दाल के स्वाद में भेद हो गया, यद्यपि दाल पकेगी केवल आग से ही। सर्वत्र उत्पन्न करने के तरीके में भेद होता है। सिद्ध तो करना है ब्रह्मस्वरूप ही और वह होगा केवल अन्तःकरण की एकाग्र वृत्ति से। वह एकाग्र वृत्ति चाहे ध्यान से हो या ज्ञान अथवा विचार से, किन्तु जब तक एकाग्रता नहीं होगी, फल पैदा नहीं होगा। यही बात महर्षि वशिष्ठ कह रहे हैं कि किसी के लिये योग-साध्य है, किसी के लिये ज्ञान-साध्य। विचारक (ज्ञानी) कहता है कि संशय दूर हो तभी डटे, किन्तु भावुक कहता है कि निश्चय से ही नहीं डट सकते। यही भेद है। आत्मतत्त्व को प्राप्त करने के लिये चतुर्थ साधन 'शम' पर अब विचार करेंगे। शम के अन्दर चित्तैकाग्रता, ध्यान की ही प्रधानता है। भगवान् कृष्ण ने भी गीता में कहा है-

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते'।।

जब तक योगारूढ नहीं होगे, चित्त स्थिर नहीं हो सकता। कर्म तो करना ही पड़ेगा क्योंकि अस्थिर चित्त वाला एक क्षण भी चुप नहीं बैठ सकता। कोई और

काम नहीं होगा तो पैर ही हिलाता रहेगा। योगारूढ के लिये सर्व-कर्मत्यागरूप शम ही साधन है। इसलिये जब योग पर आरूढ हो जाता है तो सर्व-कर्म परित्याग ही शम बन जाता है। विचार से हो या ध्यान से, इसके बिना एकाग्रता नहीं लाई जा सकती, सर्व-कर्म-परित्याग अनिवार्य है। मन के अन्दर जितने अधिक सांसारिक पदार्थों को ठूसते रहोगे, मन में बोझ उतना ही बढ़ता जायेगा। मन को दुनिया के पदार्थों से इतना बोझिल बना दिया तो एकाग्र कैसे होगा!

कलकत्ते में घुड़-दौड़ के लिये एक मैदान है। अगर वहाँ ताँगे वाला घोड़ा लेकर पहुँच जाये कि 'रेस में मेरे घोड़े को भी शामिल कर लो, बड़ा तेज दौड़ता है, क्योंकि एक दिन चाँदनी चौक में दूसरे ताँगे वाले से रेस लगाते हुए यह आगे निकल गया था' तो कोई दौड़ में भाग नहीं लेने देगा। चाँदनी चौक से संन्यासाश्रम तक ताँगे का घोड़ा तेरह मिनट में पहुँच जाता है पर रेस वाला घोड़ा तो एक ही मिनट में पहुँच सकता है। हाँ, ताँगे का घोड़ा आठ सवारियों का बोझा लेकर भी दौड़ता है पर रेस वाला, एक ही सवार ढोता है।

इसी प्रकार जिस मन में शम नहीं, सारे संसार की झंझटों (सवारियों) को अपने में भर रखा है, मन तो वह भी अच्छा है, संसार का काम करने में बड़ा चतुर है किन्तु आत्माकार वृत्ति बनाने के काम का नहीं है। मन में जितना पदार्थों को घुसाओगे उतना बोझ बढ़ेगा। रेल में जा रहे हैं। किसी के पास एक ही सूटकेस है। जैसे ही रेल गन्तव्य स्टेशन पर पहुँची, उस ने झट अपना सूटकेस पकड़ा और चल दिया। हम अभी बिस्तरा बाँध रहे हैं, बहुत आस्तिक हैं, बर्तनों की एक बोरी भी साथ लाये हैं, अब वही बाँधने में लगे हैं। सामान बँध गया तो कुली बुला रहे हैं। कुली ने सामान उतार दिया तो सौदा करने में लगे हैं कि कितने पैसे देने हैं। कुली कहता है, 'बाबू जी डेढ़ रुपया लूँगा।' बाबूजी कहते हैं 'सवा रुपया लेना।' दूसरा तो अपने घर भी पहुँच चुका है और हम अभी टैक्सी वाले से ही बातें कर रहे हैं। यद्यपि टिकट तो तुम्हारा और उस का एक-जितना ही है, लेकिन बोझे में फर्क है। तुम आँख भी इधर-उधर नहीं कर सकते, डर है कि कहीं कुली ही कोई सामान लेकर न भाग जाये, इसलिये कभी दायें तो कभी बायें देखते हो। आजकल भारत में स्टेशनों पर साड़ी आदि के विज्ञापन होते हैं कि अमुक डिजाइन की साड़ी अमुक दुकान से मिलेगी। जिसे वह साड़ी खरीदनी होती है, वह वहाँ जाकर खरीद लेता

है। विदेशियों की नकल करके हिन्दुस्तान वालों ने सोचा कि अपने यहाँ भी विज्ञापन लगा लें। पर यहाँ यात्री सामान सम्भालने में ही इतना परेशान है कि कहीं कुली सामान गायब न कर दे कि उसे फुर्सत ही नहीं कि वह उनपर नजर डाल सके। वह सामान तुम्हारी गति को रोक रहा है और दिमाग को भी भारी कर रहा है। इसी प्रकार यदि अंतःकरण सांसारिक वासनाओं से इतना बोझिल हो गया है तो वह कैसे एकाग्र होगा और कैसे उस आत्मतत्त्व की ओर पहुँच सकेगा? लोग शिकायत करते हैं कि सवेरे ध्यान करने बैठते हैं लेकिन चित्त एकाग्र नहीं हो पाता। एकाग्र हो भी कैसे, बोझे के मारे ही चित्त परेशान है। भर्तृहरि कहते हैं कि अनंत सुख की प्राप्ति तो तब हो जब सर्वथा त्याग की भावना हो। इसीलिये भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद कहते हैं कि शम का एक लव (छोटी-सी बूँद) भी प्राप्त हो जाती है तो अनंत सुख की प्राप्ति हो जाती है। भगवान् सर्वज्ञात्मा महामुनि लिखते हैं कि जिस-जिस पदार्थ से निवृत्त होते जाओगे, वहाँ-वहाँ से विमुक्ति होती जायेगी। इसलिये शम में सर्व-कर्म का, सारी कामनाओं का त्याग करना पड़ेगा। एकाग्र वृत्ति वाला ही सुख-प्राप्ति में समर्थ हो सकेगा। ऐसा व्यक्ति संसार में रहने पर, सारे व्यवहार करता हुआ भी, संसार के पदार्थों को अंतःकरण में नहीं आने देता। एकाग्र वृत्ति वाले को जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों जंगलों में घूमते हुए भी पता नहीं लगता कि वह कहाँ है। घूमते हुए भी वह किसी चीज को अंदर नहीं घुसने देता क्योंकि असंग है। असंग दृष्टि हुई तो ये जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति कुछ भी नहीं कर सकेंगे।

असंग होने का अर्थ है कि जो चीज हो गई, वह पुनः वृत्ति में आकर मोह पैदा न करे। जो मन में ही नहीं घुसी, वह सुख-दुख देने में भी समर्थ नहीं हो सकती। जेब में हजार रुपया पड़ा है और रास्ते में चलते हुए कहीं निकल गया। विवेकी तो जानता है कि 'रुपया है', इसमें 'है' सच्चा और 'रुपया' झूठा; फिर 'रुपया नहीं है' इसमें भी 'है' सच्चा और 'रुपया नहीं' तो झूठा है ही। ज्ञान में ऐसे दृढ निश्चय वाले को कोई दुख नहीं होता। ज्ञानी भी व्यवहार तो तीनों अवस्थाओं में ही अच्छी तरह से करता है किन्तु असंग है। कैसे असंग है इसे बताते हैं कि 'सत्त्वोत्कर्षात् करणहरिणैः नेक्षणीयः पराग्भिः'। जैसे हिरण दौड़ते हैं वैसे इंद्रियाँ-रूप हिरण विषयों की ओर दौड़ते रहते हैं, किन्तु दौड़ने से भी अपने विषय की ओर दृष्टि नहीं ले जा पाते क्योंकि अंतःकरण को सत्त्व के उत्कर्ष से उत्कृष्ट कर लिया है। अंतःकरण को

इंद्रियों का अधिकारी बना दिया है, इसलिये उसपर इन्द्रियों का प्रभाव नहीं पड़ सकता। जब तक अंतःकरण इन्द्रियों के अधीन है तब तक असंग नहीं हो सकता। जब उसे उत्कृष्ट कर लिया तब बाहर की इन्द्रियों से कभी परास्त नहीं हो सकता। फिर वह कैसा व्यवहार करता है? 'लीलावृत्तिः प्रशमितमहामोहमत्तेभजालः'। वह बाह्याचरण तो खेल-खेल में ही करता है। खेल में आसक्ति नहीं होती, हार-जीत में कोई सुख-दुख नहीं होते क्योंकि वहाँ हार-जीत मानी हुई है। ताश भी दो तरह से खेलते हैं, एक झूठे नोटों से और दूसरा रिज़र्व बैंक के नोटों से। झूठे नोटों से खेलने वाला खेल खतम होने पर हार-जीत होने पर भी ताश का मालिक सारे नोट अपने ही पास रख लेता है। दूसरी तरफ, जुआरी जुआ खेलते हैं तो खेल खतम होने पर जो जिसके पास है, अपने मनीबेग में ले जाता है। हारने वाला दुखी होता है। जो सच्चा मानकर खेल रहा है, आसक्त है उसे सुख-दुख होते हैं। लोग कहते हैं, भगवान् ने जगत् मिथ्या क्यों बनाया? क्योंकि खेलना है, हार-जीत भी होनी है। अन्त में सारे मिथ्यात्व को परमेश्वर को ही सौंप कर आनंद से चले जाओ, कोई आसक्ति नहीं होगी, सुख-दुख नहीं होंगे। अब इस झूठे को ही तुमने सच्चा मान रखा है तो भगवान् बेचारे क्या करें!

महामोहरूप हाथी सर्वथा असत्य को सत्य मान लेने वाला, फँस जाता है, पकड़ा जाता है। हाथी जब कामुक होता है, तब उसे कुछ भी नहीं सूझता इसीलिये लोग उसे पकड़ लेते हैं। गड्ढा खोदकर उसके चारों तरफ बाँस की पाँच-सात फचट्टियाँ लगा देते हैं। गड्ढे के बीच हथिनी-जैसा दीखे ऐसा पुतला खड़ा कर देते हैं। कामुक होने के कारण हाथी उसे देखकर पकड़ने दौड़ता है। जैसे ही वह नजदीक पहुँचता है कि धड़ाम से गड्ढे में गिर पड़ता है। इसी प्रकार वस्तुतः जगत् और जगत् के पदार्थ सर्वथा मिथ्या होने पर भी अविवेकी उन्हें सच्चा मानकर उन्हें पकड़ने दौड़ता है और नीचे गिर पड़ता है। महामोह और अविवेक के कारण विचार नहीं करता अतः कष्ट में पड़ जाता है, विवेकी उन बन्धनों को छुड़ा लेता है। ऐसा व्यक्ति कहाँ जाता है? कहते हैं 'कालातीते विलसति पदे स्वात्मकण्ठीरवो नः।' कालातीत पद में चला जाता है। आसक्ति का मूल काल ही है। जब यह निश्चय हो जाता है कि जहाँ मैं हूँ वहाँ भूत, भविष्य वर्तमान कुछ भी नहीं, मेरा उनसे कोई मतलब ही नहीं, तब समझ आता है कि ये हमारे अपने ही अनुभव से उत्पन्न

कण्ठीरव (ध्वनि-मात्र) हैं। सृष्टि के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करने वाला कण्ठी-रव मेरा ही है। अतः अपना ही शब्द अपने में सुनता है, जैसे स्वप्न में सुनते हैं। जब प्रशमित हो जाता है, एकाग्रवृत्ति को प्राप्त कर लेता है, तब पहले जो दीखता था वह उसके सामने कुछ भी नहीं रहा, केवल उसी एक का अनुभव रह गया है। जो सृष्टि वह पहले देखता था, अब नहीं है, जो अब देखता है वह पहले नहीं थी, ऐसा विचित्र अनुभव उसे हो जाता है।

लोक में भी परिस्थिति बदलने से अनुभव बदल जाता है। जैसे दुश्मन के घर की लड़की यदि ब्याह कर अपने यहाँ आ जाये तो उसी को तिजोरी की चाबी देकर मालकिन बना देते हैं। भगवान् कृष्ण और रुक्मिणि की कथा आती है कि रुक्मिणी का भाई भगवान् का बड़ा विरोधी था और यह दृढ निश्चय था कि यह विरोध बना ही रहेगा। भगवान् जब रुक्मिणि का हरण करने गये तब उसके भाई को बाँध दिया, कोई कुछ नहीं कर सका। बाद में जब भगवान् ने द्वारिका बसाई तो वहाँ की पटरानी रुक्मिणी को ही बना दिया। अपनी पत्नी बनने से दृष्टि बदल गई। ऐसे ही यह सारा संसार माया का कार्य है, इसलिये दुश्मन है, पर जब उसे वश में कर लिया तब इसका रूप बदल जाता है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि पहले मनुष्य की दृष्टि यह होती है-

'विषमिव विषयान्यः मन्यमानो दुरन्तान्
कुणपमिव सुनारीं त्यक्तुकामो विरागी।।'

इस संसार के विषयों को विष की तरह देखता है, विषयों में उसे विष-प्रतीति होती है। ऐसा व्यक्ति सुन्दर से सुन्दर नारी को भी मुर्दे की तरह देखता है। लेकिन तत्त्वज्ञान होने पर उसके लिये सारा जगत् नन्दन-वन (इंद्र का बगीचा) दीखता है जहाँ कल्प-वृक्ष लगे हैं, सारी इच्छायें पूर्ण हो जाती हैं। आचार्य लोग कहते हैं कि ऐसे नन्दनवन में महामोह को प्रशमित करने वाला सत्य-संकल्प हो जाता है, संकल्प करते ही सद्यःपूर्ण हो जाता है, फिर किसी की ताकत नहीं जो रुकावट डाल सके।

'सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिचयाः पुण्याः समस्ताःक्रियाः।।' (बोधसार श्लो१९०४)

वह जिस जल में स्नान करता है, वही गंगाजल हो जाता है, जो भी क्रिया करता है वही पुण्य हो जाती है। जो वाणी निकालता है, वह आत्मज्ञान देती वाणी

होती है। ऐसी दृष्टिवाले के लिये समस्त पृथ्वी काशी है, सारे पदार्थों में उसकी अखण्ड दृष्टि बनी रहती है। लेकिन यह तभी होता है जब शम-दृष्टि बनती है। शम-दृष्टि तभी बनेगी जब सारी कामनाओं को छोड़कर मन को हलका करते जायें। जब तक इन्द्रियों से व्यवहार में न्यूनता नहीं होगी तब तक मन का बोझ हल्का नहीं हो सकता। भगवान् शंकर भगवत्पाद कहते हैं

'संन्यस्य कर्म निगडं श्रुतिसारसौख्ये
विन्यस्य चित्तमभयात्मनि निर्वृतो यः।'

तत्त्वज्ञने कर्म-शृंखलाओं को तोड़ दिया है। क्योंकि कर्म दूसरी चीजों की अपेक्षा रखते हैं, इसलिये निगड, साँकल, जंजीर हैं। उसके लिये शास्त्र-विचार का कर्म भी नहीं रहता। जैसे चावल को निकाल लेने के बाद धान को फैंक देते हैं, इसी प्रकार वह भी ग्रंथों के विस्तार को छोड़ देता है। इस प्रकार सारी शृंखलाओं को तोड़कर श्रुति-सार में ही चित्त का विन्यास कर लेता है। अब अभयात्मा में स्थिर हो जाता है। वही धन्य है, कृतकृत्य है, वही मान्य है और उसका ही कुल धन्य है। चाहे विचारपूर्वक सर्व-कामनाओं को त्याग कर फल प्राप्त करे अथवा परमात्मा की सत्यता को ध्यान से समझकर प्राप्त करे, उसके लिये कोई अन्तर नहीं। किन्तु जब मोह प्रशमित होता है, तभी शम, इन्द्रिय-निरोध पूर्ण होता है। संक्षेप में चारों साधनों के द्वारा ज्ञेय-ध्येय की प्राप्ति के फल-स्वरूप अखण्ड चिन्मात्र की ही प्राप्ति होती है।

प्रवचन- ३८

दुष्कर्मत्याग

१५-८-६८

पहले दो मंत्रों में आत्म-तत्त्व का स्वरूप सृष्टिक्रम से निरूपण किया और फल का निरूपण भी किया कि कैसे में स्थिति होती है। इतना ही नहीं, ऋत मार्ग का निर्देश किया जो इन स्थितियों तक पहुँचने का साधन है। फिर भी उस तत्त्व की प्राप्ति मनुष्य को होती क्यों नहीं, यह तीसरे मंत्र में बता रहे हैं। **'विहाय दौष्कृत्यम्॥३॥'** जिसने दुष्कृत्य का त्याग नहीं किया उसे आत्म-तत्त्व की प्राप्ति हो नहीं सकती। शास्त्रों ने बार-बार यह नियम बताया है। यजुर्वेद की श्रुति भी कहती है

'नाविरतो दुश्चरितात् नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥'

जिसने असद् आचरण का परित्याग नहीं किया, जिसने अपने आपको विषयों के विक्षेप से नहीं हटा लिया, जिसका चित्त परमात्मा के प्रेम में बाकी सब कुछ भूलकर एकाग्र नहीं हो गया, जिसका मन संसार के पदार्थों से तृप्त नहीं हो गया, वह प्रज्ञा द्वारा भी आत्मतत्त्व प्राप्त नहीं कर सकता। यही बात अथर्ववेद कहता है 'न येषु जिह्मम् अनृतं न माया।' जिनमें कोई दुष्कर्म नहीं रहा, जिन में न अनृत और न माया है, उन्हें ही आत्म-तत्त्व की प्राप्ति सम्भव है। जब तक मनुष्य दुष्कृत्यों को नहीं छोड़ता आत्म-तत्त्व की प्राप्ति सम्भव ही नहीं। जैसे यजुर्वेद और अथर्ववेद इन दो श्रुतियों ने बताया वैसे ही सामवेद-श्रुति इस मंत्र में बताती है कि जिसने समस्त दुष्कृत्यों को छोड़ दिया है, वही उसे प्राप्त कर सकता है।

दुष्कृत्यों को कैसे छोड़े और इनका फल क्या है? कौन-कौन दृष्कृति है? इतना समझ लो कि मनुष्य के मन में एक दृढ संस्कार बैठ गया है कि बिना दुष्कर्म के

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।'

आने का हेतु बताया कि जब-जब अधर्म का उत्थान, परिवृद्धि होती है तब-तब आना सार्थक है। अधर्म परिवृद्ध होने से धर्म की कमी होती है। इसी हेतु से वे संसार में अपने को लाते हैं। फिर कहा कि साधुओं के परित्राण और दृष्कृतियों के नाश के लिये प्रकट होते हैं। धर्म और अधर्म कहाँ रहते हैं? इस प्रश्न को हिन्दू जनता आज भूली हुई है। कोई समझता है कि धर्म कहानियों में, कोई मन्दिरों में अथवा पुस्तकों या वेदान्त की बातों में धर्म समझता है। हम कहते हैं कि सारी रामायण कंठ कर लो तो धर्म वहाँ नहीं है। धर्म तो जीव में ही रहेगा। 'सत्यं वद' ये चार अक्षर ही धर्म नहीं हैं। तुम्हारा सत्य बोलना और तुम्हारे अन्दर रहने वाला सत्य ही धर्म है। यदि पुस्तकों में धर्म लिखा है तो पाप भी लिखा है। रामायण में राम और रावण दोनों का चरित्र है। यदि राम-चरित्र पढ़ने से पुण्य होता तो रावण-चरित्र बाँचने से पाप भी होगा!

फिर धर्म क्या है? जब रामसदृश आचरण करोगे तब धर्म होगा। धर्म अंतःकरण या जीव में रहता है। यदि मन्दिर में धर्म होगा तो आगे सुख-दुख, पाप-पुण्य मन्दिर को होता, तुम्हें नहीं! धर्म तो तुम्हारे अन्दर है। हिन्दू यह भूल गया है। इसलिये जो अपने को अत्यंत धार्मिक समझता है, रोज गीता के अध्याय पढ़ता है, दूसरों को भी सुनाता है, वही दूसरे क्षण ठगी करता है, लोगों की जेब काटता है, ध्यान-जप करते हुए भी महान् से महान् दुष्कर्म करने में एक मिनट की देरी नहीं लगाता। फिर भी हिन्दू को यह कहने में संकोच नहीं होता कि वह धर्मात्मा है! लोग कहते हैं कि बड़े धर्मात्मा हैं लेकिन उनके व्यवहार को देखो तो पता लगता है कि वे विधवा औरतों को मकानों से निकाल देते हैं, नौकरों से सारा दिन काम कराते हैं और कभी भी खाने-पीने की खबर नहीं लेते।

हिन्दू को लगता है कि धर्म तो केवल टट्टी से आकर मिट्टी से हाथ धोने, स्नानादि करने, तिलक लगाने या मंदिर-सत्संग में जाने में ही है। इसलिऐ लोग ऐसे व्यक्ति को ही धार्मिक कह देते हैं। और यदि कहीं वह व्यक्ति कोई कथा सुना दे तब तो क्या कहना! वह बहुत बड़ा विद्वान् कहलाता है। कोई क्या बोलता है, इसका महत्त्व नहीं है, धर्म तो हृदय में प्रविष्ट होकर आचार में प्रकट होना चाहिए।

प्रवचन ३९-५४

दिनांक १५.८.६८ का प्रवचन अधूरा ही उपलब्ध हुआ। इसके बाद १६ तारीख से ३१ तारीख तक के प्रवचन उपलब्ध नहीं हैं। इन दिनों में निम्नोक्त मंत्रों का व्याख्यान हुआ–

बद्वानामासि सृतिः सोमसरणी सोमं गमेयम् ॥४॥ पितरो भूः पितरो भूः पितरो भूः॥५॥ नृमण ऊद्ध्र्वभरसं त्वोद्ध्र्वभरा दृशेयम् ॥६॥

इनका यज्ञानुरूप अर्थ सायणाचार्य के भाष्यमें उपलब्ध है। महाराजश्री ने क्या व्याख्यान किया इसका संकेत प्रचन ६३ में मिलता है। अक्षरार्थ है : मार्ग! तुम्हरा बद्वा नाम है। [बद्वा अर्थात् स्थिर।] तुम सोमप्राप्ति के साधनभूत मार्ग हो। तुम्हारे रास्ते मैं सोम तक पहुँचूँ।।४।। हे पितरो! दक्षिणवेदीका अन्तिम भाग आपके निवासार्थ स्थान है, यज्ञपूर्ति तक यहाँ रहें। (तीन पीढियों केलिये तीन बार कहा।) नरों की बुद्धियों पर अनुग्राहक मन वाले विष्णुरूप यूप! ऋत्विकों द्वारा ऊपर उठाये तुम्हें उन्नत गुणों वाला समझूँ।।६।।

सप्तम मन्त्र से प्रवचन-शृंखला उपलब्ध है।

अन्तः और बाह्य भेद से विषय दो प्रकार के होते हैं। इन्द्रियाँ बाह्य जगत् को देखती हैं। मन का दृश्य अन्तर्जगत् है। इसीलिये सुख-दुःख, काम-क्रोध आदि मन से ही दीखते हैं, इन्द्रियों से नहीं। सुख बाह्य विषय नहीं है। एक ही पदार्थ एक ही साथ एक को दुःख और दूसरे को सुख दे सकता है। एक की दो पत्नियाँ आपस में सौत होती हैं। जो पत्नी अधिक सुन्दर होती है, वह पति को सुख देती है, लेकिन वही अपनी सौत को दुःख भी देती है। यहाँ एक ही चीज सुन्दरता, पति को सुखी करती है और सौत को दुःखी। अथवा मान लो तुमने एक बढ़िया सुन्दर मकान बनाया। तुम्हारे साथ एक ही पद पर काम करने वाला दूसरा व्यक्ति है। तुम्हें तो वह मकान सुख देगा। तुम्हारे लिये गर्व का विषय होगा। उस सहकर्मी को उसी मकान के कारण ईर्ष्या से जलन होकर दुःख होगा। अतः निश्चित है कि संसार के पदार्थों में नियम नहीं है कि सुख ही देंगे या दुःख ही देंगे। सुख-दुःखादि अंतःकरण के विषय माने गये हैं। बाह्य विषयों के बारे में लोगों का मतैक्य हो सकता है, लेकिन अंतर्विषयों में नहीं हो सकता। यदि सामने सफेद चीज है तो सभी आँख वालों को सफेद ही दीखेगी, हरी है तो हरी ही दीखेगी। ऐसे ही ध्वनि सभी कानवालों को एक-जैसी ही सुनाई देगी। काम-क्रोधादि अंतःकरण के विषयों में सदा मतभेद एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गंध आदि बाह्येन्द्रियों के विषयों में एकमतता होती है। यही दो प्रकार के विषय हैं।

आत्मानुसन्धान में लगने पर मन को राग-द्वेषादि विषयों से हटना ही पड़ेगा। इसका कारण यह है कि मान-अपमान, राग-द्वेष, शीत-उष्ण, काम-क्रोधादि सभी द्वन्द्व या जोड़े हैं। शिव का स्वरूप ही निर्द्वन्द्व है। शिव एक है, जोड़ा नहीं। निर्द्वन्द्व का विचार करने वाला मन द्वन्द्व की तरफ नहीं जा सकता। निर्द्वन्द्वता का अनुभव करने वाला साथ ही साथ द्वन्द्वता को अनुभव करने में असमर्थ होता है। मन तो एक है। उसे द्वन्द्व की तरफ ले जाओगे तो निर्द्वन्द्वता से दूर होगा। उस्तरासे दाढ़ी ही बनेगी, साग नहीं कटेगा। उस्तरे से साग छीलने लगोगे तो ठीक तरह से नहीं छिलेगा। तेज धार से थोड़ा छिलका उतारना चाहो तो भी मोटा ही उतरेगा। तेज उस्तरा कोमल बालों को ही सही काट सकता है। थोड़े दिन तक उससे साग छीलो तो वही उस्तरा साग को बढ़िया छील लेगा लेकिन अब दाढ़ी बनाने के काम का नहीं रह जायगा। उस्तरा या चाकू धार किया हुआ एक लोहा ही है, वही यदि अत्यंत तेज धार वाला

हो तो सूक्ष्म चीज को विषय करेगा, दाढ़ी बना देगा; यदि कम धार वाला है तो मोटी चीज को विषय करेगा, साग बनाने के काम आयेगा। इसी प्रकार पंचमहाभूतों के सत्त्वगुण से ही यह मन उत्पन्न हुआ है। उस्तरे में लोहे की तरह मन में पंचमहाभूत हैं। धार की जगह सत्त्वगुण की अधिकता है। भुथरा करनेवाले रजोगुण-तमोगुण हैं। जितना रजोगुण-तमोगुण निकलेगा उतना सत्त्वगुण बढ़ता जायेगा, यही धार की तेजी का बढ़ना है। जितना रजोगुण-तमोगुण मिलेगा उतनी ही धार मोटी होती जायेगी। संसार में द्वन्द्व ग्रहण करने के लिये तो मोटी धार की जरूरत है लेकिन निर्द्वन्द्व शिव को विषय करने के लिये धार पैनी ही चाहिये। जैसे-जैसे मन निर्द्वन्द्व शिव को विषय करेगा, वैसे-वैसे उसकी द्वन्द्व ग्रहण करने की सामर्थ्य कम होती जायेगी। चाकू की धार और मोटी करो तो फिर लकड़ी ही काट पाओगे। लकड़ी काटने वाला औजार साग छीलने के काम का भी नहीं रहता। इसी प्रकार अंतःकरण में रजोगुण-तमोगुण को अत्यधिक बढ़ाने से जो मन उनके द्वारा अत्यंत आक्रांत हो जाता है उसमें फिर बुद्धि ही नहीं रह जाती है। यही पशुभाव है। पशु में भी मन तो है लेकिन रजोगुण-तमोगुण इतने अधिक हैं कि वे धर्माधर्म का विचार कर ही नहीं सकते हैं। मनुष्य भी यदि उसे मोटा करता रहता है तो अंत में पाशविक मनवाला हो जाता है।

सबसे पहले पदार्थों की नियंत्रणविधि द्वितीय महायुद्ध में ही शुरू हुई थी। तभी चोरबाजारी का आरंभ भी हुआ। उस समय रात के समय चुपचाप छिपकर नियंत्रित चीजें बेची जाती थीं। चोरों की तरह छिपकर बाजार करने को इसीलिये चोर-बाजारी कहा गया। कोई परिचित रुपया दे तो उससे भी कहते थे कि रात में आना। उस समय किसी को यह कहते 'तू चोरबाजारी करता है', तो उसे चोट लगती थी, बुरा मान जाता था। सफाई में कहता था कि कोई परिचित माँगने आये तो क्या करें, देना ही पड़ता है। उस समय तक चोरबाजारी करने वाला मन भी सूक्ष्म था। अतः समझता था कि यह काम ठीक नहीं है। समय बदला, दुकान में खुले-आम कहा जाने लगा 'चीज हमारे पास तो है नहीं, ब्लैक में कहो तो मँगा दूँगा।' आड़ अब भी थी। यह साग छीलने वाले चाकू की सूक्ष्मता है। समय पर राग-द्वेष से आक्रांत होकर काम, क्रोध आदि हो जाने पर भी बाद में जानता है कि बुरा किया। द्वन्द्व तो है लेकिन उसे बुरा समझता है। कामना उत्पन्न हो गई लेकिन बाद में होश आने पर सोचता है, बुरा किया। अभी 'ब्लैक में दूँगा' नहीं कहकर 'मेरे पास नहीं, दूसरे से ब्लैक में मँगवा दूँगा' ऐसा कहता है। अब तीसरी सीढ़ी चढ़ी, 'यह बुरा है'

मन और इन्द्रियों के विषयों में द्वन्द्व नहीं रहा तो मन भी निर्द्वन्द्वता को ग्रहण करता है। वह विषयों को स्वरूप से अभिन्न देखता है। उनकी भिन्न सत्ता नहीं मानता, समझता है कि सब मद्रूप ही है। नतीजा यह होता है कि स्वरूप से कभी गिरता नहीं। अपने आप से किसी को कभी भी आसक्ति नहीं होती। आसक्ति को काटने का सबसे बड़ा हथियार यही अद्वैतज्ञान है। आसक्ति सदा द्वैत में ही संभव है। लोगों का अनुभव भी है कि विवाह से पहले पत्नी के लिए जितनी छटपटाहट होती है, दस-पन्द्रह दिन बाद उतनी नहीं होती। चाहे वह गान्धर्व, प्रेमविवाह हो या कोई और, सब विवाहों का यही अंत है। सालभर बाद नाममात्र भी छटपटाहट नहीं रहती। दो-तीन साल के बाद तो लगता है, 'पड़ौसी की औरत दीखती भी अच्छी है, भोजन भी अच्छा बनाती है, बच्चों को भी अच्छा रखती है। पत्नी कुछ भी अच्छा नहीं करती।' अब तो निभाना ही निभाना रह जाता है। ऐसे ही पत्नी की दृष्टि में पड़ौसिन का आदमी घर की भी अच्छी देखभाल करता है, काम भी अच्छा करता है, बच्चों को भी पढ़ाता है। पति व पत्नी की दृष्टियों में इतना फर्क आ जाता है। क्या हो गया है? वह अपने से एक हो गई, या एक हो गया। इसीलिये जहाँ भिन्नता या द्वैत है वह चीज आकर्षण वाली दीखती है। जो अभिन्न हो गयी उसकी आकर्षणशक्ति समाप्त हो गई। ऐसे ही संसार को अपना स्वरूप, अपने से अभिन्न करोगे तो बाहर भिन्न कुछ रहेगा ही नहीं अतः कोई कामना भी नहीं रह सकेगी। जो संसार से अभिन्न हो गया उसका अंतःकरण कामना कर ही नहीं सकता। बिना कामना के द्वैत कभी फूल नहीं सकता। द्वैत को फुलाने का साधन कामना ही है। जितनी-जितनी कामना नष्ट करोगे, द्वैत सूखता जायेगा। अतः कहा है 'मनसः इन्द्रियार्थेषु असक्तः तनुमानसः' तनुमानसा में द्वैत अत्यल्प हो जाता है। बस उतना ही रहता है कि विषयेन्द्रिय-संयोग हो सके। प्रतीति होने पर एक क्षण के लिये भेद-प्रतीति होते-न होते ही उसे काट देता है। द्वैत स्थिर नहीं हो पाता द्वैत अपने संस्काररूप पैर नहीं जमा पाता। तनुमानसा की प्राप्ति कैसे हो? इसके साधन हैं

'पूजाजपेशगुणरूपविलासनाम्नां
युक्तिप्रियेण मनसा परिशोधनं यत्।'

शरीर को परमेश्वर के कार्य में ही लगाना पूजा है। जप के द्वारा वाणी भी परमेश्वर में ही लगाई जाती है। ज्ञानेन्द्रियों को भी परमेश्वर के चिन्तन में ही लगाना

है। कहो कि परमेश्वर-चिन्तन करते-करते थक जायें तो क्या करें? कहा कि इसे बोझा मान कर मत करना, फिर थकावट आयेगी ही नहीं। वेदान्त की साधना से अन्य साधनों में यह सबसे बड़ा फर्क है। अन्य साधन हठपूर्वक करने हैं लेकिन वेदान्त यह नहीं मानता। वेदान्त का सिद्धान्त है 'लालयेत् न तु ताडयेत्' डंडा मार कर नहीं, खेल-खेल में बड़े प्यार से ही मन को निष्ठा करानी चाहिये। आज की शिक्षापद्धति दण्ड पर आधारित है। कहोगे, उल्टा पहले तो डंडा मारते थे, आजकल नहीं मारते। लेकिन विचारने से समझ जाओगे कि आज का डंडा तो सबसे जबरदस्त है। वह है इम्तिहान का डंडा। लड़कों को हमेशा इससे डर लगता रहता है। दूसरा डंडा है कि तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण होने वाले को विश्वविद्यालय में भर्ती नहीं किया जायेगा। तीसरा डंडा है कि विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण हो भी गये तो प्रतियोगी परीक्षाओं में सर्वोच्चों में न आ सके तो नौकरी नहीं मिलेगी। नौकरी भी मिल गई तो वैभागिक परीक्षाओं में विशेषयोग्यता न लाने पर स्थाई नहीं बनाये जाओगे। दस-बीस साल तक अस्थायी ही रहना होगा। यही कारण है कि किसी की भी तबियत पढ़ने में लगती ही नहीं। हमारे शास्त्र में लिखा है कि बड़े प्रेम से पढ़ाओ। उपनिषदों में तो केवल पढ़ने-पढ़ाने का ही विषय आता है। कहीं इम्तिहान नहीं लिया गया। काम करते-करते २५-३० साल हो गये, अब भी सोचते हैं कि दुकान में कम फायदा हो रहा है, परमेश्वर शायद परीक्षा ले रहे हैं। परीक्षा के संस्कार बाद तक चलते हैं। उपनिषद् में कहीं यह नहीं आता कि परमेश्वर ने या गुरु ने कभी अपने शिष्य की परीक्षा ली। जिसकी जितनी इच्छा होती थी उसे उतना ही पढ़ाते थे। देखा कि अब इसकी इच्छा समाप्त हो गई है तो घर भेज देते थे। इसी प्रकार यदि मन को लालन से, बड़े प्रेम से लगायेंगे तो लगेगा, यदि डंडा दिखाया तो थोड़ी देर के लिये दबेगा लेकिन मौका देखते ही दौड़ जायेगा और गुल्ली डंडा खेलने लगेगा। इसलिये कहा कि परमेश्वर के अनंत गुणों में ही विलास करते रहो। यही मन का लालन है। जो युक्तिप्रिय होगा, वही मन का लालन कर सकेगा। तब जो शोधन होगा, वह डंडा मार कर नहीं होगा। युक्ति से मन परिशुद्ध करते जाओगे तो वह शुद्धि स्वाभाविक बन जायेगी।

दक्षिण के चोल राज्य में वासुदेव नाम का एक लड़का पैदा हुआ। उसके पिता बड़े बहादुर थे। वे विष्णु के भक्त थे। जब लड़का बड़ा हुआ तो पिता ने उसे अच्छी

ए., एम. ए पास करके भी निकला है, वह भी पहले दिन यही कहता है कि आज से नियम किया कि किताब नहीं पढ़नी। जैसे कोई यात्री तीर्थ-यात्रा करने चला। वहाँ पंडों ने तंग किया। कहने लगे- तीर्थ में कुछ छोड़ कर जाना पड़ता है, इसलिये तुम भी कुछ छोड़ जाओ। पंडों ने चूंकि बहुत तंग किया था, इसलिये वह कहता है 'मैंने तो तीर्थ जाना ही छोड़ दिया, यही छोड़ जाता हूँ।' ऐसे ही घर के माता-पिता, मित्र सब लड़के के पढ़ने के पीछे ही पड़े रहते हैं। एक दिन वह तंग आ जाता है और अंत में कहता है कि आज से किताबें ही छोड़ी । योग्य व्यक्ति समझता है कि लड़का दो साल भले ही न पढ़े, लेकिन उसे पढ़ने का शौक लगना चाहिये। उसे उस आनंद का पता लग जाना चाहिये, बाद में तो वह अपने आप ही पढ़ने लगेगा।

इसी प्रकार वासुदेव को भी अर्चना आदि का आनंद मिलने लगा तो विवाह के बाद भी वह उसमें लगा रहा। धीरे-धीरे उसका सारा धन समाप्त हो गया। राजा का कर भी नहीं चुका पाया। राजा ने आदमी भेजे कि वासुदेव से कर वसूल कर लाओ। वासुदेव के पास एक हजार फौज थी, उसने कर देने से मना कर दिया और डट कर युद्ध किया, राजा की फौज हार गई। अब राजा खुद भी फौज लेकर आया, फिर भी उसने डटकर युद्ध किया। राजा यह देखकर प्रसन्न हो गया और संधि -प्रस्ताव रखा। वासुदेव भी मान गया।

राजा ने कहा 'तुमने हमारी सेना लेकर भी हमसे युद्ध किया, इसलिये यह अपराध क्षम्य नहीं। फिर भी हम तुम्हारी बहादुरी से प्रसन्न हैं इसलिये तुम्हें दण्ड तो नहीं देते लेकिन कर तो तुम्हें भरना ही पड़ेगा, नहीं तो जेल में रहना पड़ेगा।' वासुदेव के पास धन तो था नहीं, वह जेल में ही रह गया। उसका तो यही नियम था कि सहस्र कमलों से भगवान् शंकर की अर्चना और सहस्र आदमियों को भोजन कराये। अब यह नियम जेल में कैसे पूरा हो? वह छटपटाता रहा। तीन दिन बाद भगवान् शंकर ने विचार किया 'मेरा भक्त कष्ट पा रहा है।' उसी समय भगवान् शंकर जेल में पहुँचे और वासुदेव से कहा, 'काञ्ची में अमुक जगह धन गड़ा है, वह लेकर तुम राजा का कर भर दो।' वासुदेव ने राजा से आज्ञा माँगी 'मुझे काञ्ची नगरी जाने दें।' राजा ने दस-पाँच अफसर उसके साथ कर दिये। काञ्ची पहुँचकर उसी जमीन से धन लेकर राजा का कर भी भर दिया और जो धन बचा उससे अपना नियम फिर से शुरू कर दिया। धीरे-धीरे वह धन भी खर्च हो गया। अब दुःखी रहने लगा। नियम उसे तोड़ना नहीं था। उसे एक विलक्षण बात सूझी। उसने विचार किया

कि धनवानों को क्या अधिकार है कि इतना धन अपने पास रखें और गरीबों के पास कुछ भी न रहे! अब वह अमीरों को लूटने लगा, डाकू बन गया। दिन-दहाड़े ही वह उन्हें घेर लेता और कहता- 'जो कुछ है, सब दे दो।' औरतों की बेइज्जती नहीं करता था उनसे कहता था कि 'अपने सारे गहने खोलकर मुझे दे दो।' इस सारे लूटे हुए धन से अपने प्रयोग के लिये वह एक पैसा भी न लेता। सारा भोजनादि में ही खर्च कर देता। यद्यपि उसका उद्देश्य ठीक था, लेकिन करने का तरीका गलत था। भगवान् शंकर भी सोचने लगे कि यह भक्त तो है जो अच्छे उद्देश्य के लिये धन लूट रहा है, इसलिये दोष की प्राप्ति तो नहीं होगी लेकिन यह एक बुरा आचरण हो जायेगा, इसलिये इसे अब रास्ते पर लाना चाहिये।

एक दिन वासुदेव ने देखा कि एक सेठ-सेठानी खूब हीरे के गहने पहने आ रहे हैं। उसने आवाज लगाई 'सारा का सारा गहना यहाँ रख दो।' उन्होंने कहा 'सारा क्या करोगे, एकाध ही ले लो।' वासुदेव नहीं माना। उन्होंने भी अपने सारे गहने खोलकर उसे दे दिये। गहनों की पूरी गठरी हो गई, बड़ा प्रसन्न हो गया। उठाने लगा तो वह पोटली टस से मस न हुई। साथियों को भी बुलाया, बड़ा जोर लगा लिया लेकिन पोटली न हिली, न डुली। अब वासुदेव का माथा ठनका, 'मैं तो इससे भी दुगना भार उठाने वाला हूँ, आखिर इतना भार शरीर पर लेकर ये भी तो जा रहे थे।' उसी समय सेठ के पास जाकर पूछा 'आप कौन हो? कहीं मंत्र-जंत्र से गठरी को भारी कर दिया होगा, इसलिये बताओ कि क्या मंत्र है।' सेठ कहने लगा 'जाने दे, मैं बहुत दूर से आया हूँ।' पूछा, 'कहाँ से आये हो?' कहने लगे, 'मैं कैलास से आया हूँ और यह पार्वती है।' यह सुनकर ही वासुदेव रोने लगा। कहा 'आपने हमारे लिये ही इतना कष्ट किया।' भगवान् शंकर कहने लगे, 'तुझे बताना था कि प्राणिमात्र के हृदय में मैं ही रहता हूँ। निर्धन के हृदय में हूँ तो धनवान् के हृदय में भी तो मैं ही हूँ। तूने मुझे धनवानों में देखना नहीं सीखा, इसलिये तुझे सिखाने आया हूँ। यद्यपि ध्यानकाल में तू हमेशा मुझे दरिद्र-रूप में ही देखता है, भस्मी रमाई हुई है, पास में भी कुछ नहीं है, इसलिये तूने सोचा कि केवल दरिद्र ही शंकर-रूप है। यही सिखाने आया हूँ कि धनीरूप भी मै हूँ। इसलिये अब धनी-निर्धन के द्वन्द्व को छोड़ और निर्द्वन्द्व को ग्रहण कर। अब नित्य निरंतर मेरा चिंतन कर इसी से ज्ञान-निष्ठा और आत्म-दृष्टि को दृढ कर।' अब वासुदेव को आत्म-निष्ठा प्राप्त हो गई।

वासुदेव के जीवन में एक क्रम है। पहले तो उसे सांसारिक इच्छा हुई कि कमलिनी के साथ विवाह करना है। वह वास्तव में भक्त बनने नहीं गया था लेकिन

किसी भी कारण से सही, भक्ति से यदि सम्बन्ध हो जाये, किसी भी निमित्त से जप करे तो उससे अंतःकरण शुद्ध हो जाता है। तब शुभ कार्यों में प्रवृत्ति स्वाभाविक हो जाती है। इसलिये विवाह के बाद भी उसका अर्चना और दानादि कर्म नहीं छूटा। निरंतर शुभ-कर्मों में प्रवृत्ति होने से संसार की तरफ से अनेक विघ्न-बाधायें भी आती हैं, शुद्ध-कर्म में सभी रोक लगाने आते है। कोई जुआ खेलकर दरिद्र बन जाये तो उसके साथ सबकी सहानुभूति होती है कि बेचारा दरिद्र हो गया। यदि कोई दान-पुण्य करके निर्धन हो जाये तो कोई भी सहानुभूति नहीं दिखाता। व्यापार में नुक्सान हो जाये तो लोगों को बड़ी हमदर्दी रहती है। यदि कहीं मन्दिर बनवा दिया और उसपर कोई आपत्ति आ गई तो कोई हमदर्दी नहीं रहती, उल्टा लोग याद दिलाते हैं कि यह सब तेरे ही कारण हुआ जो तू इधर-उधर पैसा खर्च करता रहा। घर में बहू लेटी है और भोजन में देरी हो गई तो कहते हैं 'थक गई होगी।' लेकिन अगर प्रातः काल उठकर जप आदि करने में लग गई और भोजन बनने में देरी हो गई तो सहन नहीं होता। यह स्वभाव है कि लेटना तो बर्दाश्त हो जायेगा लेकिन पूजा करने लगे तो कहते हैं- 'अरे हमारी भी पूजा कर लिया कर।' ऐसे ही टैक्स की चोरी के झूठ बोलकर भी करोड़पति नहीं बना तो कोई बात नहीं, यदि ईमानदारी से व्यापार करे तो लोग कहते हैं, 'इसीलिये तो तुम्हें कुछ मिलता नहीं।' जैसे भौतिक जगत् में कोई-कोई ही सफलता प्राप्त कर पाता है, ऐसे ही आध्यात्मिक जगत् में भी कोई-कोई ही सफलता प्राप्त कर पाता है।

यहाँ राजा के आक्रमण की तरह संसार-आक्रमण है। यही साधक के रास्ते में बाधायें लाता है। इससे अच्छे-अच्छे साधक को भी मतिभ्रम हो जाता है कि 'परमात्म-दृष्टि' से तो मैं परमात्म-स्वरूप हूँ लेकिन व्यवहार में परमात्मा के विरुद्ध कर्म करना ही पड़ेगा। उस समय शास्त्रवाक्य को भूल जाते हैं- 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे'। अतः ध्यानकाल में तो परमात्मा काम का रहता है, बाकी समय नहीं। जैसे उसने डाका शुरू कर दिया, यद्यपि उद्देश्य तो अच्छा था, ऐसे ही साधक भी अच्छे उद्देश्य से ही बुरे कर्मों में प्रवृत्त होता है, उसे मति-भ्रम हो जाता है। फिर भी जो परमात्म-दृष्टि में लगता है, उसे परमात्मा उपेदश देते हैं कि परमार्थ-मार्ग में तो यह ठीक नहीं, तभी उसका मतिभ्रम दूर होता है। पुनः आत्म-निष्ठा प्राप्त कर लेता है। यह तनुमानसा की स्थिति धीरे-धीरे प्राप्त होती है।

प्रवचन-५६

अमान

२-९-६८

आगम-केंद्र को बता कर इस मंत्र में श्रुति निगम (उत्क्रमण) का केंद्र बता रही हैं। भगवती श्रुति देहरूप वेदि के तीन लक्षण बताती है कि इसका उपादान कारण क्या है, इसका द्वार कैसा है, और इसका निमित्त कारण क्या है?

जैसे घड़े का उपादान कारण मिट्टी है, उसका द्वारकारण मिट्टी में लचक होना है; यदि लचक नहीं होगी तो घड़ा नहीं बन सकता, इसीलिये बालू से कभी घड़ा नहीं बना सकते। इसी प्रकार यहाँ मृदा अर्थात् पंचमहाभूतों से बना वेदिरूप शरीर है। अतः पंचमहाभूत का प्रतीक मिट्टी ही उसका उपादानकारण है। सारे ही शरीर मिट्टी के बने हैं। रावण और राम तथा कृष्ण और कंस दोनों के ही शरीर मिट्टी से बने थे। फिर दोनों में फर्क क्या? 'मृदा वेदिरसि' से तो उसका स्वरूप बताया कि मिट्टी की वेदि है। तात्पर्य यह कि अन्तर केवल द्वार-कारण में है। राम और रावण में द्वार का भेद है जिसे बताया 'शिथिरा वेदिरसि'। जैसे मिट्टी तो बालू भी है, मिट्टी चिकनी भी है, लेकिन घड़ा चिकनी मिट्टी से ही बनेगा, बालू मिट्टी से नहीं, इसी प्रकार सारे देह तो पांचभौतिक ही हैं, उसी की यह वेदि बनी है लेकिन जो शिथिल होगा, पंचमहाभूतों के बंधनों से अलग होगा, उसे पंच कोशों से भिन्न करके जान लेगा, उसकी वेदि आत्म-ज्ञान का उत्क्रमण, प्राकट्य-स्थान होकर मोक्ष देगी। दूसरे लोग जिनकी वेदि मिट्टी से बनी होने पर भी जब तक पंचकोशों को छोड़कर शिथिल नहीं बनेगी तब तक वह राग-द्वेष, काम-क्रोधादि द्वन्द्वों का ही उत्क्रमण करेगी, क्योंकि वेदि का काम तो उत्क्रमण करना ही है। शरीर चाहे स्थूल हो अथवा सूक्ष्म, उसका काम तो नहीं रुकने वाला है। फर्क यह है कि कहीं से तो आत्म-ज्ञान का उत्क्रमण होगा अर्थात् ज्ञान, विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति,

तितिक्षा आदि शरीर से प्रकट होंगे। उसमें वैराग्य, निर्भयता, अक्रोध, अद्वेष होंगे। भगवान् ने भी गीता में कहा है 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रःकरुण एव च'; सारे ही उस स्थूल-सूक्ष्म शरीर से उत्क्रमण (प्राकट्य) करेंगे। इस वेदि में मन भी सम्मिलित है, जो पंचमहाभूत, पंच कोशों से शिथिल होता चला जायेगा। लेकिन जो इनसे जकड़ा रहेगा उसमें विपरीत धर्मों का ही उत्क्रमण होगा, जैसे मान, अपमान, सुख, दुःख, काम, क्रोध आदि। आगे भगवान् कहते हैं-

'अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्म-मृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।।
असक्तिरनभिष्वङ्ग: पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।'

इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने इकट्टे ही सब गुण गिना दिये कि शिथिल वेदि वाले के व्यवहार की क्या विशेषता है। उस के व्यवहार में मान भी नहीं होता यह 'अमानित्वम्' से कहा।

विष्णुसहस्रनाम में भी भगवान् के तीन नाम साथ-साथ दिये हैं 'अमानी मानदो मान्यः'। वे ही अमानी (जिसमें मान नहीं) भी हैं, मान्य भी हैं, और दोनों के बीच में मान देने वाले भी हैं। अपने देहादि का मान नहीं करने वाले अमानी हैं। जो देहादि और देह-सम्बन्धियों में मान नहीं करता और दूसरों को मान देता है वही मानद है अर्थात् सच्चे स्वरूप में मान करने वाला है। देह-सम्बन्धी पदार्थों में मान नहीं अर्थात् 'मैं धनी, मैं ब्राह्मण, मैं सुन्दर, मैं विद्यावान्, मेरी पत्नी सुन्दर, मेरे लड़के बड़े लायक' आदि मान उसमें नहीं है। इसलिये पहले कहा 'अमानी'। यदि देह के अन्दर मान है तो आत्म-स्वरूप में कभी मान होने वाला नहीं है। मान भी रहे और आत्म-स्वरूप का ज्ञान भी हो यह असम्भव है। इसलिये दोनों के बीच में बताया 'मानद' अर्थात् जो व्यक्ति अपने सारे पदार्थों को ईश्वरानुग्रह का ही फल समझकर ईश्वर को ही सारा मान दे देगा। ईश्वर का अर्थ समष्टि-चेतन ही है। जब यह ज्ञान हो जाता है तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि ऐसी कोई चीज ही नहीं है जिसका मैं मान करूँ। मैंने धन तभी कमाया जब राज्य में पूरी व्यवस्था है। यदि यह व्यवस्था

न होती तो पहलवान लोग डंडे लेकर आते और ठोक-ठाक कर रुपया लेकर चले जाते। यदि साल में एक दिन भी राज्य की व्यवस्था भंग हो जाती है तो लोग हल्ला मचाने लगते हैं कि 'यह राज्य तो गया-बीता है।' बाकी ३६४ दिन वे उसे याद नहीं करते। साल में एक महीना भी रेल की हड़ताल हो जाये तो घबरा जाते हैं, यह विचार नहीं करते कि साल में ११ महीने रेलें चलीं तभी तो पैसा कमाया। अतः यह सिद्ध हुआ कि पैसा कमाने में केवल तुम्हारी बुद्धि का योग नहीं बल्कि समष्टि चेतन का ही योग है, उसी में तुम्हारा भी कुछ अंश तक योग है, क्योंकि तुम समष्टि चेतन के ही अंग हो। जब ऐसा समझने लगता है तो अपने चेतन-स्वरूप में स्थित होता है।

आज जीवन इतना विकारभावापन्न हो गया है कि दूसरों को तो क्या, लोग स्वयं अपने सामने अपना काम करनेवाले को भी मान देने को तैयार नहीं हैं। जिस मुनीम ने २५ साल तक तुम्हारे पास काम किया, उससे कभी यह भी नहीं कहते 'मुनीम जी! जब आप आये थे तब हमारे पास केवल दो लाख रुपये थे और आज आपकी कृपा से २५ लाख हो गये।' यह कहना तो दूर रहा उल्टे यदि मुनीम ने भूल से दस हजार का नुक्सान कर दिया तो झट कहते हैं- 'मुनीम ने तो मेरा बंटा-ढार कर दिया। निकालो इसे।' केवल यही समझते हैं कि कमाई मेरे ही कारण हुई है। लोग उससे भी आगे बढ़ गये हैं, वे अपने भाई और बाप को भी मान देने को तैयार नहीं हैं। उन्हें निश्चय है 'मैंने सब कुछ किया, भाई ने क्या किया? पिता तो दो लाख छोड़ गये थे, मैंने २५ लाख कमाये।' यह नहीं सोचते कि पिता यदि दो लाख न छोड़ते तो ये २५ लाख कहाँ से बन जाते! आधुनिक समय में उससे भी आगे यहाँ तक बढ़ गये हैं कि अपनी पत्नी के प्रति भी कृतज्ञता का भाव नहीं रहा। पत्नी ने ही लड़के बड़े अच्छे ढंग से पालन-पोषण करके बड़े किये और अब वे बहुत अच्छा काम भी कर रहे हैं, लेकिन कभी पत्नी से यह नहीं कहते 'तूने बड़े अच्छे ढंग से इन्हें बड़ा किया जिसके कारण मैं आज बड़े सुख से सोता हूँ।' कहते हैं कि मैंने ही इन्हें बड़ा किया है। यह विचार नहीं करते कि जब बच्चा टट्टी-पेशाब करता था तो कहते थे 'इसे दूसरे कमरे में ले जा, सोने दे।' अब कहते हैं 'मेरे कारण यह सब हुआ है।' इसलिये कहा कि जो अमानी होगा, ईश्वर को ही मान देगा, वही वास्तविक स्वरूप, चेतन-भाव में स्थित होगा। उसी में से अदम्भ, अहिंसा, शांति,

सरलता आदि सारे सद्‌गुण निकलेंगे। उसी के बारे में भगवान् सुरेश्वराचार्य लिखते हैं- 'अमानित्वादिनिष्ठो यो यश्चाद्वेष्ट्रादिसाधनः' कि जिसके अंदर अमानित्वादि धर्म पूर्ण परिनिष्ठित हो गये हैं, ऐसे जम गये हैं कि दूसरा कार्य उससे होता ही नहीं, वही साधनसम्पन्न अधिकारी है।

दो प्रकार की आदतें होती हैं: झूठ बोलने की आदत और सत्य बोलने की आदत। एक को लगता है कि झूठ बोलना तो नहीं चाहता था लेकिन मुँह से झूठ निकल गया। यह झूठ बोलने की आदत है। दूसरा वह है जिसे वकील ने तो खूब समझाकर भेजा था लेकिन मुँह से सच निकल ही गया। यह सच बोलने की आदत है। इसी प्रकार अमानित्व, अदम्भित्व, आर्जव, आचार्योपासना, स्थिरता, इन्द्रिय-निग्रह आदि गुणों से सम्पन्न होने पर कभी अन्यथा कोशिश भी करे तो एतद्‌रूप ही व्यवहार करता है। जैसा पहले बताया था कि 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च' आदि साधन जिसमें हुए, उसी में आत्म-विज्ञान प्रकाशित होता है। जैसे बिजली के लट्टू में रोशनी उसी तार से होती है जो कहीं भी टूटा नहीं है। भाखड़ा से चलकर जयपुर, सैकड़ों मील तक बिजली पहुँचती है, बीच में एक तार तो क्या, यदि एक सूता भी टूटा हो तो रोशनी नहीं पहुँच सकती। कहो कि इतने लम्बे तार में से यदि एक धागा टूट भी गया तो क्या, शायद सौ की जगह ९९ की रोशनी के ही लट्टू जल जायें; लेकिन यह कभी नहीं हो सकता। तार चाहे जितना भी टूटे लेकिन वह बिजली के काम आने वाला नहीं है। ठीक इसी प्रकार यदि अमानित्वादि, अद्वेषादि में थोड़ी भी कमी है तो आत्म-विज्ञानरूपी रोशनी नहीं हो सकती। अतः परमात्मा उसी को ज्ञान का प्रकाश देते हैं जो- 'शिथिरा वेदिरसि' द्वन्द्व-दोषों से सर्वथा शिथिल हो गया है। शिथिलता के अनेक सोपानों का स्वरूप बताते हुए सीढ़ियों को बता रहे थे।

चतुर्थ सोपान है सत्त्वापत्ति। 'सत्यात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिः'। जब शुद्ध सत्त्व-आत्मा में मनुष्य स्थित होगा, उसी का नाम सत्त्वापत्ति है। पूर्व बताई गई तीन अवस्थाओं का खूब अभ्यास करता है तो उससे मनुष्य धीरे-धीरे सब विकारों से रहित हो जाता है। कैसे? 'क्षीरोदकवत् त्रिपुटीविलयनेन निर्विकल्पा सत्त्वापतिः'। जैसे दूध को पानी में डालने पर दोनों एक ही दीखने लगते हैं वैसे त्रिपुटी के विलय से विकार हटते हैं। तभी तो आजकल दूध बेचने वाले लखपति बन जाते हैं! किसी ने

एक दूध वाले से पूछा 'क्या तुम दूध में पानी मिलाते हो?' कहने लगा, 'बेटे की कसम, मैं दूध में पानी नहीं डालता।' एक दिन वह पकड़ा गया तो पूछा, 'यह क्या कर रहे हो, तुमने तो बेटे की कसम खाई थी?' कहने लगा, 'मैंने सच्ची कसम खाई थी। देख लो, मैं दूध में पानी नहीं मिला रहा हूँ बल्कि आधी बाल्टी पानी में एक चौथाई दूध मिला रहा हूँ। मैंने पानी में दूध न मिलाने की कसम तो नहीं खाई थी!' दूध में पानी डालने पर सब एक हो जाता है ऐसे ही यहाँ भी नतीजा यह होता है कि ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय त्रिपुटी का विलय हो जाता है, वे तीनों एकरूप हो जाते हैं।

जो परमेश्वर से प्रेम करने जाते हैं वे कहते हैं कि ज्ञेय ही रह जाता है। प्रेम द्वारा त्रिपुटी-विलय को वे ज्ञेय बताते हैं। जो विवेक और सांख्य-योग के अभ्यास से त्रिपुटी का विलय करते हैं वे कहते हैं कि ज्ञाता ही रहता है। विवेक द्वारा त्रिपुटी-विलय को वे ज्ञाता कहते हैं। और जो वेदान्त की अद्वैत दृष्टि से इन तीनों का विलय करते हैं, वे केवल ज्ञान ही बताते हैं। हर हालत में त्रिपुटी का विलय होने पर तीनों में भेद नहीं। त्रिपुटी के लीन होने पर जो भी रहता है उसके तीन नाम इस पर निर्भर करते हैं कि वह किस दृष्टि से विलय करता है। लेकिन तीनों अवस्थाओं में ही द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। जिसने उस सर्वव्यापी तत्त्व को प्रेम से जाना और ध्यान किया, वह कहता है कि केवल ज्ञेय-परमात्मा ही था, और कुछ नहीं। जिसने ज्ञाता-ज्ञेय को एक जाना कि ज्ञाता ही ज्ञेय और ज्ञेय ही ज्ञाता है वह कहता है कि वहाँ ज्ञान ही था। अतः किसी भी नाम से कहो, वस्तुतः त्रिपुटी विलय करने वाले ने उस तत्त्व को समझा है। और जिन्होंने केवल सुना है वे एक-दूसरे से झगड़ा करने लगते हैं! जैसे एक कहानी आती है कि एक सज्जन कहीं पहाड़ पर गये हुए थे। वहाँ पानी का एक स्रोत गिरते देखा और शिष्यों से आकर कहा। उनके शिष्य भी कई भाषाओं के ज्ञाता थे। अतः उन्होंने एक से कहा- 'वहाँ नीप्या था' नीप्या का अर्थ संस्कृत में पानी का बड़ा स्रोत होता है। दूसरे से कहा 'वहाँ झरना था।' वह शिष्य हिन्दी जानता था। तीसरे से कहा 'वहाँ वाटर-फाल था।' वह अंग्रेजी जानता था। वे तो कह कर चले गये। उन तीनों में झगड़ा होने लगा। एक कहे कि गुरुजी ने नीप्या देखा था, दूसरा कहे झरना देखा था तो तीसरा कहे कि वाटर-फाल ही देखा था। इसी प्रकार त्रिपुटी-विलय काल में भी ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय में भेद नहीं है। जिसने ज्ञाता-ज्ञेय की एकता को ज्ञानाश्रय से समझा

उसने उसे ज्ञान शब्द से कह दिया, जिसने ज्ञान और ज्ञेय की एकता से समझा उसने ज्ञाता कह दिया और जिसने ज्ञान-ज्ञाता की स्थिति को समझा उसने ज्ञेय कह दिया। लेकिन सभी का भाव एक ही था, त्रिपुटी-विलय को ही जाना। केवल सुनने वाले शिष्य अनादिकाल से झगड़ा करते हैं। वस्तुतः त्रिपुटीविलय ही एक तत्त्व है, उसे चाहे किसी भी नाम से कहो, फर्क कुछ नहीं है।

समुद्र के अन्दर भी भिन्न-भिन्न नामों से लोग झगड़ा करते हैं- एक हिन्दमहासागर कहता है, दूसरा अंधमहासागर तो तीसरा प्रशान्त महासागर कहता है। जो प्रशान्त को शान्त समझकर वहाँ जायेगा वह डूब ही जायेगा। जो अंधमहासागर को समझेगा कि वहाँ सूरज की रोशनी नहीं होगी इसलिये टार्च ले जाओ, तो वह भी वहाँ ऐसा ही सूर्य का प्रकाश पायेगा। इसी प्रकार त्रिपुटीविलय कर के समाधि काल में तीनों का भेद नहीं रहता। विचार-दृष्टि से तो वृत्तिरूप ही ज्ञान है, वृत्ति-ज्ञानाश्रय ज्ञाता है और वृत्ति-ज्ञान का विषय ज्ञेय है। वृत्ति कहीं है ही नहीं। वृत्ति ही वास्तव में लकीर खींचती है। जैसे दो देशों को अलग करने वाली सीमा एक कल्पित रेखा ही है। बहुत से लड़कों ने पढ़ा कि नक्शे में 'इक्वेटर' भूमध्यरेखा है। एक बार हम कहीं समुद्र में जा रहे थे। हमने १२-१३ साल के एक लड़के से कहा कि 'अब हम भूमध्यरेखा पार कर रहे हैं।' वह कहने लगा, 'दीखती तो नहीं है।' हमने उससे कहा, यहाँ कोई लाइन थोड़े ही खिंची है जो दीखे! वह कल्पित रेखा ही है। उसने तो नक्शे में भूमध्य रेखा की लकीर खिंची देख रखी थी। ऐसे ही हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच भी एक कल्पित रेखा ही है, उसी से सारे झगड़े होते हैं। यदि कल्पित दृष्टि हटा लो तो केवल जमीन ही है। इसी प्रकार एक अखण्ड ज्ञान के अन्दर वृत्तिरूप लकीर खींची तो वृत्ति के अन्दर वाले को ज्ञाता, बाहर वाले को ज्ञेय और बीच वाले को ज्ञान कह दिया। वास्तव में वह वृत्ति कल्पित ही है। जब वृत्ति ही नहीं रही तो केवल शुद्ध-चैतन्य ही है। उसे ही वृत्ति-प्राधान्येन देखने वालों में किसी ने ज्ञान, किसी ने ज्ञाता और किसी ने ज्ञेय कह दिया। वस्तुतः वहाँ वृत्त्यभाव है। तत्त्व तो चिन्मय ही है। इसलिये कहा कि इसी निर्विकल्पावस्था का नाम सत्त्वापत्ति है। अब चौथा मील का पत्थर भी पार कर गये। जैसे-जैसे यह वृत्ति बढ़ेगी तो पाँचवाँ मील का पत्थर शुरू हुआ 'असंसक्तिः'।

'समाधिप्रोहात् निरतिशयानन्दः असंसक्तिः।' 'प्रोह' का अर्थ होता है चढ़ना। निर्विकल्प समाधि को जैसे-जैसे रूढ किया, जैसे-जैसे समाधि का नशा करते गये, पहले एक मिनट, फिर एक घण्टा और फिर चार घण्टा, वैसे तो आनन्द बढ़ा। यह दूसरे मील के पत्थर में कह आये हैं इसलिये इसकी पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं है। यह प्रश्न नहीं उठता कि समाधि का प्रोह करेंगे तो व्यवहार कैसे होगा? क्योंकि यहाँ दो बातें हैं : या तो व्यवहार मिथ्या है या सच्चा। यदि व्यवहार सच्चा है तो समझो कि रास्ता ही गलत आ गये हैं, यदि व्यवहार मिथ्या है तो व्यवहार कैसे होगा, यह प्रश्न ही गलत है। अतः जैसे-जैसे प्रोह बढ़ेगा, तब अपना निरतिशय आनंद खिलने लगेगा क्योंकि वह तो संसार के पदार्थों, त्रिपुटी से ही दबा हुआ था। अब त्रिपुटी का विलय हो गया है।

'नित्यापरोक्षब्रह्मात्मभावाद् द्वैतसंस्कारोच्छेदः' जब अपरोक्ष भाव में निष्ठा बढ़ेगी तब द्वैत-संस्कार कम होते जायेंगे, उनका उच्छेद होता चला जायेगा। संस्कार को उखाड़ने के दो उपाय हैं। एक तो नये संस्कार बनने ही न देना और दूसरा, पुराने संस्कार घुलते चले जाना। जैसे बच्चे को सुधारना हो तो उसे बुरे कामों से हटाना और नये बुरे संस्कार पड़ने न देना। यदि चाहते हो कि बच्चा गुल्ली डंडा न खेले तो गुल्ली-डंडा खेलने वालों में रहकर उसके संस्कार नहीं हटेंगे। क्योंकि आँख से तो वह देख रहा है, लेकिन पिता जी खेलने नहीं दे रहे हैं, इसलिये छटपटा रहा है। इसी प्रकार जहाँ रात-दिन द्वैत का ही खेल हो रहा है, वहाँ मन से कहो 'मत खेल' तो वे संस्कार नहीं पड़ेंगे, खाली तड़पता रह जायेगा 'मुझे द्वैत में खेलने नहीं देते'।

भारत में यही बड़ा रोग है। आदमी दुकान में बैठकर तो कहता है कि 'जी, क्या काम करूँ, इसमें कुछ सार नहीं है।' लेकिन दायें-बायें देखकर कहता है, 'वह लखपति बन गया, वह करोड़-पति बन गया, मैं तो सच बोलकर पीछे ही रह गया।' अन्दर तो उसके यह आशा है कि लखपति बनूँ। ऐसे में द्वैतोच्छेद कैसे संभव है? उल्टे चारों तरफ दृष्टि डालकर केवल तड़पते ही रहोगे। जब इससे दूर चले जाओगे, जैसे-जैसे समाधि का अभ्यास बढ़ेगा, द्वैत का वातावरण दूर होता जायेगा और पहले वाले संस्कार खतम होते जायेंगे तब नित्य-अपरोक्ष आत्म-भाव की संसक्ति दृढ होगी। द्वैत-संस्कार कम होने से अद्वैत-संस्कार बढ़ेंगे।

अद्वैत संस्कार बढ़ने का कैसे पता लगता है? इसका लक्षण किया कि 'परप्रयुक्तेन चिरम् प्रयत्नेनार्थभावनात्' (यो. वा. ३.११८.१४)। पदार्थाभाविनी में असंसक्ति ऐसी दृढ होगी कि पदार्थों की भावना ही नहीं बनेगी। स्वतः तो मन पदार्थ-चिंतन करेगा ही नहीं क्योंकि समाधि दृढ है। यदि बार-बार दीर्घ काल तक 'प्रयत्नेन' जोर लगाकर उसे प्रवृत्त किया भी जाये तो पदार्थाभाविनी वृत्ति ही बनेगी। जैसे अब तो दो-एक सेकिण्ड को ही अद्वैत देखते हो, लेकिन जब पदार्थाभाविनी वृत्ति बन गई तब स्वरूप से अद्वैत ही नजर आयेगा। लेकिन अगर कोई दीर्घ प्रयत्न करके उसे छेड़ता भी है तो थोड़ी देर के लिये ही द्वैतभाव बनेगा, फिर छेड़ने का प्रयत्न शिथिल हुआ तो स्वयम् पुनः अपने अद्वैत स्वरूप में स्थित हो जायेगा। जैसे स्प्रिंग को दबाकर रखो, फिर छोड़ो तो पूर्व स्थिति में आ जाता है इसी प्रकार जो अद्वैत को दबाकर रखते हैं वे फिर प्रयत्न से योग्य शिष्य के लिये द्वैत दृष्टि करेंगे। लेकिन जहाँ यह प्रयत्न ढीला हुआ कि पुनः अद्वैत दृष्टि बन जाती है।

यहाँ 'परप्रयुक्तेन' से दूसरा आदमी ही नहीं समझ लेना चाहिये। 'पर' का अर्थ अविद्यालेश, प्रारब्ध, लोक-संग्रह की कामना या उसे किसी भी शब्द से कहा जा सकता है। उसके द्वारा जबरदस्त प्रारब्ध-भोग या लोकसंग्रह की कामना से जोर लगाये अथवा एक भी शिष्य का उद्धार करना हो तो द्वैतदृष्टि बनाये है, क्योंकि बिना द्वैत के तो उपदेश भी बनेंगे नहीं। अतः चाहे किसी भी दृष्टि से हो, वह प्रयत्नपूर्वक थोड़ी देर के लिये द्वैत दृष्टि बनाता है। फिर जैसे ही प्रयत्न शिथिल हुआ तो अद्वैत स्थिति हो जाती है। उस समय द्वैत ग्रहण करना कठिन मालूम पड़ता है।

जब अविद्यालेश भी द्वैत नहीं बनने देता तब 'तुर्यगा' स्थिति होती है। इसमें द्वैतदृष्टि किसी तरह बनती ही नहीं है। फिर सारा व्यवहार अद्वैत दृष्टि से ही चलता है। इससे पूर्व तीव्र प्रारब्धभोग-काल में, छठे मील के पत्थर में, सुख-दुःख भेद से द्वैत-प्रतीति हो भी, किन्तु तुरीयावस्था में 'मैं ही दुःखरूप हूँ' यह भावना रहने से सुख-दुःखाकार वृत्ति में भी केवल आत्म-दृष्टि ही रहती है। अब प्रारब्ध का जोर भी नहीं रहा। प्रारब्ध विषयाकार बनने पर भी द्वैताकार वृत्ति बनने वाली नहीं है। ऐसी दृष्टि होने पर सारे कर्त्तव्य समाप्त हो जाते हैं और तुर्यगा को पार कर नित्य स्वरूप में स्थिति हो जाती है। वह अवस्था कैसी होती है? महर्षि वशिष्ठ कहते हैं 'जगत्क्रियासु संसुप्तान् रूपालोकः स्त्रियो' यथा (यो. वा. ३.११८.२०) जैसे पुण्य

प्रारब्ध से मखमल के गद्दे पर सोये व्यक्ति को गद्दे का भान नहीं और पाप प्रारब्ध से पत्थर की चट्टान पर सोये व्यक्ति को उस पत्थर का भान नहीं है क्योंकि गहरी नींद वाले को भेद का भान ही नहीं होता है। यदि कोई कहे कि जैसे सोने वाले को भेद का भान नहीं है वैसे ही तुर्यगा वाले को भी भान नहीं होता होगा; लेकिन ऐसा नहीं है। इसके लिये वे दृष्टान्त देते हैं कि सुन्दर से सुन्दर सजी-धजी स्त्री दूसरी सुन्दर और सजी-धजी स्त्री के आकर्षण का कारण नहीं बनती, किसी पुरुष के आकर्षण का कारण भले ही बने। इस तरह जिसकी आत्म-दृष्टि बन गई है, उसकी फिर एक ही दृष्टि बनती है, दूसरी नहीं।

यह दृष्टि कैसी है? कथा आती है कि पूर्व बंगाल में आज से दो-ढाई सौ वर्ष पूर्व महेश मण्डल नाम का शूद्र रहता था। वह भगवान् का बड़ा भक्त था। उसका एक क्षण भी ऐसा नहीं बीतता था जब दुर्गा-दुर्गा नामस्मरण न करता हो, जिसके फलस्वरूप उसकी वृत्ति सर्वथा एकाग्र हो जाती थी। उसे अपने में, अन्यत्र, सर्वत्र जगत् में सिवाय दुर्गा तत्त्व के और कोई प्रतीति ही नहीं होती थी। एक बार वहाँ भयंकर अकाल पड़ा। सभी को तकलीफ हुई। महेश मण्डल अछूत भी था और धनी भी नहीं था। जब दूसरों के पास ही खाने को कुछ नहीं रहा, पैसा भी नहीं रहा तो उसे क्या काम देते और क्या तनख्वाह देते! दो दिन तक उसके घर में किसी ने भोजन नहीं किया। तीसरे दिन शाम के समय दिनभर के अत्यधिक परिश्रम से उसे छह आने पैसे मिले। उन्हें लेकर उसने विचार किया कि आज दुकान से कुछ सौदा खरीदकर काम चलायेंगे। जैसे ही वह जा रहा था, रास्ते में खेपा घोषाल नामक ब्राह्मण को आते देखा और नमस्कार किया। खेपा ब्राह्मण ने भी कहा, 'आनंद से रहो।' खेपा ब्राह्मण ज्योतिष लगाकर, पूजा-पाठ के द्वारा जो धन मिलता था, उससे अपना कार्य चलाता था। अब जब लोगों के पास खाने को ही कुछ नहीं तो पूजा-पाठ और दान दक्षिणा कहाँ से मिले? महेश मण्डल ने पूछा 'कल्याण तो है?' ब्राह्मण ने उससे कहा, 'सात दिन से भोजन नहीं किया है। मुझे तो चान्द्रायण की आदत है, सहन कर लूँ लेकिन बच्चों को भूख के मारे कलपते देखता हूँ तो सोचता हूँ कि भगवान् नाम की कोई चीज़ है ही नहीं।' यह सुनते ही महेश मण्डल कहने लगा 'दुर्गा किसी का दुःख नहीं देख सकती।' खेपा घोषाल कहने लगा, 'सुना तो मैंने भी ऐसा ही है। लेकिन अब देखा नहीं जाता। श्रद्धा के पैर लड़खड़ा रहे हैं।'

महेश कहने लगा, 'देखो, तुम्हारे ही लिये मुझे भगवती दुर्गा ने छह आने पैसे दिये हैं और कहा है कि खेपा को दे देना।' खेपा ब्राह्मण ने कहा, 'तेरे बच्चे भी तो भूखे होंगे?' वह कहने लगा, 'मेरे घर तो सात दिन में कई बार भोजन बना है।' झूठ नहीं कह रहा था, तीन दिन से ही भूखे थे, पहले तो भोजन मिल ही रहा था। खेपा ब्राह्मण ने पैसे लेते हुए कहा कि 'मैं वापिस कर दूँगा।'

खेपा घोषाल तो दाल-चावल खरीदकर घर पहुँचा। इधर महेश जब घर पहुँचा तो बच्चे दौड़े हुए आये और कहने लगे, 'क्या लाये?' महेश कहने लगा, 'आज तो खाली दुर्गा की आशीष ही लाया हूँ।' पत्नी ने पूछा, 'जमींदार ने काम पर बुलाया था, क्या कुछ नहीं दिया?' कहने लगा, 'छह आने दिये थे। लेकिन अपने तो दो दिन से ही भूखे हैं, खेपा के बच्चे तो सात दिन से भूखे थे, उसकी आवश्यकता हमसे अधिक थी, इसलिये उन्हें ही दे आया हूँ।' भक्त की पत्नी भी वैसी ही थी, कहने लगी 'अच्छा किया। अपना तो शरीर चाण्डाल का है और बच्चे भी बड़े होकर वही बनेंगे। लेकिन खेपा ब्राह्मण है और उसके बच्चे भी पढ़-लिखकर विद्वान् ही बनेंगे और दुर्गा का नाम प्रख्यात करेंगे।'

महेश मण्डल के घर के पास ही भौमिक नामक ब्राह्मण पड़ोसी रहता था। चाण्डाल की दीवार वैसे भी इतनी पतली थी कि आवाज उस पार चली जाये। जब महेश और उसकी पत्नी वार्तालाप कर रहे थे तो भौमिक घर में बैठा सुन रहा था। कहा, 'यह परमेश्वर पर बड़ी निष्ठावाला है, देखो कैसा दानी है।' बड़े आदमी के दान कैसे होते हैं? अखबारों में नाम भी छपा, वाहवाही भी हुई और कोठी की साख भी बनी। लेकिन आत्म-दृष्टि वाले की कुछ और ही दृष्टि होती है, बाह्य पदार्थों वाली नहीं। उस समय भौमिक के घर जो कुछ भी बना था, लेकर महेश के घर जाने लगा। पत्नी ने कहा, 'भगवान् को भोग तो लगाकर जाओ।' कहने लगा, 'आज तो साक्षात् महेश्वर को भोग लगाने जा रहा हूँ।' घोषाल सामान्य पुरुष था। स्कंद पुराण में आता है कि जो आत्मा में ही सब प्राणियों को देखे और प्राणिमात्र में एक ही आत्मा को देखे, वही आत्मयाजी है। वही वस्तुतः साक्षात् परमात्मा का रूप हो जाता है। भौमिक सारी खाद्य-सामग्री लेकर महेश के घर पहुँचा। महेश घबराया, कहने लगा 'इधर मत आइये। यह क्या लाये हैं?' भौमिक कहने लगा 'तूने और तेरे बच्चों ने भोजन नहीं किया है, इसलिये यह सब लाया हूँ।' महेश कहने लगा, 'आप

तो ब्राह्मण हैं, आपका कैसे खा लूँ?' भौमिक ने कहा, 'दुर्गा का नाम लेकर कहता हूँ, अन्नपूर्णा ने ही मुझे भेजा है कि तुझे खिलाऊँ। नहीं मानेगा तो समझूँगा दुर्गा के नाम में जोर नहीं है।' जब उसने दुर्गा की बात की तो वह खाने लगा। महेश ने सोचा, 'देखो, अन्नपूर्णा ने मेरे साथ मजाक किया है। न खेपा को छह आने देता और न इधर दूध-मलाई खाने को मिलता। उधर खेपा तो दाल-भात ही खा रहा होगा।'

यह है आत्म-ज्ञानी की दृष्टि। जो तुर्यगा के पार पहुँच जाता है, वह कहता है, मेरे बच्चे तो दो ही दिन के भूखे हैं और पड़ोसी के सात दिन से भूखे हैं, इसलिये उनकी आवश्यकता मुझसे अधिक है। ऐसी अद्वैतदृष्टि बनने पर फिर कभी द्वैतदृष्टि बनती ही नहीं। ऐसी स्थिति में पहुँचकर जो पंचमहाभूत और पंच कोशों से शिथिल हो गया, उसके लिये फिर द्वैत सम्भव ही नहीं है। ऐसा व्यक्ति ही देवताओं का तीर्थस्वरूप बन जाता है।

प्रवचन-५७

तीर्थ

३-९-६८

शरीररूप वेदि मे आत्म-लिंग की स्थापना का निर्देश करते हुए भगवती श्रुति ने वेदि की तीन विशेषताएँ बतायीं 'मृदा, शिथिरा, देवानां तीर्थम् वेदिरसि' कि वेदि मिट्टी की बनी है, शिथिल है और देवताओं का तीर्थस्वरूप है। इनमें प्रथम दो विशेषणों पर विचार किया। अब तीसरे रूप 'देवानां तीर्थम् वेदिरसि' पर कुछ विचार करेंगे। वेदि ही तीर्थ है। तीर्थ का अर्थ होता है जो तारता है। तारने के स्थल ही तीर्थ कहे जाते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में कहा है 'अहिंसन्नन्यत्र तीर्थेभ्यः।' भगवान् भाष्यकार ने इसका अर्थ किया 'तीर्थं नाम शास्त्रानुज्ञाविषयः।' संसार-समुद्र से जो तार दे, वह तीर्थ है। तीर्थ कितने प्रकार के हैं? स्कंद पुराण में तीर्थ पर विचार करते हुए तीन प्रकार के तीर्थ बताये गये हैं।

'बहिस्तीर्थात् परं तीर्थम् अन्तस्तीर्थम् महामुने।
आत्मतीर्थम् परं तीर्थम् अन्यतीर्थं निरर्थकम्।।'

पहला है बहिः तीर्थ, उससे श्रेष्ठ अन्तः तीर्थ और उससे भी परे आत्म-तीर्थ है। इन तीन से भिन्न और कोई तीर्थ नहीं है। जगत् में गंगा, यमुना, हरिद्वार, प्रयाग, रामेश्वरम्, बद्री, केदार, द्वारिका आदि सारे लोक में प्रसिद्ध बहिस्तीर्थ हैं। बहिस्तीर्थ मनुष्य को परमात्मा की तरफ प्रवृत्त करके शरीर को शुद्ध करने में हेतु हैं। मनुष्य भी तीन ही चीजों से बना है- बाहर का शरीर (स्थूल), अंदर का शरीर अर्थात् अंतःकरण; यद्यपि पुर्यष्टक में मन से अतिरिक्त भी सम्मिलित हैं लेकिन मोटी भाषा में अन्दर का शरीर मनःप्रधान ही है; और तीसरा जो इन दोनों को अपने अंदर रखता है, वह आत्म-स्वरूप सच्चा शरीर है। अंतः शरीर मन और बाहर का शरीर दोनों जिसमें हैं वह आत्मा है। चूंकि तीर्थ का अर्थ होता है तारने वाला, इसलिये तीनों

शरीरों से सम्बन्धित तीन प्रकार के तीर्थ हैं। बाहर के शरीर से सम्बन्धित बहिःतीर्थ, अंदर के शरीर, अंतःकरण से सम्बद्ध अंतस्तीर्थ और आत्म-शरीर से सम्बद्ध आत्म-तीर्थ। ये तीनों ही पहले-पहले की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। शरीर की अपेक्षा मन श्रेष्ठ है और मन की अपेक्षा आत्मा श्रेष्ठ है। आत्मा से आगे और कुछ है ही नहीं। शास्त्रों में बताया है 'नात्मलाभात् परं किंचित्।' मनुष्य संदेह कर सकता है कि इसके आगे भी कुछ होगा अतः श्रुति ने स्पष्ट निषेध कर दिया कि आत्मा से परे और कुछ नहीं है 'न तत्परम् वेदिव्यं हि किंचित्'। चूंकि आत्मा से आगे कुछ है नहीं, इसलिये उसके बाद की चीजें व्यर्थ हैं। बाह्य-तीर्थ वे स्थल हैं जहाँ परमेश्वर ने भिन्न-भिन्न कालों में कोई विशेष लीलायें की हैं। इसलिये उन स्थलों में परमेश्वर के सम्बन्ध के कारण अत्यंत पवित्रता हो गई है। जैसे मथुरा मे कृष्ण-जन्म हुआ, अयोध्या में भगवान् राम का जन्म हुआ, सोमनाथ में चन्द्रमा ने तपस्या की। अतः जितने भी तीर्थ हैं, सारे ऋषि-मुनियों द्वारा परमात्मा के साक्षात्कार के ही स्थल हैं। वहाँ भगवद्-लीला-सम्बन्धी घटनायें हुई, उसी के कारण युग-युग में वहाँ जाकर महापुरुष बार-बार चित्त-स्थिर करते रहे। इसीलिये, वहाँ के वातावरण में नित्य नवीनता आती रही। जैसे मन्दिर में मूर्ति-प्रतिष्ठामात्र से ही काम नहीं हो जाता, बल्कि प्रतिदिन मूर्ति की विधिवत् पूजा होती रहे तभी मूर्ति का तेज बना रहता है, इसी प्रकार जहाँ परमेश्वर के सम्बन्ध से तीर्थ हुआ और फिर समय-समय पर महापुरुष ध्यान-समाधि के द्वारा वहाँ के वातावरण को पवित्र, पवित्रतर, पवित्रतम करते रहते हैं, तभी वह तीर्थ जागता है, अन्यथा वह स्थल 'सोने' लग जाता है। बाह्य तीर्थों को महापुरुषों के गमागम से जाग्रत् रखना पड़ेगा तभी साधक वहाँ जाकर अच्छे से अच्छे शुद्ध विचारों को ला सकेगा। शरीर के द्वारा शरीर-शुद्धि की प्राप्ति करना ही बाह्य-तीर्थों का प्रयोजन है।

तीनों तीर्थों में मनुष्य की भाव-शुद्धि अत्यन्त जरूरी है। वही व्यक्ति तीर्थों से अच्छी बात ग्रहण कर सकेगा जो शुद्ध भाव वाला होकर वहाँ जायेगा-'भावतीर्थम् परं तीर्थम् प्रमाणं सर्वकर्मसु'। तीनों तीर्थ ही परम हैं लेकिन सच्ची बात तो यह है कि भाव-शुद्धि होने पर ही तीर्थ में तीर्थता है। यदि वैशाखी के दिन हरिद्वार में स्नान करने यह भाव लेकर जाते हो कि बहुत से लोग कपड़े छोड़कर नदी में उतरें तो अपने सालभर की रोजी बना लें, तो क्या हरिद्वार-तीर्थ का फल मिल जायेगा? सारे कर्मों के विषय में यह प्रमाण है कि भावशुद्धि हुए बिना कभी तीर्थ का फल नहीं

होता है। अतः बहिस्तीर्थ, अन्तस्तीर्थ, और आत्म-तीर्थ तीनों में ही भाव-शुद्धि आवश्यक है। इसके बिना तीर्थ का फल होने वाला नहीं है। मनुष्य सोचता है कि घूमने के शौक वाला भी तीर्थ में चला जाये तो पुण्य हो जाता है। इसलिये लोग कहते हैं, 'चलो, तुम्हें बद्रीनाथ घुमा लायें।' जो तो घूमने की दृष्टि से ही गया है वह वहाँ से बाँध कर लायेगा कि 'पण्डे बहुत पैसा लेते हैं, मन्दिर की भीड़-भाड़ से बचने के लिये भी पैसा खर्च करना पड़ता है, गंदगी भी बहुत रहती है और कितना भेद-भाव है, रावल जी तो पूजा करते हैं, हमें घुसने भी नहीं देते। अंधे लोग गहने, हीरे आदि चढ़ा आते हैं, यह सब किस मतलब से?' यही सब बाँध लाये, जिससे उल्टे तीर्थ में कुदृष्टि हो गई। इसका जिम्मेवार वही है जो घुमाने ले गया था। अतः 'भावतीर्थं परं तीर्थम्' बिना भाव-शुद्धि के फल तीनों जगह मिलने वाला नहीं है। जब बाह्य तीर्थ के द्वारा शरीर शुद्ध होगा तब शुद्धि के द्वारा ही परमात्मा की तरफ प्रवृत्ति होगी।

यहाँ शरीर-शुद्धि का अर्थ सफाई नहीं कह रहे। वह तो पानी और साबुन आदि से धोने पर भी हो जायेगी। शरीर-शुद्धि का मतलब है कि शरीर उत्तम विचारों की तरफ प्रवृत्ति करने लगे। जैसे हाथ किसी को थप्पड़ मारने से तो रुकने लगे और दान देने में बढ़े, यह हाथ की शुद्धि हो जायेगी। जप करने को तो जीभ तड़पने लगे और कड़ी बात बोलने में अन्दर ही मुड़ने लगे, यह जीभ की शुद्धि मानी जायेगी। अभी चाहे मन शुद्ध न भी हुआ हो, लेकिन भाव-शुद्धि के द्वारा शरीर शुद्ध होना चाहिये। हमने बहुत से सज्जन देखे हैं जिनका कुल-परम्परा से अच्छे शरीर से अच्छे रज-वीर्य का सम्बन्ध होने से शरीर तो शुद्ध है लेकिन संग के कारण मन अशुद्ध हो गया है। वे बुरे कर्मों को घृणित समझकर स्वयं तो करते नहीं लेकिन उन्हें वे बुरा भी नहीं मानते। कहते हैं 'मुझ से तो मांस नहीं खाया जाता लेकिन मांस खाने में बुराई क्या है?' उनका मन तो अशुद्ध हो गया है, इसलिये वे बुरे काम को बुरा नहीं मानते। रज-वीर्य की शुद्धि के कारण उनके शरीर से बुरा काम नहीं बन पा रहा है। शरीर-शुद्धि बाह्य-तीर्थ से होने लगती है किन्तु अंतःकरण उतने से ही शुद्ध होने वाला नहीं है। कोई पूछे कि फिर बाह्य-तीर्थ करना क्या फालतू ही है? फालतू नहीं है। कम से कम देहज पापों को हटाने की सामर्थ्य बाह्य-तीर्थों में है ही। वह शरीर से बुरा नहीं खायेगा तो कभी विवेक भी उदय हो जायेगा। जैसे जिस बर्तन में शराब रख दी गई है, उसे सैंकड़ों बार धो लेने पर भी, उसमें चमक भी आ जाये, पालिश

भी हो जाये, वह बोतल कभी शुद्ध होने वाली नहीं, अतः उसमें रखा जल कभी पान के योग्य नहीं हो सकता। उसी प्रकार शरीर को भी चाहे जितने तीर्थ स्थानों में ले जाओ, शरीरशुद्धि तो हो जायेगी लेकिन मन की शुद्धि नहीं हो पायेगी। मन की शुद्धि के लिये तो अंतस्तीर्थ में ही जाना पड़ेगा।

शरीर में भी भिन्न-भिन्न स्थलों में परमात्म-प्रकाश का विशेष तेज होता है। जैसे बाह्य अधिभूत जगत् में जहाँ-जहाँ परमेश्वर की विशेष लीला का आविर्भाव हुआ वहाँ तीर्थरूपता आती है, इसी प्रकार अपने शरीर में भी जगह-जगह आत्मा का विशेष प्रकाश होता है। सामान्य रूप से तो वह सर्वत्र प्रकाशक है, किन्तु जहाँ-जहाँ विशेष प्रकाश होता है, वहाँ-वहाँ स्वभावतः तीर्थरूपता की प्राप्ति हो जाती है। उन्हीं स्थलों को अंतस्तीर्थ कहा है।

अन्यत्र भी कहा है कि शिर ही कैलाश पर्वत है, ललाट केदारनाथ है। जहाँ भौहें मिलती हैं, उनके नीचे मध्यभाग में वाराणसी है, छाती में कुरुक्षेत्र है, मध्य हृदय में प्रयाग, मूलाधार भगवान् विष्णु का स्थल है, हृत्पद्म चिदम्बर है। अतः शरीर में जितने भी इस प्रकार के भिन्न-भिन्न चक्र हैं, जहाँ परमात्मा का विशेष प्रादुर्भाव है, वे सारे ही मन की शुद्धि के साधन हैं। उनमें चित्त को एकाग्र करके जब ध्यान लगाते हैं, तब मन शुद्ध होता है। ये तीर्थ एक-दो ही नहीं समझ लेना, अनंत हैं - अध्यात्म और अधिभूत जगत् में अनंत तीर्थ हैं। सिद्धान्त है कि मन की शुद्धि अन्तस्तीर्थ में ही संभव है। वैसे तो मन तत्तत् कामों को करने के लिये स्वतः ही वहाँ जाता है लेकिन जब वैश्वानर आत्मरूप से दक्षिणाक्षि में ध्यान करेगा तब वह स्थान भाव-तीर्थ (अंतस्तीर्थ) माना जाता है और तभी परमात्म-प्रकाश का फल उत्पन्न होता है। जैसे बनारस जाने पर भी शरीर की शुद्धि नहीं होती, यदि वहाँ साड़ी खरीदने के उद्देश्य से गये हो। उल्टे, ठगकर रुपया कमा लाने की संभावना तो हो सकती है! ऐसे ही अंदर का तीर्थ भाव-तीर्थ है। आँख में प्रतिदिन जाते हो लेकिन भावनापूर्वक जाने से ही फल होगा अर्थात् जब आत्मरूप से ही दक्षिणाक्षि में जाओगे तब फल होगा। अतः अंदर का तीर्थ ही चित्तैकाग्रता के द्वारा मन की शुद्धि करने वाला है, बाहर का तीर्थ नहीं। लेकिन हैं दोनों ही आवश्यक। यदि अंतःकरण शुद्ध है और शरीर से बुरी क्रिया होती है तो उस बुरी क्रिया का संस्कार अंतःकरण पर अवश्य पड़ेगा और एक दिन मन भी कहेगा कि यही ठीक है।

इसलिये बाह्य-शुद्धि और अन्तःशुद्धि दोनों आवश्यक हैं। शरीर के कर्मों को बार-बार करने से मन पर उनका संस्कार पड़ेगा और मन से करने पर शरीर पर उनका प्रभाव पड़ेगा। जब तक दोनों तीर्थों में जाकर शरीर और अंतःकरण की शुद्धि नहीं होगी, तब तक आत्म-तीर्थ में नहीं पहुँच सकते, आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

आत्म-तीर्थ को सारे तीर्थों से परे बताया गया है। जिसमें और जिसके कारण ये दोनों तीर्थ होते हैं वस्तुतः वह आत्म-तीर्थ है, जिसके सम्बन्ध से तीर्थ तीर्थरूप बनते हैं। सप्त-ऋषि हिमालय के पास संदेश लेकर गये 'भगवान् शंकर के साथ आपकी पुत्री का विवाह हो जाये।' जैसे तुम्हारे विवाह का निर्णय करने वाले ब्राह्मण हैं, वैसे ही भगवान् शंकर के ब्राह्मण सप्त-ऋषि ही हैं। उस समय का वर्णन करते हुए कविकुलगुरु कालिदास लिखते हैं कि हिमालय हाथ जोड़कर कहने लगे 'आज मैं तीर्थ बन गया। आज से शुरू करके जो भी शुद्धि की प्राप्ति के लिये मेरे पास आयेंगे, वे भी शुद्ध होंगे।' तीर्थ कैसे बना यह बताते हुए वह कहता है कि पूज्यों के द्वारा जो स्थान जुष्ट या सेवित हो जाता है, उसी स्थल को तीर्थ कहा जाता है। आज सप्त-ऋषि यहाँ आ गये हैं, इसलिये मैं तीर्थ हो गया हूँ। अतः महर्षियों द्वारा जो स्थल सेवित है, वही तीर्थ है। जहाँ वे पहुँचेंगे, वह स्थल तीर्थ हो जाता है। जहाँ वे ध्यान करते हैं वह अंतस्तीर्थ है और जिसमें वे अधिष्ठित हैं उस तीर्थ का तो कहना ही क्या है! जब हिमालय सप्त-ऋषियों के निवासमात्र से तीर्थ-स्वरूप हो गये तब ऋषिगण स्वयं कितने बड़े तीर्थ होंगे इसका कोई ठिकाना नहीं है। वही आत्म-तीर्थ है। परब्रह्म परमात्म-तत्त्व ही सारे ऋषिगण है। ऐसे ऋषियों का सम्बन्ध भी साक्षात् आत्म-तीर्थ का सम्बन्ध है।

अमर-कोष में तीर्थ के ऊपर विचार करते हुए तीर्थ के अर्थ बताये 'निपानागमयोस्तीर्थम् ऋषिजुष्टजले गुरौ' गुरु को तीर्थ बताया, ऋषि-सेवित जल को तीर्थ बताया, कहीं से कोई नदी निकाली गई हो वह अथवा जिसे शास्त्र ने कहा है उसे भी तीर्थ बताया। वस्तुतः गुरु ही आत्म-तीर्थ है। स्कन्द पुराण के तीर्थ-प्रकरण में आता है कि जो निरंतर आत्म-तत्त्व के विचार में ही निमग्न हैं, उनके पैरों को धोया हुआ जल ही सारे पापों को धोने में समर्थ है। गुरु से ही आत्म-शुद्धि के लिये साक्षात् तीर्थ का सम्बन्ध है। प्रश्न होता है कि जल से पैर धोने से तीर्थ-रूपता कैसे आयेगी? गंगा-जल के प्रवाह में, दान, यज्ञ, लकड़ी, पत्थर में भी जब भगवान् को

देखते हैं, तो चेतन साक्षात् परमात्माका रूप है ही। वस्तुतः शरीर में वही साक्षात् प्रतिष्ठित है। इसीलिये तो शरीर को वेदि और आत्म-तत्त्व को आत्म-लिंग बताया है। अतः इस आत्म-तत्त्व को देखने से साक्षात् परमात्मप्राप्ति हो जाती है। महर्षि वेद-व्यास कहते हैं-

'सुदूरमपि गन्तव्यं यत्र माहेश्वरो जनः।
तत्र तीर्थानि सर्वाणि तिष्ठन्त्येव न संशयः।।'

जहाँ माहेश्वर-जन विद्यमान है, उसके पास जाने के लिये बहुत दूर भी जाना पड़े तो जाना चाहिये। वहाँ जाने से ही आत्मा का साक्षात्कार अंतःकरण में होगा और अंत में आत्म-लिंग में ही स्थायीरूप से स्थित रहोगे। ऐसे शरीर को वेदि बताया जहाँ सारे तीर्थ एक-साथ ही मिल जायें। सारे तीर्थ वहीं विद्यमान हैं। केवल पास जानेमात्र से ही सारे पापों की निवृत्ति हो जायेगी क्योंकि सारे पापों का बीज कामना ही है, बिना कामना के पाप होना असंभव है, और वह कामना माहेश्वर जनों के पास जानेमात्र से ही जल जाती है। इसपर कालिदास एक बड़ी सुन्दर बात कहते हैं।

भगवान् शंकर विवाह करने के लिये सज-धज कर हिमालय के यहाँ पहुँचे। जैसी कि औरतों की आदत होती है, बारात आती है तो वे खिड़की खोलकर देखती हैं कि दूल्हा कैसा है। उन औरतों का शादी-ब्याहा हो चुका है। जब भगवान् शंकर हिमालय के नगर में पहुँचे तो वहाँ की औरतों ने उन्हें देखा और मुग्ध एवं प्रसन्न हो गयीं। बोलीं 'सुना था कि इन्होंने कामदेव को भस्म कर दिया था, लेकिन अब लगता है कि यह बात गलत है। इन्होंने गुस्से में आकर कामदेव के शरीर को जलाया हो, इनपर गुस्सा चढ़ा हो अर्थात् गुस्से ने इनपर काबू करके काम को जलाया हो, यह बात इनको देखने से जँचती नहीं है। तो फिर किसने कामदेव को जलाया? इन महादेव के सौन्दर्य को देखकर ही बेचारे काम को लज्जा आ गई होगी कि मेरी सुन्दरता तो इनके सामने व्यर्थ है। क्योंकि वह अपने को ही अतिसुन्दर मानता था इसलिये काम ने शरम के मारे खुद ही अपने आप को जला डाला होगा। लोग कहते हैं कि इन्होंने जलाया, यह बात गलत है।

ठीक इसी प्रकार संसार की कामनायें भी ज्ञान-निष्ठ के पास जानेमात्र से ही नष्ट हो जाती हैं। ऐसा नहीं कि वे गुस्से में आकर कामनाओं को नष्ट करते हों, बल्कि स्वयं कामना को ही शरम आ जाती है कि मेरी सुख की कामना इनकी

कामनाओं से प्रकट होने वाले आनन्द के सामने तो तुच्छ है। इनके पास आने से सारी कामनायें ही जल जाती हैं तो पाप वहाँ कैसे रह सकता है! अत: सारे तीर्थ तो ज्ञान-निष्ठ की सन्निधि में ही विद्यमान रहते हैं।

भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर के एक शिष्य भगवान् पद्मपादाचार्य थे। वे भगवान् विष्णु के अंश माने जाते हैं। उन्होंने भी इस आत्म-तीर्थ के महत्त्व को बताया। आचार्य पद्मपाद भगवान् शंकर के पास रहकर ही अध्ययन करते थे। उनकी योग्यता देखकर भगवान् शंकर ने उन्हें कई बार ब्रह्मसूत्र का अध्ययन कराया। दूसरे शिष्यों के मन में ईर्ष्या होने लगी कि आचार्य इन्हीं को बार-बार प्रेम से क्यों पढ़ाते हैं? आचार्य को पता लगा। उन्होंने सोचा, यह तो ठीक नहीं। यह ईर्ष्या कहाँ ले जायेगी कोई ठिकाना नहीं। इसलिये परीक्षा लेकर सच्ची बात को प्रकट कर देना चाहिये। एक दिन सारे शिष्य नदी के दूसरे किनारे खड़े थे। अकस्मात् भगवान् शंकर ने इस किनारे से आवाज़ लगाई, 'जल्दी आना, जल्दी आना।' उनमें से कई शिष्य दायें-बायें देखने लगे कि कोई नौका नज़र आये तो पार जायें, गुरु जी बुला रहे हैं। लेकिन आचार्य पद्मपाद ने सोचा कि 'जिन गुरु के चरणों का स्मरण करने से संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं, क्या मैं एक नदी पार नहीं कर सकता?' झट नदी पर ही चल दिये, जैसे-जैसे गये, एक-एक कमल निकलता गया और उस पर पैर रखकर वे दूसरी पार पहुँच गये। अब दूसरे शिष्यों को पता लगा कि पद्मपाद गुरुजी को किस दृष्टि से देखते हैं। जब उन्होंने गुरु को साक्षात् तीर्थ समझा तब यह स्थिति हुई।

एक बार उनके मन में आया कि तीर्थयात्रा पर जा आयें। उस समय भगवान् शंकर शृंगेरी में विद्यमान थे। उनके पास जाकर कहा 'मैं तीर्थ घूमने जाना चाहता हूँ।' भगवान् को तो उनसे विशेष प्रेम था ही, कहा, 'बेटा कहाँ जाओगे, कौन-सा ऐसा तीर्थ है जहाँ तुम नहीं गये?' 'सत्क्षेत्र-वासो निकटे गुरोर्यो'। गुरु के निकट रहना ही सुन्दर क्षेत्र में वास करना है और गुरु के चरण-प्रक्षालन का जल ही तो तीर्थ है। तुम्हें यह सब प्राप्त है, अब क्या प्राप्त करना है? और फिर गुरु के उपदेशों से जो आत्म-दृष्टि बन रही है, उसी के अन्दर सारे देवताओं के दर्शन भी हो रहे हैं। सारे देवता आत्म-स्वरूप ही तो हैं। वहाँ दूसरे तीर्थ में जाओगे, थकावट होगी, भोजन भी समय पर मिले, न मिले, सोने को भी शायद अच्छी जगह न मिले, तो इन्हीं चिन्ताओं में मग्न रहोगे।

और कहीं रोग हो गया तो अधिक तकलीफ हो जायेगी। और फिर तीर्थों में कहीं-कहीं तो स्नान का समय भी नहीं मिलता, क्योंकि जल्दी आने जाने की रहती है। स्नानादि का समय नहीं मिलेगा तो देव-पूजा का भी समय कहाँ से मिलेगा! वहाँ शौचादि के नियमों का पालन भी नहीं हो पाता तो समाधि के लिये समय कहाँ रहेगा? भोजन भी समय पर नहीं मिलेगा, भले आदमियों का साथ भी नहीं रहेगा, मित्र भी नहीं मिलेंगे। यहाँ तक कि कभी-कभी तो भूख से जी घबराता है। इसलिये इन सब कठिनाइयों को देखते हुए यहीं रहो तो ठीक है।

लेकिन अंतःकरण का क्या ठिकाना! एक बार बहिर्मुख हुआ तो हुआ। कहाँ तो गुरु को ही सर्व-तीर्थरूप समझा था और अब गुरु को ही छोड़कर बाह्य-तीर्थ में जाना चाहते हैं! आचार्य पद्मपाद ने कहा 'आप प्रेम के कारण मुझे रोक रहे हैं, किन्तु सुख से पुण्य-प्राप्ति नहीं होती, कष्टों से ही पुण्य होता है। मनु आदि धर्म-शास्त्र-रचयिताओं ने भी धर्मशास्त्र में जहाँ दीर्घ धर्म-पालन बताया है, वहाँ संकुचित धर्म-पालन भी बताया है। तीर्थादि स्थलों में संक्षिप्त धर्म-पालन के नियमों को भी बताया है। जैसे कहा है कि तीर्थ में शूद्र की तरह शुद्धि करने से ही काम चल जाता है। उन्होंने देश-काल को देखकर ही अतिसंक्षिप्त नियम भी बताये हैं। मलाबार में दिन में सात बार स्नान किया जाता है पर केदारनाथ चले जाओ तो सात दिन में एक बार नहाना भारी पड़ता है! देश-काल की सारी विधियाँ शास्त्रों में लिखी हैं। इसलिये उनके पालन से पाप की प्राप्ति नहीं होती। आप कहते हैं, समाधि कैसे लगेगी? जहाँ चित्त-एकाग्रता होती है, वहाँ कहीं भी समाधि लग जाती है। गुरु के सन्निकट रहना ही सत्क्षेत्र वास है पर समीपता क्या चीज है? यदि दूर देश में भी शिष्य रहता हो और हृदय में गुरु को धारण किये रहे तो वही समीपवास है। यदि बिलकुल पास बैठा हो पर भक्ति-रहित हो, हृदय में गुरु को धारण ही नहीं किया तो पास में रहता हुआ भी बहुत दूर है। अतः आपने जो बातें बताई वे सब ठीक हैं, लेकिन यहाँ रहकर तीर्थों की सुन्दरता देखने को कहाँ मिलेगी?' अब आचार्य पद्मपाद तीर्थों का फायदा बताते हुए उनकी सुन्दरता का वर्णन करने लगे कि अच्छे तीर्थों के सेवन से मन प्रसन्न हो जाता है। तरह-तरह के देश देखने को मिलते हैं। आजकल हवाई जहाजों से जाने में वे सुन्दर प्रदेश देखने को नहीं मिलते। तीर्थ-सेवन कष्टों को भी नष्ट कर देते हैं। भले आदमियों की संगति भी होती है।

इसलिये तीर्थ-भ्रमण किसे अच्छा नहीं लगता। जब इस प्रकार भगवान् शंकर ने देखा कि शिष्य ने जाने की ठान ही ली है तो जाने को कह दिया और साथ ही नियम भी बता दिये कि सत्पुरुषों के पास ही जाना और दुर्जनों से हमेशा बचना।

लेकिन यह नियम है कि महापुरुष की आज्ञा के विरुद्ध जाना कभी सफल नहीं होता। पद्मपादाचार्य अपने पूर्वाश्रम के मामा के पास पहुँचे। वहाँ के लोगों ने उनके बारे में सुन ही रखा था कि संन्यास ले लिया है और बड़े विद्वान् हैं। जैसे ही वे पहुँचे, लोगों ने उन्हें घेर लिया और कहा, 'यहीं निवास कीजिये।' आचार्य पद्मपाद वहीं ठहर गये। उनके मामा भयंकर कर्मकाण्डी थे, बात-चीत में आचार्य ने बताया कि वेद का तात्पर्य तो चिन्मात्र तत्त्व ही है। शास्त्रार्थ में मामा उनसे हार भी गये। मामा ने सोचा कि 'यह तो शास्त्रव्याख्याता हो गया, और अब सब जगह हम द्वैतियों का, कर्मनिष्ठों का खण्डन करता रहेगा।' इस ईर्ष्या-द्वेष भाव को लेकर उसने कहा, 'आपने जो पंचपादिका पुस्तक लिखी है, इसे यहीं छोड़ जाओ।' आचार्य तो सरल-हृदय संन्यासी यति ठहरे, छल-कपट कहाँ से जानते! पुस्तक वहीं छोड़कर चले गये। उनके जाने पर मामा ने कुटिया में आग लगा दी और वह पुस्तक भी उसमें जल गई। आचार्य ने आकर सारी घटना सुनी तो मामा कहने लगे कि 'बड़े दुःख की बात है, आपकी वह पुस्तक भी इसमें जल गई है।' वे कहने लगे 'इसमें चिंता की क्या बात है! मेरी बुद्धि तो ठीक है, किताबें फिर लिख दूँगा।' मामा ने भी मन में सोचा कि जरूर लिख लेगा। कहा, 'आप कुछ दिन यहीं आराम करो।' आचार्य वहीं रह गये। एक दिन मामा ने भोजन में जहर मिलाकर उन्हें खिला दिया। अब उनकी बुद्धि विचार करने में समर्थ नहीं रही। समझ तो गये, लेकिन अब क्या करते!

उस समय आचार्य शंकर केरल पहुँच चुके थे। आचार्य भी वहाँ पहुँचे। प्रेम से मिले और रोने लगे। कहा, 'किताब जल गई उसकी तो चिंता नहीं, मुझे जहर भी दे दिया जिससे मेरी बुद्धि भी खराब हो गई है। आत्म-तीर्थ को छोड़कर बहिःतीर्थ देखने का प्रत्यक्ष फल मुझे मिल गया। लेकिन अब नहीं छोड़ूँगा, आपकी कृपा और करुणा-दृष्टि से मेरी बुद्धि ठीक हो जायेगी।' आचार्य शंकर ने प्रेम से उनका आलिंगन किया और पुनः उनकी बुद्धि में उस आत्म-तत्त्व का स्फुरण हो गया।

इस प्रकार आचार्य पद्मपाद ने हमारे सामने आदर्श रखा कि आत्म-तीर्थ का सेवन किया तो कहाँ पहुँचे और उसे छोड़कर जब बहिःतीर्थ-सेवन किया तो क्या

परिणाम हुआ। आत्मतीर्थ का सहारा लेने पर अन्य सारे तीर्थों की तरफ से बहिर्मुखी दृष्टि हटानी पड़ती है। अतः आत्मज्ञानी की वेदि न तो बाह्य और न ही अंतस्तीर्थ वाली है, वह तो देवताओं का तीर्थस्वरूप आत्म-तीर्थ ही है। शरीर और मन की शुद्धि कर ली तो फिर देवताओं की जरूरत नहीं। इस शरीर में देवताओं का ही निवास है। यहाँ देव शब्द का अर्थ देवता भी है और दैवी-गुणसम्पन्न व्यक्ति भी।

प्रवचन-५८

अहिंसा

४-९-६८

वेदिरूप स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरों को बताया। इस प्रकार का शरीर बने तो क्या करे? इसके लिये कहा 'मा मा हिंसीः'। इस प्रकार की वेदि में स्थिर होकर फिर हिंसा न करे। दो बार कहा 'हिंसा मत करे, हिंसा मत करे।' दो बार के निषेध शब्द के द्वारा दो प्रकार की हिंसाओं का निषेध यहाँ श्रुति करती है। अपनी हिंसा न करे और दूसरे की भी हिंसा न करे। अपनी भी हिंसा होती है और दूसरे की भी हिंसा होती है। बहुत-से लोग दूसरे की हिंसा से बचते हैं पर अपनी हिंसा कर बैठते हैं। बहुत से लोग अपनी हिंसा से बचते हैं तो दूसरे की हिंसा कर देते हैं। अतः दोनों हिंसाओं का ही निषेध यहाँ वेद बता रहा है।

इसी शाखा के छांदोग्य ब्राह्मण के अंतिम खण्ड में 'अहिंसन्' शब्द आया है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर ने अर्थ किया है 'सर्वभूतानि स्थावरजंगमानि अपीडयन्'। 'अपीडयन्' का अर्थ होता है पीडा नहीं देते हुए। हिंसा का अर्थ कुछ लोग केवल माने बैठे हैं जान से मारना। प्रायः हिंसा का अर्थ साधारण आदमी यही समझता है। लेकिन हिंसा का मतलब केवल प्राण-वियोग करना ही नहीं है। भाष्यकार लिखते हैं कि पीडा न देना अहिंसा है। चूंकि लोगों ने केवल जान से मार देने को ही हिंसा मान लिया है, इसलिये अहिंसा एक अभावात्मक विचार बन गया है। कुछ न करने का सम्बन्ध अहिंसा से हो गया है जबकि अहिंसा में यह भाव नहीं है। इसे दृष्टांत से समझोः एक पड़ोसी भूखे मर रहा है। तुम्हारे पास अनाज है। वह मर जाता है तो कोई यह नहीं कहता कि तुमने उसकी हिंसा की। यदि तुमने उसकी गर्दन काटी होती तो हिंसा कहलाती। कुछ नहीं किया, यदि चुपचाप ही बैठे रहे और वह मर गया तो हिंसा नहीं मानते, क्योंकि तुमने कुछ 'किया' तो है नहीं। आज

भारत में अहिंसा की विचारधार प्राय: यों अभावात्मक ही बन गई है, भावात्मक नहीं रही। इसीलिये जब रास्ते में जा रहे हो, कोई व्यक्ति किसी कठिनाई में पड़ा है, उस समय हमारी अहिंसा की विचारधारा उसकी मदद करने में प्रवृत्त नहीं करती। यदि सड़कों पर घूमती गाय भूखे मरती है तो मर जाये। यह गोहत्या नहीं मानते हैं, और बूचड़खाने में जब उसकी गर्दन पर तलवार चलेगी तभी गोहत्या समझते हैं। इसी विचारधारा का निषेध करना है। किसी से कहो कि वहाँ गाय भूखे मर रही है उसे घास खिला दो तो कहते हैं, 'जी किस-किस को घास दें?' ऐसा तो वे व्यक्ति कहते हैं जो गोवध-बन्दी के लिये पचास रुपये चन्दा भी देते हैं! यह अहिंसा की अभावात्मक विचारधारा का ही नतीजा है। उनसे ज्यादा कहो तो जवाब देते हैं 'सब अपने-अपने प्रारब्ध से मरते हैं।' उनसे पूछना चाहिये, यदि भूखे प्रारब्ध से मरते हैं तो क्या बूचड़खाने में बिना प्रारब्ध के ही मरते हैं?

अहिंसा एक भावात्मक विचारधारा होने से ही भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि इसका स्वरूप है कि मेरे द्वारा किसी को पीडा न हो, बल्कि मैं स्थावर-जंगम सर्वभूतों की हर प्रकार से पीडा-निवृत्ति में ही लगा रहूँ। अर्थात् दूसरे की पीडा को हटाना और अपने से किसी को पीडा प्राप्त न कराना अहिंसा है। वैदिक धर्म में अहिंसा को भावात्मक माना है, केवल अभावात्मक नहीं।

एक कदम और आगे चलो: किसी समय किसी को मार डालना भी अहिंसा हो सकती है। जो अहिंसा के भावात्मक रूप को जानता है वही इस बात को समझ सकेगा, अहिंसा को अभावात्मक समझने वाला नहीं। एक व्यक्ति हत्यारा है, उसने बीसों की हत्या कर ली। यह निश्चय हो गया कि वह बाहर रहकर दूसरों को मारता ही रहेगा, इसलिये उसे एक कोठरी में बंद कर दिया गया। यदि वह कहता है 'मैं सिर फोड़कर मर जाऊँगा' तो उससे कहो चाहे जैसे मर, लेकिन तुझे छोड़ेंगे नहीं। कोई कहे भी कि 'जाने दो, क्यों हिंसा मोल लेते हो?' तो भी उसे नहीं छोड़ना चाहिये। यदि छोड़ोगे तो वह बाहर आकर दस आदमी और मारेगा, और इससे तुम दूसरों को पीडा ही दे रहे हो, वह स्वयं भी पापों में प्रवृत्त होकर नरकों में जायेगा। अत: उसे बन्द करके तुमने उसकी भी रक्षा की और दूसरों की भी रक्षा की। यहाँ भी अहिंसा है, यद्यपि बाहर से तो तुम उसे मार रहे हो। इसके विपरीत, यदि उसे छोड़ रहे हो तो दीखता है कि बड़े दयालु हो, फिर भी दस और आदमियों की हत्या में प्रवृत्ति कर रहे हो।

सन् ४७ में हम कहीं मोटर में जा रहे थे। एक लड़का गुब्बारे (बैलून)लेकर उधर से आ रहा था। हमारे साथ जो सज्जन थे, उनसे कहने लगा, 'चार आने में आप ये ढोल खरीद लो।' वे कहने लगे, 'हमारे घर बच्चे नहीं हैं, खरीद कर क्या करेंगे?' उसने फिर कहा तो कह दिया 'हमें जरूरत नहीं है।' लड़के की आँखों में पानी आ गया। वह कहने लगा 'मैं शरणार्थी हूँ, माता-पिता मर गये हैं, आज सवेरे से एक-एक पैसे के केवल दो ही बिके हैं, मैं खाने के लिये ही आपसे कह रहा हूँ कि आप चार आने में खरीद लो।' वे सज्जन चवन्नी देते हुए बोले, 'जा, खा लेना।' लड़का कहने लगा 'मैं भीख नहीं लूँगा, आप ढोल खरीद लो, मुझे भीख माँगना मत सिखाओ।' विचार करो, दस साल का बच्चा यह कह रहा है कि 'मैं भीख नहीं लेना चाहता।' क्योंकि वह जानता है कि इससे वह बिगड़ जायेगा। हमने उन सज्जन से कहा 'खरीद लो तो ठीक है, भीख देने से तो हिंसा हो जायेगी।' बहुत से लोग दूसरों को प्रमादी बनाकर हिंसा ही करते हैं। बाहर से तो लगता है कि उपकार कर रहे हैं लेकिन अन्दर से घुन लगा रहे हैं। ऐसे समय पर उससे काम कराकर पैसा देना अहिंसा है और व्यर्थ में ही देकर उसे प्रमादी बनाना हिंसा है। दूसरी तरफ, कोई आदमी काम करने में असमर्थ हैं, उनसे यह कहना कि 'बिना काम कराये हम पैसा नहीं देने वाले हैं' यह उसकी हँसी उड़ाना है। इससे हिंसा हो जायेगी। अहिंसा प्रधानतः भावात्मक है, अभावात्मक नहीं।

लोग हमसे आकर कहते हैं, 'स्वामी जी! नागालैण्ड में ईसाई वहाँ के लोगों को पैसा देकर बिगाड़ रहे हैं।' हम आगे प्रश्न करते हैं कि अनादि काल से आज तक वे जातियाँ यहाँ रहीं, तुमने उनके लिये क्या किया? ईसाई तो सौ-दो सौ साल ही पहले आये हुए हैं, जबकि लाखों साल से नागा लोग यहाँ रहते हैं, तुमने उनकी धर्म-शिक्षा आदि के लिये क्या किया? तुम कुछ करने को तैयार नहीं हो, दूसरा करे तो सहन करने को भी तैयार नहीं हो! फिर कहते हैं कि ईसाइयों ने तो स्वार्थ से ही यह किया है। प्रश्न है कि तुमने परमार्थ के लिये क्यों नहीं किया? अभावात्मक अहिंसा के दृष्टिकोणवश हमने मान रखा है कि उन्हें हमने बिगाड़ा नहीं तो अहिंसा की। जबकि न सुधारना भी एक हिंसा है, यह नहीं समझा। सुधारने के लिये प्रयत्न न करना भी उतनी ही बड़ी हिंसा है। पड़ोसी के लड़के को शराब पीते देखा, कुछ नहीं करते हो। सोचते हो कि हमने उसे पैसा तो नहीं दिया; हम पैसा देते और वह शराब पीता तो बुराई होती। पाँच साल बाद पता लगा कि अब तो वह पूरा शराबी

हो गया है। कहते हो कि तुम्हें तो पहले ही पता था। समझते हो कि तुमने कुछ बुरा नहीं किया, उसे पैसा नहीं दिया, उल्टा कहते हो कि हरीराम के लड़के ने उसे बिगाड़ा है। किन्तु विचार करो, तुमने देखकर न तो उसे रोका, न घर आकर ही उसे समझाया, न उसके माता-पिता से कहा; क्या यह भी हिंसा नहीं है? अहिंसा केवल अभावात्मक नहीं, कुछ नहीं करनेमात्र से ही अहिंसा नहीं होती बल्कि अहिंसा भावात्मक भी है। दूसरे को भी पीडा न हो और अपने को भी न हो, यों दोनों तरह की सावधानी अहिंसा है।

वेद स्पष्ट कहता है कि परमेश्वरप्राप्ति के लिये ही तुम्हारा भारत में जन्म हुआ है 'उत्तिष्ठध्वं जाग्रध्वम् अग्निमिच्छध्वम् भारताः'। हे भारतीय लोगों! उठ जाओ, जाग जाओ और ज्ञानाग्नि की इच्छा करो। उसके द्वारा परमानन्द-स्वरूप को प्राप्त करो, इसी के लिय भारत में तुम्हें जन्म मिला है। लेकिन तुम क्या करते हो? 'आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च'। जो काम दूसरे देश वाले करते हैं, पशु करते हैं, वही काम तुम भी करते रहते हो! खाते रहे, पीते रहे, बच्चों को पैदा किया, उनका ब्याह करते रहे, लेकिन परमात्मा की प्राप्ति नहीं करते। जिस भारत-भूमि में जन्म लेने के लिये देवता भी चेष्टा करते रहते हैं, 'गायन्ति देवाः किल गीतकानि। धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे', उस भारत में परमेश्वर के दर्शन के लिये जन्म मिला लेकिन हम जैसे दूसरों की वैसे अपनी भी हिंसा करते हैं। जैसे दूसरों का गला काटना ही हिंसा नहीं है, वैसे ही आत्म-हत्या का मतलब भी केवल तलवार से अपना गला काट देना या जहर खा लेना ही नहीं है। प्रायः लोग ऐसी आत्म-हत्या को ही पाप समझते हैं। भारत में जन्म लेकर भी परमात्मा की प्राप्ति में न लगना अपनी हिंसा है। इसी का नाम आत्म-हत्या है। अतः जैसे दूसरों के लिये, वैसे ही अपने लिये भी अहिंसा अभावात्मक समझ ली है। 'मा मा हिंसीः' कह रहे हैं कि न दूसरे की हत्या करो और न अपनी हिंसा करो। संसार में अपना मन सबसे ज्यादा दुःखी आसक्तियों से ही होता है। यजुर्वेद का मंत्र स्पष्ट कहता है-'प्रियं त्वा रोत्स्यति' जिससे भी प्रेम करोगे, वह तुम्हें रुलायेगा। फिर भी यदि संसार के पदार्थों से प्रेम करके रोते हो तो अपनी ही हिंसा हो रही है। परमात्मा को न जानना, आसक्तियों को समाप्त करने की प्रवृत्ति न करना ही आत्महत्या है। तुम जानते हो कि अपने को अपरिच्छिन्न मानने में ही सुख है। श्रुति ने भी कहा है 'द्वितीयाद् वै भयम् भवति' अपने को अलग करोगे तो दूसरे तुम्हें भयभीत करेंगे, झगड़ा करेंगे। भाई को, पत्नी को, लड़के

को, किसी को भी अपने से अलग करो तो वे झगड़ा करेंगे। यहाँ तक कि देश को अलग करोगे तो वह भी झगड़ा ही करेगा, हिन्दुस्तान से पाकिस्तान अलग हुआ तो झगड़ा ही कर रहा है। यह जानकर भी कि द्वितीय बनने से झगड़े होते हैं, फिर भी भय खाते रहते हो! इस भयरूपी पाप के भागी तुम खुद हो। आत्म-हत्या क्या है? शास्त्र ने बताया- 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः'। जो आत्म-हत्या करते हैं वे असुर लोकों में गमन करते हैं, महान् अन्ध लोकों को प्राप्त करते हैं। जो आत्म-दृष्टि नहीं करता, परमेश्वर को नहीं समझता, राग-द्वेष, काम-क्रोधादि से ही आक्रांत रहता है, वह यहीं तड़प रहा है, आगे जो होगा, वह तो होगा ही। इसलिये कहा कि न अपनी और न किसी दूसरे की ही हिंसा करे, न अपने को लक्ष्य-भ्रष्ट करे और न ही दूसरे को उसके वास्तविक लक्ष्य से दूर होने दे। ऐसा करने के लिये दूसरे को चाहे मारना पड़े या दुलारना पड़े, वह अहिंसा ही है।

हमारे हिन्दू धर्म में अवतार असंख्य हैं 'अवतारा ह्यसंख्येयाः' लेकिन दो अवतारों को आज भी हम अपने जीवन में प्रधान मानते हैं, राम और कृष्ण। दोनों के ही जीवन अहिंसा वाले हैं! इतना ही नहीं कि भगवान् राम ने केवल रावण को ही मारा, यहाँ तक कि औरत ताडका को भी नहीं छोड़ा! आज के लोग कहेंगे-'देखो, औरत को मारना कितना पाप होता है।' दूसरी तरफ, भगवान् कृष्ण ने पैदा होने के कुछ ही महीनों में पूतना का वध किया, थोड़े बड़े होकर अपने मामा कंस को मार दिया और अंत में चलकर अपने ही सारे बाल-बच्चों को मारकर खतम किया। विचार की बात है कि ये ही हमारे हिन्दू धर्म के परम आदर्श क्यों माने गये हैं? कारण है कि उनके जीवन में अहिंसा पूरी तरह से प्रकट हुई है, चूंकि अहिंसा अभावात्मक ही नहीं है। रावण के अत्याचारों से बड़ी अव्यवस्था हो गई थी, कंसादि के अत्याचारों से देश खराब हो रहा था, अतः उन्हें मारना ही *अहिंसा* था। यही भावात्मक अहिंसा का रूप है। अंत में देखा कि लोग समझेंगे कि बाहर वालों को ही मारा, घर वालों को तो बचाते रहे अतः कुमार्गी हो चुके अपने कुल वालों को समाप्त कर दिखा दिया कि मैंने सबको आसक्ति-रहित होकर ही मारा है। जब अपने कुल को बिगड़ते देखा तो उसे भी मारने में एक क्षण का विलम्ब नहीं किया। जब इस प्रकार भावात्मक अहिंसा होती है, तभी प्रगति होती है।

दूसरों के प्रति भावात्मक अहिंसा से देश और समाज की उन्नति होती है, अपनी तरफ होने से आत्म-कल्याण, आत्मा की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत, यदि अभावात्मक अहिंसा ही है तो प्रमादी होते जाओगे। लोग कहते हैं कि वे बड़े भले आदमी हैं, किसी से कुछ नहीं कहते। इनके पिताजी बड़े धर्मात्मा हैं। उनके घर का हाल देखो तो बच्चे सारे बिगड़ रहे हैं, उनसे दूर हो गये हैं! वह धर्म क्या जो बच्चे ही बिगड़ गये! यह नियम है कि धर्म का फल कभी अधर्म नहीं हो सकता। धर्म-पालन करते हुए अगर बच्चे बिगड़े हैं तो मानना पड़ेगा कि धर्म-पालन में कोई कमी है, क्योंकि नियम गलत नहीं हो सकता।

जैसे घर में, वैसे ही समाज में भी समझना चाहिए। समाज को आगे बढ़ाने वाले, समाज का नियंत्रण करने वाले सभी आज अहिंसा को केवल अपनी जान बचा लेना ही समझते हैं। इदानीं काल में जितने नेता हैं, सब अपनी-अपनी जान बचाना चाहते हैं। वे सोचते हैं कि हम कहेंगे तो जनता विरुद्ध हो जायेगी। जनता से प्रेम बना रहे तो अपना काम चलता रहे, फिर जनता चाहे भ्रष्ट हो जाये, इसकी चिंता नहीं। अध्यापक भी सोचता है कि विद्यार्थी मेरे खिलाफ हो जायेंगे, इसलिये चुप रहते हैं कि 'लड़के पढ़ें चाहे न पढ़ें, हमें क्या!' लड़के हल्ला भी मचायें कि 'हमें पास कर दो' तो सोचते हैं, 'कर दें पास, हमारा क्या जाता है?' सुन रखा है कि अमुक निरीक्षक (इन्विजिलेटर) को छुरा मार दिया था, इस भय से रुकावट नहीं करते। कानपुर में एक प्राध्यापक ने हमसे कहा, 'आजकल निरीक्षण का काम कर रहे हैं।' हमने पूछा, 'यह तो बड़ा कठिन मामला है, सावधान रहना पड़ता होगा?' कहने लगे, 'स्वामी जी, कुछ कठिन काम नहीं है। मैं तो लड़कों से कह देता हूँ कि चाहे जो करो। मैं एक तरफ बैठकर अखबार पढ़ता रहता हूँ। कौन अपनी जान खोये!'

चाहे जो हो, हर एक यही सोचता है कि मेरी जान बचे। उसे लोग भला आदमी भी समझते हैं। यह सब अहिंसा को अभावात्मक मानने का ही नतीजा है। जैसे बुराई को रोकना अहिंसा है, वैसे ही दूसरों को बुराई से रोकने के लिये उनकी मदद भी करनी है। तुम्हारी सारी कमाई अपने लड़के के लिये ही है। यदि अपनी सारी सम्पत्ति अपने लड़के को देते हो तो तुम उसकी गलती को रोकते भी हो। पड़ोसी के लड़के को धन नहीं देते, तो उसे बुराई के लिये रोकोगे भी नहीं। यदि

पड़ोसी के लड़कों को कुछ दोगे तभी तो उनकी भलाई की बात भी सोचोगे। अपराधी को दण्ड तभी दोगे जब दूसरे की तरफ दृष्टि करोगे। तभी तो उसे बुराई से बचाओगे और आगे उनकी मदद भी करोगे।

दूसरे की तो गलतियाँ निकालते हो और यदि स्वयं मदद करने का मौका आये तो दुम दबाकर भाग जाते हो! अध्यापक विद्यार्थियों से तो कहेंगे, 'ईमानदारी से पढ़ा करो।' यदि कोई लड़का शाम को आकर कहे 'मास्टर जी अमुक विषय समझ में नहीं आया, दो-चार दिन ज़रा बता दीजिये तो समझ जाऊँगा।' कहते हो 'हमारे पास समय नहीं है, कालेज में ही पूछ लेना। मेरी तो सौ-सौ रुपये ट्यूशन-फीस है और हफ्ते में तीन ही दिन पढ़ाता हूँ।' उस विद्यार्थी से कोई आशा करे कि अध्यापक गलती करेगा और वह उसे भुला देगा, तो व्यर्थ है। विदेशियों की हम बुराई तो करते हैं पर वहाँ ट्यूशन नाम से यहाँ के ढंग को ही नहीं जानते। वे तीन घण्टा तो स्कूल में पढ़ाते हैं और दस घण्टा घर पर विद्यार्थियों की मदद करते हैं। उनके मन में यह नहीं है कि पैसा ही कमाना है। वे समझते हैं कि यह मेरा विद्यार्थी है, चाहे एक घण्टे में बात को समझे या दस घण्टे में, मेरा काम तो इसे समझाना है। इधर, हमारे अध्यापक समझते हैं कि तीन घण्टे ही मेरे कालेज के काम के हैं, इसके बाद लड़कों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। तीन घण्टे के लिये तीन हजार रुपये मेरे हैं। फिर कहते हैं कि आजकल लड़के अध्यापकों की इज्जत नहीं करते! हमारे यहाँ अध्यापक की, ब्राह्मण की बड़ी इज्जत होती थी। गाँव में ब्राह्मण, अध्यापक सवेरे पाँच बजे उठते थे। उस समय शौचादि के लिये बाहर ही जाना पड़ता था। उन्होंने लोटा उठाया तो सीधे शौचादि के लिये ही नहीं चले जाते थे, बल्कि सब जगह दरवाजा खटखटा कर सोये हुए बच्चों को उठाते चले जाते थे। फिर शौचादि से निवृत्त होकर दातुन करते हुए लौटते तो बच्चों से पूछते आते कि कल का विद्यालय का काम पूरा कर लिया? कोई बच्चा कहता-'गुरुजी, दो सवाल रह गये हैं, ज़रा समझा दीजिये।' गुरुजी दातुन भी करते रहते, और सवाल भी समझा देते थे। आजकल के लोग चाहे उन्हें असभ्य कहें, बच्चा जल्दी नहीं समझता तो दो-चार गालियाँ भी सुना देते थे। इस प्रकार पाँच बजे के घर से निकले हुए दस बजे वापिस पहुँचते थे। खाना खाते पाठशाला का समय हो जाता, पहुँच जाते। सब बच्चों को देखकर आये इसलिये बहाने-बाजी से बच्चे छुट्टी लें वगैरह की गुंजायश ही नहीं

थी। चाहे वे स्वयं नौवे दर्जे तक ही पढ़े थे और आज उनके पढ़ाये हुए पी० एच० डी० हो गये हैं, उनका पढ़ाया गाँव में आये और उनके पैर न छुये, यह हो नहीं सकता था। वे छात्र भी यह नहीं सोचते थे कि 'अब तो मैं पढ़ाने लगा हूँ, इन्हें क्या आदर देना है।' अध्यापक और विद्यार्थी की दृष्टि आपसी प्रेम, श्रद्धा की होती थी।

यही दृष्टि उस समय के व्यापारी में भी थी। एक बार हम अहमदाबाद गये हुए थे। दो बड़े सेठ हमारे पास आये। उनमें से एक दूसरे की तरफ देखकर कहने लगा, 'ये अमुक दो मिलों के मालिक हैं।' वह दूसरा सेठ कहने लगा, 'जी, मैं तो इनका 'बाबिनमैन' हूँ।' मिलों में कपड़े का सूता एक-दूसरे पर चढ़ाने वाले को अंग्रेजी में 'बाबिनमैन' कहते हैं। हमने सोचा कि मज़ाक कर रहे होंगे। उसी ने कहा, 'मैं आज से ५५ साल पहले इनके पास आया और चार रुपये महीने पर इनकी मिल में बाबिनमैन का काम करता था। दो महीने मेरा काम देखकर इन्होंने मेरा वेतन सात रुपये महीना कर दिया। उस समय मैं समझता था कि मेरे जैसा और कोई नहीं है। मुझे सात रुपये महीना मिलने लगा था।' यह बात १५ साल पहले की है और ५५ साल पहले की बात वे सुना रहे थे। सत्तर साल पहले सात रुपये ही बहुत समझे जाते थे। 'धीरे-धीरे मैं इन्हीं के यहाँ उन्नति करता रहा। बहुत योग्य देखकर इन्होंने मुझे २०-२५ हजार रुपये देकर एक वीविंग मिल खुलवा दी। धीरे-धीरे परिश्रम से उन्नति करते हुए आज दो मिलें हो गई हैं।' जिसने रुपये दिये, उसकी एक ही मिल है और जो नौकर था, आज उसकी दो मिलें चलने लगीं। लेकिन एक मिल वाले को भी बड़ी प्रसन्नता थी कि उसकी दो मिलें हो गई हैं और दो मिल वाले को यह प्रसन्नता थी कि इनकी वजह से ही यह सब कुछ हुआ है। आज क्या परिस्थिति है? मुनीम को पाँच रुपये भी ज्यादा मिलें तो मालिक सोचते हैं कि क्यों मिलें! उनकी छाती पर साँप लोटता है। मुनीम की उन्नति नहीं सह सकते। अगर कभी मुनीम कह दे 'मैं व्यापार तो सीख ही गया हूँ, २५ हजार रुपये दे दीजिये, अपना काम शुरू करूँगा और आपके रुपये वापिस कर दूँगा;' तो उस समय उससे जो कहो तुम्हीं जानो, लेकिन घर आकर भाई से कहोगे, 'देखो, कहता है कि अपने हाथों से ही अपने पैर काट दूँ!' यदि कहीं वह किसी दूसरे से रुपये माँगे और वह आकर तुम से पूछे कि कैसा आदमी है, क्या उसे रुपये दे दे, तो क्या सर्टिफिकेट दोगे? क्या यह कहोगे कि 'बड़ा ईमानदार और मेहनती आदमी है, दे दो?' कभी नहीं कहोगे।

उल्टे कहोगे, 'जी, देने को तो दे दो; लेकिन उसकी बैकिंग तो कुछ है नहीं, वापिस कहाँ से करेगा!' इसका मतलब ही है कि मत दो। खुद तो देना नहीं, दूसरा भी देना चाहे तो सहन नहीं कर सकते। यदि कहीं से उसे रुपया मिल जाये और वह दुकान खोल ले तो क्या करोगे? व्यापारी लोग हो, जानते ही हो।

इसमें चाहे अध्यापक हो, व्यापारी हो या नेता, सबका यही हाल है। अपने हाथ से बढ़े हुए नेता को भी बड़े नेता आगे नहीं बढ़ने देते। लेकिन गाँधी जी ने अपने जीवन मे पच्चीसों महापुरुष बनाये, क्योंकि उन्हें यह डर कभी नहीं था कि ये आगे बढ़ जायेंगे तो अपने को कौन पूछेगा। और परवर्ती लोग एक भी वैसा नेता तैयार नहीं कर सके इसी डर से कि यह आगे बढ़ जायेगा तो अपने पैर उखाड़ देगा। इसलिये सोचते रहे कि जो आगे बढ़े, उसे दबा दो।

अतः अहिंसा का तीसरा रूप भी विचारणीय है कि हम दूसरों को प्रयत्न करके आगे बढ़ायें। ये अहिंसा के तीन रूप हुए, अपनी हिंसा न करना, दूसरे की भी हिंसा न करना और दूसरे की वृद्धि के लिये हमेशा प्रयत्न करना, यह जानकर कि इसकी वृद्धि में ही मेरी भी वृद्धि है। इसके विपरीत, अपनी हिंसा का तीसरा रूप हुआ अपने को भी आगे न बढ़ने देना, या अपनी उन्नति में स्वयं ही बाधक हो जाना। आध्यात्मिक जीवन में सारी बाधायें अपने लिये खुद ही खड़ी कर देते हो क्योंकि आत्म-स्वरूप को नहीं समझते। जब मनुष्य परमात्म-प्राप्ति के लिये अपनी ही अध्यात्म-साधना से आगे बढ़ता है तब क्या होता है? कड़ी सर्दी पड़ रही है, डाक्टर ने भी नहाने को मना कर रखा है। लेकिन हठधर्मी है कि मुझे तो परमात्मा को कड़ी सर्दी में ही नहाकर प्राप्त करना है। शास्त्र भी निषेध करता है- 'कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः' भगवान् कृष्ण कह रहे हैं कि आत्मा को कष्ट देने से परमात्मा नहीं मिलेगा। हठ पकड़ी तो हो गये बीमार और साधना से आगे उन्नति रुक गई। हठधर्मी कहते हैं कि भगवान् परीक्षा ले रहे हैं, जो बीमार हो गया! ऐसे ही व्रत में भी एक ही दिन में चान्द्रायण करना चाहते हैं। जब बीमार पड़े तो कहते हैं, 'मैंने तो अच्छा काम किया था, भगवान् परीक्षा ले रहे होंगे।' इस प्रकार आत्मस्वरूप और आत्मोन्नति को न समझकर ही स्वयं अपने प्रतिबंधक बनते हैं। फिर दोष देते हैं कि भाग्य ही खोटा था, इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में हो जायेगा। यह कभी नहीं कहते कि गलत रूप से स्वयं ही आत्महत्या की है। हमेशा

बाहर ही दोष देखते हैं। दूसरे की उन्नति की तरफ ध्यान नहीं देते कि उन्होंने कैसे उन्नति की ताकि हम भी ऐसे कार्य करें जिससे मन और शरीर पूर्ण स्वस्थ रहें और आत्म-ज्ञान प्राप्त कर सकें। अस्वस्थ शरीर और अस्वस्थ मन में आत्मज्ञान कभी बनता नहीं, उल्टा तो हो सकता है कि आत्म-ज्ञान होने के बाद अस्वस्थता होने पर भी वह छूटने वाला नहीं। लेकिन जहाँ पहले ही अस्वस्थता है, वहाँ आत्माकार वृत्ति बनेगी कैसे?

जिस दिन पेट बिलकुल ठीक है तो २४ घण्टे में कभी ध्यान ही नहीं जाता कि मेरा पेट है। वेदान्त की भाषा में कह सकते हैं कि उस समय पेट में आत्मा को अध्यास स्फुट नहीं होता। यदि पेट अपना बिगड़ा स्वरूप दिखा रहा हो तो व्यक्ति पहले कहता है कि पेट में कुछ गड़बड़ है और बाद मे २४ घण्टों में २० घण्टे पेट का ही अध्यास (ख्याल) बना रहता है। अध्यास आ गया तो कहते हो कि पेट का, देह का अध्यास छूटा नहीं। ऐसे ही जब सिर ठीक है तो कुछ पता ही नहीं और सिर दर्द करने लगा तो सिर में भी अध्यास होगा। इसी प्रकार यदि अंत:करण राग-द्वेष वाला है तो अस्वस्थ ही रहेगा और तभी उसमें अध्यास आयेगा। जब अन्त:करण में राग-द्वेष ही नहीं हैं तो अध्यास कहाँ से आयेगा! तब यह कह ही नहीं सकते 'मेरा मन खराब है'। अत: अस्वस्थ देह और अस्वस्थ मन ही इस अध्यास के प्रबल कारण हैं।

अत: हमारे जितने भी साधन हैं, खाने आदि के जितने भी नियम हैं कि श्रावण में साग नहीं खाना, भाद्रपद में दही नहीं खाना आदि, इन नियमों का आधारभूत सिद्धान्त तो यही है कि शरीर और मन को स्वस्थ रखने के लिये सारे साधन करना ही धर्म है। जब मन और देह पूर्ण स्वस्थ होंगे, तभी धर्म आयेगा। इसलिये बताया कि अपनी प्रवृद्धि के लिये भी मन और शरीर को स्वस्थ कर आत्मा का विकास होने दो और दूसरे की वृद्धि के लिये भी प्रयत्न करते रहो। तभी 'मा मा हिंसी:' का रूप स्पष्ट होगा।

⁝

प्रवचन-५९

समष्टिदृष्टि

५-९-६८

विष्णोः शिरोसि यशोधा यशो मयि धेहि॥८॥

सातवें मंत्र में बताया कि किस प्रकार से पूर्व के मंत्रों में प्रतिपादित आत्म-तत्त्व को अपने स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरों में अधिष्ठित करके देह को वेदि बनाकर व्यष्टि और समष्टि दोनों रूपों की हिंसा से रहित हुआ जाता है। इस प्रकार के भावापन्न व्यक्ति की समष्टि-दृष्टि से क्या स्थिति होती है, इसका प्रतिपादन अष्टम मंत्र में और उन्हीं सबका संग्रह आगे नवम मंत्र में करेंगे।

'विष्णोः शिरः असि' तुम विष्णु के शिरोभाग हो। शिर ऊर्ध्व-भाग या उत्तम अंग होता है, अतः अर्थ है कि तुम विष्णु के उत्तमांग हो। 'यशोधा' जो उत्तमांग होता है, वही यश का मूल होता है, अतः तुम ही यश धारण करने वाले हो। 'यशो मयि धेहि' वही यश मुझे दो। मुझ में यश की प्रतिष्ठा करो।

सोमयाग के लिये यज्ञमंडप में प्रवेश करके यूप की प्रशंसा कर ली गई तो उसके सामने हविर्द्धान रखा जाता है, उसके ऊपर कुश-स्थापना करके, उस कुश के प्रति यह मंत्र कहा जाता है। 'विष्णोः शिरोसि यशोधा यशो मयि धेहि'। हविर्द्धान के अधिष्ठातृ देवता विष्णु माने गये हैं। अतः कहा हे कुश! इस हविर्द्धान के ऊपर रखे गये हो, तुम यश वाले हो, इसलिये मुझे यश दो। सोम-याग के प्रकरण में जब यह रखा जाता है, उसी समय इस मंत्र का उच्चारण किया जाता है। बाह्य यज्ञ को समझने पर ही इसका रहस्य समझ में आयेगा। यह नियम है कि प्रायः लोग बाह्य अर्थ को न समझकर ही अंतरंग अर्थ समझने में गड़बड़ कर जाते हैं। हविर्द्धान को विष्णु नाम से कहा गया है। अन्यत्र तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी आता है- 'वैष्णवं हि

देवतायाः हविर्द्धानम्' विष्णु देवता का ही हविर्द्धान होता है। जिसकी आहुति दी जाती है, जिसके द्वारा यज्ञ विस्तृत होता है, उसे हवि कहते हैं। अतः विस्तार के कारण ही इसे विष्णु देवता के नाम से कहा, क्योंकि विष्णु का अर्थ व्यापाक होता है।

सारे जगत् का विस्तार करने वाला, समग्र सृष्टि को विस्तार देने वाला पुरुषतत्त्व, जीव ही है। कर्मों के द्वारा ही जीव संसार को बढ़ाता है। या कह सकते हैं कि जीव के कर्मों के अनुरूप ही परमेश्वर सृष्टि करते हैं। कर्म-वैचित्र्य से ही फल-वैचित्र्य और फल-वैचित्र्य से ही पाप-पुण्य-वैचित्र्य होता है। जब जीव ने अनेक पाप किये तो परमेश्वर को अनेक रोग बनाने पड़े। अकसर प्रश्न होता है कि परमेश्वर ने इतने रोग क्यों बनाये। जब हमने अनेक पाप कर्म किये तो परमेश्वर ने भी रोग बनाये। अतः सृष्टि में अनेक रोगों का कारण जीव ही है। जब रोगों से भी ज्यादा पाप किये तो भगवान् को नरक बनाना पड़ा। इसी प्रकार जब अनेक प्रकार के पुण्य कर्म किये तो अनेक प्रकार के सुख-साधन भी बनाये गये। जब उनसे भी अधिक इतने पुण्य किये कि वे ऐहिक भोगों से क्षय न हो सकें तो परमेश्वर ने स्वर्ग भी बनाया। सामान्य दृष्टि से तो लोग कह देते हैं कि परमेश्वर ने ही सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक बनाये हैं, लेकिन सूक्ष्म-दृष्टि से देखें तो इन सबको बनाने वाला मनुष्य ही है। यदि मनुष्य ने कोई भी पाप-पुण्य कर्म न किये होते तो परमेश्वर कैसे स्वर्ग-नरक बनाता? इसीलिये तैत्तिरीय ब्राह्मण की श्रुति स्पष्ट कहती है 'वैष्णवं हि देवतायाः हविर्धानम्'।

कौन ऊपर है और कौन नीचे? सृष्टि बनाने वाला कौन है? इसका विचार बड़ा सूक्ष्म है। सामान्य रूप से कह देते हैं कि ईश्वर ने सृष्टि बनाई, साथ ही कहा जाता है कि जब जीवों के कर्म-फल देने का समय आया तब महाप्रलय में से सृष्टि बनाई। इन दोनों बातों से पता लगता है कि सृष्टि बनाने का काम परमेश्वर ने तब किया जब कर्म फलोन्मुखी हुए। अतः कर्म फलोन्मुखी होना ही सृष्टि का असली कारण है।

ईश्वर ने सृष्टि बनाई, यह एक दृष्टि है। परमेश्वर में कामना का अभाव होने से क्रिया तब तक संभव नहीं है जब तक कारणांतर का प्रवेश न हो। यदि परमेश्वर में स्वयं कामना होती तो परमेश्वर अपने मतलब के लिये ही सृष्टि बना लेते। कामना तो उनमें है नहीं, इसलिये सृष्टि का प्रयोजन परमेश्वर स्वयं नहीं हो सकते।

इस दृष्टि से जीव के कर्मों का फल ही संसार की सृष्टि का कारण है। दूसरी दृष्टि पहले बता ही आये हैं कि वस्तुतः जीव की सृष्टि का कारण भी परमेश्वर का परिच्छिन्नभाव प्राप्त कर उसे परिच्छिन्न आनन्द-वाला बनाना है।

इन दोनों दृष्टियों को देखकर ही लोगों को संदेह होता है कि कहीं तो कारणता प्रकृति में और कहीं वह कारणता पुरुष में बताई गई है। इसीलिये शिवपुराण में महर्षि वामदेव ने भगवान् कार्तिकेय से पूछा कि पहले बताया कि प्रकृति के अधीन पुरुष है और अब बता रहे हैं कि पुरुष प्रकृति के ऊपर है, ये दोनों परस्पर विरुद्ध बातें हैं। शास्त्रों में भी दोनों बातें आती हैं कि कर्म-सापेक्ष भी सृष्टि है और कर्म-निरपेक्ष भी सृष्टि है। कहीं प्रकृति पुरुषाधीन है और कहीं पुरुष प्रकृति के अधीन है। इसका समन्वय दो दृष्टियों से करते हैं। जब तक बंधनावस्था है तब तक पुरुष प्रकृति के अधीन है। वह अधीनता कैसी है? जैसे रज्जु के ऊपर सर्प है। अधिष्ठान की कल्पना 'नीचे' और अध्यस्त की कल्पना 'ऊपर' करते हैं। जैसे रस्सी पर साँप है, सींप पर चाँदी है, बालू पर मृगतृष्णा है - सर्वत्र अधिष्ठान-तत्त्व को नीचे और कल्पित (अध्यस्त) को ऊपर कहते हैं। लेकिन जब ज्ञान या मुक्तावस्था होती है तब ठीक विपरीत अवस्था हो जाती है कि सर्प रस्सी के द्वारा नष्ट हो गया या रस्सी का ही ज्ञान रह गया। रस्सी को देखकर सर्प 'दबा' तो रस्सी ऊपर हो गई! अतः मुक्तावस्था में अध्यस्त की सर्वथा निवृत्ति होने से अधिष्ठान-तत्त्व को ऊपर कह देते हैं। इसी ऊपर-नीचे की कल्पना की गड़बड़ी के कारण संसार-वृक्ष की कल्पना भी उल्टी कर ली गई। भगवान् कहते हैं कि संसार-वृक्ष की जड़ ऊपर और शाखायें नीचे हैं। 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्'। सामान्य रूप से तो वृक्ष का मूल नीचे होता है, अधिष्ठान नीचे ही होता है। यहाँ मूल की जगह अधिष्ठान-तत्त्व ही है। अविचार-दृष्टि से इसी को उल्टा देखते हैं। इसी प्रकार जहाँ सापेक्ष सृष्टि कही है वहाँ मानों अधिष्ठान-तत्त्व अध्यस्त के अधीन होकर सृष्टि करता है। यह कल्पना ऐसा मानकर है कि ईश्वर सापेक्ष सृष्टि करते हैं। किन्तु विवेकी की दृष्टि में सृष्टि का अत्यंताभाव है, इसी कारण उसकी दृष्टि में सृष्टि कर्म-निरपेक्ष है। यदि वह कर्म-सापेक्ष होती तो सत्य हो जाती। ब्रह्म के अतिरिक्त कोई पदार्थ सत्य नहीं है। देखने में ये दो कल्पनायें सम्भव-सी लगती हैं, किन्तु वास्तविक नहीं हैं।

इसी को बताने के लिये भगवती ललिता का ध्यान बताते हुए बड़ी विचित्र बात कहते हैं-

'ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः।
एते पंच महाप्रेता भूताधिपतयो महः॥'

पंचमहाभूतों के पंच-अधीश्वर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव हैं। भू तत्त्व के अधिपति ब्रह्मा, जल-तत्त्व के अधिपति विष्णु, अग्नि-तत्त्व के अधिपति रुद्र, वायु-तत्त्व के अधिपति ईश्वर और आकाश-तत्त्व के अधिपति सदाशिव हैं। लोगों को हैरानी होती है कि भगवान् शंकर भूतों के साथ रहते हैं। इसी का रहस्य रुद्र-यामल में बताया है कि ये पाँच महाप्रेत हैं, बाकी सब तो छोटे-छोटे प्रेत हैं। प्रेत का अर्थ होता है 'प्रकर्षेण इता गताः प्रेताः' जो ऐसे उड़ जायें कि पता ही न लगे, कहाँ गये। मरे हुए को इसीलिये प्रेत कहते हैं कि उसका भी पता नहीं लगता कि कहाँ गया। इसी प्रकार जब ब्रह्माकार वृत्ति बनती है तो इन तत्त्वों के पाँच अधीश्वर भी प्रेत हो जाते हैं, उड़ जाते हैं। 'भूताधिपतयो महः' उनके शरीर भी उड़ जाते हैं। शरीर और शरीरी दोनों ही नहीं रहते। यही भगवती ललिता के ध्यान में बताया है। आगे कल्पना की, 'चत्वारो मञ्चचरणाः पञ्चमः प्रच्छदः पटः' इन पाँच में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वर ये चार तो पलंग के चार पाये (चरण) हैं और पंचम सदाशिव इन सबको 'प्रच्छद पट' ढाँकने वाला कपड़ा, चादर है। चरण में गति होती है। अतः उन चारों में गति है किन्तु आकाश-तत्त्व, सदाशिव में गति नहीं है। यद्यपि आकाश-तत्त्व में चारों की कल्पना हो रही है, तथापि स्वयं आकाश-तत्त्व आत्मरूप से पदार्थों को ज्ञान देने के कारण चारों को उड़ाने वाला है। पाँचवे तत्त्व सदाशिव को प्रच्छदपट इसीलिये कहा है के इस प्रकार आकाश-तत्त्व द्वारा ही सारे तत्त्व ढक लिये गये हैं।

उस प्रच्छदपट के ऊपर क्या है? बताया 'साक्षी प्रकाशरूपेण शिवेनाभिन्नविग्रहः'। केवल साक्षीरूप से शिव से अभिन्न हुई ललिता वहाँ विद्यमान है। जहाँ शिव-शक्ति दोनों एक हो गये हैं वहाँ आनंदस्वरूपिणी ललिता ही विद्यमान है। यहाँ शिव-तत्त्व सत्त्व को और शक्ति-तत्त्व चित् को बताता है। जहाँ सत्-चित् दोनों एक होकर विद्यमान हैं, वहीं आनंद है। उक्त ध्यान मन्त्र के द्वारा भी 'ऊपर' की कल्पना करते हुए पहले चरण बताये, फिर प्रच्छदपट के रूप में सदाशिव-तत्त्व को बताया और उसके ऊपर साक्षी-रूप परमशिव ललिता के साथ विद्यमान है यह कहा। जैसे पलंग के सिर पर प्रच्छदपट का ही यश होता है, वैसे ही यहाँ भी विस्तार वाले होने के

कारण ऊर्ध्व विष्णु का ही यश होता है, इसलिये प्रार्थना करते हैं कि मुझे भी यश दो।

शिवपुराण में एक विचित्र कथा आती है। एक बार एक राजा और एक ब्राह्मण में बड़ा भारी झगड़ा हो गया। क्षुप नाम के राजा और दधीचि नाम के ब्राह्मण दोनों पहले बड़े मित्र थे। ऐसा नहीं कि पहले से ही उनका झगड़ा हो। असली झगड़ा वहाँ होता है जहाँ पहले दोस्ती हो! उनमें भी पहले आपस से बड़ी दोस्ती थी। हमेशा दोनों साथ-साथ रहते। दधीचि वेद-वेत्ता और शंकर-भक्त थे। क्षुप भगवान् विष्णु का भक्त और पुराणों का विचारक था। दोनों मिलकर तत्त्व-मीमांसा करते रहते थे। एक बार बात ही बात में दोनों का झगड़ा हो गया। दधीचि ने कहा 'ब्राह्मण्यात् परं नास्ति।' वेद में कहा है कि ब्राह्मण से परे कुछ नहीं है। ब्राह्मण ही सर्वश्रेष्ठ है। वेद में जहाँ सारे ज्ञान की पूर्णावस्था बताई है, वहाँ अंत में कहते हैं 'अथ ब्राह्मणः' अब वह पक्का ब्राह्मण हो गया, पहले तो कुछ-कुछ कच्चा ही था! इससे आगे फिर कोई फल नहीं बताया। क्षुप ने कहा, 'यह बात तो नहीं जँचती क्योंकि पुराणों में कहा है कि 'अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः'। राजा तो आठ लोकपालों को धारण करने वाला है, इसलिये राजा ही सबसे श्रेष्ठ है। राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण भी राजा का अभिषेक करता है।' दधीचि ने कहा, 'कभी राजसूय यज्ञ कराया भी है जो ऐसा कह रहे हो? राजसूय में ब्राह्मण अभिषेक करते हुए राजा से कहता है-तू सब का राजा है लेकिन हमारा राजा नहीं है-'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा'। तू सबका राजा है पर ब्राह्मणों का नहीं है। हम ब्राह्मणों के राजा तो पार्वतीयुक्त भगवान् शिव ही हैं।'

राजा था, आ गया गुस्सा और कहा-'ज्यादा बात करोगे तो थप्पड़ मार दूँगा।' राजा ने एक थप्पड़ मार भी दिया! दधीचि ने भी ज़ोर से एक घूंसा मार दिया। अब राजा को और गुस्सा चढ़ा, उसने विष्णु-भक्ति से भगवान् विष्णु से वज्र प्राप्त कर ही लिया था। आव देखा न ताव, उठाया वज्र और मार दिया ब्राह्मण पर। दधीचि ब्राह्मण थे, गिरने लगे। सोचा अब मृत्यु अवश्यम्भावी है, इसलिये महर्षि शुक्र का स्मरण किया। शुक्र महर्षि के पास त्र्यम्बक मंत्र है। जिसके पास ऐसा मंत्र होता है वह दूसरे की इच्छा से मरता नहीं, इसीलिये इसे मृत्युंजय (मृत्यु को जीतने वाला) मंत्र कहते हैं। इससे वह मनुष्य पराधीन होकर नहीं मरता बल्कि स्वाधीन होकर ही मरता है। महर्षि शुक्र ने आकर मृत्युंजय का प्रयोग बता दिया। एक बार तो दधीचि मर गये लेकिन मृत्युंजय के प्रयोग से पुनः जीवित हो गये। महर्षि उन्हें उठाकर बाहर

ले गये। पूछा 'ऐसा क्या झगड़ा हो गया था?' दधीचि ने बताया कि ऐसे ही बात-बात में राजा ने वज्र मार दिया। महर्षि शुक्र ने कहा 'ऐसे तो फिर भी झगड़ा होता ही रहेगा, इसलिये तू विशेष शक्ति प्राप्त कर। सरहस्य सध्यान मृत्युंजय के जप में लग, उसे प्राप्त करके फिर वज्रादि भी वार नहीं कर सकेंगे।' महर्षि ने उसे मंत्र का रहस्य भी बता दिया। रहस्य का पता न होने के कारण ही मृत्युंजय का प्रयोग सफल नहीं होता। मंत्र तो इतना सा ही है-

'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।।'

पंडितों को भी इसका रहस्य पता नहीं होता! वे समझते हैं कि इतर-फुलेल ही सुगंधि होती है। मृत्युंजय-रहस्य में बताया है-

'त्रिदेवस्य महादेवं सुगंधिम् पुष्टिवर्द्धनम्।
सर्वभूतेषु सर्वत्र त्रिगुणे प्रकृतौ तथा।।
इन्द्रियेषु तथान्येषु देवेषु च गणेषु च।
पुष्पेषु गन्धवत् सूक्ष्मः सुगन्धिरमरेश्वरः।।' (लिंगपु.१.३५.१९-२१)

यहाँ सुगन्धि का रूप-बताया है कि तीनों देवों में महादेव ही सारे प्राणियों में और सब जगह हैं। जितनी भी तीन गुणों वाली कृतियाँ हैं, उन सबमें और जो इन्द्रियों के अविषय हैं परमाणु आदि उनमें भी वही है। जितने भी देवता हैं उन सबमें, पुष्पों में सुगन्धि के समान भगवान् अमरेश्वर रहते हैं। वही तो उनकी सुगन्धि है। जैसे फूल के कण-कण में सुगंधि होती है, ऐसे ही सृष्टि के कण-कण में भी भगवान् अमरेश्वरकी सुगन्धि व्याप्त है। पुष्टि किसे कहते हैं? 'पुष्टिश्च प्रकृतिर्यस्मात् पुरुषस्य द्विजोत्तम!। महदादिविशेषांत-विकल्पस्याऽपि सुव्रत।। विष्णोः पितामहस्यापि मुनीनां च महामुने। इन्द्रस्याऽपि च देवानां तस्माद् वै पुष्टिवर्धनः।।' (२२-३) परमपुरुष महादेवकी पुष्टि प्रकृति ही है। प्रकृति से प्रियाप्रिय की मानो प्राप्ति करने वाला जीव, महत्तत्त्व से लेकर विशेष नाम-रूप पर्यन्त जो कुछ भी है, विष्णु-स्वरूप स्थितितत्त्व और पितामह-स्वरूप सृष्टि बनाने का तत्त्व, इन सबको ही परमात्मा चेतन-शक्ति से पुष्ट कर रहा है। यही उसका पुष्टिवर्द्धन रूप है।

महर्षि शुक्र ने दधीचि को सरहस्य, सन्यास, सध्यान सारी बातें सिखा दीं और कहा कि ऐसे भगवान् अमरेश्वर का तप करे। दधीचि ने दीर्घकाल तक तप किया

जिसके फलस्वरूप भगवान् शंकर का साक्षात्कार पाया। भगवान् शंकर ने प्रसन्न होकर दर्शन दिये और कहा 'जो वर माँगना हो माँग ले।' दधीचि ने कहा 'मुझे अपने लिये तो कोई इच्छा नहीं, लेकिन राजा वेदों में कहे हुए सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण का अपमान करता है, यही उससे मेरा झगड़ा है। इसलिये मैं इतना चाहता हूँ कि उसके अस्त्र मुझ पर न लगें।' भगवान् शंकर ने उसे वरदान दे दिया।

दधीचि राजा क्षुप के यहाँ पहुँचे। उस समय राजा दरबार में बैठे थे। दधीचि को आते देखा तो कहा, 'आखिर ब्राह्मण जो ठहरा! गुजारे का खर्च खतम हो गया होगा, इसलिये भीख ही माँगने आया होगा।' दधीचि ने यह सुना। गुस्सा तो पहले ही था, आते ही भरी सभा में राजा को दो चाँटे मार दिये!। राजा ने सोचा एक बार तो यह वज्र से बच गया, लेकिन बार-बार कैसे बचेगा! राजा ने वज्र मारा लेकिन दधीचि को कुछ नहीं हुआ। राजा ने सोचा 'इसने तो भरी सभा में मेरा अपमान कर दिया है अब दुनियाभर में मेरा अपमान होगा। हो न हो, यह तप करके आया है क्योंकि 'तपो हि दुर्धर्षं वदन्ति'।' राजा ने भगवान् विष्णु की तपस्या करनी शुरू की। दीर्घकाल के तप के फलस्वरूप भगवान् विष्णु ने उसे दर्शन दिये और वर माँगने को कहा। राजा ने कहा, 'दधीचि मेरा बड़ा अपमान करता है, कहता है ब्राह्मण ही सर्वश्रेष्ठ हैं। मैं इतना चाहता हूँ कि वह यह कह दे कि क्षत्रिय राजा ही सर्वश्रेष्ठ होता है।' भगवान् विष्णु तो सर्वज्ञ थे, वे कहने लगे कि 'वह मानेगा नहीं, इसलिये ठीक तो यह है कि तू उसकी बात ही मान ले। मैं दधीचि को अच्छी तरह जानता हूँ। एक बार दक्ष प्रजापति ने यज्ञ किया था। हम भी वहाँ मौजूद थे, यह और बाकी सारे ऋषि भी वहाँ मौजूद थे। सारे ऋषियों को तो हमने रोक लिया और वे हमारी बात मान गये, लेकिन अकेले इसने ही नहीं मानी थी। आखिर इसकी बात ही सच्ची हो गई जो यह कह कर गया था; यज्ञ पूरा नहीं हुआ।' राजा ने कहा, 'अगर नहीं मानता तो उसे मार डालो, इसीलिये तो मैंने तप किया है।' भगवान् विष्णु ने भी सोचा कि काम चाहे गलत हो, लेकिन इसने मेरी भक्ति की है तो इसका काम करना पड़ेगा। सब जानते हुए भी भक्त के वश में होकर दधीचि के पास जाना स्वीकार किया।

भगवान् ने सोचा कि ऐसे तो यह मानेगा नहीं। इसलिये युक्ति से काम लेना चाहिये। उन्होंने ब्राह्मण का रूप बनाया। विचार किया कि इससे भीख माँगूँगा तो यह अतिथि समझकर मेरी बात मान जायेगा और क्षुप के पास जाकर कह देगा कि राजा

ही सर्वश्रेष्ठ होता है। जैसे ही भगवान् विष्णु वहाँ पहुँचे तो दधीचि उन्हें पहचान गया और कहने लगा-'भगवान् विप्ररूपेण मायी त्वमसि वै हरिः'। 'साक्षात् विष्णु होकर आप मायावी का रूप धारण किये हो। भगवान् शंकर की कृपा से मुझे तो तीनों कालों का ज्ञान है, मुझसे क्या छिपाओगे? लेकिन अब बताओ कि क्या चाहते हो?' भगवान् ने भी उसी समय ब्राह्मण का रूप छोड़कर शंख-चक्र-गदा-पद्म वाला रूप धारण किया। कहने लगे, 'तुम क्षुप से जाकर कह दो कि राजा ही बड़ा होता है।' दधीचि ने कहा-'भगवन्, आप वेद-धर्म-संस्थापक होकर भी ऐसा कहते हैं!' भगवान् कहने लगे, 'इसमें क्या जाता है? कहने से थोड़े ही कोई बड़ा हो जाता है। उसने मेरी तपस्या की है, इसलिये तुझ से ऐसा कहने को कह रहा हूँ।' दधीचि ने कहा 'मैं झूठ नहीं बोलने वाला हूँ। आपके कहने से भी नहीं बोलूँगा।' फिर भगवान् ने कहा, 'तू साम-दाम से तो मानता नहीं, इसलिये मुझे दण्ड-नीति का प्रयोग करना पड़ेगा।' दधीचि ने कहा 'मुझे इस बात का डर नहीं है।' भगवान् विष्णु ने उसी समय चक्र चलाया, लेकिन चक्र वहीं रुक गया क्योंकि भगवान् शंकर ने जब उन्हें सुदर्शन चक्र दिया था तब कह दिया था कि इसे शिव-भक्त पर मत चलाना। भगवान् ने और बहुत से शस्त्रास्त्र चलाये लेकिन काम हुआ नहीं। यह देखकर अन्य देवता भी भगवान् की मदद के लिये पहुँचे। ब्राह्मण दधीचि तो चुपचाप बैठे थे। वे लड़ ही नहीं रहे थे। शस्त्र उनके पास हैं नहीं, उन्होंने सोचा कि मुझे तो भगवान् शंकर का वरदान है, इसलिये मेरा कुछ बिगड़ नहीं सकता। देवताओं ने भी विचार किया कि इस पर तो भगवान् शंकर की कृपा है। यह मरेगा नहीं। बाद में यह कहीं हमें ही न मार दे! इसलिये वे भय खाकर भागे। पहले इसलिये आ गये थे कि भगवान् विष्णु जीत जायेंगे तो हमारा उपकार मानेंगे। देवता भी मतलबी होते हैं। जब उनका काम न हुआ तो चल दिये।

अब भगवान् विष्णु ने सोचा कि ऐसे काम नहीं होने वाला है। इसलिये इसे विलक्षण चक्कर में डाला जाये। भगवान् के पास तो अंतिम हथियार है कि वे अपनी विशेष शक्ति, विश्वरूप ही दिखा देते हैं। अर्जुन भी जब भय खा रहा था और युद्ध करने को नहीं मान रहा था तब उसे अपना विराट् रूप दिखा दिया था। महामाया में तो वे कुशल हैं ही। अपना विश्वरूप दिखाया तो दधीचि ने उसमें सारे देवता, रुद्र, गंधर्व, दानव, आदि सबको और अपने आपको भी देखा। दो-चार दिन तक तो ऐसे ही देखते रहे। फिर कहा-

'मायां त्यज महाबाहो प्रतिभासो विचारतः।
मयि पश्य जगत्सर्वम् त्वया युक्तं जनार्दन'।।

'मैं तो शिवभक्त हूँ, आत्म-ज्ञानी हूँ, विचार से तो यह सारा का सारा प्रातिभासिक ही है, इसलिये हे महाबाहो! अपना यह रूप छोड़ दो। कहने को तो यह सारा संसार है, पर वस्तुतः प्रातिभासिक ही है। आपने जो इतना जबरदस्त रूप दिखाया है वह माया तो मुझे भी आती है। अतः हे जनार्दन! अब मेरे अंदर भी सारा जगत् देखो।' इतना कहने पर जो ८-१० देवता वहाँ खड़े थे, वे भी भाग गये। भगवान् विष्णु भी जान गये कि अब यहाँ कोई काम नहीं बनेगा। उसी समय क्षुप के पास गये, कहा कि 'मुझ से भी वह काम नहीं होता। अब भलाई इसी में है कि तू भी दधीचि के पास चल, नमस्कार कर और मान ले कि ब्राह्मण से बड़ा कोई नहीं है।' क्षुप ने सोचा कि जब साक्षात् भगवान् ऐसा कह रहे हैं तो ठीक ही है। वह दधीचि के पास गया, नमस्कार किया। भगवान् विष्णु ने भी कहा कि ब्राह्मण ही सर्वश्रेष्ठ है।

यहाँ सारा झगड़ा अधिष्ठान और अध्यस्त का ही है। जब अध्यस्त-काल, व्यवहार-काल है, उसमें राजा क्षत्रिय की ही विशेषता स्फुट होती है, अतः अध्यास-काल में नृप विशेष है। दधीचि अधिष्ठान-दृष्टि से सारे व्यवहार का बाध किये बैठा है, वहाँ सारे व्यवहारों का मालिक भी नहीं रहता! पंचम प्रच्छदपट, आकाश-तत्त्व का अधिष्ठाता भी वहाँ कुछ नहीं कर सकता। दोनों का इस दृष्टि को लेकर ही झगड़ा है। लेकिन अंत में अधिष्ठान की दृष्टि वाले की ही विजय होती है। शुरू-शुरू में जब साधक आत्म-स्वरूप की तरफ जाता है और ब्रह्माकार वृत्ति बनती है तब अष्टपुर्यधीश्वर का विरोध होता है। पंच महाभूत, पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच प्राण, अंतःकरण, अविद्या, कामना, कर्म, इन आठ के अधिष्ठाता को ही अध्यास है। पुर्यष्टक पहले तो वज्र मारकर साधक को दबा देता है। एक क्षण के लिये त्रैकालिक अत्यंताभाव समझा और दूसरे क्षण, जैसे ही चींटी ने काटा कि वृत्ति हिल गई। यहाँ नृप (अध्यास) प्रधान है और दधीचि (अधिष्ठान) को दबना पड़ा। दधीचि ने विचार किया कि मृत्युंजय का ही जप करे। मृत्यु को जीतने वाला उसी को कहा जाता है जो मृत्यु के अधीन नहीं है। कृष्ण यजुर्वेद की श्वेताश्वतर शाखा में भी कहा है 'अजात इत्येव कश्चिद् भीरुः प्रपद्यते'। मृत्यु को वही जीत

सकता है जिसने जन्म नहीं लिया, जन्म लिया तो मुत्यु को नहीं जीत सकता। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'!

इसलिये जन्म-मरण से भयभीत होकर जिस व्यक्ति ने अज-तत्त्व की शरण ले ली है, जब उसने अपनी आत्म-निष्ठा से पूर्ण-तत्त्व को प्राप्त कर लिया, और उसमें स्थित हो गया, तभी उसे वरदान मिलता है कि ये पुर्यष्टक चाहे जितने भी वज्र चलायें इनका कुछ प्रभाव नहीं होने वाला है। निदिध्यासन-काल में तो सब तत्त्वों से हटकर साधना करने की आवश्यकता होती है। लेकिन ध्यान दृढ हो गया तो फिर वज्र का प्रभाव भी नहीं होने वाला है। वह सारी चीजों को ही आत्म-दृष्टि से देखता रहा है, उसपर कौन प्रभाव डाले? फिर तो उसे महामायारूप भगवान् विष्णु भी पराजित नहीं कर सकते। महामायारूप यही तो है कि उसे बड़ी से बड़ी चीज भी दीख रही है, अनंत-कोटि ब्रह्माण्ड उसे दीख रहे हैं, कोई राकेट छोड़ रहा है तो कोई एटम और कोबाल्ट बॉम्ब से उसे भय दिखा रहा है, यह सब ही तो वह देख रहा है। लेकिन वह सोचता है 'विचारतः प्रतिभासतः', ये सारे प्रातिभासिक ही हैं। कोबाल्ट बाम्ब में भी कौन बैठा है जब उसके अतिरिक्त और कोई है ही नहीं? यह सारी जगत्-प्रतीति भी प्रातिभासिक ही है और सर्वथा उड़ जाना भी प्रातिभासिक है। वह तो अनंत-कोटि ब्रह्माण्ड को ही बाध किये बैठे है, यह महामायारूप उसका क्या बिगाड़ सकता है। तब महामायारूप भी कहता है कि तुम अब अधिष्ठान-तत्त्व में स्थिर हो गये, इसलिये मैं वास्तव में तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। पुर्यष्टक से भी कहता है कि तुम भी ज्ञानी, आत्म-निष्ठ के सहायक बने रहना, बाधक न बनना क्योंकि अब तुम उसे पराजित नहीं कर सकते। अब वह अध्यस्त-तत्त्व का मालिक बनकर रहता है।

इस स्थिति के लिये यहाँ मन्त्र कहता कि अब तक तो तुम विष्णु के उत्तमांग बने, अब तुम यश के योग्य हो गये। अतः यही प्रार्थना इस मंत्र में करते हैं कि यश को मुझे दो, इस सारे यश का ही मैं अधिपति हो जाऊँ।

प्रवचन-६०

फल

६-९-६८

नवम मंत्र

इष ऊर्ज्ज आयुषे वर्चसे च॥९॥

इस अंतिम मंत्र में जो-जो चीजें प्राप्तव्य हैं, वे बतायीं। शास्त्रीय भाषा में यह मंत्र इस अध्याय की फल-श्रुति है। शास्त्र-मर्यादा में यज्ञ, दान, तप आदि सभी कर्मों में जब तक प्रयोजन नहीं बताया जाता, तब तक प्रवृत्ति असंभव होती है। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते' किसी प्रयोजन को सामने रखे बिना मन्द से मन्द व्यक्ति भी प्रवृत्ति नहीं करता, इसीलिये शास्त्रों में प्रत्येक कार्य का फल-निरूपण किया। इसी प्रकार सोमयाग के वरण से आरंभ कर हविर्धान तक सारी क्रियाओं को बताते हुए इस नवम मंत्र में प्रयोजन या फल बताया कि विधिवत् करने से क्या सिद्धि होती है।

प्रयोजन बताने में दो तात्पर्य होते हैं- प्रयोजन सूचित कर देना और प्रयोजन की श्रेष्ठता से कर्म की प्रशंसनीयता का प्रतिपादन करना। किसी भी विहित कार्य का प्रयोजन बताना एक तात्पर्य है। इसे बताने के साथ यह भी ध्वनि कर देते हैं कि अमुक साधन करना चाहिये, विपरीत नहीं करना चाहिये। लड़के को पाठशाला भेजते समय दो बातें सिखाई जाती हैं- एक तो, 'तुम पढ़कर पंडित बनोगे, अफसर या मजिस्ट्रेट बनोगे।' यह फल बता दिया। यदि लड़का पढ़ने के साथ-साथ गुल्ली-डंडा खेलने में आग्रह करे तो कहते हो 'पढ़कर अफसर नहीं बनोगे तो क्या गुल्ली डंडा खेलकर बर्तन माँजोगे!' फल बताने के साथ यह भी बताया कि वह फल ही इष्ट है, प्राप्तव्य है। छोटा बच्चा हो तो वह प्रायः मन में कह देता है 'बर्तन ही माँजूंगा, अभी तो खेल लूँ।' बड़ा हो तो वह बाहर भी कह देता है 'मुझे गुल्ली

डंडा तो खेल लेने दो।' फिर भी बार-बार यह संस्कार डालकर कि प्रयोजन ही प्राप्तव्य है, उसकी प्रवृत्ति पढ़ने में करानी पड़ती है। इसी को 'गुडजिह्विका न्याय' कहा है।

रोग हो जाये तो उसका दूर होना जरूरी है, यही इष्ट है। लेकिन इसके लिये कड़वी दवाई और पथ्य सेवन न करने की तरफ रोगी का आग्रह रहता है। रोगी कहता है कि यह सब न करना पड़े और रोग ठीक हो जाये तो कोई हर्ज नहीं। यदि दवाई कड़वी और पथ्य कड़ा लगता है तो अविचार से रोगी कह देता है 'मेरे रोग को रहने ही दो। चावल, दही खाये बिना तो मुझ से नहीं रहा जायेगा।' उसे कड़वी दवाई खिलाने में कैसे प्रवृत्ति करायी जाये? कड़वी दवाई को गुड़ में लपेट कर खिला दिया जाता है जिससे पता ही न लगे, साथ ही, समझाकर भी उसे प्रवृत्त करना पड़ता है।

ठीक इसी प्रकार शास्त्र के उद्देश्य में भी साधारण मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं होती। फिर भी शास्त्र के उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिये पथ्य और कड़वी दवाई का सेवन करना ही पड़ता है। जिस-जिस पदार्थ को संसार में इष्ट (प्रिय) मान रखा है, उसे दूर करो यही पथ्य-सेवन है और जिस पदार्थ को अत्यंत अप्रिय समझते हो, उसे शास्त्रोक्त होने पर प्रिय समझ कर ग्रहण करना, यह कड़वी दवाई का सेवन है। इसलिये सारी कड़वी चीजों का, दवाई का सेवन और सारी मीठी चीजों का परहेज चाहिये, एक-आध का ही नहीं।

एक कहानी है। एक रोगी डाक्टर के पास गया। डाक्टर ने सारी परीक्षा करके कहा, 'तुम्हारे जीवन पर बड़ी आपत्ति है, खतरा भी हो सकता है। मेरी दवाई के सेवन से तुम ठीक तो हो जाओगे, लेकिन सिगरेट पीना छोड़ना पड़ेगा।' रोगी का मुँह उतर गया, फिर भी कहा, 'छोड़ दूँगा।' डाक्टर ने कहा, 'शराब पीना भी छोड़ना पड़ेगा।' अब तो उसका मुँह और भी उतरा, फिर भी धीरे से पूछा 'कभी-कभी भी नहीं?' डाक्टर ने कहा- 'कभी नहीं।' कहने लगा- 'अच्छा, तो नहीं ही पियूँगा।' अब डाक्टर ने कहा- 'मांस खाना भी छोड़ना पड़ेगा।' रोगी का मुँह इस बार तो बिलकुल उतर गया, पूछा 'कितने दिन तक?' डाक्टर ने कहा- 'जन्म-भर के लिये ही छोड़ना पड़ेगा और साथ ही, रात को जल्दी सोना पड़ेगा।' अब रोगी से नहीं रहा गया, कहा- 'मुझे नहीं चाहिये ऐसी दवाई। यही सब करके तो मैं जीना चाहता हूँ, यही नहीं करना तो फिर जी कर क्या करूँगा!'

साधक के जीवन में भी यही बात है। कड़वी दवाई और पथ्य का सेवन बताया जाता है तो कहता है 'इन्हें न करने के लिये ही तो मैं यहाँ आया था। मैंने तो सुना था कि हरिद्वार में गोता लगाकर झूठ बोलने, ठगी करने का पाप दूर हो जाता है। राम-राम कहने से ही सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। अब तक तो कुछ डर के मारे कम पाप कर रहा था, लेकिन राम नाम का सहारा मिल गया तो सोचा था कि दिल खोलकर पाप करूँगा। मैं तो इसी के लिये ज्ञान में प्रवृत्ति करने चला था कि ज्ञान से सारे कर्म भस्म हो जाते हैं- 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन'। आत्म-ज्ञान होने से ही बाकी सब मन-माने व्यवहार कर सकूँगा यह सोचता था। अब आप कहते हो कि ये सब छोड़ना पड़ेगा। अगर यह छोड़कर ज्ञान प्राप्त होना है तो ज्ञान से करूँगा क्या; यदि ये सारे दुष्कर्म मुझे न करने को मिले तो फिर परमात्मा की साधना से क्या मिलेगा?

जितना कुछ प्रिय है उसे छोड़ना और जितना कुछ अप्रिय है वह सब करना ही इष्ट अर्थात् प्राप्तव्य को प्राप्त करने का उपाय है। प्रातःकाल से सायंकाल तक यही टंटा है। सर्दियों में सबसे ज्यादा नींद प्रातः चार बजे ही आती है, सुबह चार बजे रजाई में गर्माई है, वह और कभी नहीं मिलने वाली। और गर्मी में भी प्रातः चार बजे ही अच्छी नींद आती है जब ठंडी हवा चलती है। उस समय के लिये ही कहा कि सर्दी-गर्मी दोनों में ही चार बजे बिस्तर छोड़ो और चार बजे ही उठना प्रिय समझो। 'ब्राह्मे मुहूर्ते या निद्रा सा पुण्यक्षयकारिणी' ब्राह्ममुहूर्त में सोने से आयु, विद्या, यश और बल चारों का क्षय हो जाता है। फिर भी प्रिय समझकर उसी समय उठना ही कड़वी दवाई का सेवन है। यदि चार बजे नींद नहीं खुले तो क्या करें? उसके लिये पथ्य भी बताया कि रजाई ओढ़ना ही छोड़ दो। एक कम्बल में ही सोओ तो नींद खुल जायेगी। सवेरे चार बजे उठना ही कड़वी दवाई का सेवन है और रातभर भी शरीर में पूरी गर्मी न आने देना पथ्य है। अतः प्रातः काल से सायंकाल पर्यन्त सब प्रिय कर्मों को छोड़ना और अप्रिय कर्मों को करना ही इष्ट है।

किसी को दस रुपये देकर काम निकालना प्रिय लगता है, इसे छोड़कर और दस रुपये न देकर काम न निकलने का कष्ट सहन करना अप्रिय है, इसे ही करो। श्रुति-स्मृति कहती है कि उत्कोच (घूस) न दो। यद्यपि प्रिय तो लगता है कि दस रुपये देते ही काम बनने वाला है और न देकर उससे आने वाली आपत्तियाँ अप्रिय लगती हैं, उसके लिये पथ्य बताया कि अप्रियता, आपत्तियों से न घबराओ और

प्रियता की कामना न करो। घर में देवरानी ने कड़ी बात कह दी तो जेठानी सोचती है कि मैं जेठानी, मेरा पैर भी बड़ा, अच्छा तो लगता है कि इसे डाँट सुना दूँ और अप्रिय लगा कि उसकी कड़ी बात पर हँस दो। सोचो कि उसने मुझे कड़ी बात कही तो मेरे प्रारब्ध का फल सामने आया, इसलिये भोग लो। आगे डाँट सुनाकर झगड़े और दुःख की शृंखला क्यों बढ़ाते हो? इसी प्रकार यदि शास्त्रीय मार्ग में चलना है तो उपाय यही है कि प्रिय को छोड़ो और अप्रिय को करो।

'न येषु जिह्मम् अनृतम् न माया' अथर्ववेद का नियम है कि कौन-सा व्यक्ति आत्म-तत्त्व को समझ सकता है? जिस व्यक्ति में कुटिलता नहीं है। कुटिलता का अर्थ होता है कि बातें हैं कुछ और उन्हें प्रदर्शित कुछ और करना। जिनमें मन, वाणी और शरीर से कोई भी झूठा व्यवहार नहीं होता, ठगी नहीं होती, उन्हीं में ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठित होती है। दुकान में बैठकर पैसा कमाने के लिये तो व्यवहार और है, इष्ट-बुद्धि धन में है, फिर उस व्यवहार के द्वारा चाहे कि परमात्मा में स्थिर हो जायें, परमात्मा का प्रेम भी मिले तो संभव नहीं। जिसका उद्देश्य परमात्मा है, हर व्यवहार में उसका वही उद्देश्य रहेगा। व्यवहार, क्रिया में फर्क नहीं, फर्क तो उद्देश्य या प्रयोजन में ही होता है।

परमात्मा को छोड़ भी दो, लोगों को तो जो स्वर्गादिक सुख स्वयम् इष्ट है, उनमें भी प्रवृत्ति जबर्दस्ती करानी पड़ती है। जो लोग कहते हैं कि हमें तो स्वर्गादिक सुख की कामना नहीं उनका मतलब यह नहीं होता कि उन्हें सुख की कामना नहीं, बल्कि उस स्वर्गादिक सुख की प्राप्ति के लिये जो धर्म-साधन करने पड़ते हैं, उनमें बड़ी कठिनाई है, उन्हें नहीं करना चाहते। जब लोग कहते हैं कि यज्ञ करने से क्या मिलेगा तो इसका मतलब यह नहीं कि उन्हें सुख के प्रति वैराग्य है। सुख तो वे चाहते हैं लेकिन यज्ञ नहीं करना चाहते। जब वे इस पार्थिव और मांस के लोथड़े शरीर को ही नहीं छोड़ना चाहते, तब यह कहना कि उन्हें उर्वशी और रम्भा की कामना नहीं है, सब व्यर्थ, कहने की ही बातें हैं। एक सौदा करने वाला केवल अठन्नी की खींच-तान घंटे भर तक करता है, यदि वह कहे कि 'मैं बिड़ला नहीं बनना चाहता' तो इस कहने में वह अपने को भी और दूसरों को केवल धोखा दे रहा है। यदि धन की कामना न होती तो एक अठन्नी की तरफ मन इतना न दौड़ता।

हमारे यहाँ ज्यादातर लड़ाई-झगड़ा केवल तादाद को लेकर ही है, अन्दर के भाव को नहीं देखते। यह तो सम्भव है कि पाँच रुपये वाले को भी धन की इच्छा

न हो, दूसरी तरफ यह भी संभव है कि पाँच करोड़ रुपये वाले को भी धन की खूब कामना हो। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा कि जिसे संसार के विषयों की कामना है, वही दरिद्र है। दरिद्र वह नहीं जिसके पास धन नहीं अथवा जिसके शरीर के पास धन नहीं। हो सकता है कि शरीर के पास धन होने से भी मन के पास न हो; यह भी संभव है कि मन में धन रहने पर भी शरीर के पास धन न हो। इसे दृष्टांत से समझाते हैं–

एक सेठ कहीं जा रहा था। जाते हुए उसे सोने की एक अशर्फी दीख गई। पहले तो उसने दायें–बायें देखा और फिर उठाकर जेब में रख ली। वह तो सोने की अशर्फी ठहरी, उसका नाम भी 'हिरण्य'– 'हितं च रमणीयं च'। देखते ही मुँह में नहीं तो मन में लार आ ही जाती है। सेठ था सत्संगी। आगे चला, सोचा कि किया तो बुरा ही। शास्त्रों में सोने की चोरी बड़ा पाप माना गया है। मन ही मन सवाल–जवाब करने लगा। सत्संगी होने के कारण उसकी बुद्धि, विज्ञानमय कोष जाग्रत् था। बुद्धि ने जवाब दिया– 'किसी की जेब तो नहीं काटी, रास्ते में पड़ी थी, उठा ली।' फिर प्रश्न किया– 'जेब तो नहीं काटी लेकिन किसी की जेब से गिरी होगी और वह ढूँढते हुए वापिस भी आयेगा। क्या किसी की जेब से गिर जाने से ही उसकी मल्कियत खतम हो जाती है?' इसलिये सेठ ने सोचा कि अब इसे किसी को दे देवे। आगे जाकर देखा कि एक महात्मा बैठे थे, उनके पास था भी कुछ नहीं। सेठ ने वह अशर्फी और साथ में एक रुपया, इतनी देर अशर्फी अपने पास रखने के ब्याज–रूप में मिलाकर महात्मा को दे दिया। महात्मा ने कहा– 'इसे ले जा और किसी कंगले को दे देना।' सेठ ने ऊपर से नीचे तक देखकर कहा– 'आपके पास कुछ भी तो नहीं है, आपसे ज्यादा कंगला और कहाँ मिलेगा!' महात्मा कहने लगे– 'स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला अरे, दरिद्र वह है जिसमें विशाल तृष्णा है। मैं तो भोजन करके बैठा हूँ, अब मुझे किसी भी चीज की कामना नहीं कल सवेरे बारह बजे तक। रात में यदि पेट ही खराब हो गया तो कल के भोजन का भी क्या ठिकाना!' अंग्रेजी में कहावत है कि चाय का प्याला भी उठाया तो कह नहीं सकते कि पी ही लोगे। प्याला हाथ से सरक भी सकता है या होठों पर रखने ही वाले हो कि कोई आकर कह दे 'आपकी दुकान जल गई या लड़का मर गया' तो पी नहीं जायेगी। इसीलिये विवेकी नहीं सोचता कि कल भूख लगेगी तो क्या खायेंगे। रात

में ही कहीं टाइफायड या निमोनिया हो गया तो २१ दिन की छुट्टी हुई। यही महात्मा ने कहा 'अब मुझे कोई कामना नहीं, इसलिये ले जा।' सेठ ने कहा- 'हमें तो आपसे बड़ा कंगला कोई दीखता नहीं।'

उसी समय राजा की सवारी आ रही थी। महात्मा ने कहा- 'देख, वह कंगला जा रहा है, उसे दे दे।' सेठ ने भी विचार किया कि महात्मा कहते हैं तो देकर देख लें। कोई गरीब ब्राह्मण भी हो और उसे कोई आकर कहे कि मैं आपको एक अशर्फी देना चाहता हूँ तो वह दरिद्र ब्राह्मण भी पूछ लेगा कि कौन हो, कहाँ से आये हो? लेकिन राजा ले लेगा तो पूछेगा भी नहीं। अपने यहाँ भी प्राइम-मिनिस्टर के कई फण्ड खुले होते हैं, उनमें जो कुछ भी दे दिया, कोई पूछने वाला नहीं, सोना-चाँदी, रुपया-पैसा सब दे दो, नाम भी बताओ, न बताओ, झट ले लेंगे। वह चाहे प्राचीनकाल का राजा हो या आजकल का, सबका एक ही हाल है। सेठ ने सोचा, महात्मा कह रहे हैं तो परीक्षा करनी चाहिये। राजा का हाथी पास आया तो सेठ ने वह अशर्फी दिखाई। राजा ने जैसे ही वह 'हितं च रमणीयं च' सोना देखा तो झट महावत से कहा, 'हाथी बिठा दे।' महावत ने हाथी बिठा दिया और राजा ने झट वह सोना बिना कुछ पूछे ही ले लिया और आगे चल दिया। अब सेठ को दृढ विश्वास हो गया कि यही कंगला है, एक बार पूछा तक भी नहीं कि क्या दे रहे हो, किसलिये दे रहे हो? वापिस आकर महात्मा से कहा, 'आपकी बात बिलकुल सच्ची थी। लेकिन यह तो बताइये कि उसके गले में तो हीरे के कण्ठे लटक रहे थे, सोने का मुकुट भी पहन रखा था, फिर भी एक गिन्नी को बिना पूछे क्यों ले लिया?' महात्मा ने कहा, 'उसके पास सब कुछ होने पर भी, उसके मन में सोना भरा पड़ा है, इसलिये वह और सोना चाहता है। मेरे अन्दर तो परमात्मा ही भरा है, इसलिये सोने को घुसने की वहाँ जगह ही नहीं।'

बाहर धन है या नहीं, इस पर लोग बड़ा जोर देते हैं लेकिन दरिद्रता तो मन की है, बाहर की नहीं। बाहर धन होने पर भी मन में यदि दरिद्रता है तो वह दरिद्र ही है। बाहर पाँच करोड़ होने पर भी जिसे कामना नहीं, धन नष्ट भी हो जाये तो उसे दुःख नहीं होता। ऐसी स्थिति में बाहर धन होते हुए भी मन में नहीं है। इसलिये बाह्य और मन के पदार्थों का हमेशा ध्यान रखना चाहिये।

जब कोई कहता है कि मुझे स्वर्ग-सुख की कामना नहीं, उस समय उसे पृथ्वी तल में महाघृणित भोगों की कामना हो सकती है और यदि उन घृणित भोगों कि

तरफ जाता है, फिर भी कहता है कि स्वर्ग-सुख की कामना नहीं तो इसका मतलब यही है कि स्वर्ग-सुख की तो उसे बड़ी कामना है लेकिन उस स्वर्गादिक पदार्थों के सुख को प्राप्त करने के लिये जिन-जिन साधनों की जरूरत है, वह करने को तैयार नहीं।

बहुत से आदमी संसार में कहते हैं कि मैं ज्यादा रुपयों का क्या करूँगा? यह भी कहते हैं कि हम तो संतोषी हैं। उसी समय उनसे कोई कहे 'अमुक जगह तीन घण्टे काम करके तुम्हें केवल सौ रुपया मिलता है, हम उतने ही समय काम करने का तीन सौ रुपया देते हैं, हमारे यहाँ आ जाओ।' कहेगा- 'जरूर आ जाऊँगा।' कह तो रहा था कि मुझे ज्यादा धन की इच्छा नहीं लेकिन तुमने कह दिया कि उतने ही काम के तीन सौ रुपये मिलेंगे तो वह पहले की नौकरी छोड़कर भी तुम्हारे पास आ गया। ऐसा क्यों होता है? इसके मूल में घुस कर देखो तो पता लगे कि उसे धन की कामना तो है, किंतु ज्यादा काम नहीं करना चाहता, अव्वल दर्जे का आलसी और प्रमादी है। धन की कामना नहीं, यह तो केवल ऊपर से कहता है, मन से आलस्य-प्रमाद नहीं छोड़ना चाहता। यदि धन की कामना न होती तो तीन सौ रुपये मिलने पर भी न जाता। उल्टा कहता- 'दो सौ रुपये ज्यादा आयेंगे तो ज्यादा टंटा होगा।' बहुत-सी औरतें भी कहती हैं कि हमें तो दाल-रोटी के अलावा कुछ अच्छा ही नहीं लगता है। किसी दिन उनको बढ़िया भोज में बुलाकर देखो कि कैसे कोफ्तों पर हाथ साफ करती हैं, बढ़िया गुलाबजामुन भी रखें तो अंत में नौकरों के लिये तो एक भी न बचे! घर की रोटी और साग तो रखे ही रह जाते हैं। इससे क्या पता लगा? उन्हें खाने की इच्छा नहीं, ऐसा नहीं, बल्कि उस प्रकार का खाना बनाने में जो परिश्रम करना जरूरी है, वह करने को तैयार नहीं। अपनी इसी कमजोरी को ढाँकने के लिये ही कह देते हैं कि इच्छा नहीं या हम तो संतोषी हैं। सर्वत्र यह नियम है कि जहाँ इच्छा नहीं है, वहाँ मन में भी पदार्थ भरे नहीं होंगे और जहाँ इसके विपरीत है, वह केवल आलस्य-प्रमाद ही है जिसे संतोष के नाम से ढाँका जाता है।

आज भारतवर्ष की और विशेषकर हिन्दू-समाज की असली समस्या यही है कि हम संतोषी नहीं, आलसी हैं। परिश्रम करने को तैयार नहीं, बिना परिश्रम के ही प्रसन्न होना चाहते हैं। इसीलिये हमारा सारा लौकिक व्यवहार बिगड़ा है। दुनिया से भीख माँगें, मना नहीं करते, लेकिन मुफ्त का न लें। अमरीका में एक राज्य है।

वहाँ एक साल अकाल पड़ा। उनकी मदद के लिये वाशिंग्टन से अमरीका की केंद्रीय सरकार ने अनाज-भरी दो रेलें भेजीं। रेलें राजधानी पहुँची तो वहाँ की सरकार ने कहा 'इस समय हमारे खजाने में आधी रेल अनाज खरीदने का पैसा है, इसलिये आधी रेल तो हम खरीद लेंगे, बाकी वापिस ले जाओ।' अमरीका वालों ने कहा- 'ये रेलें तो अमरीका सरकार ने आपकी मदद के लिये भेजी हैं, इनके पैसे नहीं लेंगे।' राज्य के गवर्नर ने कहा 'तब तो दोनों ही वापिस ले जाओ। एक साल अकाल पड़ गया तो क्या हुआ! हम भिखमंगे तो नहीं, एक साल कम ही खाकर गुजारा कर लेंगे, मुफ्त में तो नहीं लेने वाले। आज तुमसे मुफ्त ले लेंगे, कल तुम हुक्म चलाओगे, और हम मना नहीं कर सकेंगे। अभी तो हमारी स्वतंत्रता है।' अंत में आधी रेल तो पैसे देकर खरीद ली और बाकी वापिस भेज दी।

जरा इसी घटना के साथ अपनी भी तुलना करो। दूसरे देशों के पास इतना धन और हमारे यहाँ धन क्यों नहीं? हमने यह तो कभी नहीं कहा कि न दो, बल्कि ऊपर से गाली भी देते हैं कि 'तेरे पास इतना है तो देता क्यों नहीं।' भिखारी सड़क पर गाली देता है कि खुद तो मोटर में घूमते हैं और मुझे रोटी खाने को भी पैसे नहीं देते। राजा अखबारों में छापकर गाली दे देते हैं कि 'हैव्ज' 'हैव-नॉट्स' को (गरीब को) क्यों नहीं देते। फिर संतोष के नाम से आलस्य, प्रमाद वाले बन जाते हैं।

शास्त्रों ने परमात्म-प्राप्ति के विषय में कहा है कि वहाँ कुछ नहीं करना पड़ता। किस मतलब से ऐसा कहा, यह नहीं समझा। हमने मतलब लगा लिया कि कुछ नहीं करने से मोक्ष हो जायेगा। सर्वस्व-त्याग की भावना के मायने समझ लिये कि यज्ञ-दानादि कुछ भी नहीं करने पड़ेंगे! 'कुछ नहीं करने' का मतलब तो वहाँ संसार के किसी भी पदार्थ की कामना नहीं करने से है। अविवेकवश मतलब लगा लिया कि स्वर्गादि की, शास्त्रीय व्यवहार की कामना नहीं, वैसा धर्म-कार्य भी नहीं करने से परमात्मा की प्राप्ति हो जायेगी। लौकिक व्यवहार में तो वे लोग सब कुछ करेंगे! इससे स्पष्ट होता है कि स्वर्ग के सुख भोगने से उन्हें वैराग्य नहीं है बल्कि परिश्रम करने से वैराग्य है, करना ही नहीं चाहते।

भगवान् शंकर भगवत्पाद के एक शिष्य थे। पूर्वाश्रम में वे उनके सम्बन्धी भी लगते थे। इसलिये बचपन में ही उनके माता-पिता ने अन्य पदार्थों में कम प्रवृत्ति देखकर उन्हें भगवान् शंकर के साथ कर दिया। उनके साथ रहकर नित्य-निरंतर वेदों

का स्वाध्याय करते रहते थे। लगभग २६-२७ वर्ष के हो गये तो मन में विवाह की प्रवृत्ति आ गई। अपने गुरु-भाइयों से भी बात की। कहा- 'भगवान् शंकर से कहेंगे तो वे नाराज हो जायेंगे, मेरी तो इच्छा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की है।' बात चली तो भाष्यकार के कान में भी आई। उन्होंने बुलाकर बड़े प्रेम से पूछा- 'क्या यह सच्ची बात है कि तू विवाह करना चाहता है?' उन्होंने हाथ जोड़कर नीची नजरों से कहा- 'बात तो सच्ची है, मन में संसारी पदार्थों को भरकर बाहर से न करूँ तो यह योग्य नहीं। मेरे मन में संसार-विषयों की कामना आ गई है, आप आज्ञा दें तो मैं जाऊँ।' भाष्यकार ने बड़े प्रेम से उसकी तरफ देखा, सोचा कि बेचारा फँस जायेगा, इसने सुन तो रखा है कि संसार में सुख है, किन्तु इसे अनुभव नहीं है कि 'संसारे सुखस्य गंधलेशोपि नास्ति'। गीता-भाष्य में भगवान् भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि संसार में सुख की गंध तो क्या, वहाँ उस का लेश-मात्र भी नहीं है। भगवान् कृष्ण भी गीता में यही कहते हैं- 'दुःखालयम् अशाश्वतम्' संसार तो दुःख का आलय है। इसकी एक-एक ईंट भगवान् ने दुःख की ही बना कर रखी है। जैसे मकान लोहे, लकड़ी, सीमेण्ट, मार्बल के बनते हैं वैसे यह संसार दुःख से ही बना हुआ मकान है, भगवान् ने इसका नाम भी दुःखालय ही रखा है। भगवान् भाष्यकार ने सोचा कि यह घर में तो रहा नहीं है, रहा होता तो इसे वैराग्य हो गया होता।

आजकल लड़के शादी नहीं करना चाहते। उनके माता-पिता कहते हैं कि वह शादी के लिये नहीं मानता। सच्ची बात तो यह है कि हमारे शास्त्रकारों ने यह नियम बड़ा विचार कर किया था कि होश संभालने से पहले ही बच्चे को बाँध दो। यदि उसका विचार जग्रत् हो गया तो मामला गड़बड़ हो जायेगा। इस शास्त्रीय पद्धति का पालन न करके ही आज शिकायत करते हैं। लड़के के विचार तो जाग्रत् हो गये, वह सोचता है कि चाचा-चाची ने विवाह करके ही क्या मौज ले ली, भाई-भाभी ने विवाह किया तो उनमें भी झगड़ा होता रहता है कोई बाहर से करता है तो कोई अंदर से। लेकिन घर का मामला तो वह जानता ही है, इसीलिये अब विवाह से भागता है। भगवान् ने तो अपनी सृष्टि चलानी ही है। इसलिये उन्हें बाँधने के लिये भगवान् ने दूसरा साधन सिनेमा बनाया! घर में देखकर तो वैराग्य हो गया लेकिन सिनेमा में जाकर देखता है कि संसार में पति-पत्नी सुखी भी होते हैं। आज अगर सिनेमा बंद हो जायें तो जितने विवाह होते हैं, वे भी न हों।

यही बात भगवान् शंकर ने सोची कि घर में रहकर तो इसे वैराग्य होता, हम जैसे महात्माओं के साथ रहकर इसे संसार की सही स्थिति का पता ही नहीं लगा। उससे पूछा- 'तू किससे विवाह करना चाहता है?' उसने भी बता दिया 'एक सुन्दर लड़की है, उसी से करना चाहता हूँ।' भगवान् भाष्यकार ने कहा- 'अच्छा कर लेना। लेकिन तू जरा मेरे साथ बैठकर ध्यान लगा।' शिष्य ने ध्यान लगाया तो भगवान् शंकर ने ध्यान में उसे रम्भा को दिखा दिया। अब वह घबराया। भगवान् ने पूछा 'इससे ब्याह करेगा?' कहने लगा- 'जरूर करूँगा।' तब उन्होंने कहा कि इससे विवाह करने के लिये जरा साधन करना पड़ेगा। वह मान गया कि मैं करने को तैयार हूँ, पर विवाह तो इसी से करना है। इसी का नाम 'गुडजिह्विका न्याय' है। आचार्य ने उसे ध्यान की सारी प्रक्रिया बता दी। ध्यान करने लगा। ध्यान की एक विशेषता है कि जैसे-जैसे उसमें गम्भीरता आती है, एक विशिष्ट आनंद आने लगता है। जब साधक समझने लगता है तो बाह्य विषयों से मन हट जाता है। कुछ समय बाद आचार्य शंकर ने पूछा- 'अब वह रम्भा विवाह करने को तैयार है, करोगे?' उसी समय पैरों पर गिरा, कहा- 'मैं तो फँस रहा था, मुझे पता ही नहीं था। इस आनंद के सामने वह आनंद तो कुछ भी नहीं।' अंत में वही शिष्य ब्रह्मनिष्ठ महात्मा बने। जब हम संसार के पदार्थों की तरफ प्रवृत्ति कर रहे हैं और फिर कहते हैं कि स्वर्गादि पदार्थों की हमें कामना नहीं, तो यह केवल कहनामात्र है। यदि स्वर्ग-भोग सामने आ जाते तो उनपर तुम टूट पड़ते। अतः इस व्यर्थ कथन को छोड़कर जब स्वर्ग के पदार्थों की तरफ दृष्टि करने के फलस्वरूप संसार के पांचभौतिक पदार्थों से मन हटेगा, जब रम्भा की तरफ दृष्टि होगी तब संसार की लड़की से मन हटेगा, तभी स्वर्ग-सुख की प्राप्ति होगी।

इस स्वर्ग-सुख की कामना में भी दो बातें हैं—एक तो स्वर्गादिक पदार्थों को प्राप्त कर उस सुख को प्राप्त करोगे और दूसरे, उन पुण्यकर्मों के प्रभाव से अंतःकरण भी शुद्ध होगा क्योंकि—'काम्येऽपि शुद्धिरस्त्येव।' अंतःकरण शुद्ध होने पर, उसमें विवेक जाग्रत् होने पर, संसार के पदार्थों से वैराग्य भी होगा। भोग शुद्ध होने से परमात्ममार्ग में चलने में सरलता होगी। जिस व्यक्ति को संसार के पदार्थों से असली वैराग्य नहीं, उसी के लिए यह 'गुडजिह्विका न्याय' का सिद्धान्त बताया, इसी से आत्म-निष्ठा पूर्ण होकर आत्म-तत्त्व की प्राप्ति होगी। उसके लिए स्वर्गादिक पदार्थों

की प्राप्ति के लिए साधन, कर्म भी बताये। इनके द्वारा ही परमात्म-मार्ग में जाने की योग्यता आती है।

इस मंत्र में जो चार फल बताये–इष, ऊर्जा, आयुः, वर्चस्, इन्हें बताने में श्रुति का तात्पर्य यही है कि इन फलों के माध्यम से धर्म में प्रवृत्ति कराकर मोक्ष-पर्यन्त ले जाना है।

प्रवचन-६१

अन्न

७.९.६८

प्रतिपादित आत्म-तत्त्व, उसकी स्थिति और उन सारे प्रयत्नों का जो फल है, इसे यहाँ बताते हैं। इषे, ऊर्जे, आयुषे और वर्चसे- इन चार फलों का प्रतिपादन किया। इसी रूप में अन्न, तेज, आयु और ब्रह्मवर्चस, इन चारों को बताया। कल सिद्धांत बताया कि फल-श्रुति का तात्पर्य क्या है। गुड-जिह्विका न्याय से फल के द्वारा परमात्मा में प्रवृत्ति करना प्रधान है क्योंकि बिना फल जाने प्रवृत्ति असंभव है। इसलिये फल भी बताया। जो लोग प्रायः फल का अभाव मानकर प्रवृत्ति की बात करते हैं, वे वस्तुतः उस प्रवृत्ति के लिये अपेक्षित श्रम नहीं करना चाहते। ऐसी स्थिति में संतोष किसी प्रकार व्यवहार में आलस्य और प्रमाद का नाम हो जाता है। चाहे लौकिक अथवा पारमार्थिक, कोई भी व्यवहार हो, सर्वत्र परमार्थ के संतोष को आलस्य-प्रमाद के डब्बे में बन्द कर खुश हो जाते हैं। संतोष का फल सिवाय सुख और शांति के और कुछ हो ही नहीं सकता। संतोष का मतलब है-

'यत्सुखं देवराजस्य यत्सुखं चक्रवर्तिनः।
तत्सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तशीलिनः।।'

जो सुख देवराज इन्द्र को और जो सुख चक्रवर्ती राजा को प्राप्त है, वही सुख एकान्त में बैठे हुए परमात्मा का निरंतर चिन्तन करने वाले और संसारासक्ति से रहित हुए मुनि को मिलता है। इसी बात को कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा में आनंदों का वर्णन करते हुए कहते हैं- 'श्रोत्रिस्य चाकामहतस्य' मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व, देवता आदियों के जितने भी आनंद हैं, वे सारे आनंद उसी व्यक्ति को मिल जाते हैं जिसने कामनाओं को छोड़ दिया है। संतोष का मतलब कामना का परित्याग है।

जब तक भाव है कि पदार्थ-सुख होना तो चाहिये तब तक ऊपर से कहने और देखने में तो संतोष लगता है लेकिन स्वतः अपने को दुःखी और अशांत समझता ही है। इसका मतलब है कि संतोष के लिफाफे में माल कुछ और ही रखा है क्योंकि संतोष का फल दुःख और प्रमाद कभी हो नहीं सकता। जिस माल से दुःख और अशांति हुई, स्पष्ट है कि वह माल प्रमाद और आलस्य है, लिफाफा ही संतोष का है! श्रुति ने फल इसीलिये बताया कि मनुष्य ठीक समझ कर उसमें प्रवृत्ति करे। चार में पहला फल बताया- इष अर्थात् अन्न। आत्मा में स्थित होने का एक फल अन्न है। आत्मा में स्थित होने से अन्न मिलता है। वेद में आत्मवेत्ता का अनुभववाक्य आता है कि आत्मवेत्ता की अनुभूति तो यह है कि वह साम का गायन करते हुए बैठता है 'साम गायन्नास्ते'। इसी पर भाष्य लिखते हुए सायण आचार्य कहते हैं- 'श्रौतेन वा प्राकृतेन वा गायन्नास्ते' वेद-ज्ञान होने पर वह वैदिक मंत्रों का गायन करता है अथवा अपने अनुभव को ही गाता है अर्थात् अपने अनुभव को प्राकृत भाषा में भी प्रकट करता है। मीमांसा में साम का लक्षण किया है गान, गीत, 'गीतिषु सामाख्या'। हृदय में अत्यंत आनंद भरने पर गीत निकलता है। आत्मवेत्ता क्या गान करता है? वहाँ बताया 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः' 'मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न खाने वाला हूँ, मैं अन्न खाने वाला हूँ।' भगवान् भाष्यकार पूछते हैं कि अन्न खाने वाला हूँ, यह तो ठीक है लेकिन अन्न बनोगे तो मामला गड़बड़ हो जायेगा, कोई खा लेगा! इसीलिये भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि यहाँ अन्न का वास्तव में अर्थ क्या है। जब तक अपने को अन्न से भिन्न समझते हो तब तक अन्नाद (अन्न खाने वाले) को भय होता है। जब अन्न और अन्नाद को एक समझते हो तब ऐसा कोई भय नहीं। श्रुति भी स्पष्ट कहती है कि सारे संसार का आश्रय और विषय एक ही तो है। अंतःकरण की वृत्तियों का जो विषय है, वही अन्न है- 'अद्यते इति अन्नम्'। 'सर्वं खल्विदम् ब्रह्म' का अनुभव अन्नभाव है। अहमन्नम् का यही अनुभव है। 'अहम् अन्नादः' अहम् ब्रह्मास्मि का अनुभव है। यहाँ भोक्ता-भोग्य एक होकर रहते हैं अतः अन्न-अन्नाद का विरोध नहीं। यदि भोक्ता-भोग्य अलग-अलग रहें तो भय हो सकता है।

घर में तब तक भय है जब तक बाहर की लड़की आई हुई हो। जिस दिन वही लड़की पत्नी बनकर आ गई, सारी गुप्त चाबियाँ उसी के हाथ में दे दीं जो कभी

किसी को नहीं दीं। जब तक वह पत्नी नहीं बनी तब तक चाहे दस साल तक भी घर में रहे, चाबियाँ उसे नहीं मिलेंगी। आज पत्नियों की जगह बीबियाँ और पति की जगह बाबू साहब बन गये इसलिये दोनों के एकाउण्ट अलग-अलग हुए ताकि अलग हो जायें तो एक-दूसरे का भय नहीं रहे। जहाँ द्वैतबुद्धि हो गई, भय वहीं होगा।

इसी प्रकार पारलौकिक व्यवहार में भी अन्न-अन्नाद दोनों से वस्तुतः परमात्म-तत्त्व एक होकर रहता है, इसीलिये वह निर्भय है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी महाराजा जनक को सारा उपदेश देने के बाद अंतिम 'सर्टिफिकेट', उपाधिपत्र यही दिया था- 'अभयं वै जनक! प्राप्तोसि'। भयरहित होना ही आत्म-ज्ञान का फल है। यहाँ भी 'इषे' से कहा कि अन्न और अन्नाद में अभेद है। सारे जगत् में अपने को व्याप्त देखने पर भय नहीं होता। यह तो ठीक है कि पहले अन्न का अर्थ भोजन ही करते हैं इसीलिये कहते हैं कि भोजन की निंदा न करे। इतना मात्र ही नहीं कि केवल भोजन (अन्न) की निंदा न करें बल्कि जिस इन्द्रिय से जो कुछ भी ग्रहण किया जाता है, वह सब परमेश्वर से आने के कारण ही निंदा का विषय नहीं। अब उसका व्रत हो गया कि किसी भी विषय की निंदा नहीं करता। उसका अनुभव यह है कि प्रारब्धानुसार सुख-दुःख देने वाला मैं खुद ही हूँ। यहाँ आत्मज्ञान का फल बता रहे हैं, इसलिये 'मैं ही हूँ' ऐसा कह रहे हैं। साधारणतः कह सकते हो कि फल देने वाले ईश्वर हैं। सोमयाग में प्रतिष्ठित होने से तो भिन्नता की कल्पना ही नहीं बनती। सर्वथा अभिन्नता है तो यह संभावना ही नहीं कि और किसी की निंदा बने। जितनी भी इन्द्रियाँ हैं, उनसे हवि ही तो ले रहे हो। आँख से केवल रूप ही नहीं देख रहे हो बल्कि चक्षु-रूपी वेदि में रूप की आहुति डाल रहे हो, ग्रहणकर्ता आत्माग्नि है। हृदय के मध्य में आत्माग्नि जल रही है, उसी में आँखरूप वेदि से रूपाहुति दी जा रही है। उसी आत्माग्नि में कानरूप वेदि से शब्दरूप आहुति दे रहे हो।

निरन्तर उसी आत्म-तत्त्व शिव का ही अभिषेक कर रहे हो। ऋग्वेद का प्रथम मंत्र ही बताता है- 'अग्निमीडे पुरोहितम्' अग्नि वह है जो आगे चलकर हमारा कल्याण करता है। आत्माग्नि के लिये कहा- 'मनसो जवीयः' वह मन से भी आगे पहुँच जाता है, मन तो बाद में पहुँचता है। 'होतारम्' हवन करने वाला भी वह परमात्मदेव ही है। 'रत्नधातमम्'- सारे रत्न उसी में हैं। आत्मा से भिन्न कुछ भी तो नहीं। अग्नि उसका ही प्रतीक है।

प्रतीक और प्रतीत (प्रत्यक्ष) में फर्क क्या है? एक लड़की की कोई सखी उससे मिलने आई। उसने कहा– 'सुना है, तेरा ब्याह हुआ है, किससे हुआ है यह तो बता?' उस लड़की ने एक फोटो निकालकर दिखा दिया कि इससे हुआ है। वह सखी रोने लगी। लड़की ने रोने का कारण पूछा तो कहने लगी– 'क्या बताऊँ, तेरे तो भाग फूट गये।' लड़की ने कहा– 'ऐसा क्यों? मेरा पति तो बड़ा सुन्दर है।' सखी कहती है– 'हमारे देश में तो आदमी से ब्याह होता है, तुम्हारे देश में कागज से (फोटो तो कागज का ही बना था) ब्याह हो जाता है, यह तो धोखा है।' तब वह लड़की समझी और कहा– 'रो नहीं, फोटो से नहीं, मेरा ब्याह तो फोटो की शकल वाले आदमी से हुआ।' तब सखी को भी संतोष हुआ।

इसी प्रकार जब कहते हैं– 'अग्निमीडे पुरोहितम्'– तब अविचारशील रोने लगता है। कहता है कि हिन्दू धर्म में तो आग की पूजा, पत्थर की पूजा होती है, अरे! यह भी कोई पूजा करने की चीजें हैं? विचारशील कहता है कि ये तो फोटो हैं, हमारा सम्बन्ध इन फोटों की शकल वाले आत्मदेव से है। बाहर से जो आहुति दे रहे हैं, वह उसी को दे रहे हैं। वही यज्ञ का देव है, वह चेतन ही है जो हवियों के द्वारा अन्तरात्मा शिव को पुष्ट करता है। अन्न के द्वारा ही आहुति दी जाती है। इसलिये कहते हैं 'मैं 'अन्न' वही सर्वव्यापक तत्त्व बन जाऊँ और आहुतिरूप में ही उसमें प्रवेश करूँ। 'अहं ब्रह्मास्मि' यह मेरा साक्षात् अनुभव हो।' वह अनुभव कैसे हो? आहुति तो रात–दिन दे ही रहे हो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध रात–दिन देख रहे हो। इसलिये शास्त्रों में 'सोम' को भी खरीदने का तरीका बताया है। वह गंदी जगह पर पैदा हुए पदार्थों को खरीदने से नहीं बनने वाला। जैसे दिल्ली में बढ़िया सुन्दर गोभी का फूल खरीद कर लाये, बनाकर खाया तो स्वाद नहीं आया, कारण कि गंदी जगह पैदा हुआ है। इसी प्रकार वेजिटेबल 'घी' या अमरीका के गेहूँ से हवन नहीं होने वाला। कैसा अन्न चाहिये? कहा कि स्वयं अन्न पैदा करके उसका संग्रह करना पड़ेगा। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद कहते हैं कि इस संग्रह के लिये स्वयं खेती करनी पड़ेगी। उससे बढ़िया गेहूँ और चावल पैदा होंगे, उससे जब हवन करोगे तो उस हवन का फल होगा। वह खेती कैसी है? भगवान् भाष्यकार तरीका बताते हैं–

'धीयन्त्रेण वचोघटेन कविता कुल्योपकुल्याक्रमैः
आनीतैश्च सदाशिवस्य चरिताम्भोराशिदिव्यामृतैः।

हृत्केदारयुताश्च भक्तिकलमाः साफल्यमातन्वते
दुर्भिक्षाद् मम सेवकस्य भगवन् विश्वेश भीतिः कुतः॥' (शिवान. ४०)

खेती के लिये जल की आवश्यकता होती है। कहते हैं कि वह सोम ही पानी हो गया, प्रतिदिन उससे यज्ञ करूँगा। आज के हिन्दुस्तान में लोग कहते हैं कि हवन क्या करना है, खाने को ही अन्न नहीं मिलता, यह सब अन्न बर्बाद करना है। आचार्य शंकर कहते हैं मेरे लिये तो दुर्भिक्ष हो ही नहीं सकता। दुर्भिक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है, मैं तो आपका सेवक हूँ। पहला सम्बोधन दिया- 'भगवन्' अर्थात् सारे ऐश्वर्य आप में हैं, मैं आपका सेवक हूँ तो मुझे भी वे प्राप्त होंगे। दूसरा सम्बोधन दिया कि आप 'विश्वेश' हैं, सारा संसार ही आपके आदेशानुसार चल रहा है। फिर मुझ सेवक को दुर्भिक्ष का भय कैसा! मैं तो स्वयं खेती करता हूँ। खेती के लिये कुएँ से पानी निकालना पड़ता है। पहले तो रेहट से निकालते थे, अब बिजली के यंत्रों से निकालते हैं। यहाँ- 'धीयन्त्रेण' मेरी बुद्धि ही उस सोम-जल को निकालने में रेहट या यंत्र है। बुद्धि-यंत्र के द्वारा ही मैं जल निकालता हूँ। बुद्धि द्वारा ही अंदर छिपा पानी निकलता है। बुद्धि ही धर्माधर्म का विवेक करती है। इस बुद्धि-विवेक से ही तो कोई आई॰सी॰बी॰एम॰ निकालता है, कोई कोबाल्ट और एटम-बाम्ब निकालता है, टैक्स आदि की चोरी भी इसीसे निकालते हैं अर्थात् सब कुछ इस बुद्धि से निकाल सकते हो। यहाँ कैसे निकालना है? घड़ा ठीक रखो 'वचो घटेन'। रेहट में जो मिट्टी के घड़े (आजकल लोहे के समझ लो) लगते हैं, उन्हें साफ और ठीक रखो। परमेश्वर या वेद के वचन ही घट हैं, उनमें जो बुद्धियंत्र निकालेगा वह शुद्ध जल निकलेगा। अन्यथा संसार के पदार्थों को ही बुद्धि-यंत्र से निकालने में लगे रहोगे। पड़ोसी क्या सोचता है, लड़का क्या सोचता है, इसका बड़ा सूक्ष्म विचार करते हो लेकिन परमेश्वर क्या सोच रहा है, इससे बिलकुल बेखबर हो। घर में एक नौकर भी कोई बात कह दे तो घंटों सोचते हो कि इसने यह बात कैसे कही, क्यों कही। वेद जब कहता है कि तू ब्रह्म है, तो इसके बारे में विचार ही नहीं करते। वेद-वाणी से भी ज्यादा महत्त्व एक नौकर की वाणी का है। इसलिये कहते हैं कि वैदिक-वाक्यरूप घड़े के द्वारा ही जल निकलेगा।

रेहट से पानी निकालकर चाहे जहाँ फैला सकते हो। एक बड़ी नाली होती है, कुल्या और कुछ छोटी-छोटी नालियाँ (उपकुल्यायें) होती हैं। यहाँ कहते हैं

'कविताकुल्योपकुल्याक्रमैः'। कविता ही वे कुल्योपकुल्यायें हैं। कविता क्या है? कविता आर्ष दर्शन को कहते हैं। ऋषि-वाक्यों को ही कविता कहते हैं। आजकल अंग्रेजी की 'पोयट्री' शब्दार्थ कविता नहीं जैसा हिन्दी वाले समझते हैं। कवि साक्षात् परमात्मा का नाम ही है, ऋषियों ने भी उसे कवि कहा है। अथवा, 'कविः क्रान्तदर्शी' अर्थात् ऋषिगण जिनके हृदय में परमात्मा का पूर्ण प्रकाश हुआ है, वे भी कवि हैं। फिर उनके विचार जो स्मृति, पुराणों में बताये हैं, वे कविता हैं। वेद के रहस्य को समझने के लिये स्मृति-पुराणों के रहस्य को समझना अत्यंत आवश्यक है। इनका रहस्य समझे बिना मनुष्य उल्टा ही अर्थ लगा लेगा मानो वेदार्थ को मार डालेगा। ऋषियों ने ही वेदों के रहस्य को प्रकट किया। ऋषि-वाणीरूप कुल्योपकुल्या के द्वारा ही वेद-ज्ञानरूप जल को फैलाकर कल्याणकारी अन्न उत्पन्न होगा।

बुद्धि यंत्र से जल निकाल लिया तो क्या आया? भगवान् शंकर की चरित्र-राशि भी साथ आई। भगवान् शंकर के चरित्रों का पार नहीं, जैसे समुद्र का पार नहीं। वह चरित्र-जलराशि ऐसी है कि उसकी एक-एक बूँद दिव्य अमृत है। वह देवताओं के भी उपभोग के योग्य है। यद्यपि समुद्र-मंथन से अमृत को प्राप्तकर देवताओं ने पान किया है तथापि इस दिव्य-अमृत का पान देवताओं के लिये अभी शेष है, वही पान के योग्य है। ऐसे ही जिसने गुरु-वाक्य के श्रवण, वेद-मंत्रों के श्रवण, स्वाध्याय से अमृत पान तो किया है, वह निस्संदेह अमरता को प्राप्त होगा लेकिन अभी अमरता की दिव्यता को प्राप्त नहीं किया, अभी सोमयाग नहीं हुआ।

कुल्योपकुल्या से आया हुआ सारा जल फैलेगा कहाँ? वह जल हृदय-रूप खेत में आना है। वह खेत ऐसा है जिसमें से सारे कंकड़-पत्थर निकालकर साफ कर दिये गये हैं, अब उसमें परमात्मा की भक्ति और प्रेम ही बढ़ रहा है, उसमें सफलता बढ़ती जा रही है। इसी को श्रुति यहाँ 'इषे' कह रही है, इसी अन्न की खेती करनी है। जब इस प्रकार हृदयरूप खेत को तैयार कर लोगे तभी हृदय में परमात्म-प्रेम का आनंद आना है। यदि उस खेत में कंकड़-पत्थर होंगे तो खेती करने में मज़ा नहीं आयेगा, इसीलिये तो मिट्टी को, कंकड़-पत्थर निकालकर, चिकना करते हैं। ऐसे ही हृदय जब सर्वथा शुद्ध कर देते हैं तो उसमें आनंद प्रकट होता है। तब वह स्थिति आती है कि मनुष्य परमात्मा की तरफ सर्वथा एक दृष्टि से देखने वाला होता है।

कैसे एक दृष्टि से देखता है? यह कविकुलगुरु कालिदास के जीवन से स्पष्ट होता है। कालिदास की पत्नी का नाम विद्यावती था। दोनों में परस्पर अभिन्न प्रेम था। सर्वथा एक-दूसरे की तरफ उनका हृदय प्रतिक्षण रहता था। उनका हृदय ऐसा एक था कि दोनों की दृष्टि परमेश्वर की तरफ ही निष्ठ रहती थी। व्यक्ति का सम्बन्ध कैसा होता है? इसपर महाभारतकार कहते हैं- जैसे समुद्र में दो लकड़ियाँ पानी के बहाव से इधर-उधर बहती रहती हैं, कभी मिलती हैं तो फिर टकराकर अलग हो जाती हैं। लेकिन उनका स्थिर सम्बन्ध तो नित्य समुद्र से ही होना है, लकड़ियाँ समुद्र की दृष्टि से नित्य मिली हैं, परस्पर अलग होने पर भी। ऐसे ही संसार के लोग भी प्रारब्धभोग से इकट्ठे हुए हैं, वे अलग होकर रहें या इकट्ठे लेकिन उनका सम्बध नित्य ईश्वररूप समुद्र से ही है, उसकी दृष्टि से वे सब एक हैं। विचार करके देखो, जब अभिषेक करते हो, यदि सारे न कर सकें तो एक का कपड़ा पकड़ लेते हैं और उसी से सबका अभिषेक हुआ माना जाता है। इसी प्रकार जीवमात्र का सम्बन्ध भी ईश्वर से ही है, परस्पर जीवों का रिश्ता अनित्य होने पर भी ईश्वर से तो नित्य है जैसे समुद्र में लकड़ी-लकड़ी का रिश्ता अनित्य होने पर भी समुद्र-दृष्टि से एक और नित्य है और वही समुद्र फिर लकड़ियों को बहाकर किनारे ले आता है। जीवों ने संसार के २०-२५ साल के रिश्ते को ही नित्य मान रखा है और छोड़ना ही नहीं चाहते इसीलिये नित्य परमेश्वर से सम्बन्ध नहीं हो पाता।

कालिदास काली के भक्त थे और विद्यावती शंकरभक्त थीं। एक बार कालिदास ने राजा भोज से कह दिया कि 'हम दोनों, पति-पत्नी एक-दूसरे से अलग हो कर नहीं जी सकते।' राजा भोज की पत्नी भी वहाँ बैठी थी। औरतों का स्वभाव है कि मन में कोई बात टिक ही नहीं सकती, मन में आया कह दिया। उसने कहा- 'कालिदास, यह सब कहना तो बेकार है, कौन एक-दूसरे के लिये मरता है।' फिर भी कालिदास ने कहा- 'हमारा सम्बन्ध तो ऐसा ही है।' अब वह औरत जात, उसने सोचा, कालिदास की परीक्षा लेनी चाहिये और इसके घमण्ड को चूर-चूर करना चाहिये।

एक दिन राजा भोज और कालिदास जंगल में शिकार खेलने गये हुए थे। इधर रानी बड़ा उदास मुहँ बनाकर अपराह्न २-३ बजे कालिदास के घर पहुँची और

विद्यावती से कहा- 'एक भयंकर काण्ड हो गया है।' पूछने पर बताया कि कालिदास को शेर खा गया। इतना सुनने के साथ ही विद्यावती ने एक बार 'शंकर' कहा और धड़ाम से गिर गई! रानी ने सोचा बड़ा दुःख हुआ होगा। जाकर देखा तो नाड़ी ही गायब है, वैद्य जी ने आकर देखा तो उन्होंने भी कहा कि नाड़ी ही गायब है, आजकल के 'हार्ट-फेल' का मामला था। अब रानी बड़ी घबराई कि भोज और कालिदास को पता लगेगा तो पता नहीं क्या दण्ड देंगे! भोज तो मार ही डालेंगे। इसी चिंता में पड़ी थी। जैसे ही दोनों वापिस आये, उसने कालिदास से एकांत में ही बात करने को कहा। रोने लगी। कहा-'विद्यावती मर गई।' यह सुनकर ही कालिदास तो हँसने लगे, कहा-'आप मजाक करती हैं, यह कभी हो सकता है कि मेरे जीवित रहते विद्यावती मर जाये? इसमें तो यम की भी ताकत नहीं, मैं तो काली का भक्त हूँ। इसलिए यह मजाक छोड़ो और सही बात बताओ।' रानी ने कहा, ' बात तो सच्ची है।' सारी बात कह सुनाई। कालिदास ने कहा-'इसमें कोई चिंता की बात नहीं। यह तो मुझे पहले ही पता था।' उन्होंने विद्यावती के मरने का समय भी बता दिया। रानी को बड़ा आश्चर्य हुआ कि ये तो अभी आ रहे हैं, पहले ही कैसे पता लग गया? कालिदास ने बताया 'जैसे ही विद्यावती यहाँ गिरी थी, उसी समय मेरे हृदय में तीव्र भान हुआ था कि विद्यावती को कुछ हो गया है।' लेकिन फिर भी चिंता की कोई बात नहीं। उन्होंने उसी समय जाकर विद्यावती को बड़े प्रेम से उठाकर गोद में बिठाया और हाथ फेरने लगे। कहने लगे-'विद्यावती! यह जल्दी का मामला ठीक नहीं। अभी तो हम बुड्ढे भी नहीं हुए, सौ साल की उम्र भी नहीं हुई।' रानी ने उस समय देखा कि जैसे-जैसे कालिदास विद्यावती के जिस-जिस अंग पर हाथ फेरते जा रहे थे, वही-वही अंग चेतन होता जा रहा था। विद्यावती उठ खड़ी हुई। जब इतनी अधिक परमात्म-दृष्टि बनती है तभी उसका फल होता है, यह कालिदास के जीवन से प्रत्यक्ष सिद्ध होता है।

जीवन के अन्तिम काल में कालिदास ने सोचा कि यद्यपि काली के दर्शन तो मुझे प्रायः हुए हैं लेकिन भगवान् शंकर का दर्शन तो एक बार भी नहीं हुआ, उसके लिये प्रयत्न भी किया। एक दिन उन्होंने विद्यावती से कहा 'जीवन में और तो सब इच्छायें पूर्ण हो गयीं, लेकिन एक इच्छा तो अपूर्ण ही रह गयी, अब वृद्ध हो गये हैं, अभी तक भगवान् शंकर ने हमें दर्शन नहीं दिये।' विद्यावती हँस पड़ी, कहने लगी- 'आपने शंकर के लिये आज तक किया ही क्या है जो वे दर्शन देते? आपने

अभिज्ञान-शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, मेघदूत, ऋतु-संहार, आदि अनेक ग्रंथ लिखे। आपने भगवान् शंकर की महिमा गाई ही कहाँ जो वे दर्शन देते?' कालिदास ने इसका भी बड़ा गंम्भीर कारण बताया 'जब कभी भी शिव और शिवा का चिंतन करने लगता हूँ तो हृदय भर आता है। मुझे लगता है कि मैं उनकी महिमा गाने में अपूर्ण रह जाऊँगा। भाव मन में आते हैं लेकिन उन भावों के लिये मुझे शब्द ही नहीं मिलते, इसलिये सोचता हूँ कि मैं क्या लिखूँ! हमेशा अपने को असमर्थ पाता हूँ। जिनके चरित्रों का वर्णन करने के लिये सारे वेद भी ढीले पड़ जाते हैं और अंत में कहते है- 'नेति-नेति' मायने उनके चरित्रों की इति न समझ लेना, जिनके चरित्रों का वर्णन करते हुए स्वयं भीष्म पितामह भी कहते हैं- 'मैं अशक्त हूँ', मन में भाव उठने पर भी मैं उन परमेश्वर के बारे में कुछ नहीं लिख सका।' इस बात का समाधान आचार्य पुष्पदन्त अपने शिव-महिम्नः स्तोत्र में करते हैं- आकाश में पक्षी उड़ते हैं, मच्छर और बाज भी उड़ते हैं लेकिन आज तक उनमें से कोई आकाश का पार नहीं पा सका, जितनी जिसकी सामर्थ्य होती है, उतना ही उड़कर लौट आता है। इसी तरह आचार्य कहते हैं- यद्यपि मैं शिव-महिमा का स्तोत्र लिखने जा रहा हूँ तथापि जितना जान सकता हूँ, उतना ही कहूँगा, इसलिये मुझे दोष न देना कि जैसी शिवमहिमा है वैसा मैं वर्णन कर नहीं पाया। भगवान् शंकर की महिमा का पार तो कोई पा ही नहीं सकता।

'महिम्नः पारं ते परमविदुषो यद्यसदृशी स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि तदवसन्नास्त्वयि गिरः।

अथावाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधि गृणन् ममाप्येष स्तोत्रे हर! निरपवादः परिकरः॥'

तब कालिदास ने कुमार-संभव लिखना आरंभ किया, यही उनके जीवन का अंतिम ग्रंथ था। एक प्रसंग आया जहाँ कालिदास की बुद्धि काम नहीं कर रही थी क्योंकि आखिर माता-पिता का वर्णन करने जा रहे थे। प्रसंग था शंकर-पार्वती के विवाह की पूर्वावस्था का। भगवती का तप पूर्ण हो चुका है। भगवान् शंकर बटुक का रूप धारण कर भगवती के प्रेम की परीक्षा करने आये। पार्वती से कहते हैं 'तूने इतनी तपस्या क्या शंकर के लिये की है? अरे विचार कर, तू कहाँ फँस गई।' पार्वती ने कारण पूछा तो कहते हैं- 'तू ऐसे से विवाह करना चाहती है जो चिता की भस्म रमाता है, गले में साँप ही लपेटे रहता है, पास में खाने को भी कुछ नहीं।' पार्वती

ने जवाब दिया 'अलोकसामान्यम् अचिन्त्यहेतुकम् द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्' 'मैंने तो समझा था तू ब्राह्मण ब्रह्मचारी है लेकिन तू तो महामूर्ख निकला! सामान्य लौकिकों की तरह महात्माओं के वर्णन नहीं होते। उनके आचारादि के हेतु का पता साधारण व्यक्ति को नहीं लग सकता क्योंकि उन्हें समझने में हमारी बुद्धि असमर्थ होती है।' जीवन्मुक्त के लिये तो शास्त्र स्पष्ट कहता है- 'वीतरागभयक्रोधैः' उनमें राग-द्वेष, काम-क्रोधादि सर्वथा नहीं होते अतः वे ही शिव को समझते हैं। चूंकि हम सामान्य जन अपनी दृष्टि से देखते हैं, इसलिये शिव में भी हमें उसी दृष्टि से कार्यकारणता देखने में आती है जबकि वस्तुतः ऐसा है नहीं। संगीतज्ञ जिसने सैकड़ों गायक तैयार कर दिये हैं, वह पुराने आलापों को छोड़कर नवीन अलाप ही लेता है। नये-नये संगीतज्ञ तो उसकी आलोचना करते रहते हैं कि ऐसा अलाप तो शार्ङ्गधर ने भी नहीं लिखा जो यह अलापता है। इसी प्रकार जो मन्दबुद्धि होते हैं, वे बजाय इसके कि विद्वान् के चरित्रों का वर्णन करें, महात्मा के विचारों का मनन करें, उल्टे उनमें दोष देखते हैं क्योंकि वे उन्हें भी अपनी ही दृष्टि से देखते हैं। इसी प्रकार भगवान् शंकर तो अलोक-सामान्य और अचिन्त्य हैं और तुम्हें वहाँ कमी ही दीख रही है! तुमने कभी विचार किया कि चिता-भस्म वे रमाते हैं तो सारे मंगल कार्य कौन करता है? मंगल-कार्यों का प्रयोग कौन किस प्रयोजन से करता है- 'विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते'। संसार में कोई तो विपत्ति की सम्भावना को दूर करने के लिये मंगल कार्य करता है जैसे भगवान् गणपति विघ्न-विनाशक हैं तो विघ्नों को दूर करने के लिये पहले उन्हीं की पूजा करते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो आस्तिक तो हैं लेकिन कोई भी कार्य करने से पहले मंगलाचरण नहीं करते या भगवान् का चिंतन नहीं करते। मन्द-बुद्धि लोगों को उनमें दोष दीखता है, कहते हैं, 'ये तो नास्तिक हो गये हैं।' किन्तु विचार करो, जिसे विपत्ति की संभावना है, वह तो उस विपत्ति को दूर करने के लिये मंगल-कामना करे, लेकिन जिसके पास विपत्ति आने की संभावना ही नहीं, वह क्या मंगल करे! इसीलिये वह पृथक् से कोई मंगल कर्म नहीं करता। तत्त्वनिष्ठ किसका जप करे! वह तो जानता है कि कौन-सी वाणी ऐसी है जो परमात्मा का कथन नहीं। अथवा कुछ लोग ऐसे हैं जो ऐश्वर्य को प्राप्त करना चाहते हैं और इसके लिये मंगल करते हैं- 'जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः', लेकिन सारा जगत् जिसकी शरण में है, उसे किसकी आशा होनी है! ऐसे शिव क्या मंगल करें!

मंगल तो वे करें जिनकी वृत्ति संसारी पदार्थों में लगी है। भगवान् शंकर किस उद्देश्य से ये सब करें? विपत्ति का प्रतिकार उन्हें करना नहीं, ऐश्वर्य कोई ऐसा नहीं जो उन्हें प्राप्त न हो, वे, स्वयं परब्रह्म परमात्मा, किसका चिंतन करें? इसलिये हे ब्राह्मण! तूने उनके असली रहस्य को समझा ही नहीं है।' अंत में पार्वती कहती है, 'सच्ची बात तो यह है कि तुझ से बात करना ही व्यर्थ है 'ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते' हमारा भाव, प्रेम तो एकरस है। कामना और प्रेम-वृत्ति कभी अच्छे-बुरे का निश्चय करके नहीं बनती!' स्वयं में उसका साक्षात्कार तो हो सकता है, यदि विचार करोगे तो वह अनिर्वचनीय ही है। स्व का स्व में प्रेम है तो सही पर ऐसा कहने में कर्तृकर्म-विरोध हो ही जायेगा। जिसे आत्म-प्रेम हो गया, केवल वही उसे जान सकता है। इसीलिये भगवती कहती है कि वह तो अनिर्वचनीय है। फिर भी जब बटुक ने जवाब देना चाहा तो भगवती को गुस्सा आ गया! सखियों से कहा कि 'यहाँ से चलो। क्योंकि- 'न केवलं यो महतोऽपभाषते श्रृणोति तस्माद् अपि यः स पापभाक्' जो महापुरुषों की निंदा करता है, पाप केवल उसे ही नहीं लगता, बल्कि सुनने वालों को भी बड़ा पाप लगता है।' इसलिये ईश्वरादि-निंदा जहाँ हो वहाँ नहीं रुकना चाहिये। शास्त्रकारों ने यही नियम किया है कि महापुरुषों की निंदा करने वाले को यदि सामर्थ्य हो तो दण्ड दे, वरना वहाँ से चला जाये। इसलिये पार्वती जी वहाँ से चल दीं, कहा- 'अब तुम्हारे साथ बात करने की जरूरत नहीं।'

कालिदास ने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है कि कहाँ तो भगवती पार्वती, नित्य तप में रहने वाली और आज इतने गुस्से में चली जा रही है! क्योंकि घृणा या द्वेष हो तो मनुष्य की छाती क्रोध से फूलने लगती है। यहाँ कालिदास लिखते घबराते हैं कि माता के लिये लिखने जा रहे हैं, कैसे लिख दें! पर अंत में एक ही वाक्य में इशारे से लिख देते हैं कि उन्हें गुस्सा कितना ज्यादा था- 'चचाल बाला स्तनभिन्नवल्कला' अर्थात् इस प्रकार जब वे चलीं तो वल्कल स्तन से भिन्न हो गया! स्तन ढाँकने के लिये जो पेड़ की छाल ओढ़ी थी वह खिसक गयी फिर भी देवी को ख्याल न आया क्योंकि गुस्सा अधिक था! भगवान् शंकर तो परीक्षा ले रहे थे! देखा कि परीक्षा में सफल हो गई तो उसी समय स्वरूप में प्रकट हो गये। 'कृतस्मितः' भगवान् शंकर मुस्कराये और लम्बे हाथ कर उन्हें पकड़ लिया। अब भगवती पार्वती की बड़ी विचित्र स्थिति हो गई। कालिदास लिखते हैं-

'तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टिः निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ।।'

उनका एक पैर चलने को तैयार है, किन्तु वैसी की वैसी स्थिर हो गई। कवि ने कह दिया कि हिमालय की पुत्री,न चलीं और न उनमें वापिस जाने की ही सामर्थ्य रही। अब भगवान् शंकर को जवाब देना है। कालिदास लिखते हैं-

'अद्यप्रभृत्यवनतांगि! तवास्मि दासः।' भगवान् जवाब देते हैं- 'आज से मैं तेरा हो गया', इतना लिखते ही कालिदास अटक गये कि क्या लिखें, मैं तेरा क्या हो गया? पति तो लिख नहीं सकते क्योंकि विवाह अभी हुआ नहीं। मन में भाव आया कि उस परम पुरुष के बारे में ऐसे ही कैसे लिख दें! सोचते हुए मध्याह्न ११ बजे का समय हो गया। विद्यावती ने भी आकर पूछा 'आज इतनी चिंता में क्यों हैं, मध्याह्न पूजा का समय हो गया।' कालिदास ने कहा 'श्लोक बना रहा हूँ लेकिन पूरा नहीं हो रहा। आगे के पद बन रहे हैं लेकिन बीच का पद कुछ जँच नहीं रहा है।' विद्यावती ने कहा 'बाद में आकर लिख लेना।' चले गये। पाँच मिनट में ही वापिस आ गये। विद्यावती को आश्चर्य हुआ कि इतनी जल्दी ही कैसे आ गये। कहने लगे, 'पहले श्लोक पूरा कर लूँ।' विद्यावती ने लेखनी पास रख दी, लिखने लगे-

'अद्य प्रभृत्यवनतांगि! तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।।'

लिख दिया कि 'आज से मैं तुम्हारा दास हो गया! तुमने तप से मुझे खरीद लिया।' वे पूरा करके चले गये। घण्टे-डेढ़ घण्टे बाद कालिदास वापिस आये, चेहरा उतरा हुआ था। विद्यावती ने पूछा, 'अब क्यों चिंतित हैं?' कहने लगे- 'मध्याह्न संध्या में भी आनंद नहीं आया, बार-बार वही श्लोक मन में आ रहा था।' विद्यावती ने कहा, 'श्लोक तो आप पूरा कर गये थे, जाने के पाँच मिनट बाद ही वापिस आकर आप लिख गये थे!' कालिदास को बड़ा आश्चर्य हुआ, कहा, 'मैं तो वापिस नहीं आया था।' जैसे ही पुस्तक खोलकर देखा तो लिखा था! कालिदास तो पढ़कर नाचने लगे! कहा- 'विद्यावती! गजब हो गया, यह तो खुद चंद्रमौलि आकर लिख गये हैं। लिखना तो मैं भी यही चाहता था लेकिन हिम्मत नहीं हो रही थी कि उस परम पुरुष के लिये 'दास' कैसे लिख दूँ! अब तो मुझे भोजन नहीं करना, मेरे साथ

फिर धोखा हो गया, इस बार भी तुझे तो दर्शन दे गये, मैं ऐसे ही रह गया!' विद्यावती ने कहा, 'ऐसी बात नहीं है, जब आपका ग्रंथ पूर्ण होगा तब दर्शन देंगे।'

कालिदास का जीवन अनेक प्रकार का रहा, इसे लेकर साहित्यकारों का मत है कि उनका अंतिम ग्रंथ 'कुमारसंभव' पूर्ण नहीं हुआ बल्कि अष्टम सर्ग की इति से पूर्व ही उन्हें भगवान् के दर्शन हो गये और उसी समय उनका शरीर विद्यावती के साथ भगवान् में लीन भी हो गया। विचार-दृष्टि से पता लगता है कि भगवान् शंकर तो 'तवास्मि दासः' कह सकते हैं किन्तु जीवन्मुक्त के लिये यह कहना बनता नहीं क्योंकि जीवन्मुक्त की तो परब्रह्म परमात्मा से एकात्म-दृष्टि से अतिरिक्त और कोई दृष्टि बनती ही नहीं। उसका अनुभव तो यह है कि अन्न-स्वरूप भी मैं हूँ, सारा संसार मेरा ही भोग कर रहा है। मुझे ही देख रहा है, चख रहा है, सूंघ रहा है, छू रहा है। उसे उसमें कोई घबराहट नहीं होती। अज्ञानी चाहता है कि मैं अन्नाद तो रहूँ, खाने वाला रहूँ, अन्न न रहूँ। कालिदास भी काली के भक्त थे, इसलिये घबरा रहे थे।

'इष' से स्पष्ट किया कि विद्वान् उस रूप को प्राप्त कर लेता है जब यह भाव बनता है कि मैं ही अन्न और मैं ही अन्नाद हूँ। वह सोचता है कि ब्रह्माकार वृत्ति भी तो मुझ ब्रह्म को ही विषय कर रही है। मैं विषय भी बना हूँ। ब्रह्म को यह खतरा नहीं कि मैं 'इष' कैसे बनूँ। एकाग्र वृत्ति होती है तो विद्वान् की सर्वत्र ही ब्रह्मदृष्टि हो जाती है।

प्रवचन-६२

स्थितप्रज्ञ

८-९-६८

सारे अध्याय में प्रतिपादित जो आत्म-तत्त्व उसमें स्थिति का फल कैसा होता है, आत्म-तत्त्व की निष्ठा हो जाने पर जीवन के प्रति अपना रुख या व्यवहार क्या होता है, इन दोनों का फलरूपेण प्रतिपादन इस मंत्र में कर रहे हैं। भाष्यकार भगवान् आचार्य शंकर भगवत्पाद गीता-भाष्य में प्रश्न उठाते हैं - जो सिद्ध हो चुका है, उसकी स्थिति को बताने से क्या लाभ? अर्जुन ने प्रश्न किया था 'भगवन्! जो स्थितप्रज्ञ है, उसकी वार्ता, उसका व्यवहार और आचरण कैसा होता है?' भगवान् ने विस्तृत जवाब दिया। ब्रह्मनिष्ठ के लक्षण स्वयं ब्रह्मनिष्ठ के लिये तो उपयोगी नहीं क्योंकि वह सारे विधि-निषेधों से रहित कहा गया है-'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः' जो स्वयं तीनों गुणों से रहित पथ पर विचरण करने वाला है, जिसे श्रुति भी अधिष्ठान-तत्त्व बताती है, उसके लिये न कोई विधि है कि 'ऐसा करो' और न कोई निषेध है कि 'ऐसा मत करो'। इसलिये ब्रह्मनिष्ठ के लिये लक्षण जानना व्यर्थ है।

ब्रह्मनिष्ठ के लिये व्यर्थ होने पर भी ब्रह्मनिष्ठ को पहचानने के लिये क्या ये लक्षण काम में लिये जायें? भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि जितने लक्षण वहाँ बताये गये हैं, वे सारे मन से सम्बन्धित हैं। अर्जुन का प्रश्न था कि वह क्या बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है? इसका जबाव भगवान् ने यह नहीं दिया कि वह जूता पहनकर चलता या अंग्रेजी या उर्दू बोलता है, या अच्छा भाषण करता है। भगवान् का सारा जवाब मन से ही सम्बन्धित है। किसी एक का मन किसी दूसरे का विषय नहीं बन सकता। इसमें कभी अन्य-प्रत्यय-संवेद्यता नहीं आती अर्थात् एक का मन अन्य के लिये संवेद्य नहीं हो सकता। शंका हो सकती है कि दूसरे का अंतःकरण

हमारे ज्ञान का विषय नहीं हो सकता तो वह जानकारी हमारे किस काम की? ब्रह्मनिष्ठ के ऊपर तो विधि-निषेध लागू न होने से लक्षण आवश्यक नहीं, इन लक्षणों से उसे पहचानने की सम्भावना नहीं, फिर लक्षण बताने का प्रयोजन क्या, क्यों बताये गये?

विचार से पता लगता है कि जहाँ अन्यप्रत्ययसंवेद्यता नहीं, स्वकीय विधि -निषेध की संभावना नहीं, वहाँ भी प्रयोजन संभव हो सकता है। कैसे? दृष्टांत से समझो: रसगुल्ला खाने से तुम्हें सुख होगा। बढ़िया सुन्दर सोना तुम्हारे पास आ जायेगा, तब सुख होगा; रसगुल्ले से भी ज्यादा, क्योंकि रसगुल्ला तो खाने से ही सुख होगा, सोने पर तो हाथ फेरने से ही सुख होता है। अब इसका क्या प्रयोजन? जो रसगुल्ला खाकर सुख ले रहा है, उसके प्रति विधि व्यर्थ है और रसगुल्ला खाने वाले के सुख को दूसरा जान नहीं सकता। किसी ने तुम्हें कोई चीज़ खाने को दी, वह मिर्च वाली लगी, सुख नहीं हुआ। दूसरा कहे भी कि रसगुल्ला भी है। जब तक तुम्हें पता नहीं लग चुका कि रसगुल्ला तो मीठा, सुखकारी होता है न कि मिर्च वाला या दुःखकारी तब तक उसके कहने से रसगुल्ला खाओगे नहीं। अतः अपने मन को समझने के लिये लक्षण कार्यकारी हो जाते हैं। उसी बात को यहाँ कहते हैं कि स्थित-प्रज्ञ का लक्षण जिसे आत्म-निष्ठा हो गई है, उसके लिये अनावश्यक, उसे पहचानने के लिये भी अनुपयोगी है। अपनी परीक्षा उससे हो जाती है, इतने में ही वे लक्षण गतार्थ हो जाते हैं। लक्षण जाना कि आत्मज्ञानी के शोक-मोह की निवृत्ति हो जाती है, तो अंतःकरण देखकर पता चल जाता है कि ज्ञान हुआ अथवा नहीं। यदि शोक-मोह होता ही है तो इसका मतलब है कि ज्ञान नहीं हुआ।

यहाँ ऐसी शंका नहीं कर लेना, जैसे कि कुछ लोग कह देते हैं, मुझ में शोक-मोह नहीं, वे तो अंतःकरण में ही हैं! उनसे पूछो कि अज्ञानी के शोक-मोह कहीं और होते हैं क्या? वे भी तो अंतःकरण में ही होते हैं। अगर ज्ञानी के भी अंतःकरण में शोक-मोह रहे तो साधना के परिश्रम का फिर फल क्या हुआ? आत्मा में तो शोक-मोहादि दोष हैं नहीं, यदि आत्मा में हो जायेंगे तो वैशेषिक वाद-प्रसक्ति हो जायेगी। आत्मा को तो वेद में नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव कहा है। आत्मा में जब शोक हो नहीं सकता तो ज्ञान का फल आत्मा की शोकनिवृत्ति कैसे मानोगे? इसलिये अंतःकरण में शोक-मोह न होना ही ज्ञान का फल हो सकता है। अन्यथा, 'तरति शोकमात्मवित्,' 'तत्र को मोहः कःशोक एकत्वमनुपश्यतः' आदि श्रुतियाँ

व्यर्थ हो जायेंगी। स्थित-प्रज्ञादि के लक्षण जब अपने में प्रकट होकर पूर्ण हो जावें, समझ लो कि ज्ञान-निष्ठा पूर्ण हो गई। लक्षण बताने का यह एक प्रयोजन सिद्ध हुआ। दूसरा प्रयोजन भगवान् भाष्यकार स्वयं कहते हैं - साधक किन बातों को प्रयत्नपूर्वक करे यह इन लक्षणों से प्रकट है-

'सर्वत्रैव हि अध्यात्मशास्त्रे कृतार्थलक्षणानि यानि तान्येव साधनानि उपदिश्यन्ते, यत्नसाध्यत्वात्।' (गीताभाष्य २.५५)।

अच्छे-अच्छे गवैयों के गाने संगीतछात्र क्यों सुनता है? ताकि जो उत्तम कोटि का गाना है, उसे सुनकर प्रयत्नपूर्वक वैसा वह गाये। संगीत सीख रहे हो तो संगीतज्ञ जिन रागों को सहजरूप से गाता है, तुम भी प्रयत्नपूर्वक वैसा गाओ इसीलिये सुनते हो। ऐसे ही साधक को स्थितप्रज्ञ के बताये हुए लक्षणों की नकल करनी है, उन्हें अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करना है जिससे कि वे अपने अंतःकरण में भी आ जायें। वह सिद्ध तो ज्ञान के आनंद में पूर्ण मग्न है, उसे अपनी दृष्टि से देखकर धीरे-धीरे उस आनन्द को प्राप्त करने का प्रयत्न करोगे कि वह आनंद होता कैसे है। उन लक्षणों का पता लगेगा और प्रयत्नपूर्वक जब उन्हें अपने जीवन में घटाओगे तो वह आनंद तुम्हें भी हो जायेगा। स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताने के दो प्रयोजन हुए, अपनी उन्नति को नापने के लिये और, उन्नति के स्वरूप को धीरे-धीरे अपने में लाने के लिए। सिद्ध में शोक, मोह, काम, क्रोध, लोभ - कुछ नहीं, साधक को भी इन सारे दोषों को अपने अंतःकरण से कम करते जाना है। सिद्ध कभी अन्याय का काम नहीं कर सकता, साधक को भी अन्याय के कामों से यत्नपूर्वक बचना है और स्वाभाविक कर्त्तव्यों को अपने जीवन में लाते चले जाना है।

विचार-दृष्टि से देखो तो पाप की तरफ प्रवृत्ति कराने वाले कर्म आयु को समाप्त ही करेंगे। अतः 'आयुषे' से एक विचित्र फल श्रुति ने यहाँ बताया है। पहले बताया कि उस आत्म-तत्त्व की प्राप्ति पर अन्न खूब मिलता है, अब बताते हैं कि 'आयुषे' इससे आयु भी बढ़ जाती है। यह सुनकर लोग बड़े खुश हो जाते हैं। विचार करना है कि किस आयु को श्रुति यहाँ कहती है? तुम्हारी दस साल की उम्र १२ या १४ साल हो गई, यह कोई 'आयु' बढ़ना नहीं। आयु बढ़ना तो उसे कहते हैं कि जीवन में तुमने किया क्या, क्या-क्या कार्य तुमने अपने जीवन में किये। यदि सारा जीवन दुष्कर्मों में ही प्रवृत्ति होती रही तो वह जीना निरर्थक है। मान लो, दस मिनट

तुमने कुछ नहीं किया, व्यर्थ ही खोये, तो तुम्हारी दस मिनट की आयु घट ही तो गई। यदि दस मिनट भी तुम आनंद में नहीं रह पाये तो जीवन का प्रयोजन दस मिनट कम हो ही गया। यदि तुमने अपनी नींद या स्वप्न के दस मिनट कम करके अपने को आनंद में स्थित किया तो वह जीना सार्थक हुआ। विचार करो, हम आयु के लिये प्रार्थना करते हैं तो उस आयु से करना क्या चाहते हैं? यह प्रश्न समझना बहुत जरूरी है। जिसके पास आयु का कोई प्रयोजन नहीं है, उसका आयुर्वृद्धि के लिये प्रयत्न करना भी व्यर्थ है। अतः 'आयुषे' में आयु का मतलब है कि आत्मनिष्ठ, परमेश्वर में ही नित्य निरंतर स्थिर रहने वाला, प्रत्येक क्षण को परमात्मा में ही स्थित रखता है। यही असली आयु है। जब ऐसा होता है तब मनुष्य के लिये घंटा-सेकण्ड नहीं रहते, उससे काम नहीं हो पाता। आत्मनिष्ठ के समय का माप ही अलग होता है। तुम्हारा आयु का नाप तो घड़ी के घण्टे नापते हैं। वह कहता है कि यह हिसाब मेरे लिये छोटा पड़ता है। जैसे व्यवहार में किसी को दस करोड़ देना है। किसी ने पंजाब नेशनल बैंक से इतना रुपया माँगा, उस बैंक ने रिज़र्व बैंक से कहा। रिज़र्व बैंक दस करोड़ रुपया देने के लिये १०, २०, २५ बोरे देता चला गया, वह भी पाँच-पाँच पैसे के टुकड़ों में तो पंजाब नेशनल बैंक का मैनेजर कहेगा, 'इस तरह तो हमें पागल बना दोगे। अरे, दस करोड़ के लिये तो पचास-हजार या दस-दस हजार के नोट दो, नहीं तो कम से कम एक-एक हजार के ही दो तो ठीक है। यहाँ तो सौ-सौ के नोटों को गिनना ही समस्या हो जायेगी।' जैसे इसमें पाँच-पाँच पैसों का हिसाब नहीं बैठता, उसी प्रकार आत्म-निष्ठ भी कहता है कि ये घण्टे-मिनट हमारे लिये अतीव छोटे पड़ते हैं। मनुष्य के २४ घण्टे वाले सौ साल तो आत्मनिष्ठ के लिये कुछ भी नहीं।

भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर आत्म-निष्ठ के काल का परिमाण बताते हैं-

'कदा वा कैलासे कनकमणिसौधे सह गणैः
वसन् शम्भोरग्रे स्फुटघटितमूर्धाञ्जलिपुटः।
विभो साम्ब स्वामिन् परमशिव पाहीति निगदन्
विधातृणां कल्पान् क्षणमिव विनेष्यामि सुखतः' (शिवानं. २४)।।

यहाँ 'विधातृणां' शब्द बहुवचन में प्रयोग किया है। हिन्दी में बहुवचन का अर्थ कम से कम दो या अधिक लगाते हो, पर संस्कृत में नियम है कि बहुवचन का अर्थ कम से कम तीन या अधिक होता है। यहाँ 'विधातृणां' और 'कल्पान्'

दोनों शब्दों में बहुवचन का प्रयोग होने से कम से कम नौ तो हुए ही, ज्यादा की गिनती नहीं! ब्रह्मा की आयु का परिमाण भी बता दें: ४३ लाख २० हजार साल की एक चतुर्युगी होती है। ऐसी एक हजार चतुर्युगी बीतने पर ब्रह्मा का एक दिन होता है। ऐसे ३६० दिन होने पर ब्रह्मा का एक साल, ऐसे सौ साल तक एक ब्रह्मा रहता है। एक ब्रह्मा का काल इतना है। आगे इसे ९ से गुणा करो तो 'विधातृणां कल्पान्' पता लगें। जब तारों की दूरी नापने लगे तो विचार किया कि किस मापदण्ड से नापें, गज-फुट में तो नहीं नाप सकते ! जिस रोशनी की गति १ लाख ८६ हजार मील प्रति सेकिंड है, वह एक साल में जितनी दूरी नापे उतनी का नाम अंग्रेजों ने 'वन लाइट इयर' रखा। इस गति से भी कई नक्षत्रों की दूरी को तय करने के लिये दो करोड़ अस्सी लाख वर्ष तक लग जाते हैं! वैसे ही दस करोड़ के भुगतान के लिये ५०-५० हजार के नोटों से कम में सतोष नहीं होगा। इसी लिये ब्रह्मनिष्ठ का समय भी विधाता के कल्पों के पैमाने से बताया कि 'क्षणमिव', यहाँ एकवचन का प्रयोग किया। ब्रह्मा के अनेक कल्प बीतें तो उसके एक क्षण के समान है! 'विनेष्यामि सुखत:' ब्रह्मनिष्ठ के अनेक कल्प भी सुखपूर्वक, आनंद में ही बीतते हैं तभी वह काल एक क्षण से भी कम लगेगा। अत: तुम्हारे छोटे-छोटे कालखण्ड के हिसाब से तो उसका काम बनता ही नहीं। इसीलिये ब्रह्मनिष्ठ किसी से बोलता भी नहीं, आनंदमग्न रहता है।

इतना थोड़ा समय वह कहाँ बिताता है। दिल्ली की उड़ती धूल में नहीं बल्कि जहाँ धूल और गर्मी का नाम-निशान नहीं उस स्फटिक-मणिवत् कैलास में। वहाँ नक्षत्रों का प्रकाश भी इतना दिव्य है कि अमावस्या की रात में भी रास्ता साफ दीखता है, चारों तरफ स्फटिकवत् पर्वत-शृंखलायें हैं, उस कैलास पर्वत में जहाँ ऐसे दिव्य नक्षत्रों का प्रकाश फैलता है, वह अपने क्षण को बिताता है।

वहाँ रहने के लिये बहुत बड़ा एक सौध (मकान) बनायेंगे। यह मकान कैसा बनेगा? शास्त्रों ने कहा है कि सोना तो मिट्टी है। दु:खवादी लोग इसका एक अर्थ लगाते हैं, इसलिये एक तोले से भी घबराते हैं कि आखिर मिट्टी ही है। सोना मिट्टी है तो ब्रह्मनिष्ठ सोचता है कि केवल सोने का मकान बनायेंगे तो मिट्टी का ही बनेगा। शास्त्रों में मणि को पत्थर कहा है, इसलिये उस मकान को सोने से चिन कर उस पर हीरों की पालिश करे, हीरों को चूर-चूर कर उसी की सफेदी लगाये! ऐसे

सोने और मणियों से मकान बनकर तैयार हो, तुम्हें अगर ऐसी कोठी दे दें पर साथ कोई न रहे तो वह कारागार ही मानी जायेगी जिसमें आनंद नहीं। इसलिये ब्रह्मनिष्ठ कहता है कि वहाँ अकेले नहीं बल्कि 'सह गणैः' भगवान् शंकर के गणों के साथ रहकर आनंद लूँगा।

कबीर दास के जीवन की घटना आती है कि जब वे मरने लगे तो उनकी आँखों में पानी आ गया। उनके शिष्य यह देखकर घबराये कि लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे कि मरते समय इतने बड़े महात्मा के नेत्रों से भी अश्रु! उनकी तो श्रद्धा ही चली जायेगी। इसीलिये कहते हैं कि जीवन् मुक्त के बाह्याचरण को देखोगे तो भ्रम में ही पड़ोगे क्योंकि तुम्हारा हिसाब वहाँ लगता ही नहीं। कबीर निष्ठा वाले महापुरुष थे। शिष्यों ने पूछा 'महाराज! रोना क्यों?' कबीरदास कहने लगे-'अरे, मैं मरने से डरकर थोड़ा ही रो रहा हूँ, मैं तो वह हूँ जिसने 'दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीन्हि चदरिया;' मैंने तो इतनी झीनी चदरिया बड़े यत्न से ओढ़ी थी कि कभी उसपर दाग ही नहीं लगने दिया। मुझे अपने सारे व्यवहारों में से, झीनी अविद्या में से भी स्पष्ट ब्रह्मभान होता था। आज जब समय हो गया तो मैनें ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया, मुझे इसका दुःख ही नहीं। रो तो मैं इसलिये रहा हूँ कि विदेह-कैवल्य में स्थित होने के बाद वह आनंद नहीं रहेगा जो अब आपस में बात करने में है, सत्संग करने का आनंद भी तब नहीं रहेगा, बाँटकर खाने का आनंद मुझे नहीं मिल पायेगा।' बाँटकर खाने का भी एक आनंद होता है। कभी अपने प्रिय दोस्तों में बाँट कर खाओ तो आनंद कुछ और होता है।

ऐसे ही वह ब्रह्मनिष्ठ भी कहता है- मैं आपके भक्तों के साथ बैठकर आनंद लूँगा। खाली भक्तों के साथ बैठकर ही प्यास बुझेगी, ऐसा नहीं बल्कि जहाँ 'वसन् शम्भोः अग्रे' भगवान् शंकर (शम्भु) बड़े आनंद से बैठे हैं, उनके सामने बैठकर पूर्ण आनंद लूँगा। मान लो बढ़िया मकान हो, प्रिय दोस्त भी हों, सब सामग्री हो लेकिन जो अपने सारे प्रेम का आश्रय है, केवल वह न हो तो क्या मज़ा आयेगा? खाली दोस्तों से ही कितना-सा मज़ा आयेगा, अपने सारे प्रेम का आश्रय भी पास हो तभी पूरा मज़ा आयेगा। यह अनुभव सभी को होगा। घरवाली दूर गयी हुई है। दीवाली का दिन आ गया, वह मौजूद नहीं है। तुमने बढ़िया से बढ़िया मिठाइयाँ बनवायी, सारे रिश्तेदार भी आये, दोस्तों को भी बुलाया, व्यवहार के नाते खिला रहे हो और खा भी रहे हो लेकिन मनीराम कह रहा है कि 'गुलाबजामुन तो बहुत बढ़िया बना है

लेकिन वह है नहीं' ऐसे ही यहाँ भी चाहे जितना बढ़िया मकान हो, प्रिय साथी हों लेकिन अपना प्रेमी ही नहीं तो क्या आनंद आयेगा!

बैठने का तरीका भी बताते हैं कि उनके सामने कैसे बैठेंगे? परमेश्वर से आनंद लेने का भी तरीका है। 'मूर्धांजलिपुटः' मैं उनके सामने बैठूँगा तो मेरे दोनों हाथ जुड़कर मूर्द्धा पर होंगे। स्फुट-घटित, अच्छी प्रकार ऐसे नमस्कार करूँगा। नमस्कार करने के भी कई तरीके होते हैं। किसी में तो अंगुलियों के केवल अग्र-भाग ही मिल पाते हैं, किसी में केवल अंगुलियाँ ही जुड़ती हैं। लेकिन ब्रह्मनिष्ठ कहता है कि उनके सामने बैठकर स्पष्टरूप से मेरी अंजलि बँधी होगी और इसी प्रकार बनी रहेगी। मुँह से क्या निकलेगा? सबसे पहला विशेषण दिया 'विभो!' हे विभु, हे सर्वव्यापक अर्थात् सबसे पहले मुझे परमेश्वर के इस सर्वव्यापक रूप का ही भान होगा। जब इस प्रकार व्यापक स्वरूप का ज्ञान होने लगता है कि शक्ति और शक्तिमान् में भेद नहीं, उस समय ही 'विभो साम्ब' रूप का भान होता है। परमात्मा की दो शक्तियाँ (प्रकृति) हैं-१) परा प्रकृति को जीव कहा है। और-२) अपरा प्रकृति जगत् को कहा है। गीता में भगवान् ने परा और अपरा प्रकृतियों को भिन्न-भिन्न गिनाया है। अपरा प्रकृति का लक्षण 'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।' जड-जगत् में अहंकार भी पड़ा है। अहंकारात्मिका वृत्ति भी अपराके अदंर ही है। जीव को परा-प्रकृति में गिनाते हुए कहा 'जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।' विद्वान् को अनुभव होता है कि मैं ही वह परमात्म-तत्त्व हूँ साम्ब हूँ, जगत् का कण-कण और क्षण-क्षण एक मैं आत्म-तत्त्व ही हूँ। वह चेतन-तत्त्व ही सारे जगत् के कण-कण का मालिक है। इसलिये दूसरा विशेषण दिया 'स्वामिन्' आप ही सारे जगत् के मालिक हैं। तुम एक मकान के पट्टे को लेकर घूमते हो, वास्तव में वह मकान तुम्हारा नहीं। जैसे ही सरकार का नोटिस आया कि उसी दिन मकान अधिगृहीत हो गया, तुमसे सरकार ने ले लिया। फिर चाहे हाथ-पैर जोड़ने पड़ें, किसी को ५०० या १००० खिलाना पड़े, तो खिला दोगे। इसलिये मकान तुम्हारा न होकर सरकार का ही है, यदि तुम्हारा होता तो सरकार अधिग्रहण न करती, तुम्हारी मल्कियत तो नाममात्र की है। उस समय तुम चार लठैत भी खड़े करके काम नहीं चला सकते, बल्कि हाथ जोड़कर चले जाओगे।

इसी प्रकार जगत् के कण-कण और अणु-अणु पर एकमात्र चेतन-तत्त्व का ही अधिकार है, तुम्हें तो केवल काम-चलाऊ अधिकार मिला है। यह समझो तब पता लगता है कि वह स्वामी ही परम-कल्याणकारी है और निरंतर कल्याणमयी दृष्टि रखता है। अत: पहले तो उसमें व्यापकता का भान, फिर जगत् के अधिष्ठातृत्व का पता लगता है कि वही सारे जगत् का स्वामी है फिर भक्त कहता है कि आप ही मेरा पालन कर सकते हो। अंत में तीनों का ही अभेद होकर परम-शिव, एक आत्म-तत्त्व का ही साक्षात्कार होता है। अष्टावक्र गीता का पहला ही श्लोक है- 'ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना'। तुम सोचते हो कि धन हो गया, पुत्र हो गया, यह भगवान् की कृपा है। यह नहीं सोचते कि यह तुम्हारे पुण्य-कर्मों का ही प्रभाव है जो सांसारिक पदार्थ तुम्हें मिले हैं। वास्तव में तो अद्वैत-वासना हो जाना, नित्य-निरंतर जो अपना इष्ट है, परमात्म-तत्त्व है, उसमें निरंतर रहना ही परमेश्वर की कृपा का फल है जो किसी पुण्य से प्राप्त नहीं होता।

अद्वैतज्ञान प्राप्त करने तक तो तुम्हारा अधिकार है लेकिन स्वत: वासना नहीं बन पाती, बार-बार फिसल जाती है। जब परमात्मा की कृपा हो जाये, तब छोड़ना भी चाहो तो नहीं छूटती। एक बार यों शुद्ध-तत्त्व में स्थित हो गये तो कहोगे कि ऐसा नशा चढ़ा है कि छूटता ही नहीं। फिर अनंतता में काल अकाल हो जाता है, समय का चलना भी रुक जाता है। साधारण जगत् में भी यह नियम देखने में आता है कि सुखप्राप्ति में समय बीतते देर नहीं लगती। प्रिय के साथ बैठकर घंटों बीत जाते हैं कि किसी चीज़ की याद ही नहीं आती। यदि कोई सिर दुखाने वाला आ जाये तो हर तीन मिनट में घड़ी देखते हो और जब देखा कि जल्दी टलने वाला नहीं तो कहते हो 'साढ़े आठ बज गये लाला जी, आज तो दुकान ज़रा जल्दी खोलनी है।' रोज चाहे दस ही बजे खोलते हो। उस समय सोचते हो कि इससे तो किसी तरह छूटें, चाहे दुकान में जाकर सो ही जायें! सुख का समय जल्दी बीत जाता है। जब आनंदघन में लीन हो गये तो क्या संभव है कि समय बीतता पता लगेगा! विचार करो, कैलास का अर्थ क्या है? 'क' नाम सुख का है। वेद में शतपथ ब्राह्मण में भी कहा है 'ॐ कं ब्रह्म, ॐ खं ब्रह्म'।

कं का मतलब सुख होता है। के-लास ब्रह्म के लिये जो लास्य है, आनन्द है, वही केलास है। जब सारी इच्छायें हटकर केवल सुख-केन्द्र पर ही एकाग्र हो गई,

उस समय कैलास में ही हो। जैसे, जब पहले-पहल किसी व्यक्ति से मिलते हो तब पहनने के कपड़े कैसे हैं, सिर और आँखें कैसी हैं, भिन्न-भिन्न अंग-प्रत्यंग नजर आते हैं। थोड़े दिनों में जब अच्छा परिचय हो गया तब केवल व्यक्ति का ही भान रह जाता है। तब व्यक्ति को याद करते हैं तो उनकी नाक कान आदि का ध्यान नहीं आता बल्कि वह व्यक्ति ही याद आता है। इसी प्रकार अंतःकरण एकाग्र हो जाता है तब परमात्मतत्त्व का ही भान होता है। आत्म-तत्त्व के लिये ही यह सृष्टि लास्य है।

उस कैलास में बैठोगे तो कनक-मणि का महल बनाओगे। यहाँ कनक के दो अर्थ हैं। संस्कृत में कनक का एक अर्थ धतूरा भी होता है जो एक नशे की चीज है। उसी प्रकार परमात्मा का भी एक नशा है, वही ईटें हैं जिनसे मकान बनेगा। परमेश्वर का नशा लाना ही पड़ेगा। नशे में तो व्यक्ति दुनिया भी भूल जाता है। आजकल का नशा न समझना! लोग हम से आकर पूछते हैं कि कभी एक 'पैग' पी भी लें तो क्या हर्जा है! उन्हें तो हम साधारण रूप से कह देते हैं कि एक भी पीने में पाप है। यदि कोई प्रेमी हो तो सच्ची बात कह देते हैं कि पीना ही है ता दो-चार बोतल पियो, एक पैग से क्या होने वाला है! नहीं तो मत पियो। ऐसे ही परमात्म-ज्ञान में भी मग्न होते हो तो डटकर हो या मत हो। यह नहीं हो सकता कि थोड़ा परमात्मा का आनंद भी ले लें, थोड़ा दुनिया को भी देख लें। अगर एक बार डट गये उस आनन्द में तो लीन हो जाओ, अन्यथा उसमें घुसो ही नहीं। यही बात भगवान् भाष्यकार कह रहे हैं कि ऐसे घुसो कि कनक-मणि की तरह हो जाओ।

मणि-का अर्थ होता है प्रकाशमान। यह नशा ऐसा होता है जिसमें परमात्म-ज्ञान का आनंद स्फुट होता है। शास्त्र कहता है मद्य मत पिये। लोक का नशा ऐसा होता है कि होश-हवास गुम कर देता है, मूर्च्छा की स्थिति हो जाती है। लेकिन वेद का नशा उल्टा होश-हवास को तेज़ करता है। इसमें नशा तो है लेकिन मूर्च्छा नहीं, अपने आप को भूलते नहीं, बल्कि जो आधा छूटा था, वह पूर्ण हो जाता है। अधूरी चीज है कि स्वयं को ज्ञाता ही मानते रहे थे और अब ज्ञाता-ज्ञेय सर्वत्र अपने को ही देखते हो, यही पूर्णता है। ऐसी पूर्णता आने पर संसार की क्षणिक चीज़ों से सर्वथा निवृत्ति हो जाती है।

भगवान् भाष्यकार के जीवन की एक घटना आती है। उनके समकालीन तंत्र-शास्त्र-ज्ञाता अभिनवगुप्त नाम के एक बड़े विद्वान् थे किन्तु थे द्वैतमार्गी ही और

हमेशा तंत्र-मंत्र के ही प्रयोग में लगे रहते थे। भगवान् शंकर दिग्विजय करते हुए कामरूप (आजकल असम) देश में पहुँचे। अभिनवगुप्त से शास्त्रार्थ हुआ जिसमें अभिनवगुप्त हार गये। अद्वैत की विजय हुई। भाष्यकार तो वहाँ से वापिस आ गये लेकिन अभिनवगुप्त उस हार को पी नहीं पाये। द्वैतवादी तो थे ही; द्वैतवादी के राग-द्वेष कभी मिट नहीं सकते, चाहे कितना ही विद्वान् हो। यह तो नियम है कि जहाँ दो होंगे, वहाँ राग-द्वेष होगा। शास्त्र में भी कहा है- 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' यह सब कुछ वासुदेव ही है - यह जानकार बड़ा दुर्लभ है। अभिनवगुप्त ने आचार्य को मारने के लिये अपना तांत्रिक प्रयोग किया। सिद्ध तो थे ही, प्रयोग सफल हो गया जिसके फलस्वरूप आचार्य शंकर को भगन्दर रोग हो गया। इतना भयंकर हुआ कि सारे वस्त्र खून से भर जाते थे। अपने ही 'गिरि' सम्प्रदाय के उनके शिष्य थे 'तोटकाचार्य', तोटक छंद में रचना करने के कारण उनका यह नाम पड़ गया था, वस्तुतः उनका नाम था आचार्य आनंदगिरि। उन्होंने आचार्य की बड़ी सेवा की, उनके खून से सने कपड़े धोना, टट्टी-पेशाब साफ करना आदि जितने भी घृणित कार्य थे, वे सब करते थे किन्तु कभी भी उनमें घृणा का उदय नहीं कि मैं क्या कर रहा हूँ। थोड़ा समय बीत गया लेकिन रोग ठीक नहीं हुआ। भगवान् भाष्यकार ने कुछ कहा नहीं। वे सर्वज्ञ थे, जानते थे कि किसका प्रयोग है। उनके शिष्य भी एक से एक बढ़कर विद्वान् थे। भाष्यकार ने सोचा कि अगर इन्हें पता चल गया तो कुछ अंड-बंड कर डालेंगे, इसलिये उन्हें तो विश्वास दिलाते रहे कि कोई बात नहीं, सब ठीक हो जायेगा। जब कई दिन तक रोग ठीक होने में नहीं आया तो सारे शिष्य जाकर प्रार्थना करने लगे।

'ममत्वहानाद् भवता शरीरके न गण्यते व्याधिकृतार्तिरीदृशी।
पश्यन्त एवाऽन्तिकवर्तिनो वयं भृशातुराः स्मः सहसा व्यथासहाः।।'

हे नाथ, आपने तो शरीर की ममता छोड़ रखी है, 'यह मेरा शरीर है' ऐसा आपको भान नहीं। यह है पूर्ण आत्मनिष्ठा। अतः इस प्रकार के दुःख को आप कुछ गिनते ही नहीं। लेकिन हम तो हमेशा पास रहते हैं, हमसे यह नहीं देखा जाता। हम नहीं देख सकते, देखकर बार-बार आतुर हो जाते हैं कि आप इस अतिदुःख को कैसे सहन करते हैं! भाष्यकार ने कहा, 'यह तो शरीर है, ऐसा होता ही है।' शिष्य कहने लगे कि शास्त्र में निषेध किया है कि गुरु की पीडा की शिष्य उपेक्षा मत करे-

'उपेक्षमाणेऽपि गुरावनास्थया शरीरकादौ सुखमात्मनीश्वरैः।
नोपेक्षणीयं गुरुदुःखदृश्वभिर्दुःखं विनेयैरिति शास्त्रनिश्चयः।।'

शंका हो सकती है कि गुरु में यह अनास्था कैसे? कहते हैं, गुरु तो संकल्पमात्र से दुःख-निवारण में समर्थ है, लेकिन सारे सुख का केन्द्र आत्मा ही है यह अनुभव रहते उसे दुःख प्रतीत ही नहीं होता कि तदर्थ कोई प्रवृत्ति-निवृत्ति हो। जैसे मुँह में एक बड़ा राजभोग रखा हो और सुई को पानी में भिगोकर, उसे नमक पर रखकर, उतना नमक जीभ पर रखो तो भी उस राजभोग में नमक का स्वाद नहीं आता, इसी प्रकार, अपना मैं आनंद-भरा हो तो बाहर के शरीर के दर्द का तो पता ही नहीं लगता। यदि आनंदकेन्द्र दूर लगे तो ही पता लगता है। इसलिये आचार्य इस तरफ ध्यान ही नहीं देते रहे। लेकिन शास्त्र में यह भी लिखा है कि गुरुदुःख को देखने वाले जो दूसरे शिष्य (विनेय) हैं, वे उस दुःख की उपेक्षा न करें। इसलिये भगवान् पद्मपाद कहने लगे कि हम कुछ करेंगे। कमल का फूल सूखने-न सूखने के प्रति निरपेक्ष है, उसका तो कोई आग्रह नहीं, लेकिन फूल के सूखने-न सूखने में भौंरों का आग्रह तो है! यदि कमल सूख गये तो भौंरा क्या करेगा? इसी प्रकार, आपको अपने शरीर के लिये उपेक्षा हो तो हो लेकिन हम तो भ्रमर हैं, आपके मुख से सदैव रसामृत का पान करके तृप्त होते हैं। आपके तो सम्पर्क-मात्र से ही हम कृतार्थ होते हैं।

भाष्यकार जानते ही थे कि अगर शिष्यों को पता चल गया तो काम गड़बड़ हो जायेगा। अतः भाष्यकार कहते हैं

'व्याधिर्हि जन्मान्तरपापपाको भोगेन तस्मात् क्षपणीय एषः।
अभुज्यमानः पुरुषं न मुञ्चेज्जन्मान्तरेऽपीति हि शास्त्रवादः।।'

रोग तो पूर्व-जन्म के पाप के फलस्वरूप होते हैं, इसलिये भोगने ही पड़ते हैं। इसे भोगते हुए ही शरीर छूट जाये तो अवश्य गिरे, मुझे क्या फर्क पड़ने वाला है! जो अंनत शरीरों में अपने को देख रहा है, वह एक शरीर को मरता देखकर क्या दुःख करेगा? हमारे शरीर में एक-एक कोषा जीवित है, उन्हें बाहर भी रख दो तो जीवित बनी रहती हैं। जो अखंड शरीरों का मालिक है, यदि एक-दो शरीर चले गये तो उसे क्या फ़र्क पड़ने वाला है? अनंत कोटि ब्रह्माण्डों में उद्भासित हो रहा है अतः एक शरीर गिरने से कोई अन्तर नहीं आ जायेगा। चूंकि आचार्य का पद्मपाद

पर विशेष स्नेह था, इसलिये दूसरे शिष्यों ने उन्हें आगे किया। वे भाष्यकार के प्रथम शिष्य भी थे, उनपर सहज प्रेम भी था। जैसे पत्नी को कोई बात कहनी हो तो छोटी बच्ची को ही आगे कर देती है, बच्चों से पिता का बड़ा प्रेम है, इसलिये ढीले पड़ जाते हैं। पिता को पता भी लग जाता है कि यह किसका काम है, लेकिन बच्चों से क्या कहे! बाद में चाहे एकान्त में पत्नी से कह दे लेकिन अभी तो बच्ची द्वारा काम बन गया। ऐसे ही अन्य शिष्यों ने आचार्य पद्मपाद को आगे किया कि आप ही कुछ बोलो। वे कहने लगे- 'भगवन्, देखिये, ऐसे बात नहीं बनेगी। शरीर नहीं तो कोई बात नहीं लेकिन शास्त्राज्ञा की तरफ तो दृष्टि कीजिये।'

'स्वयं कृतार्थाः परतुष्टिहेतोः कुर्वन्ति सन्तो निजदेहरक्षाम्।
तस्माच्छरीरं परिरक्षणीयं त्वयाऽपि लोकस्य हिताय विद्वन्।।'

'आपने तो अपना मतलब सिद्ध कर लिया, आप ब्रह्मनिष्ठ हैं, परम तुष्टि आपको प्राप्त है, आपने अपने सारे प्रयोजन पूरे कर लिये। आप फिर भी सत्पुरुष हैं जो कि अपना काम बनने के बाद भी दूसरों के लिये कुछ बचा रखते हैं। जैसे हमने नदी पार करनी है, एक नाव बनाई, पार कर गये। जो अविचारशील होगा वह तो पार जाकर नाव को जला देगा और उसकी लकड़ी से अपना काम चलायेगा। लेकिन सत्पुरुष नाव को घाट पर ही रख देगा कि मेरी जरूरत तो पूरी हो गई, घाट पर नावों की कमी है, आने-जाने वालों के काम आयेगी। सत्पुरुष ही यह सोचता है कि प्रयोजन सिद्ध होने पर भी चीज़ को बरबाद नहीं करना चाहिये। सत्पुरुष तो देह को मैं नहीं समझते लेकिन लोगों के कल्याण के लिये शरीर रहना बहुत ज़रूरी है। तभी उस शरीर से सबका कल्याण होगा। इसलिये हमारी आवश्यकता समझकर इस पर ध्यान दीजिये क्योंकि लोक-हित की तरफ दृष्टि जरूरी है।'

विचारशील स्नेह और युक्ति को कभी नहीं टाल सकते। युक्ति बुद्धिगम्य होने से बुद्धि का बाध नहीं करती। स्नेह हृदयगम्य होने से हृदय को बाँध लेता है। बात यदि युक्ति-विरुद्ध भी हो तो स्नेह से व्यक्ति बँध जाता है। यदि शत्रु भी युक्ति की बात करे तो बुद्धिमान् अवश्य मानेगा। प्रेमी की बात यदि युक्तिविरुद्ध भी है तो माननी पड़ती है। एक में हृदय की प्रधानता है, दूसरे में बुद्धि की। प्रेमी यदि युक्ति से कहे तो हाथ-पैर ठंडे पड़ जाते हैं! यहाँ तो प्रेमी शिष्य जो स्नहे का पात्र है वही युक्ति से कह रहा है। भगवान् भाष्यकार ने अपनी स्वीकृति दे दी। वैद्य बुलाये गये।

अनेक प्रकार के इलाज हुए पर फायदा न हुआ तो न ही हुआ। फायदा होना ही नहीं था। भाष्यकार ने वैद्यों से भी कहा 'आप लोग अपने-अपने घर जाओ।' वैद्यों की जाने की इच्छा तो नहीं थी लेकिन रोग ठीक न होने से मन कुछ संकुचित हो रहा था, इस नाते चले गये। रोग बढ़ता चला गया। आचार्य पद्मपाद और वैद्यों की युक्ति से भी काम नहीं हुआ। ब्रह्मनिष्ठ की इच्छा का विरोध करने का साहस देवताओं में भी नहीं, उनकी इच्छा का विरोध तो केवल परमात्म देव सर्व-नियामक ही कर सकते हैं लेकिन वे भी किसी न किसी निमित्त को ही देखते हैं। इधर अभिनवगुप्त भी भगवान् का भक्त था। एक बार भाष्यकार को पीडा इतनी ज़्यादा हुई कि एक क्षण को उन्हें उसका भान हुआ 'प्रबले सति हा भगन्दराख्ये स्मरति स्म स्मरशासनं मुनीन्द्रः' उस तीव्र पीडा में उनके मुख से निकल गया-'महादेव!' जैसे ही मुनींद्र, यतिकुल-चूडामणि भगवान् शंकर के मुँह से नाम निकला, भगवान् शंकर ने अश्विनी कुमारों से कहा- 'अब मौका मिल गया, केवल निमित्त देखना था, इन्हें स्मरण हो गया। इसलिये तुम लोग जाओ और उन्हें ठीक करने का उपाय करो।' अश्विनी कुमार ब्राह्मणरूप लेकर आये, स्वयं देवताओं के वैद्यों ने आकर भाष्यकार से कहा कि अकेले में आपके शिष्यों से बात करनी है। भाष्यकार कहने लगे, 'शिष्यों से क्यों, जो बात करनी है मुझसे करो।' अश्विनी कुमारों ने कहा, 'कई रोग ऐसे होते हैं जो रोगी को नहीं बताये जाते, नहीं तो वह घबरा जाता है।' उन्होंने अकेले में आचार्य पद्मपाद से कहा 'आप इस मंत्र का जप करो, ये ठीक हो जायेंगे।'

दूसरे दिन भाष्यकार ने शिष्यों से पूछा-'वे वैद्य आये थे, कोई दवाई नहीं दी क्या?' उन्हें पद्मपाद नज़र नहीं आये तो पूछने लगे कि 'वह कहाँ गया?' उनकी भावना यह थी कि अभिनवगुप्त को तो अपने शरीर से प्रेम है, वह क्यों जाये। जब पद्मपाद वापिस आये तो उन्होंने पूछा 'कोई प्रयोग तो नहीं किया?' कहने लगे-'आप ही ने तो कहा था कि देवाज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। वे अश्विनी कुमार ही थे।' पद्मपाद ने गुरु के अतिरिक्त दूसरे के द्वारा दिये मंत्र का भी जप गुरु के रोगनिवारण के लिये किया। एक दिन जप तो हो गया। भगवान् भाष्यकार कहने लगे, 'यह तू क्या कर रहा है! जिसे शरीर में अभिमान है, उसे तो कष्ट नहीं देना चाहिये। और हम लोग तो संन्यासी हैं जिनका परम धर्म है-'न

करिष्ये प्राणिपीडाम्।' मुझे तो दुःख का कुछ भी भान नहीं।' भाष्यकार तो दुश्मन पर भी अनुकम्पा करने वाले थे लेकिन आचार्य पद्मपाद काफी मना करने पर भी नहीं माने। रोग ठीक हो गया।

यह स्थिति है जब सुख-समुद्र में होते हैं। फिर अपने शरीर और अंतःकरण की तरफ दृष्टि नहीं रहती। यह ठीक है कि महापुरुषों के अंतःकरण को दुःख देने वाले को परमेश्वर कभी क्षमा नहीं करते किन्तु महापुरुष अपनी तरफ से उनका कभी अहित नहीं सोचते। कहा भी है-'मतिपूर्वकृतो महानुभावेष्वनयः कस्य भवेत् सुखोपलब्ध्यै' (शं.दि.१६.३२) महान् के प्रति जो जान-बूझकर अविनय से कार्य करता है वह कैसे सुखी हो सकता है! महान् पुरुष अंत तक चाहते हैं कि किसी को दुःख न हो किन्तु परमेश्वर ऐसे अविनयी को कभी क्षमा नहीं करते। ऐसा महापुरुष फिर विधाता के कल्पों को भी क्षणवत् बिताता है। यह स्थिति होगी जब शरीर की मृत्यु को मृत्यु मानना छोड़ देते हो। तभी 'आयुषे' अतिदीर्घ काल की आयु प्राप्त होती है। तब नित्य परमात्म-स्वरूप में आनंद-लहरी उठेगी, फिर हर लहरी में आनदं स्फुट होता चला जायेगा। तब केवल एक शरीर की नित्यता-अनित्यता का विचार ही नहीं होगा।

प्रवचन-६३

सिंहावलोकन

९-९-६८

पूर्व कही हुई बातों का सिंहावलोकन करना आवश्यक होता है। जो यात्रा कर आये हैं, उसे एक बार दोहरा लें जिससे सारी बातों का स्मरण हो जाये। सर्वप्रथम, यहाँ जिस तत्त्व का प्रतिपादन किया जा रहा है, वह सोमयाग है। सामवेद से पूर्व यजुर्वेद का अंतिम खण्ड अश्वमेध याग में समाप्त होता है। सामवेद के कर्मकाण्ड का प्रथम खण्ड सोमयाग से आरंभ होता है। यजुर्वेद में अश्वमेध-पर्यन्त अपनी सारी इन्द्रियों और अंतःकरण को शुद्ध करने के कार्यों का प्रतिपादन हुआ जिससे हमारा शरीर, इंद्रियाँ और मन सब शुद्ध हो जावें। उस परब्रह्म परमात्मा के ललिता-स्वरूप का भान शुद्धान्तःकरण में ही संभव है। अंतःकरण में जब तक अशुद्धि है, तब तक ब्रह्मविद्या अंदर आकर बैठने वाली नहीं। जैसे किसी महापुरुष को घर में बुलाते हो तो सर्वप्रथम कमरे की सफाई, धुलाई, पुताई करते हो, यहाँ तक कि अपने पास यदि पूरे तंत्र (फर्नीचर) न हों तो अड़ोसी-पड़ोसी से भी माँगकर लाते हो, उनके लिये बढ़िया भद्रासन (सोफा) बिछाते हो। केवल महापुरुष ही नहीं, यदि एक सामान्य पुरुष, उपराज्यपाल (लेफ्टिनेण्ट गवर्नर) को भी निमंत्रण देते हो तो कमरे की खूब सफाई-सजावट करते हो! ऐसा तो नहीं कि कमरे में धूल भरी हो, कहीं बीड़ी के टुकड़े तो कहीं कपड़ों के चीथड़े पड़े हों, फर्श पर आधी फटी दरी ही बिछी हो, ऊपर जाले झूल रहे हों। उस समय यह नहीं सोचते कि हमने तो लेफ्टिनेण्ट गवर्नर को बुलाया है, सफाई की क्या जरूरत है! उनके बैठने के लिये कुर्सी भी ऐसी नहीं रखते जो तीन पैर वाली हो और चौथा हिस्सा दीवार की खिड़की के सहारे लगा हो। विचार करो, एक साधारण व्यक्ति को बुलाने पर भी कमरे की चारों तरफ से सफाई करके बढ़िया भद्रासन लगाकर पूरी तैयारी करते हो। ठीक इसी प्रकार तुम परब्रह्म परमात्मदेव

को अपने अंतःकरण में लाना चाहते हो। ऐसा नहीं कि वह तुम्हारे अंतःकरण में है नहीं और उसे कहीं बाहर से आना है, बल्कि तुम उसे अपने ज्ञान का विषय बनाना चाहते हो जो अब तक नहीं है। परमात्मा तो सर्वव्यापक और हमेशा है।

यदि कोई प्रश्न करे कि परमात्मा हमारे अन्दर है ही, फिर सफाई की जरूरत नहीं और यदि परमात्मा हमारे अन्दर नहीं है तो फिर भी सफाई की क्या जरूरत? तो समझ लेना चाहिये कि परमात्मा सर्वत्र सर्वव्यापक है किन्तु वह तुम्हारे ज्ञान का विषय न होने के कारण तुम उसे अपने अंतःकरण में प्रवेश कराना चाहते हो। जैसे वहाँ कमरे की सफाई केवल इसीलिये तो करते हो कि लेफ्टिनेण्ट गवर्नर देखकर खुश हो जाये, उसी प्रकार यहाँ भी तुम परमात्मदेव को अपने अंतःकरण में बुला रहे हो तो उसे सर्वथा प्रकाशमय बनाना पड़ेगा, वहाँ के जालों को दूर करना है। भक्ति-स्नेहरूप जल से, स्निग्ध परमात्म-प्रेम से अंतःकरण को स्निग्ध बना देना पड़ेगा, भद्रासन भी ऊँचाई पर होगा जिससे बाकी सब नीचे बैठेंगे, परमात्मा के सामने फिर कोई कामना और तज्जन्य विषय नहीं रह जायेंगे। ऐसा नहीं कि उस अंतःकरणरूप भद्रासन पर तीन पहले ही डटे हों! काम-क्रोध-लोभ इन तीन को पहले ही वहाँ बैठा रखा हो और परमात्मा से कहो- 'हे परमात्मन्! आप भी इसी में बैठने की थोड़ी जगह बना लो', यह कभी संभव नहीं। विचार करो, राग-द्वेषरूप जाले ही अंतःकरण में लगे हैं, उन्हें झाड़कर दूर करना है। इसीलिये यजुर्वेद के अश्वमेधान्त-प्रकरण में अंतःकरण की शुद्धि के उपाय बताये गये जिससे फिर वहाँ सोमयाग में परमात्मा आकर बैठ सकें। यह परमात्मा के बैठने योग्य जगह तभी बनेगी जब मनुष्य विचारशील बनेगा। जब तक मनुष्य यह सोचता रहेगा कि संसार के पदार्थों से कुछ मिलेगा, तब तक अंतःकरण शुद्ध होने वाला नहीं। बहुत-से लोग मल की शुद्धि नहीं करते।

एक बार हम किसी डॉक्टर के पास दाँतों पर जमी काई (मैल) साफ कराने के लिये गये। एक वैद्य सज्जन तो कहने लगे कि दाँतों की यह मैल तो अच्छी चीज है, इससे दाँत मजबूत बने रहते हैं। हमने डॉक्टर से पूछा कि वैद्य ने तो इस मैल को दूर करने के लिये मना किया है। डॉक्टर हँसे, कहने लगे, 'आखिर यह मैल ही है, ऐसे तो फिर शरीर को भी साबुन आदि से साफ करने की जरूरत नहीं, कपड़ों को भी साफ करने की जरूरत नहीं क्योंकि कोई न कोई बल तो उन में भी है। जैसे

बाकी मैल शरीर को खराब करते हैं, रोग के कीटाणु लाते हैं, वैसे ही दाँत का मैल भी हानिकारक है।'

ठीक इसी प्रकार जब तक हम अंतःकरण को अच्छी प्रकार शुद्ध नहीं कर देंगे, तब तक वह मैल अंतःकरण को खाता ही रहेगा और कमजोर करता रहेगा। श्रुति स्पष्ट कहती है कि- 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' कमजोरों को आत्म-तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती। उसके लिये बल चाहिये, कमजोर अंतःकरण वाला उसे क्या प्राप्त करेगा! यहाँ बल का अर्थ कुश्ती वाले का बल नहीं कि शायद पहलवानों को ही आत्म-तत्त्व मिलता हो; बल्कि अंतःकरण में होने वाले राग द्वेषादि ही उसकी कमजोरियाँ हैं। जब ये राग-द्वेषादि अंतःकरण में से सर्वथा निकाल दिये जायें तब अंतःकरण सर्वथा पुष्ट हो जाता है। फिर जैसा श्रुति ने कहा वैसे सत्-चिद्-आनन्द में वृत्ति सर्वथा एकाग्र हो जाती है, फिर इधर-उधर जाती ही नहीं। जब कमरा बिलकुल साफ हो गया, भद्रासन तैयार हो गया तो यहीं से परमात्मा को निमंत्रण देते हैं जो इस छंदोग-ब्राह्मण के प्रथम खण्ड के सोम-याग प्रकरण से आरम्भ होता है।

इसके लिये पहले तो निश्चय की जरूरत है कि मुझे सोमयाग करना है। शक्ति-सहित शिव परमात्म-तत्त्व को ही सोम नाम से कहा है। जब तक यह निश्चय नहीं, सोमयाग नहीं कर सकते और यह निश्चय होगा विचार से। आचार्य नीलकण्ठ विचार का स्वरूप बताते हुए कहते हैं-

'न्याय्यादर्थादपि किमधिकं लब्धमुन्मार्गवृत्त्या
वैधाद् अन्नाद् अपि किमधिकं पर्युदस्तेषु भोज्यम्।
भार्याभोगाद् अपि भवति कः पण्यकान्तासु भोगः
प्रायो नेति श्रुतिविषयता विश्वमाधुर्यहेतुः।।'

न्याय से, शास्त्रानुसार धन कमाया जाता है। क्या गलत मार्गों द्वारा उससे अधिक धन मिल जायेगा? अविचार से लगता है कि मिल जायेगा किन्तु विचार से समझ आती है कि कभी नहीं मिलने वाला। अन्याय से कैसे धन नहीं मिलने वाला, इसका भी हिसाब बता देते हैं- अपनी दुकान में साल बाद रोकड़-बाकी निकालते हो तो आमदनी एक तरफ और खर्च दूसरी तरफ, जितने रुपये का माल उस समय दुकान में रहा उसे भी अलग खाते में लिखते हो (क्योंकि वह फायदा नहीं बल्कि 'स्टॉक' है); दुकान का तलपट ऐसे ही मिलाया जाता है। इसी प्रकार जरा अपने

पिता और दादा का तलपट भी मिलाओ। उन्होंने जन्म-भर जितने लाख कमाये, उसे एक तरफ लिखो, जितने लाख का माल पीछे छोड़ गये, उसे भी लिखो, बाकी रुपयों में से माँ का खर्च, लड़कों की पढ़ाई वगैरह का खर्च भी लिखो क्योंकि यह 'स्टाक-रूप' में है। यह सब हिसाब लिखने के बाद निकालो कितने का फायदा वे यहाँ से लेकर गये। करोड़पति की तलपट भी इस हिसाब से मिलाओगे तो आज के महँगाई के युग में दस या पंद्रह रुपये रोज से ज्यादा लेकर नहीं गया होगा। रोज घी भी खायेगा तो आधा सेर से ज्यादा क्या खाता होगा! उसने पचास सूट भी हजार-हजार रुपये के बनवाये जिनमें से पाँच तो आधे फटे और बाकी आज की महँगाई में ८०० रुपये में बिकने के काबिल रह गये। उनकी घड़ी, मकान, बढ़िया गलीचे, सोफे, कुर्सियाँ, एयरकन्डिशनर, रेफ्रिजरेटर, पंखे सब यहीं छोड़ गये; उनमें से कितना बाँधकर ले गये, कितना ज्यादा से ज्यादा भोग कर गये, कितनी रोटी खाई होगी? प्राय: उतना ही साथ ले गये, जितना कि एक गरीब ले गया। गरीब शायद ज्यादा भी ले गया होगा जो मरते दम तक भी चार सूखे टिक्कड़ खाता रहा होगा और सेठों का तो मरने से एक साल पहले ही शायद फुल्का छूट गया हो। तभी अंत में पता लगेगा कि तुम कितना ज्यादा यहाँ से बाँधकर ले जा सकोगे। इसलिये आचार्य नीलकंठ लिखते हैं कि न्याय से कमाये हुए धन से ज्यादा कुछ नहीं ले जाते जो पापाचरण करते हैं।

लोग कहते हैं कि सरकार एक लाख पर साठ हजार का टैक्स तो बहुत ज्यादा लेती है। हम कहते हैं कि वह ७५ प्रतिशत भी ले तो ठीक है क्योंकि उस रुपये को तुमने आगे लड़के को ही तो देकर बिगाड़ना है। पहले हम कहते थे कि बाइस्कोप मत जाया करो और अब तो घर में बाइस्कोप आ गया तो क्या कहें! एक छोटे बच्चे ने हमसे एक बार प्रश्न किया, टेलिविजन को भी देखने में पाप है या नहीं। उस छोटे से बच्चे को हम क्या जवाब दें। वह बेचारा और किसी बुरी जगह जाने से तो बचा था, माता-पिता ने सोचा इसे यहीं घर में फँसाओ, घर में लाकर टेलिविजन रख दिया। आजकल टेलिविजन में ही बाइस्कोप दिखाते रहते हैं।

जब माँ ही बच्चे को जहर खिलाने लगे तो क्या और किससे कहें! जब माता-पिता ही कमर कसकर बच्चे को बिगाड़ने में लगे हैं तो क्या करोगे! हम लोगों से कहते हैं कि यह हाल तो तब है जबकि सरकार टैक्स ले लेती है, यदि लाख का लाख ही तुम्हें बचता होता तो तुमने बच्चों को कहाँ तक पहुँचाया होता, इसका

कोई ठिकाना नहीं। अतः अन्याय से धन ज्यादा मिलने वाला नहीं, केवल पाप की गठरी साथ ले जाते हो।

आगे आचार्य कहते हैं कि जो भोजन करने को शास्त्र ने वैध बताया है, भोज्य बताया है, उससे जो आनन्द मिलता है, क्या जिन पदार्थों का शास्त्र ने निषेध कर रखा है जैसे मांस अंडा आदि, क्या उसे खाने से अधिक आनंद मिल जाता है? यह दृढ निश्चय है कि शास्त्रानुकूल चीज़ें खाने वालों से ज्यादा आनंद उन लोगों में नहीं देखा जाता जो निषिद्ध पदार्थों को खाते हैं। अन्न का यहाँ विस्तृत अर्थ समझना, केवल दाल-रोटी ही अन्न नहीं। जो-जो पदार्थ शास्त्रों में वैध बताये हैं, उनसे अधिक इंद्रियों से कोई भी भोग नहीं मिलेगा। जो आनंद भगवान् के सामगान सुनने से मिलेगा, अश्लील गानों को सुनने से कोई ज्यादा नहीं होगा। भगवान् के श्री-विग्रहों को देखकर जो सुन्दरता का आनंद मिलेगा, वारांगनाओं (नट-नटिनियों) के नाच में कोई ज्यादा सुन्दरता नहीं मिलेगी। इसी प्रकार शास्त्र में जो बढ़िया सुगंधियाँ बताई हैं, उन्हें छोड़कर अन्य सुगन्धियाँ कोई विशेष आनंद नहीं देंगी। ऐसे ही अपनी भार्या के साथ भोग से जो आनंद होता है, उससे अधिक वेश्या से नहीं होने वाला जो केवल पैसे के ही कारण तुमसे प्रेम करती है।

यदि इन सबका जवाब पूछो तो 'नहीं' ही निकलता है। फिर भी, केवल सुन-सुनकर मनुष्य इनमें प्रवृत्ति करता रहता है। कानों से मधुरता को सुनकर ही प्रवृत्ति हो जाती है। बाँचकर भी शब्द से ज्ञान होता है। लिपि शब्द की स्मारकमात्र ही है। किसी ने आकर कहा कि अमुक बाइस्कोप बड़ा अच्छा है। तुम यह सुनकर देखने गये और आकर किसी ने पूछा तो कहा 'कोई खास नहीं है।' फिर चले क्यों गये थे? कहते हो कि लोग कहते थे कि अच्छा खेल है, इसलिये देखने चले गये थे। ऐसे ही गरीब सोचते हैं कि करोड़पति सेठ बड़े सुखी हैं, वे सोचते हैं कि अमरीका वाले बड़े सुखी हैं, उनसे भी पूछो तो कहते हैं कि दुःखी ही हैं। अतः संसार के पदार्थों में जितनी भी मधुरिमा की प्रतीति है, वह केवल सुनी-सुनाई ही है, भोग में नहीं।

जब विचारपूर्वक यह देख लेता है कि पचास रुपये थे तो सुखी था, आज पाँच हजार भी हैं तो उतना सुख नहीं। विचार-शील तुलना करता है कि सुख कितना बढ़ा तो उसे भी निश्चय होता है कि पाँच हजार में ही जब सुख नहीं बढ़ा तो पाँच लाख

में भी बढ़ना असंभव है। जैसे अगर दस दिन कोई दवाई की गोली खाई और फायदा नहीं हुआ, उल्टे रोग बढ़ा तो आगे क्या फायदा होने वाला है! यह दृढ निश्चय होने पर मनुष्य सांसारिक पदार्थों से निवृत्त होकर सोमयाग के द्वारा भगवान् शंकर को प्राप्त करने का अधिकारी बनता है।

प्रथम मंत्र में खाली अपने निश्चय को कहाभर गया है कि मैंने सोमयाग करने का निश्चय कर लिया। इतने मात्र से पुरोहित सोमयाग की स्वीकृति दे देता है। 'ॐ महन्मे वोचः' पुरोहित कहता है, अरे यह तो तुमने बड़ी भारी बात कह दी। 'भर्गो मे वोचः' तुमने तो पापों को भर्जन करने वाली बात कह दी और यश, स्तुति, सारे भोग पूर्ण हो गये - यह सब तुमने कह दिया। तुम सोमयाग के अधिकारी हो गये।' पापों को कैसे 'भर्ग' करते हो? जगत् में शुद्ध, शुद्धाशुद्ध और अशुद्धाध्वा से यश फैलता है, उनकी परिवृद्धि द्वारा स्तोम प्राप्त होता है, वही मेरी भुक्ति बनता है, वही मेरी रक्षा करेगा और उसी में प्रवेश कर जाऊँगा। प्रथम मंत्र में कहा कि वही मुझे एकमात्र बचायेगा, और किसी की सामर्थ्य नहीं।

अंतःकरण में प्रवेश तभी होगा जब उसकी वासना बनेगी। जैसे घट को देखने भर से उसका अंतःकरण में प्रवेश नहीं होता जब तक घट की वासना नहीं बने। दरवाजे पर आकर किसी ने घंटी दी, वहाँ पहुँचे, कोई आया, नमस्ते भी की, जिस काम के लिये वह आया, उन सब बातों का जवाब देकर विदा कर दिया, फिर किवाड़ बंद करके चले गये। इस सब व्यवहार में दस-पंद्रह मिनट का समय लग गया होगा। घरवाली कहती है 'इतनी देर बाहर ही खड़े रहे, उन्हें अंदर ही ले आते' तो कहता है- 'वह आदमी ठीक नहीं था।' कभी किसी अंग्रेज या जापानी के घर जाकर देखो तो ऐसा ही व्यवहार मिलेगा! अंग्रेज के घर में वही प्रवेश पा सकता है जिसे उसने खूब तपाकर देख लिया है कि वह आदमी ठीक है। अंग्रेजी में कहावत भी है कि अंग्रेज अपना घर किले-सा रखता है। चाहे पाँच साल की गहरी दोस्ती हो गई तो भी वह घर में नहीं घुसने देगा। हिन्दुस्तानी की तरह नहीं कि आज परिचय हुआ और कल ही घर में घुसा लेता है। भारत में पहले जब तक सम्बन्ध नहीं होता था, तब तक गृह-प्रवेश नहीं होता था। ब्याह होता है तो तोरण तोड़ा जाता है, तभी वर का वधू के गृह में प्रवेश होता है। यह इसी बात का प्रतीक है कि लड़की का लड़के से सम्बन्ध हो गया, इसलिये अब उसका प्रवेश अधिकृत है। जब इतना स्नेह हो जाये तभी घर में घुसाना ठीक है। साधारण भाषा में कहते थे- 'अब हम इनके

साथ बैठकर कढ़ी-भात खायेंगे।' आज उसी भारत में क्या हो रहा है, सभी जानते हो।

इसी प्रकार जो सोमयाग करने जाता है वह अंतःकरण से घट-पट-मठ-लड़के आदि सांसारिक पदार्थों को देखता है किन्तु वासनाकारी मानकर उन्हें बाहर ही रखता है, अंदर प्रवेश नहीं होने देता। उसके अंतःकरण में तो सिवाय परमात्मा के अन्य किसी की वासना बनने वाली नहीं। नियम है कि जिसकी वासना है वही प्रवृत्ति करायेगा। अतः सारे पदार्थ बाहर छोड़कर ही वह अंदर प्रवेश करता है इसलिये कहता है- केवल वही प्रवेश करे और केवल वही प्रवृत्ति कराये। वह अकेला ही सारे भोग देने में पर्याप्त है। श्रुति स्पष्ट कहती है- 'विज्ञानम् आनंदम् ब्रह्म' उसी एक में पूर्ण आनंद है। उसी एक से पोषण मिलेगा और शरीर की सारी थकावट, सारे रोग दूर होंगे क्योंकि वह निरामय है। उसके आने के बाद शोक, मोह, दुःख, रोग रह ही नहीं सकते। वही आकर मुझे सर्वथा पुष्ट कर देगा।

ऐसे व्यक्ति की आचार-संहिता बताने के लिये दूसरा मंत्र आया 'देवो देवमेतु, सोमः सोममेतु, ऋतस्य पथा' वह स्वरूप में, शुद्ध-चिन्मात्रभाव में स्थित रहकर सोम से भिन्न नहीं समझता। उसका अनुभव होगा-

'शिवः कर्ता शिवो भोक्ता शिवस्सर्वमिदं जगत्।
शिवो यजति यज्ञश्च सोहमस्मि सदाशिवः।।'

शिव ही शिव है। वही सब करने वाला, वही भोग करने वाला। मेरे अंदर सब स्फुरण करने वाला शिव ही है। जब ऐसा दृढ निश्चय हो गया तो तीसरे मंत्र में कहा 'विहाय दौष्कृत्यम्' सारी दुष्कृतियों को छोड़ देता है। उसका संसाराकर्षण नष्ट हो जाता है। संसार का आकर्षण ही सारे दोषों का मूल है- यह भगवान् भाष्यकार का सम्पूर्ण वेदराशि में से मथ कर निकाला हुआ अविष्कार है। जैसे कहते हैं कि आइंस्टाइन ने एटम-बाम्ब बनाया ऐसे ही भगवान् भाष्यकार का यह अविष्कार है कि अज्ञान नहीं तो कामना नहीं, कामना नहीं तो कर्म नहीं। इसलिये अविद्या ही सारे पापों का मूल है-

'किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा।
योन्यथा संतमात्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते।।'

अर्थात् आत्मा का स्वरूप है कुछ और तथा मानता है कुछ अन्य, ऐसे व्यक्ति ने क्या पाप नहीं कर लिया! जैसे, हो तो माँ और मानों उसे सौतेली या कुछ और

तो पाप ही है। इसी प्रकार अज्ञान हो गया तो सारे पाप हो ही गये। जब यह अज्ञान छूटेगा तो पाप संभव ही नहीं। संसार को भिन्न मानोगे तभी इस की आशा से पाप करोगे। जबकि- 'संसारोऽस्ति न वस्तुतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्त्ता तु का' जिसका यह निश्चित अनुभव है कि संसार है ही नहीं बल्कि 'शिवः सर्वमिदं जगत्', उसके लिये बंधन है ही नहीं। संसार हो तो बंधन हो। बंधन क्या है? मेरा पुत्र, मेरा मकान, मेरा शरीर, इन्हीं सबके पीछे भागना अपना सम्बन्ध मानकर, यह सब बंधन ही है। उस सर्वव्यापक परमात्म-तत्त्व को क्या छोटी-छोटी चीजों में बाँध रहे हो! उसे ब्रह्मा बनाना भी बंधन है। अनंत कोटि ब्रह्माण्डनायक एक ब्रह्माण्ड का नायक बने यह बंधन ही है। ब्रह्माण्ड में चौदह लोक, उनमें एक लोक भूः, वहाँ सात द्वीप, उसमें एक खण्ड जिसका नाम भारत, उस भारत में भी एक छोटा-सा नगर दिल्ली, एक बिन्दु के समान, उस दिल्ली में भी एक मकान जो एक बिन्दु भी नहीं बैठता, उस पर कहते हो 'मेरा मकान' अनंतकोटि-ब्रह्माण्ड-नायक होकर एक मकान के मालिक बन रहे हो, शर्म से चुल्लूभर पानी में डूब मरने की बात है। इसी का नाम है बंधन।

जब स्वरूप का ज्ञान होता है, समझ आती है कि बंधन है ही नहीं तो मोक्ष कहाँ से होगा! केवल छाया को देखकर ही भूत समझकर डरे जा रहे हो कि न जाने क्या हो जाये। लोग कहते हैं- एटम बाम्ब, कोबाल्ट बाम्ब, हाइड्रोजन बाम्ब बन गये, चीन ने मार दिया तो क्या होगा। एक भारत तो क्या, सारे ब्रह्माण्ड भी उड़ जायें तो क्या होने वाला है! हम तो अनंत कोटि ब्रह्माण्डों के नायक हैं, हमारा कोई क्या बिगाड़ सकता है? जब ऐसा दृढ निश्चय होगा तब 'ऋतस्य पथा विहाय दौष्कृत्यम्' वह व्यक्ति ऋत-मार्ग पर चलता है और उसका दुष्कृतियों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यह वैसा निश्चय नहीं कि एक क्षण आत्मदृष्टि बनी और दूसरे ही क्षण शरीर की फुंसी में मन चला गया। ऋत मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति तो 'मा किंचित् त्यज मा गृहाण विहर स्वस्थो यथावस्थितः' किसी भी चीज से दूर हटने के लिये नहीं कहता, न ही किसी चीज को पकड़ता है। सत्य समझे तो पकड़े। सत्य समझा ही नहीं तो छोड़ेगा क्या! एक ग्रामीण बाइस्कोप देखने गया। बाइस्कोप में घनघोर बादल छा गये तो उसने अपना छाता खोल लिया। और लोगों ने मना किया तो कहने लगा, 'तुम्हारे पास छाता नहीं है, इसलिये कहते हो? मेरे पास तो है, मैं तो छाता खोलकर ही देखूँगा, भीगने की संभावना है।' वहाँ देखते हुए भी पानी है नहीं। शहर वालों

को तो निश्चय है कि पानी नहीं है, फिर उससे बचने की जरूरत ही नहीं, दीख रहा है लेकिन वह नुक्सान करने वाला नहीं। गाँव वाले को निश्चय नहीं, इसलिये वह भय खाता है। ठीक इसी प्रकार यहाँ जो आत्म-निष्ठ है, वह पानी बरसते हुए देखता है, कहता है चित्ताकाश, भूताकाश में सुख-दुख की चाहे जितनी वर्षा होती रहे, वह सच्ची है ही नहीं, अतः मेरे ऊपर वह जल कहाँ आकर पड़ने वाला है! अतः न वह किसी चीज को छोड़ता है और न ही पकड़ता है। बाइस्कोप में रखे हुए सेब को उठाने नहीं दौड़ता। वह तो स्वात्मा में ही स्थिर रहता है। ऐसा व्यक्ति ही ऋत मार्ग में स्थिर रहता है। चतुर्थ मंत्र में एकमात्र परमात्मा को ही स्थिर बताया- 'बद्वा नामासि सृतिः सोमसरणी सोमं गमेयम्।' हम उस सोममार्ग तक जा सकें, इसके लिये चारों मंत्रों का उच्चारण करते हैं।

अब वेदि में प्रवेश करके दक्षिण की तरफ मुख करके कहता है- 'पितरो भूः पितरो भूः पितरो भूः' मैं दक्षिण भूमि में ही पितरों को छोड़ता हूँ। कर्ममार्ग तक पितर लोग यहीं रहें। पितरों की स्थापना करके फिर प्रार्थना करता है- 'नृमण ऊद्ध्र्वभरसं' अर्थात् जो मनुष्यों में चुना गया मन-बुद्धि है उसे कहता है- तू नृमण, श्रेष्ठ है जिसपर परमात्मा की कृपा हो गई है। जब परमात्मा की कृपा हो जाती है, तभी यूप खड़ा होगा। अब तक न जाने कितनी लकड़ियाँ पड़ी थीं, विष्णु-दृष्टि न पड़ने के कारण वे लकड़ियाँ चुपचाप थीं। जब विष्णु की दृष्टि पड़ी कि यूप मेरे काम आयेगा तब आज सोमयाग का अंग होने से वह नृमण हो गई। अतः कहते हैं- 'ऊद्ध्र्वभरसम्' हमेशा ऊपर ही बने रहना क्योंकि यूप बनकर गिर जाये तो बुरी बात है। 'ऊद्ध्र्वभरा दृशेयम्'- ऊर्ध्व बनकर ही देखेंगे। स्वयं भी पहले ऊपर जाकर इस यूप को देखेंगे, ऊँची दृष्टि से ही ऊर्ध्वता, महान्ता का पता लगता है। नीचे से ही ऊर्ध्वता देखना चाहो तो नहीं देख सकते। मकान के चौथे तल पर जाकर चारों तरफ दृष्टिपात करके देखते हो। आजकल हवाई जहाज के द्वारा ही घूमकर ऊपर से सारा शहर देख सकते हो, फिर नीचे आकर देखते हो। जब हवाई जहाज से देख लिया कि चंडीगढ़ की जैसी प्लानिंग हुई थी, वैसा ही बन गया है तो भी अब रहना नीचे ही है, उसी में आनन्द है।

इसी प्रकार निर्विकल्प समाधि में प्रवेश करके, स्वरूप में स्थित होकर सारे जगत् को देखते हो- 'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म, आनंदम् ब्रह्म'। अब संसार का स्वरूप

समझ में आ गया, अपने स्वरूप में स्थित हो गये और अनुग्रह को प्राप्त कर लिया। जीवन्मुक्ति-काल में भी व्यवहार तो यहीं आकर करना है लेकिन अब व्यवहार करने पर भी वह आनंद कम होने वाला नहीं। तब शरीर कैसा बनेगा, इसे सप्तम मंत्र में कहा है- नीचे आ गये वेदि का स्पर्श कर कहते हो- 'मृदा शिथिरा देवानां तीर्थं वेदिरसि मा मा हिंसीः' अब जीवन्मुक्त का शरीर ही वेदि बना, जिसमें आगे यज्ञ ही होना है। वह वेदि भी मिट्टी की ही बनी है, सोने की नहीं। चाहे अश्वमेध याग हो या सोमयाग, वेदि मिट्टी की बनेगी। चाहे आत्मज्ञानी का हो या साक्षात् परमेश्वर का, शरीर तो मिट्टी का ही बनेगा! अतः इससे शिथिल रहो, इस शरीर से चिपको नहीं, जितनी शिथिलता रहेगी उतना ही स्वतंत्र रहोगे, जितने चिपके रहोगे उतने बंधन में रहोगे। जब तक शरीर से बाहर अपने को व्यापक नहीं जानोगे, आनंद नहीं मिलने वाला। वह वेदि तो देवताओं को तृप्त कर देती है। अतः प्रार्थना की कि हमें उस आत्म-ज्ञान से दूर न करना 'मा मा हिंसीः'।

आठवें मंत्र में कहा कि आगे हविर्धान रखा है जो विष्णु का स्वरूप है 'वैष्णवं हि देवताया हविर्धानम्' उस हविर्धान को पवित्र रखने के लिये उसपर दाभ (कुश) रख देते हैं। मंत्र का उच्चारण करते हैं- 'विष्णोः शिरोसि यशोधा यशो मयि धेहि'। हविर्धान की स्तुति करते हैं कि तुम विष्णु हो, सारे जगत् के शिर, मुकुटमणि हो। जैसे मुकुट श्रेष्ठ होता है, ऐसे ही सिर ही श्रेष्ठ अंग है। यदि सारा शरीर अच्छा हो और सिर छोटा-सा हो तो कुछ भी सौंदर्य नहीं। आज वैज्ञानिक भी मानते हैं कि जिसका सिर बड़ा है, दिमाग तेज है, वही श्रेष्ठ है। पुरानी कहावत भी है- 'पैर बड़ा गंवार का, सिर बड़ा सरदार का'।

सारे आनंद का स्रोत मस्तिष्क ही यदि कमजोर है तो कुछ भी लाभ नहीं है। इसीलिये मुकुट को ही श्रेष्ठ बताया। जीव ही इस संसार का मुकुट है, जब जीव ही श्रेष्ठ नहीं रहा तो सब बिगड़ जाता है। तुम्हारे पास बढ़िया मकान है, काफी धन है, खूब गहने भी हैं, पर यदि खुद ही दुःखी हो तो इस सबका क्या फायदा? जिसे आनंद मिलना है, वह तुम (जीव) खुद ही हो। यदि वही खराब हो गया तो सारा काम बिगड़ जाता है। जीव की पुष्टि स्वातंत्र्य ही है कि मैं ही मन और इंद्रियों का मालिक हूँ। फिर कमजोरी क्या है? व्यक्ति कहता है 'मेरी इच्छा तो नहीं थी, लेकिन अमुक काम हो गया।' यही सारे दुःख का बीज है! बलवान् वह जो अपना निर्णय

करे, उससे वही हो। चाहे मन की हो या इन्द्रियों की, जब मैं कहूँ तभी प्रवृत्ति हो अन्यथा नहीं। ऐसा नहीं कि संस्कार तो पड़ ही गये अब क्या करें! उस उत्तमांग को ही यश–स्वरूप कहते हैं, इसी यश की स्थापना करो। तब शुद्ध, शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध तीनों अध्वा मुझ में स्थित रहें, मेरे अधिकार से चलें। तभी अन्न, ऊर्जा, आयु और वर्चस् की प्राप्ति होगी। यह नवम मंत्र में बताया। इस प्रकार संक्षेप से सारी बातों का स्मरण करा दिया।


शिवम्
शान्तम्
अद्वैतम्